

संस्कृत व्याकरण-दर्शन

# संस्कृत व्याकरण-दर्शन

रामसुरेश त्रिपाठी



राजकमल प्रकाशन

दिल्ली ६

पटना ६

## प्राक्कथन

‘वाक्यपदीय विशेषत आख्याताय का अध्ययन’ विषय पर एक प्रबन्ध मैंने आगरा विश्वविद्यालय में १९६५ में प्रस्तुत किया था जो पी एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ था। कई वर्षों तक वह प्रबन्ध कई कारणों से अप्रकाशित पड़ा रहा। उसे सस्कृत व्याकरण दशन के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। व्याकरण दशन से सम्बद्ध वाक्य विषयक विचार मूल प्रबन्ध में नहीं थे। उनका समावेश यहाँ कर लिया गया है शेष ग्रन्थ प्रायः अपने मूल रूप में है।

इस ग्रन्थ में हरिवृत्ति शब्द से वाक्यपदीय पर स्वयं भट्ट हरि द्वारा लिखी हुई वृत्ति अभिप्रेत है। श्री गंगाधर शास्त्री द्वारा सम्पादित वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड में श्लोका की सख्या में ‘यतिश्रम’ है। किंतु पाठका की सुविधा की दृष्टि से श्लोको की सरया जैसे छपी है वैसे ही इस ग्रन्थ में उद्धृत है। सस्कृत व्याकरण दशन एक दुर्लभ विषय है। इस पर धीरे धीरे किसी किसी तरह से मैं कुछ लिख सका हूँ। यहाँ जा कुछ विचार व्यक्त किये गए हैं वे सब प्राचीन आचार्यों के हैं। उनके विचारों को ठीक से समझने में भ्रम हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। इस निवेदन के साथ यह ग्रन्थ विन पाठका के सामने प्रस्तुत है।

व्याकरण दशन की ओर मेरी रुचि स्वर्गीय गुरुवर प० अम्बिका प्रसाद उपाध्याय भट्टपूव प्रधानाचार्यक व्याकरण विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की कृपा से हुई थी। अब उनका सादर स्मरण ही संभव है।

मैं राजकमल प्रकाशन के अधिकारियों का अनुगृहीत हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन का भार अपने ऊपर लिया।

—रामसुरेश त्रिपाठी

## अनुक्रम

प्रावकथन	५
प्रथम अध्याय	
सत्स्वन व्याकरण दशन का उपलब्ध साहित्य	६
द्वितीय अध्याय	
वाक्	३४
ध्वनि	६६
वण	७४
शब्द	८२
तृतीय अध्याय	
पदाथ	१२३
चतुर्थ अध्याय	
क्रिया	१५६
पंचम अध्याय	
काल	२०५
षष्ठ अध्याय	
उपग्रह	२४५
पुरुष	२४८
सख्या	२६४
सप्तम अध्याय	
कारक	



अष्टम अध्याय  
लिङ्ग

२८८

नवम अध्याय

वाक्य

वाक्याथ

वाक्यधर्म

३३०

वाक्याथ की प्रक्रिया

३६३

वाक्याथ निर्धारण के साधन

३७७

दशम अध्याय

४१०

वृत्ति विचार

४२६

एकादश अध्याय

४३७

स्फोटवाद

सम्भ ग्रन्थ-सूची

अनुक्रमणिका

४६०

## संस्कृत व्याकरणदर्शन की उपलब्ध सामग्री

संस्कृत व्याकरणदर्शन का आरम्भ सुदूर प्राचीन काल में हो गया था। व्याकरण की रचना के लिए अनेक पारिभाषिक शब्दों का आश्रय लेना पड़ा। लक्षण बनाए गए। लक्षणों पर विचार आरम्भ हुआ। मतभेद सामने आए। दर्शन आरम्भ हुआ। जिज्ञासा दर्शन है। विचार की प्रक्रिया दर्शन है। गहरा चिंतन सूक्ष्म विचार और सत्य के प्रति निष्ठा किसी भी विचारधारा को दर्शन का रूप दे देते हैं। इस दृष्टि से संस्कृत व्याकरण का भी एक अपना दर्शन है। इसके बीज वदिक साहित्य में मिल जाते हैं

ओंकार पृच्छाम को धातु, किं प्रातिपदिकम्, किं नामाख्यातम् किं लिङ्गम् किं वचनम् का विभक्ति, क प्रत्यय इति ।<sup>१</sup>

यदि इन प्रश्नों का उत्तर दे दिया जाए तो पूरा व्याकरणदर्शन सामने आ जाता है। जब धातु प्रातिपदिक, नाम आख्यात आदि क प्रति जिज्ञासा थी तो इनका समाधान भी किया गया था और इनके विशेषण आचार्य प्रसिद्ध हो चले थे

आख्यातोपसर्गानुदात्तस्वरितलिङ्गविभक्तिवचनानि च सस्यानाध्यायिन आचार्या पूर्वं बभूवुः ।<sup>२</sup>

यास्क ने नाम आख्यात आदि के विवरण प्रस्तुत किए हैं और प्रसंगवश कतिपय पूर्वाचार्यों के मतों का उल्लेख किया है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरण की दार्शनिक प्रक्रिया ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व विकसित हो चुकी थी। किंतु जैसे पाणिनि ने पूर्व के व्याकरणा की बहुत ही अल्प सामग्री आज उपलब्ध है वैसे ही पूर्वाचार्यों के व्याकरण सम्बन्धी दार्शनिक विचार भी अल्प ही सुरक्षित रह पाए हैं। जिन आचार्यों के मत उपलब्ध हैं उनका व्याकरणदर्शन की दृष्टि से सन्निप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

जैसे संस्कृत व्याकरण का सुव्यवस्थित रूप पाणिनि से आरम्भ होता है वैसे ही व्याकरणदर्शन का भी स्पष्ट रूप पाणिनि से आरम्भ होता है। पाणिनि ने (छठी शताब्दी, ईसवी पूर्व) अष्टाध्यायी की रचना शङ्खानुशासन की दृष्टि से की थी किन्तु उन्हें अनेक परिभाषा सूत्रों की रचना करनी पड़ी। अनेक सन्तान्तर बनाने पड़े और पारिभाषिक शब्दों के लक्षण देने पड़े। फलतः व्याकरणदर्शन की एक विस्तृत पृष्ठभूमि पाणिनि ने स्वयं

१ गोपब्रह्मण्य प्रथम प्रपाठक, १।२४, बौ० ऋग्वेद गोर्ग सपादिन

२ गोपब्रह्मण्य प्रथम प्रपाठक, १।२७

संसार कर दी थी। पाणिनि द्वारा प्रयुक्त विभागा, पञ्चविधि, आदेश, विप्रतिषेध, उपमान तिङ्ग, क्रियातिपत्ति कालविभाग, योष्मा, प्रत्ययलक्षण, भावलक्षण, शब्दाद्यप्रवृत्ति जस सबको शब्द इस बात के प्रतीक हैं कि वे उन श्रुतियों के दार्शनिक वाता से पूर्णरूप से अवगत थे और स्वयं उच्चकोटि के चिंतक थे। उनके अनेक सूत्र अपने आप में एक दर्शन हैं जसे

स्वतंत्र कर्ता १।४।५४

तद्विशिष्य सत्ताप्रमाणत्वात् १।२।५३

अधवदधातुरप्रत्यय प्रातिपदिकम् १।२।४५

कर्मणि च येन सत्प्रातिपदिकं शरीरमुत्तम ३।३।११६

समुच्चये सामान्यवचनस्य ३।४।५

तस्य भावस्त्वतलो ५।१।११६

प्रकारे गुणवचनस्य ८।१।१२ आदि

वस्तुतः पाणिनि प्रमाणभूत आचार्य हैं। बाद के व्याकरणों ने व्याकरण से सम्बद्ध जो कुछ विचार व्यक्त किए हैं उनका अनुमोदन वे किसी-न किसी तरह पाणिनि के सूत्रों से करते हैं। व्याकरणदशम से सम्बद्ध भी सभी मत पाणिनि की भाष्यताओं में परिपुष्ट किए जाते हैं। किसी प्राचीन आचार्य की उक्ति है कि जो कुछ वृत्ति ग्रन्थों में है जो कुछ वार्तिकों में है वह सब सूत्रों में ही है

सूत्रेभ्येव हि तत् सव यद वृत्तौ यच्च वार्तिके ।

उदाहरणमयस्य प्राप्नुदाहरण यगो ॥<sup>३</sup>

व्याकरणदशम की दृष्टि से भी यह उक्ति दूर तक ठीक है।

### व्याडि (पाँचवीं शताब्दी ईसवी पूर्व)

पाणिनि के समय के आसपास ही व्याडि नाम के आचार्य हुए थे। उन्होंने 'सग्रह' नाम का व्याकरणदशम का ग्रन्थ लिखा था। भट्ट हरि के आधार पर जान पड़ता है कि वह पाणिनि सम्प्रदाय में सबद्ध ग्रन्थ था।

'सग्रहोप्यस्यैव शास्त्रस्य कदेशः । तत्र कृतप्रस्तावत् व्याडेऽपि प्रामाण्याविहाय सिद्ध शब्द उपात्तः ॥'<sup>४</sup>

व्याडि स्वतंत्र विचारक थे। सग्रह में उन्होंने भट्ट हरि के वक्तानुसार चतुदश सहस्र वस्तुओं पर विचार किया था।<sup>५</sup> सग्रह भट्ट हरि के समय से बहुत पहले ही सुप्त हो चुका था।<sup>६</sup> सग्रह के कुछ उद्धरण भट्ट हरि के ग्रन्थों में मिल जाते हैं। उनमें भी अधिकांश वाक्यपदीय की भट्ट हरि द्वारा रचित वृत्ति में हैं। जो दो-तीन उद्धरण दूसरे लेखकों द्वारा दिए गए हैं वे भी भट्ट हरि से ही लिए जान पड़ते हैं।<sup>७</sup> पतञ्जलि ने सग्रह के बारे में कहा

३ द्वा-शारनयनक की यायायमानुमारिणी व्याख्या में उद्धृत, पृ० ५३६

४ महाभाष्य दीपिका, पृ० २३ पूना संस्करण

५ चतु-श सद्विंशति वस्तूनि अस्मिन् सग्रहग्रन्थे—महाभाष्य दीपिका, पृ० २३

६ सग्रहेऽस्तमुपपत्ते—वाक्यपदीय २।४८४

७ अब तक उपलब्ध सग्रह के सभी उद्धरण इस ग्रन्थ में व्याख्यान दे दिए गए हैं।

है शोभना खलु दाशायणस्य सग्रहस्य कृति ।<sup>८</sup> पतञ्जलि का शोभना शब्द सग्रह के गौरव को व्यक्त कर देता है।

जो उद्धरण उपलब्ध हैं उनसे जान पड़ता है कि व्याडि ने सग्रह में प्राकृतध्वनि वृत्तध्वनि, वण पद वाक्य, अथ मुख्यगौणभाव संबध उपसर्ग, निपात बन्धप्रवचनीय आदि पर विचार किया था। उन्होंने 'दशधा अथवत्ता' मानी थी।<sup>९</sup> शब्द के स्वरूप पर मौलिक विचार प्रस्तुत किए थे। शब्द के नित्य और अनित्य स्वरूप पर भी सग्रह में पर्याप्त विवेचन किया गया था और दोनों पक्षों में गुण शेष के विवेचन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला गया था कि व्याकरण के नियम शब्द के नित्य पक्ष और शब्द के वाच्य पक्ष दोनों ही दृष्टि से होने चाहिएँ। उपलब्ध सामग्री के आधार पर उनकी सर्वाधिक देन निम्न-लिखित मानी जा सकती है

१ शब्द द्वारा द्रव्य का अभिधान इस भावना के आधार पर भारतीय चिन्तन परम्परा में व्याडि का एक दशन ही खड़ा हो गया। वाजप्यायन ने शब्द द्वारा जाति का अभिधान निश्चित किया था। व्याडि और वाजप्यायन दोनों के दशन व्याकरणशास्त्र में गृहीत हैं। पाणिनि के अनेक सूत्रों की व्याख्या दोनों दशनों के आधार पर की जाती है। कात्यायन ने दोनों मतों के विवरण दिए हैं और उन्हीं के आधार पर द्रव्यवाद व्याडि का माना जाता है (द्रव्याभिधान व्याडि)।<sup>१०</sup> भट्ट हरि ने भी इसका समर्थन किया है

वाजप्यायनस्याकृति व्याडेस्तु द्रव्यम।<sup>११</sup>

२ अयसिद्धात् व्याडि ने शब्द और अर्थ में अर्थ को अधिक महत्त्व दिया है। उनके मत में पद और वाक्य का निणय अर्थ द्वारा होता है। दूसरे शब्दों में, भाषा के स्वरूप और उसके अवयव का निर्णायक वाक्य का अर्थ है

न हि किञ्चित् पद नाम रूपेण नियतं भवचित्।

पदानां रूपमर्थो वा वाक्याथदेव जायते ॥<sup>१२</sup>

३ अपभ्रंश की प्रकृति शब्द है—शब्दप्रकृतिरपभ्रंश इति सग्रहकार।<sup>१३</sup> सम्भवतः अपभ्रंश शब्द का सबसे प्राचीन उल्लेख यही है। व्याडि ने अपभ्रंश की प्रकृति (मूल) संस्कृत का माना है। भट्ट हरि इस मत से पूर्ण रूप में सहमत नहीं हैं। किन्तु अपभ्रंश पर विचार प्रस्तुत करने वाले प्रथम आचार्य व्याडि हैं।

<sup>८</sup> महाभाष्य २।३।६६, पृ० ४६८ कीलहाने संस्करण

<sup>९</sup> "तदुभय परिगृह्य दशधा अथवत्ता स्वभावभेदिका इति सग्रहे प १" वाक्यपदीय २।२०७ हरिवृत्ति, हस्तलेख

<sup>१०</sup> महाभाष्य १। १६४, पृ० २४४

<sup>११</sup> महाभाष्य दीपिका, पृ० ११

<sup>१२</sup> वाक्यपदीय १।२४ हरिवृत्ति, पृ० ४२ पर उद्धृत

<sup>१३</sup> वाक्यपदीय १।१४८ हरिवृत्ति पृ० १३४, हेलाराज, संबध समुद्देश ३०, पृ० १४३, पूना संस्करण

४ सिद्ध शब्द कात्यायन ने अपने प्रथम वार्तिक का आरम्भ सिद्ध शब्द से किया है। इस प्रसंग में पतञ्जलि ने बताया है कि कात्यायन ने 'सिद्ध' शब्द सप्रहस लिया है। सप्रहस में मूल प्रयोग या था कि काय शब्द, अथ सिद्ध इति। १४

पतञ्जलि के अनुसार सिद्ध शब्द नियम अथ का वाचक है। जो हो सिद्ध शब्द व्याकरण में एक विशेष अर्थ में स्वीकृत हुआ जिसका ठीक अर्थ बताना कठिन है। उपपत्ति, निष्पत्ति और मगल तीनों शब्दों के अर्थों को एक में मिलाकर जो अर्थ मिलेगा कुछ ऐसा ही अर्थ सिद्ध शब्द का स्वीकृत हुआ और इस शब्द का प्रयोग के अन्त में व्यवहार आरम्भ हुआ। पिछले दो हजार वर्षों से सस्कृत व्याकरण के ममज्ञ संस्कृत अपनी कृतियों के अन्त में सिद्ध शब्द का प्रयोग करते आ रहे हैं और यह परम्परा अभी विच्छिन्न नहीं हुई है। मेरे विचार में इस सिद्ध शब्द का श्रेय पांडि को है।

### कात्यायन (ईसा पूर्व चौथी शताब्दी)

पाणिनि के सदृश मेघा रखने वाले कात्यायन का भी योग व्याकरणदशन में बहुत अधिक है। व्याकरण के प्रकृत स्वरूप का तो उन्होंने विस्तार किया ही व्याकरण के दार्शनिक पक्ष का भी विकास अनुपम रूप में किया। उनका प्रथम वार्तिक 'सिद्धे शब्दायसम्प्रये' एक ओर उनके दार्शनिक झुकाव को द्योतित करता है तो दूसरी ओर एक वाक्य में संपूर्ण व्याकरणदशन है।

व्याकरणदशन का कोई अंग ऐसा नहीं है जिस पर कात्यायन की दृष्टि न गई हो। अपनी व्यापक दृष्टि के कारण उन्होंने सूत्रों की व्याख्या की एक अपूर्व शली का आश्रय लिया जिसमें केवल उक्त अनुक्त का ही स्थान नहीं था अपितु व्याख्यान के माध्यम से अनेक वाक्यों का सृजन था। आज जिन्हें परिभाषा कहा जाता है और सीरदेव आदि ने जिन्हें परिभाषावृत्ति में परिभाषा रूप में लिख रखा है वे प्रायः सभी कात्यायन की मेघा के परिणाम हैं। उनके वाक्य और उनकी इष्टियाँ परिभाषा और व्यापक रूप लेती हैं। कात्यायन ने व्याकरणदशन को लोकविज्ञान से सम्बद्ध किया। व्याकरणदशन अवयवावयवीभाव अधिकरण आदि की व्याख्या लोकविज्ञान के आधार पर करता है। इनकी व्याख्या दूसरे दशनों में अर्थ है।

कात्यायन ने उत्सर्ग अपवाद विधि प्रतिषेध, निपातन स्थानी आदेश लिङ्ग, नियम आदि सामान्य—विशेष प्रकारों से अपनी व्याख्यान पद्धति को दार्शनिक रंग दे दिया है। कण्ट ने अनेक स्थानों पर उसका उमीलन किया है। विशेषकर जहाँ वार्तिककार और महाभाष्यकार में मतभेद है। जैसे

भित्तेश्चत्वाद विरोधाभावाद्भेदेऽपि प्रत्ययेन प्रदीयेनेव घटादे गार्ग्यायण्यां ऋडोष्ण्यां स्त्रीत्वस्येवाज्ञातादेरेकरमाथस्य द्योतनमविरुद्धं मयमानो वार्तिककार उत्सर्गप्रतिषेधं शास्ति। भाष्यकारस्तु विरोधमतरेणापि सामान्यविधे

वाक्य विशेषविधिम यत्रादीहशत ।<sup>१५</sup>

कात्यायन ने अपने वार्तिकों में प्रकृत्यथ विशेषणवाद, प्रत्ययाथ विशेषणवाद, सामानाधिकरण्यवाद, अथनियमवाद, प्रवृत्तिनियमवाद आदिवादों का समावेश किया और पाणिनि के अनेक सूत्रों का इनके आधार पर विवेचन किया ।

प्राचीन वैयाकरणों में हेलाराज ने वार्तिका का विशेष अध्ययन किया था । उ होने वार्तिकों पर वार्तिकों में नामक ग्रंथ भी लिखा था । वाक्यपदीय के प्रकीर्णक काण्ड की व्याख्या करते समय हेलाराज उन वार्तिका का उल्लेख करते चलते हैं जिनका आश्रय भट्ट हरि ने लिया है । तृतीय काण्ड का वृत्तिसमुद्देश कात्यायन के कुछ वार्तिका की व्याख्यामात्र है । हेलाराज ने वार्तिकों के उद्धरण दे देकर उसे स्पष्ट कर दिया है । इससे बढ़कर कात्यायन की दार्शनिक दृष्टि का सूचक और क्या प्रमाण हो सकता है ।

संस्कृत व्याकरणदशन की, संस्कृत भाषा की, संपूर्ण वाङ्मय की कात्यायन की एक विशेष दृष्टि है और वह है उनकी वाक्य की परिभाषा ।

### पतञ्जलि (ईसवी पूर्व द्वितीय शताब्दी)

पतञ्जलि के महाभाष्य की उपमा सागर से दी जाती है । वह सागर की तरह उत्तान है । सागर की तरह अगाध है । सागर की तरह रत्न छिपाए हैं । भट्ट हरि की दृष्टि में पतञ्जलि तीर्थदर्शी हैं । महाभाष्य, सग्रह का प्रतिकचक्र (प्रतिनिधिकल्प) है और सभी 'यायबीजों' का अधिष्ठान है

कृतेऽयं पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिता । सर्वेषां यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने ॥ 'सग्रहप्रतिकचक्रके' ।<sup>१६</sup>

'यायबीज' शब्द पर टिप्पणी करते हुए पुण्यराज ने लिखा है

तत्र भाष्यं न केवलं व्याकरणस्य निबन्धनम्, यावत् सर्वेषां यायबीजानां बोद्धव्यमिति । अतएव महत् शब्देन विनोप्य महाभाष्यमित्युच्यते लोके ।<sup>१७</sup>

पुण्यराज ने पुनः लिखा है

महाभाष्यं हि बहुविधं विद्यावादबलभाष्य व्यवस्थितम् ।<sup>१८</sup> अर्थात् महाभाष्य में अनेक विद्यावाद, दशनप्रवाद हैं ।

जो कुछ वार्तिकों में है वह सब तो महाभाष्य में है ही । बहुत कुछ अर्थ भी है । इसलिए महाभाष्य व्याकरण और व्याकरणदशन दोनों का आवरण ग्रंथ है । महाभाष्यकार की अलग से दृष्टि ब्रताना कठिन है । जहाँ जहाँ कुछ कहा है सूत्रों और वार्तिकों के भाष्य के रूप में कहा है । जिनके मूल, सूत्र और वार्तिकों में नहीं हैं वे भाष्यकार की दृष्टि माने जा सकते हैं । अथवा जहाँ भाष्यकार का सूत्रकार और वार्तिककार से विरोध है वे सब मौलिक विचार महाभाष्यकार के हैं । प्राचीन टीकाकारों ने ऐसे सब स्थल चुन रखे हैं

<sup>१५</sup> महाभाष्य प्रदीप ५।३।७२

<sup>१६</sup> वाक्यपदीय २।४८५, ४८८

<sup>१७</sup> वाक्यपदीय टीका २।४८५

<sup>१८</sup> पुण्यराज वाक्यपदीय २।४८८

४ सिद्ध शब्द कात्यायन ने अपने प्रथम वार्तिक का आरम्भ सिद्ध शब्द में किया है। इस प्रसंग में पतञ्जलि ने बताया है कि कात्यायन ने 'सिद्ध' शब्द सप्रहस से लिया है। सप्रहस में मूल प्रयोग या था कि वाच्य शब्द, अथ सिद्ध इति। १४

पतञ्जलि के अनुसार सिद्ध शब्द नित्य अथ वा वाच्य है। जो हो, सिद्ध शब्द व्याकरण में एक विशेष अर्थ में स्वीकृत हुआ जिसका ठीक अर्थ बताया नहीं है। उपपत्ति, निष्पत्ति और मूल तीनों शब्दों के अर्थों को एक में मिलाकर जो अर्थ निकालेगा कुछ ऐसा ही अर्थ सिद्ध शब्द का स्वीकृत हुआ और इस शब्द का प्रयोग के अन्त में व्यवहार आरम्भ हुआ। पिछले दो हजार वर्षों से ससृज्य व्याकरण के समस्त लेखक अपनी कृतियों में अन्त में सिद्ध शब्द का प्रयोग करते आ रहे हैं और यह परम्परा अभी विच्छिन्न नहीं हुई है। मेरे विचार में इस सिद्ध शब्द का श्रेय व्याडि को है।

### कात्यायन (ईसा पूर्व चौथी शताब्दी)

पाणिनि के सदृश मेधा रत्न के वाले कात्यायन का भी योग व्याकरणदशन में बहुत अधिक है। व्याकरण के प्रसृत स्वरूप का तो उन्होंने विस्तार किया ही व्याकरण के दाशनिन पथ का भी विस्तार अनुपम रूप में किया। उनका प्रथम वार्तिक 'सिद्धे शब्दाथसम्बन्धे' एक आरम्भ उनके दाशनिक श्रुतों की द्योतित करता है तो दूसरी ओर एक वाक्य में सपूर्ण व्याकरणदशन है।

व्याकरणदशन का कोई अंग ऐसा नहीं है जिस पर कात्यायन की दृष्टि न गई हो। अपनी प्रापक दृष्टि के कारण उन्होंने सूत्रों की व्याख्या की एक अपूर्व शली का आश्रय लिया जिसमें केवल उक्त अनुक्त का ही स्थान नहीं था अपितु व्याख्यान के माध्यम से अनेक वाक्यों का सञ्जन था। आज जिसे परिभाषा कहा जाता है और सीरदेव जादि ने जिसे परिभाषावृत्ति में परिभाषा रूप में लिख रखा है वे प्रायः सभी कात्यायन की मेधा के परिणाम हैं। उनके वाक्य और उनकी दृष्टियाँ परिभाषा और व्याख्यान का रूप लेती हैं। कात्यायन ने व्याकरणदशन को लोकविज्ञान से सम्बद्ध किया। व्याकरणदशन अवयवावयवीभाव अधिकरण आदि की व्याख्या लोकविज्ञान के आधार पर करता है। इनकी व्याख्या दूसरे दशना में अर्थ है।

कात्यायन ने उत्सर्ग अपवाद विधि प्रतिषेध, निपातन स्थानी आदेश लिङ्ग नियम आदि सामान्य—विशेष प्रकारों से अपनी व्याख्यान पद्धति को दाशनिक रूप दे दिया है। कथन ने अनेक स्थानों पर उसका उमीलन किया है। विशेषकर जहाँ वार्तिककार और महाभाष्यकार में मतभेद है। जैसे

भित्तेश्चत्वाद विरोधाभावादनैकेनापि प्रत्ययेन प्रदीपेनेव घटादे गार्ग्यायण्यां षड्डीष्ण्यां स्त्रीत्वस्येवाज्ञातादेरेकस्यायस्य द्योतनमविरुद्धं मयमानो वार्तिककार उत्सर्गप्रतिषेधं शास्ति। भाष्यकारस्तु विरोधमन्तरेणापि सामान्यविधे

वाचक विशेषविधिम यत्रादीहशत ।<sup>१५</sup>

कात्यायन ने अपन वातिको में प्रकृत्यथ विशेषणवाद, प्रत्ययाथ विशेषणवाद, सामानाधिकरण्यवाद, अथनियमवाद, प्रकृतिनियमवाद आदिवादों का समावेश किया और पाणिनि के अनेक सूत्रों का इनके आधार पर विवेचन किया ।

प्राचीन वैयाकरणों में हेलाराज ने वातिको का विशेष अध्ययन किया था । उन्होंने वातिको पर वातिको भेष नामक ग्रंथ भी लिखा था । वाक्यपदीय के प्रकीर्णक काण्ड की व्याख्या करते समय हेलाराज उन वातिका का उल्लेख करते चलते हैं जिनका आश्रय भट्ट हरि ने लिया है । तृतीय काण्ड का वृत्तिसमुद्देश कात्यायन के कुछ वातिका की व्याख्यामात्र है । हेलाराज ने वातिको के उद्धरण दे देकर इसे स्पष्ट कर दिया है । इससे बढ़कर कात्यायन की दाशनिक् देन का सूचक और क्या प्रमाण हो सकता है ।

संस्कृत व्याकरणदशन को, संस्कृत भाषा को, संपूर्ण वाङ्मय को कात्यायन की एक विशेष देन है और वह है उनकी वाक्य की परिभाषा ।

### पतञ्जलि (ईसवी पूर्व द्वितीय शताब्दी)

पतञ्जलि के महाभाष्य की उपमा सागर से दी जाती है । वह सागर की तरह उत्तान है । सागर की तरह अगाध है । सागर की तरह रत्न छिपाए हैं । भट्ट हरि की दृष्टि में पतञ्जलि तीर्थदर्शी हैं । महाभाष्य, सग्रह का प्रतिकचुक् (प्रतिनिधिकल्प) है और सभी व्यायबीजों का अधिष्ठान है ।

कृतेऽयं पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिता । सर्वेषां व्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने ॥ 'सग्रहप्रतिकचुक्' <sup>१६</sup>

व्यायबीज शब्द पर टिप्पणी करते हुए पुण्यराज ने लिखा है

तत्र भाष्यं न केवलं व्याकरणस्य निबन्धनम्, यावत् सर्वेषां व्यायबीजानां बोद्धव्यमिति । अतएव महत् शब्देन विशेष्य महाभाष्यमित्युच्यते लोके ।<sup>१७</sup>

पुण्यराज ने पुन लिखा है

महाभाष्यं हि बहुविधि विद्याधादवलमार्गे व्यवस्थितम् <sup>१८</sup> अर्थात् महाभाष्य में अनेक विद्यावाद, दशनप्रवाद हैं ।

जो कुछ वातिको में है वह सब तो महाभाष्य में है ही, बहुत कुछ अर्थ भी है । इसलिए महाभाष्य व्याकरण और व्याकरणदशन दोनों का आवरणग्रन्थ है । महाभाष्यकार की अलग से देन बताना कठिन है । उन्होंने जो कुछ कहा है सूत्रों और वातिका के भाष्य के रूप में कहा है । जिनके मूल, सूत्र और वातिका में नहीं हैं वे भाष्यकार की देन माने जा सकते हैं । अथवा जहाँ भाष्यकार का सूत्रकार और वातिककार से विरोध है व सब मौलिक विचार महाभाष्यकार के हैं । प्राचीन टीकाकारों ने ऐसे सब स्थल चुन रखे हैं

<sup>१५</sup> महाभाष्य प्रदीप ५।३।७२

<sup>१६</sup> वाक्यपदीय २।४८५, ४८८

<sup>१७</sup> वाक्यपदीय टीका २।४८५

<sup>१८</sup> पुण्यराज वाक्यपदीय २।४८८



जहाँ वातिककार का मत भिन्न है और भाष्यकार का मत भिन्न है। व्याकरणदशन की दृष्टि से भी ऐसे स्थलों पर प्राचीन आचार्यों की दृष्टि गई है और भत हरि ने भी अनेक स्थलों पर वातिककार के दर्शन भाष्यकार के दशन और सूत्रकार के दशन की अलग-अलग चर्चा की है। वस्तुतः सूत्रकार और वातिककार आदि के मत भी पतञ्जलि की व्याख्या के सहारे ही स्वरूप ग्रहण करते हैं। अतः संपूर्ण व्याकरणदशन महाभाष्य में जहाँ-तहाँ विगिरा पड़ा है। भत हरि ने उन विचारों को अपने ढंग से एकत्र किया है जो व्याकरणदशन के नाम से अलग वस्तु जान पड़ती हैं। इस विषय में अभी भी अवकाश है और महाभाष्य में आए दार्शनिक विचारों का क्रमबद्ध सङ्कलन नवीन रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इसमें सबसे अधिक कठिनाई परस्पर विरोधी मतों के भ्रमजाल में सतप्य ग्रहण की है। व्याकरण की परम्परा से मकरा अवगत, महाभाष्य में निष्पात हरदत्त मिश्र ने यह घोषणा की थी कि महाभाष्य को संपूर्ण रूप में समझना किसी के लिए दुष्कर है।<sup>१६</sup> आज तो हम केवल उसका दशन ही कर पाते हैं। अस्तु जैसे व्याकरण का वस ही व्याकरणदशन का भी सवस्व महाभाष्य है। माघ ने महाभाष्य के पस्पशाह्निक को शदविद्या का सौन्दर्य कहा है।<sup>१७</sup>

महाभाष्य में वण शब्द आकृतिपदाथ, द्रव्यपदाथ, गुणपदाथ लिङ्ग वचन सख्या वृत्ति वाक्य वाक्याय आदि पर पर्याप्त विचार मिलते हैं। यहाँ पतञ्जलि के कुछ वाक्य लिखे जा रहे हैं जो अपने पीछे एक-एक दशन छिपाए हैं और महाभाष्यकार के व्यापक भावभूमि के सकेतक हैं

सववेदपारिषद हि इदम शास्त्रम । तत्र नक पथा गवय आस्थातुम  
—महाभाष्य २।१।५६

सस्कृत्य सस्कृत्य पदानि उत्सज्यते—महाभाष्य १।१।१

प्रातिपदिकनिर्देशाश्चायनथा भवन्ति न काचिन प्राधायेन विभक्तिम आश्रयन्ति—महाभाष्य १।८।५६

न सत्ता पदार्थो व्यभिचरति—महाभाष्य ५।२।६४

इह व्याकरणे य सर्वाङ्गोपान स्वरव्यवहार स मात्रया भवति, नाधमात्रया व्यवहारोऽस्ति । महाभाष्य ८।१।१

### वसुरात (लगभग ४०० ईसवी सन्)

वसुरात भत हरि के गुरु थे। विभिन्न दशनों के आधार पर व्याकरणदशन की व्याख्या उन्होंने आरम्भ की थी। उन्हीं की प्रेरणा से भत हरि ने वाक्यपदीय की रचना की थी। वसुरात व्याडि के सग्रह से प्रभावित थे। भत हरि भी य। इसलिए भत हरि ने वाक्यपदीय को स्वयं आगमसग्रह कहा है और उसकी मायताओं को अपने गुरु की देन माना है। इस प्रसंग में पुष्कराज ने लिखा है

अथ कदाचित् योगतो विचाम तत्रभवता वसुरातगुरुणा मभायमागम सज्ञाय वात्सल्यात् प्रणीत इति स्वरचितस्यास्य ग्रन्थस्य गुरुपूजकमभिधातुमाह

१६. तस्य नि रोषतो मन्ये प्रतिपत्तापि दुलभ । पदमञ्जरी १।१।३, पृ० ४६

१७. राष्ट्रविषे नो भाति राजनीतिरपश्यता—शिगुपालवध, २।११२

‘वायप्रस्थानमार्गास्तानभ्यस्य स्व च दर्शनम् ।

प्रणीतो गुरुणाऽस्माकमयमागमसंग्रहः ॥<sup>२१</sup>

वसुरात के स्वतंत्र भक्त का उल्लेख मल्लवादिभ्रमाश्रमण ने किया है और वसुरात की भक्त हरि का उपाध्याय बतलाया है। मल्लवादि ने भक्त हरि के मत से भिन्न रूप में वसुरात के मत का उल्लेख किया है। इससे जान पड़ता है कि वसुरात के कुछ वस्तु परंपर्या कुछ काल तक सजीव थे। शब्द से अर्थ के प्रत्यायन के सम्बन्ध में और अभिजल्प-दर्शन के सम्बन्ध में वसुरात और भक्त हरि में, मल्लवादि के अनुसार, कुछ मतभेद था। मल्लवादि ने दोनों की समीक्षा की है

निरुक्तार्थोऽयमभिजल्पस्य तथा घटते, नायथा। आभिमुख्येन जल्पस्यार्थं शब्द, त प्रयुक्तेऽयं अभिजल्पयति तदविषय एवाभिजल्प इत्युच्यते। एतदुक्तं भवति अथविषय शब्द शब्दाथकल्पनाया युक्ततरं स्यात्, न तु स्वतः परिकल्पिते शब्दप्रेरिते। एव तावदं भक्त हर्षादिदर्शनमयुक्तम्। यत्तु वसुरातो भक्त हरेरुपाध्याय स च स्वरूपानुगतमयमविभागेन सन्निवेशयति। तेन द्वावपि शब्दोऽयं इच्छाम्युपगताविति प्राच्याद अत्यन्ताद अदर्शनात् तमिरिकदर्शनमिदं तत्त्वदृष्टिं प्रत्यासीदति। अभिजल्पस्वरूपं तु पुनस्तेनापि निरस्तम्<sup>२२</sup>।

—द्वादशारनयचक्र पृ० ८०० ८०१

## भक्त हरि

### भक्त हरि का काल-निर्णय

वाक्यपदीय के रचयिता भक्त हरि के समय का ठीक ठीक निर्णय अभी तक नहीं हो सका है। कुछ दिना पूर्व तक भक्त हरि के समय के बारे में इस्तिग की उक्ति प्रमाण मानी जाती थी। इस्तिग ने भक्त हरि के ग्रन्थों और उनके चरित्र का उल्लेख करते हुए लिखा है ‘वह धर्मपाल का समकालिक था। उसकी मृत्यु हुए चालीस वर्ष हुए हैं।’<sup>२३</sup> मृत्यु वाले कथन के आधार पर भक्त हरि की मृत्यु का समय ६५० ईसवी सन् के आसपास ठहरता है। परन्तु इस्तिग के अनुसार भक्त हरि और धर्मपाल समकालिक थे। उसके अनुसार धर्मपाल ने भक्त हरि के ‘पे इन’ ग्रन्थ (प्रकीर्णक) पर टीका भी लिखी थी। धर्मपाल की मृत्यु सन् ७७० में हो गई थी।<sup>२४</sup> यदि धर्मपाल की समकालिकता वाली इस्तिग की उक्ति को महत्त्व दिया जाए तो भक्त हरि का समय ईसवी ५५० के आसपास ठहरता है। इस्तिग के कथन के आधार पर भी भक्त हरि के समय में लगभग सौ वर्ष का अन्तर आ जाता है और उनका समय ५५० ईसवी से लेकर ६५० ईसवी के बीच सिद्ध होता है।

२१ वाक्यपदीय २।४६०

२२ इस विषय पर शब्दस्वरूप के विचार के अन्तर पर इस ग्रन्थ में विचार किया गया है

२३ इस्तिग की भारत यात्रा सन्तराम बी० ए० द्वारा प्रनूदित, १६२५ पृष्ठ २७४, २७६

२४ इल्फोइरान डू बैरोनिक क्लिस्तसफी एकार्डिंग डू दरापदार्थी शास्त्र, द्वारा पृ० ५८० बी० १६१७, पृ० १०



प्रथमभास्कर के द्वारा वाक्यपदीय के श्लोक के उद्धृत होने के कारण और प्रथमभास्कर का समय ६२६ ई० निश्चित रूप से पता होने के कारण भत हरि के समय निर्णय की उत्तर सीमा ६०० ई० के आगे नहीं लाई जा सकती। अब तक के उपलब्ध प्रमाणों में यह प्रमाण सबसे ठोस है। निश्चित रूप में भत हरि ६०० ई० के पहले हुए थे। अब यह विचारणीय है कि यह सीमा और कितने पीछे हटाई जा सकती है।

जनाचार्य मल्लवादि क्षमाश्रमण कृत द्वाविंशत नयचक्र महाशास्त्र भतृ हरि के समय पर प्रकाश डालता है। इस ग्रंथ में भत हरि के गुरु वसुरात का उल्लेख है। कई स्थानों पर “इति भतृ हर्यादि मतम् वसुरातस्य भतृ ह्युपाधयस्य मतं तु”, “एष तावद् भतृ हरि दशनमुपेतम् यत् वसुरातो भतृ हरेरुपाध्याय” आदि रूप में भत हरि और उनके गुरु वसुरात के मतों का उल्लेख है। यह ग्रंथ विशेषावश्यक भाष्य के पहले का है। विशेषावश्यक भाष्य की रचना ५०६ ई० में हुई थी।<sup>३०</sup> इस दृष्टि से वाक्यपदीय की रचना ४५० ई० के पूर्व हुई होगी।

मल्लवादि की तरह पुण्यराज भी वसुरात को भत हरि के गुरु मानते हैं।<sup>३१</sup> चीनी भाषा में अनूदित वसुबधु के जीवन वृत्तांत से यह पता चलता है कि वसुबधु और वसुरात दोनों समकालिक थे और दोनों में शास्त्राध्यक्ष हुआ था। श्री विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार वसुबधु का समय ३३७-४१७ ई० है।<sup>३२</sup> ह्वेनत्सांग और इत्सिंग के अनुसार वसुबधु का समय ४०० ई० के आसपास होना चाहिए। इत्सिंग घमपाल और घमकीर्ति को अर्वाचीन लिखता है और वसुबधु और असंग को मध्यकालिक।<sup>३३</sup> भत हरि व वसुरात के शिष्य होने के कारण उनका समय भी ४२५ ई० के समीप निश्चित होता है।

हरिस्वामी ने शतपथ ब्राह्मण की टीका में—अ धेतु शब्द ब्रह्म एवेद विवर्ततेऽवभावेन प्रक्रिया यत इत्याहु इस रूप में वाक्यपदीय की प्रथम कारिका का उद्धरण दिया है। हरिस्वामी ने अपने समय का संकेत किया है

श्रीमतोऽवतिनायस्य विक्रमस्य क्षितीशतु ।

धर्माध्यक्षे हरिस्वामी याख्या कुर्वे ययामति ॥

यदाब्दानां कलेजगमु (यदादीनां कलेजगमु) सप्तत्रिंशच्छतानि व ।

चत्वारिंशत समाश्वा यास्तदाभाष्यमिदं कृतम् ॥

इसके अनुसार हरिस्वामी ने ग्रंथ की समाप्ति ३७४० बलि वर्ष में (तदनुसार ६३६ ई० में) की थी। परन्तु अब तो मैं उस समय किसी नए विक्रम का होना इतिहास से सिद्ध नहीं है। डा० मंगलदेव शास्त्री ने पुलकेशी द्वितीय के पुत्र विक्रम प्रथम के अवति के प्रशासक होने की सम्भावना की है (प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्रांज़क्शंस आफ द सिक्स्थ ओरियण्टल

हिंदू विश्वविद्यालय का आभारी हूँ। —लखनऊ)

३० द्रष्टव्य विशाल भारत जून १९४६ में मुनि जम्नू विजय का लेख

३१ वाक्यपदीय २। ४८६

३२ तत्त्वसंग्रह की भूमिका

३३ इत्सिंग की भारत यात्रा पृ० २७७

का फोर्स, पटना १६३० पृष्ठ ५६८)। डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप ने पट्टिशित पाठ अनुकूल माना है। श्री चन्द्रवती पाण्डेय पञ्चत्रिंशच्छतानि पाठ का अनुमान करते हैं

‘हमारी समझ तो यह आता है कि भ्रम से पचत्रिंशच्छतानि वा सप्त त्रिंशच्छतानि हो गया है और चत्वारिंशत्समाश्वाया का अर्थ है अथ सवत् का ४० वर्ष। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का अपना सवत् भी चलता था और अपने वंश का भी। प्रमाण की दृष्टि से उसके मयुरास्तम्भ का यह अभिलेख पर्याप्त है श्री चन्द्रगुप्तस्य विजय राय सवत्सरे पचमे ५ कालानुवतमान सवत्सरे एकवर्षे (सेलेक्ट इन्सक्रिप्शंस पृ० २७०)। यह गणना से ३८० ई० ठहरता है। इस दृष्टि से इस चत्वारिंशत् का मान हुआ (३८०+४०=४२० ई०, जो इस विक्रमादित्य का अन्तिम वर्ष कहा जा सकता है और सामान्यतः कलि के २५०० वर्ष बीतने का परिचायक है।’

—चन्द्रवती पाण्डेय कालिदास, पृ० १२, १६५५ परन्तु हरिस्वामी ने “अथवा सूत्राणि यथा विद्युद्देन इति प्रभाकरा” के रूप में प्रभाकर का भी उल्लेख किया है (युधिष्ठिर मीमांसक सस्कृत व्याकरण का इतिहास, पृष्ठ २५६)। कुमारिल और प्रभाकर के पीढ़ीय का अभी अन्तिम निर्णय नहीं हुआ है। स्वर्गीय श्री गगनाथ झा प्रभाकर को कुमारिल के पूर्ववर्ती मानते थे। यदि हरिस्वामी का समय ६३६ ई० भी माना जाए तो भी यह स्मरण रखने की बात है कि हरिस्वामी के गुरु श्री स्कन्दस्वामी ने निरुक्त १।२, पृष्ठ २८ पर अपने भाष्य में वाक्यपदीय की कारिका ‘पूर्वावस्थामजहत् (साधनसमुद्देश ११६) उद्धृत किया है। अतः इस आधार पर भी वाक्यपदीयकार का समय ५५० ई० के आगे नहीं बढ़ाया जा सकता।

युक्तिदीपिका (साह्यकारिका की टीका) में वाक्यपदीय के श्लोक उद्धृत हैं। इस ग्रंथ में कुमारिल या धर्मकीर्ति का नाम नहीं है। इस ग्रंथ की रचना ५५० ई० के पहले की जान पड़ती है।<sup>३४</sup>

वाक्यपदीय १/३१ की हरिवृत्ति में निम्नलिखित वक्तव्य है

अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसन्नमा च परिणामिनी प्रतिप्रसन्ना तेव तदवतिमनुपतति। तस्याश्च प्राप्तचतुषोपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रया बुद्धिबुद्ध्या विनिष्ठज्ञानस्य प्रवृत्तिराख्यायते।

यह वक्तव्य योगसूत्र भाष्य में भी २।२० और ४।२२ में ज्यों का-त्यों पाया जाता है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार यह वाक्य पचशिख का है। संभव है भत हरि ने भी पच शिख ले लिया हो। फिर भी ऐसे कई उद्धरण हैं जिनसे यह जान पड़ता है कि योगसूत्र भाष्यकार वाक्यपदीय से परिचित हैं और उसकी शब्दावली से रहते हैं।

योगसूत्र भाष्य २/६ में भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्त्योरत्यन्तासकीणयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोग कल्पते —यह वाक्य मिलता है। वाक्यपदीय २।३१ हरिवृत्ति में भी यह वाक्य मिलता है। योगसूत्र ३/१७ के भाष्य के साथ वाक्यपदीय के कई वाक्य और सिद्धांत मिलते जुलते हैं। इन्हें आकस्मिक कहकर नहीं टाला जा सकता।

वाशिष्ठा दत्ति ४।३।८८ में वाक्यपदीय का उल्लेख है। वाशिष्ठा निश्चित रूप से

४०० ई० के बाद की ओर ५५० ई० व पहले की रचना है। काशिका ५।२।१२० में केदार सिक्के का उल्लेख है। केदार नामक सिक्के को केदार सनक कुपाणो ने लगभग तीसरी शताब्दी में चलाया था।<sup>३४</sup> काशिका ३।३।४२ में प्रमाणसमुच्चय का उल्लेख है जो दिडनाग का ग्रन्थ है। काशिका ३।१।३८ में 'कल्पनापोढ' शब्द का उल्लेख है। यह शब्द भी दिडनाग की प्रत्यक्ष परिभाषा से लिया गया है। दिडनाग का समय ४०० ई० है।

काशिका ६/३/३४ में दृढभक्तिरित्येवमादिषु स्त्रीपुंवपदस्याविवक्षित्वात् सिद्धमिति समाधेयम् यह वाक्य है। इसमें रघुवश १२/१६ के 'दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे' की ओर संकेत जान पड़ता है।

काशिका १/३/२३ में किराताजुनीय ३/१४ का 'सशय्य कर्णादिषु तिष्ठते य' का उल्लेख है। किराताजुनीय की रचना ४७५ ई० के पूर्व की है। यह महाराज दुवनीत (राज्यकाल ई० ४८२-५२२) की टीका से स्पष्ट है।

काशिका के टीकाकार यासकार का उल्लेख भामह (ई० ६००) ने किया है <sup>३५</sup>  
गिष्टप्रयोगमात्रेण यासकारमतेन च।

तूचा समस्तपण्ठीक न कथञ्चिदुदाहरेत् ॥

इस श्लोक में यासकार से तात्पर्य जिनेन्द्र बुद्धि से ही है। उसे कोई दूसरा न्यासकार समझना भ्रम है। जिनेन्द्र बुद्धि ने २/२/१६ और ३/२/८७ के यास में तच्च के साथ पण्ठी समास का निषेध किया है। इस दृष्टि से काशिका वृत्ति का समय ई० ५०० के बाद नहीं बढ़ाया जा सकता।

वाणभट्ट ने भी काशिकावृत्ति का संकेत किया है<sup>३६</sup> और यह संकेत भी काशिका का समय ५०० ई० के आसपास सिद्ध करता है।

अतः काशिका वृत्ति के आधार पर वाक्यपदीयकार का काल ४५० ईस्वी के पहले सिद्ध होता है।

वाक्यपदीय के टीकाकार वषभ के समय के आधार पर भी वाक्यपदीय पाँचवीं शताब्दी अथवा इससे पूर्व की रचना है। वषभ ने लिखा है कि वह देवयश का पुत्र और विष्णुगुप्त नरेश का भृत्य था

विमलचरितस्य राज्ञो विदुष्य श्री विष्णुगुप्तदेवस्य ।

भृत्येन तदनुभाषाच्छ्रीदेवयशस्तनूजेन ॥

वर्धेन विभोदार्यं श्रीवृषभेण स्फुटाक्षरं नाम ।

क्रियते पद्धतिरेषा वाक्यपदीयोदधे सुगमा ॥

३४ वामदेवशरण अग्रवाल—'इष्टचरित एक अध्ययन' पृ० ५४

३५ काव्यालंकार ६।३६

३६ वाणभट्ट चत्वारः पितृभ्यः पुत्रा भ्रातरः प्रमत्तवृत्तयो गृहीतवाक्या कृतगुरुपदवासा न्यायवादिन मुक्तसंप्रदाय्यासगुरुको लब्धसाधुरान्दा लोक इव व्याकरणेषु परस्परमुक्तानि यलोकयन् ।

विष्णुगुप्त का समय ५३५ और ५५० ई० के बीच म माना जाता है।<sup>३८</sup> (अ) यह विष्णुगुप्त सम्राट नरसिंह गुप्त का पौत्र और कुमारगुप्त ततीय का पुत्र था। उसकी एक मुद्रा नालंदा म मिली है। बराहमिहिर (४८७ ई० म जन्म और ५८७ ई० म मृत्यु) ने भी बहत्सहिता मे विष्णुगुप्त का उल्लेख किया है।<sup>३८</sup> (ब) अत इन प्रमाणो के आधार पर टीकाकार वृषभ का समय ५५० ई० के समीप सिद्ध होता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि वृषभ वाक्यपदीय पर कई टीकाओ के होने का निर्देश करते हैं

यद्यपि टीका बह्वय पूर्वाचार्य सुनिमला रचिता ।

सात परिश्रमज्ञास्तथापि चनां ग्रहीष्यति ॥

अत ५५० ई० तक वाक्यपदीय पर कई टीकाओ का होना यह प्रमाणित कर देता है कि वाक्यपदीय की रचना इससे बहुत पहले हुई होगी।

## भट्ट हरि का जीवन

भट्ट हरि के जन्म स्थान और उनके जीवन के बारे म प्रामाणिक रूप म कुछ भी ज्ञात नहीं है। एक श्लोक के अनुसार जिसकी प्रामाणिकता निश्चित रूप से सदिग्ध है वे शबरस्वामी की क्षत्राणी पत्नी से उत्पन्न उनके पुत्र थे। इतिहास के अनुसार ये सात बार परिव्राजक और सात बार गृहस्थ बने थे। अत म परिव्राजक रूप मे इन्हें शांति मिली थी। इतिहास की उक्ति भा किंवदन्ती से अधिक मूल्य नहीं रखती।

इतिहास के अनुसार वे बौद्ध थे। मैक्समूलर ने इन्हें विद्यामान सम्प्रदाय का बौद्ध माना है।<sup>३९</sup> वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वबिन्दु मे—

यदाहु बाह्या अपि परेषामसमाख्येषमन्यासादव जायते ।

मणिहृपादिषु ज्ञान तदविदामानुमानिकाम ॥

तत्त्वबिन्दु मद्रास पृ० ६०

ऐसा लिखा है। यह कारिका वाक्यपदीय १।३५ (लाहौर संस्करण) की है। बाह्या से तात्पर्य वेदबाह्या अर्थात् नास्तिक या बौद्ध से है।

परन्तु व्याकरण सम्प्रदाय म कभी भी भट्ट हरि का वेदबाह्य के रूप म उल्लेख नहीं मिलता। वाक्यपदीय म श्रुति स्मृति की महिमा पर्याप्त गाई गई है और स्पष्ट शब्दो मे यहाँ तक कहा गया है कि जो शब्द का संस्कार है वह परमात्मा की सिद्धि<sup>४०</sup> है। वाक्यपदीय के श्लोक आस्तिक हृदय के उद्गार हैं। उसमें आविर्भूतज्योति वाले ऋषियो का सादर स्मरण है और भट्ट हरि ने अनादि निधन शब्द तत्त्व की सिद्धि विगेष रूप म श्रुति के आधार पर ही प्रतिपादित की है। बौद्ध दशन ग्रंथो म भट्ट हरि का उल्लेख बौद्ध रूप म नही

३८ (अ) यू हिंद्री आफ इण्डियन पॉपुल गुप्त बाकाटक एज २०० ५५० ए० टी०, वाल्यूम सिकरय, पृ० २१४

३८ (ब) सुवाकर दिवेनी, गणक तरणिणी, पृ० १५

३९ मैक्समूलर का तत्त्व कुरु के नाम पत्र, इतिहास की भारत यात्रा की प्रस्तावना में उद्धृत पृ० १०

४० वाक्यपदीय १।३३

है। जन प्रथो म भट्ट हरि का बहुत उल्लेख है किन्तु वहाँ भी बौद्ध रूप में नहीं। अतएव इतिहास वाली क्या किसी अन्य भट्ट हरि से सम्बंध रखती होगी। वाचस्पति मिश्र की उक्ति भी उपयुक्त आधार पर नितान्त चिन्त्य है। बहुत सम्भव है उपयुक्त श्लोक वाचस्पति मिश्र ने किसी बौद्ध ग्रंथ से उद्धृत किया हो। वाक्यपदीय के श्लोक सभी प्रकार के ग्रंथों में बिखरे पड़े हैं।

हाँ, वाक्यपदीय के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उन्हें किसी सम्प्रदाय से द्वेष नहीं था। वस्तुतः भट्ट हरि अत्यन्त शिष्ट व्यक्ति थे। उनके जस मुसस्वृत विचारक संस्कृत वाङ्मय में कम हैं। वे खण्डन-भण्डन में नहीं पड़ते। अनेक विभिन्न मतों का बहुत ही सौजन्य के साथ उल्लेख करते हैं। कहीं कहीं तो यह निर्धारण करना कठिन हो जाता है कि भट्ट हरि का अपना मत कौन है। संस्कृत के प्राचीन टीकाकारों और विचारकों में अपने प्रतिपक्षी को या नास्तिक दर्शन के मानने वाले को खरी खरी सुनाने और उनकी बुद्धि पर तरस खाने की आदत बहुत प्राचीन काल से देखी जाती है। भट्ट हरि ऐसी अहमयता से सबका मुक्त हैं।

वे उच्चकोटि के विचारक थे। बहुश्रुत थे। उन्होंने स्वयं लिखा है "भिन्न भिन्न आगमों के सिद्धान्तों के अध्ययन से प्रज्ञा और विवेक की प्राप्ति होती है। बुद्धि विशद होती है। केवल अपने तक और अपने दर्शन के पारायण से मनुष्य कितना जान सकता है। जो विभिन्न प्राचीन दर्शनों की उपेक्षा करते हैं और मिथ्या अभिमानवश वदजना की उपासना विद्या के लिए नहीं करते उनकी विद्या पूर्णरूप में सफल नहीं होती।" वाक्यपदीय को 'आगम सग्रह' का रूप देते हुए उन्होंने लिखा है कि व्याकरणदर्शन तथा अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों (याय प्रम्पान भाग) का अनुशीलन कर लेने के बाद इसकी रचना की गई है। भट्ट हरि की निरहंकारिता का एक प्रमाण तो यही है कि वाक्यपदीय ऐसे प्रौढ़ और अप्रतिम ग्रंथ को उन्होंने अपनी कृति न कहकर अपने गुरु की रचना माना।

अभिनवगुप्त जैसे आचार्य भट्ट हरि का सार्वस्मरण करते हैं। वे सदा भट्ट हरि का तत्रभवान् शब्द के साथ उल्लेख करते हैं। भट्ट हरि का सौजन्य, उनकी अगाध विद्वत्ता और उनकी चतुर्दिग प्रसिद्धि आदि सबका द्योतक अभिनवगुप्त का निम्नलिखित उद्गार है— प्रायः देखा जाता है कि ससार में जनता लोक प्रसिद्धि के आधार पर किसी में विश्वास करती है और उसकी ओर अग्रसर होती है। यह विश्वास उसके नाम के बराबर सुनाई देने से, अथवा उसके आचरण, कवित्व, विद्वत्ता आदि की प्रसिद्धि के कारण जगता है। जस कि जब कहा जाता है कि यह उसी भट्ट हरि का श्लोक प्रबंध है जिसने यह किया था, जिसकी उदारता ऐसी थी जिसका इस शास्त्र में ऐसा सार है और इसलिए उनकी कृति आदरणीय है तब जनता उस ओर स्वयं झुक जाती है।<sup>४२</sup>

४१ वाक्यपदीय २।१६२।४६३

४२ "इह बाहुल्येन लोको लोकप्रसिद्ध्या सभावनाप्रत्ययवलेन प्रवर्तते। स च सभावनाप्रत्ययो नामभक्त्यवशान् प्रसिद्धायत्तदीयसमाचारकवित्वविद्वत्तादिसमनुसरणेन भवति। तथाहि भट्टहरिणोक्तं कृतं यस्यायमौदायमहिमा, यस्यास्मिन् शास्त्रे एवविध सारो दृश्यते तस्यायं श्लोकप्रबंधस्तस्मादादरणीयमेतदिति लोको प्रवर्तमानो दृश्यते इति।"



## भट्टहरि के ग्रन्थ

व्याकरण भट्टहरि के निम्नलिखित ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—महामाध्य त्रिपाठी (महाभाष्य-त्रिपिका), वाक्यपदीय और वाक्यपदीय १, २ पर स्वागत वृत्ति। इनके सम्बन्धानुसमीक्षा नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है।

भट्टहरि १ महामाध्य के प्रथम अध्याय के तीसरे पाद पर व्याख्या लिखी है। तीन पाद पर होने के कारण उक्त विवरण का त्रिपाठी कहते थे। व्याकरण सम्प्रदाय में भट्टहरि 'टीकाकार' के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। यह प्रसिद्धि इनकी भाष्य व्याख्या के कारण है। भट्टहरि कृत भाष्यत्रिपाठी का उल्लेख बंधमान<sup>४३</sup> और हेलाराज आदि ने किया<sup>४४</sup> है। संप्रति यह व्याख्या केवल १।१।५३ तक मिलती है। इसमें एक हस्तलिख की एक प्रति लिपि श्री ब्रह्मान्तजी जिज्ञासु के पास मिलने देती है।<sup>४५</sup> प्रथम आह निम्न पर बँट का प्रदीप भट्टहरि की भाष्यदीपिका का सधु सस्वरूप है। कहा कहीं पूरे के-पूरे वाक्य ज्यो-के-र्यों लिए गए हैं। भट्टहरि की टीका का उल्लेख नागेश ने भी किया है।<sup>४६</sup> इतिहास ने इसे 'भट्टहरि शास्त्र' लिखा है और इसे पूर्ण की व्याख्या कहा है जो ठीक है। व्याकरण सम्प्रदाय में भाष्यकार पूर्णकार के नाम से प्रसिद्ध हैं। स्वयं भट्टहरि ने महामाध्यकार की पूर्णकार कहा है।<sup>४७</sup> इस ग्रन्थ के कई महत्त्वपूर्ण वाक्यों का सफलन श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने सस्कृत व्याकरणशास्त्र के इतिहास में कर दिया है।

भट्टहरि कृत शब्दधातुसमीक्षा का उल्लेख उत्पल ने शिव दृष्टि की टीका में किया है।<sup>४८</sup> इस ग्रन्थ के केवल दो श्लोक मिलने हैं जो वही उद्धृत हैं। इनमें से एक श्लोक भट्टहरि के नीतिशतक का प्रथम श्लोक है। उत्पल की दृष्टि से वाक्यपदीय और नीतिशतक के कर्ता एक ही भट्टहरि हैं ऐसा जान पड़ता है। उत्पल का उद्धरण यों है—

न केवलचात्रय पश्यत्यभिधानेन सम्प्राज्ञानाभास एव उक्तो वाक्यदृष्ट्यातु-  
समीक्षायामपि विद्वद्भट्टहरिणा

विषयादिप्रक्षणेन व्यापकस्य विहृत्यते ।

अवश्य व्यापको यो हि सवदितु स वतते ॥

४३ भट्टहरिवाक्यपदीयप्रकीर्णकयो कर्ता महामाध्यत्रिपाठा व्याख्याता च। गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ २।

४४ त्रैलोक्यगामिनी येन त्रिकाण्डी त्रिपदीकृता।

सम्प्रति समस्त विद्याश्रीका ताय हरये नमः ॥ हेलाराज, प्रतीकप्रकाश के अंत में।

४५ अब छप चुका है।

४६ नागेश ने हरिटीका का उल्लेख इन स्थलों में किया है—महामाध्यप्रदीपोद्योत १।१।८ १।१।४०, १।३।२१।

४७ अस्मिन् दृष्टाने पाणिनिना मुखग्रहण पठितमिति दृश्यते। चूर्णिकारस्तु भागप्रविभागमाश्रित्य प्रत्याचष्ट (भाष्यदीपिका, मद्रास जिज्ञासु का हस्तलेख) पृष्ठ १७६।

४८ भट्टहरि के शब्दसत्त्वादित ग्रन्थ की चर्चा अत्र भी है—तेन यदाह शब्दसत्त्वादित नाम वाच्य भट्टहरेरात्मादित महामाध्य व्याख्या, हस्तलेख, मद्रास, आर० ४४३६।

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नान्तचिन्मात्रमृतये ।

स्वानुभूत्येकमानाय नमः शांताय तेजसे ॥

इति लक्षणेन दिग्देशकालरवच्छेदो विशिष्यमाणता निषिद्धा ।

—शिवहृष्टि पृष्ठ ८४

भट्ट हरि की सबसे अधिक प्रसिद्ध रचना वाक्यपदीय है। इसमें तीन काण्ड हैं। पहला आगम काण्ड, दूसरा वाक्य काण्ड और तीसरा पद काण्ड कहलाता है। पूर्व क आचार्य वाक्यपदीय शब्द से वाक्यपदीय के प्रथम और द्वितीय काण्ड ही सम्यक्ते थे। तीसरा काण्ड प्रकीणक नाम से भी प्रसिद्ध था। हेलाराज ने वाक्यपदीय (पहला और दूसरा काण्ड) पर शब्दप्रभा नाम की टीका लिखी थी और प्रकीणक पर प्रकीणकप्रकाश नाम की टीका लिखी है। स्वयं भट्ट हरि वाक्यपदीय के दूसरे काण्ड के अन्त में पुस्तक की समाप्ति करते जान पड़ते हैं परन्तु वही उन्होंने तीसरे काण्ड की भी सूचना दे दी है

यत्प्रसक्तं केवाचितं वस्तुमात्रमुदाहृतम् ।

काण्डे तृतीये यक्षेण भविष्यति विचारणा ॥

—वाक्यपदीय २।४६१

पुण्यराज ने तृतीय काण्ड की पूर्व के दोनों काण्डों का निष्यदभूत कहा है। वस्तुतः तृतीय काण्ड में व्याकरणदशम की अनेक मायताओं पर अष्टदशमो के सिद्धान्तों के सवेत के साथ विचार किया गया है। प्रकीणक उस तरह के ग्रंथों को कहते थे जिनमें विषय विभाग ठीक ठीक बिना किए ही विचार किया जाता था (प्रकीणकत्वं च ग्रन्थस्य विषय विभागेन विना प्रवृत्तत्वमुच्यते—कल्लिनाथ संगीत रत्नाकर ३।१)। इत्सिंग ने इसी को पड़न कहा है जिसकी पहचान सबसे पहले किलहान ने प्रकीणक से की।<sup>४६</sup> प्रकीणक खण्डितरूप में ही मिलता है और पुण्यराज को भी इसके कुछ समुद्देशों का पता नहीं था। लक्षणसमुद्देश और बाधासमुद्देश इन दो का उल्लेख है पर वे मिलते नहीं हैं। पुण्यराज अथवा हेलाराज को भी वे नहीं मिले थे। लक्षणसमुद्देश का उल्लेख भट्ट हरि ने स्वयं किया है

तत्र द्वादश पट्ट चतुर्विंशतिर्वा लक्षणानीति लक्षणसमुद्देशो सापदेशः सविरोधः  
विस्तरेण व्याख्यास्यते

—वाक्यपदीय २।७६ पर हरिवृत्ति, पृष्ठ ४५ लाहौर संस्करण

बाधासमुद्देश का उल्लेख भी भट्ट हरि ने अपनी वृत्ति में किया था। इसका निर्देश पुण्यराज ने किया है 'यस्मादुक्तं येयमपरिणामविकल्पा बाधा विस्तरेण बाधासमुद्देशो समर्थयिष्यते इति'

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।७७ पृष्ठ ५०

भट्ट हरि ने वाक्यपदीय के प्रथम और द्वितीय काण्ड पर एक वृत्ति भी स्वयं लिखी थी। श्री चारण्येव शारंगी ने इस वृत्ति को लाहौर से छापा है। अब तक केवल प्रथम काण्ड

<sup>४६</sup> दृष्टव्य—इण्डियन एण्टीक्वेरी १८८३ खण्ड १२ पृष्ठ २२६, 'इत्सिंग की भारत यात्रा' के परिशिष्ट में अनुद्धित।

पर और द्वितीय काण्ड के एक चौपाई हिस्से पर ही वृत्ति छपी है। श्री चारुदेव शास्त्री ने अनेक प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि भट्ट हरि ने स्वयं वृत्ति लिखी थी और बनारस की पुस्तक में प्रथम-काण्ड की वृत्ति भट्ट हरि की वृत्ति का सक्षिप्त रूप<sup>५०</sup> है। भट्ट हरिवृत्ति के पोषक कई प्रौढ़तर प्रमाण मुझे भी मिल हैं जिनमें कुछ का निर्देश यहाँ किया जा रहा है।

अभिनवगुप्त ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, द्वितीय भाग पृष्ठ २२६ पर लिखा है

तदाह सत्रभयान् भट्ट हरि प्रतिसहस्रक्रमात् सत्यव्यमेदे समाविष्टक्रमशक्ति पश्यती। सा च अवला च चला च, प्रतिलब्धा समाधाना च, सन्निविष्ट ज्ञेयाकारा प्रतिलोनाकारा निराकारा च, परिच्छिन्नायप्रत्यवभासासमृष्टाय प्रत्यवभासा च सर्वाथप्रत्यवभासा प्रशातप्रत्यवभासा च इति।

यह अश वाक्यपदीय १।१४३ (१४४) की हरिवृत्ति पृष्ठ १२६ पर ज्या का त्यों मिसला है।

धमकीर्ति के प्रमाण कार्तिक की टीका में कणकगोमी ने लिखा है  
यदाह भट्ट हरि सर्वेषां पृथगप्यवस्ता सर्वेषु प्रतिशब्द कृत्स्नाय परिसमाप्ते।  
तथा यदेव प्रथम पदमुपादीयते तस्मिन् सर्वे रूपार्थोपप्राहिणि नियमानुवाद निबन्धनानि पञ्चांतराणि विज्ञायन्त इति।<sup>५१</sup>

गद्यमय होने के कारण यह अश अवश्य ही हरिवृत्ति का होगा। अब तक के प्रकाशित हरिवृत्ति में यह अश नहीं है।

पुण्यराज ने एक स्थान पर लिखा है  
एतेषा च वितत्य सोपपत्तिक सन्निवेशन स्वरूप पदकाण्ड लक्षणसमुद्देशे  
विनिर्दिष्टमिति ग्रन्थकृतव स्ववृत्तौ प्रतिपादितम्। जागमभ्र शाल्लेखक प्रमादा  
दिना वा लक्षणसमुद्देशश्च पद काण्ड मध्ये न प्रसिद्ध।<sup>५२</sup>

पुण्यराज का यह कहना कि ग्रन्थकार ने अपनी वृत्ति में लक्षणसमुद्देश का उल्लेख स्वयं किया है ठीक है क्योंकि वाक्यपदीय २।७६ की वृत्ति में लक्षणसमुद्देश का उल्लेख है।

भट्ट हरि के विवरण का उल्लेख वपभ ने भी किया है  
यद्यपि च सङ्गुपात्तानादिनिधनश्रुतिस्तथापि कारिकाविवरणप्रवादवसीयते  
अथद्वयांगीकरणेन शास्त्रकृतोपात्तति।

वपभ, वाक्यपदीय १।१ ३ पृष्ठ

अतः भट्ट हरि न वाक्यपदीय के प्रथम और द्वितीय काण्ड पर वृत्ति लिखी थी और चारुदेव शास्त्री ने जिन वृत्ति को प्रकाशित किया है वह भट्ट हरि की ही है।

हरिवृत्ति का अपना स्वतन्त्र मूल्य है। अनेक गम्भीर विषयों का विवेचन इस वृत्ति में किया गया है। भाषा के दार्शनिक इतिहास के लिए तो वह अत्यन्त मूल्यवान है।

५० द्रष्टव्य—वाक्यपदीय प्रथम काण्ड की भूमिका लाहौर संस्करण, पृष्ठ १६ १८

५१ प्रमाणवाचिक, ५० ४६४ राहुल साह्यायन द्वारा सम्पादित

५२ वाक्यपदीय २।७७ लाहौर संस्करण

उपर्युक्त ग्रथा के अतिरिक्त भट्ट हरिशतक और ब्रह्मसूत्र की टीका तथा मीमांसा-सूत्र पर वृत्ति—इन ग्रथा का भी भट्ट हरि ने लिखा था ऐसा सुना जाता है पर इन ग्रथों को व्याकरण भट्ट हरि की रचना मानने में कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है।

## वाक्यपदीय के अथ टीकाकार

भट्ट हरि की स्वोपनवृत्ति के अतिरिक्त वाक्यपदीय पर बहुत सी टीकाएँ लिखी गई थी। वृषभ ने पूर्वाचार्यों की टीकाओं का संकेत किया है।

## वृषभदेव

इस समय उपलब्ध टीकाओं में वृषभ की टीका उल्लेखनीय है। वृषभ का समय ५५० ई० है। यह ऊपर सप्रमाण निश्चय किया जा चुका है। वृषभ ने वाक्यपदीय और हरिवृत्ति दोनों पर टीका लिखी है। पहले वह वाक्यपदीय के श्लोक का भाव दते हैं। इसके बाद हरिवृत्ति के शब्दों की व्याख्याएँ करते हैं। वह व्याकरणशास्त्र और अथ आगमों में निष्णात जान पड़ता है। हरिवृत्ति के अनेक दुर्लभ अंशों का परिचय वृषभ की टीका के सहारे ही सम्भव है। इनकी टीका का नाम वाक्यपदीयपद्धति है।<sup>५३</sup> यह टीका प्रथम काण्ड पर ही उपलब्ध है। इसे चारदेव शास्त्री ने लाहौर से प्रकाशित किया है।

## पुण्यराज

पुण्यराज ने वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड (वाक्य काण्ड) पर टीका लिखी है। उनका दूसरा नाम राजानक शूरवर्मा था। उन्होंने लिखा है कि मैंने शशाक के शिष्य से वाक्य काण्ड पढ़ा था। यह कौन शशाक है इसके बारे में विशेष पता नहीं है। पुण्यराज का समय ६०० ई० के आसपास जान पड़ता है। पुण्यराज ने अपनी टीका में अनेक ग्रथों और लेखकों का उल्लेख किया है। जैसे काशिका वृत्ति,<sup>५४</sup> कुमारिल के श्लोकवार्तिक<sup>५५</sup>, भट्ट हरि शतक<sup>५६</sup> का एक श्लोक 'राघवानन्द नाटक' का एक श्लोक आदि उसमें उद्धृत हैं।<sup>५७</sup> राघवानन्द वैकटेश्वर की रचना है।

पुण्यराज ने 'इन्दोलक्ष्मस्मरविजयिन' यह श्लोक वाक्यपदीय २/२४६ की टीका

५३ गवन्कोर लाहौरी के हस्तलेख न० ३०७ वाली प्रति में यह पुष्पिका है इति वृषभ रचितायां वाक्यपदीयपद्धती प्रथम काण्ड समाप्तम्।

५४ यद्येव कमणोति किं मातुर्गुणै स्मरणमिति कथं प्रत्युदाहृतम्—वाक्यपदीय २।२०० पृ० १६४, यह अंश काशिका में २।३।५२ पर है। पुण्यराज ने यहीं 'कारकांतरे स्वेकैवेति वृत्तिकारा' भी लिखा है।

५५ वाक्यपदीय २।६४ में मीमांसाश्लोकवार्तिक का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत है—  
याव तो यादृशा ये च यदथ प्रतिपादने।

वर्णा प्रज्ञातमामर्थ्यास्ते तथैवावबोधना ॥ —मीमांसाश्लोकवार्तिक, स्फोटवाद ६६

५६ मणि शाखोल्लीड स्मरविजयी हेतिनिहत —भट्ट हरि शतक, वाक्यपदीय २।२६ में उद्धृत है।

५७ रामोऽर्मा भुवनेषु श्रेणीभूत विशालतालविवरोदगीर्णै स्वरै सप्तभि —वाक्यपदीय २।२६। काव्य प्रकाश की 'यादृशा चद्रिका' में यह श्लोक राघवानन्द नाटक का कहा गया है।

में उद्धृत किया है। यह श्लोक राजशेखर का कहा जाता है। परन्तु राजशेखर के ग्रंथों में नहीं मिलता। वस्तुतः यह राजशेखर का श्लोक नहीं हो सकता क्योंकि कुतब ने इस श्लोक को उद्धृत किया है। कुतब और राजशेखर समकालिक हैं। नीचे लिखे वक्तव्य से जान पड़ता है कि पुण्यराज आनन्दवदन के बाद हुए थे परन्तु थोड़े ही दिन बाद या समकालिक क्योंकि ध्वनि के भेद-उपभेद से वे पूणतया अवगत नहीं जान पड़ते

एतेन श्लोकेन प्रकारद्वयेन लक्षणा प्रदर्शिता । कदाचिमुत्थापत्यागेनवाचस्यो-  
पलक्षणमेतदेवाविवक्षितवाच्यमुच्यते । कदाचिमुत्थाप्याविरामोपायपूर्वकमया-  
र्थापलक्षणमेतदेव विवक्षितवाच्यमुक्तं विज्ञेयम् ।

—पुण्यराज वाक्यपदीय २।३१५

इस उद्धरण में अविवक्षितवाच्य और विवक्षितवाच्य दो शब्द आए हैं जो आनन्दवदन के गढ़े हुए हैं। साथ ही इनका उल्लेख लक्षणा के साथ किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि ध्वनि की पर्याप्त चर्चा पुण्यराज के समय में नहीं थी। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि मुकुलभट्ट ने ध्वनि के उपयुक्त भेदों की लक्षणा में अतर्भाव किया था समवायसम्बन्धनिबन्धनायां तु लक्षणायां अविवक्षितवाच्यता छत्रिणो यातीत्यत्रेवोदाहार्त्वा ।

—अभिधावतिमान्निका पृष्ठ २०

पुण्यराज ध्वनि के भेदों की लक्षणा के भीतर लेते हुए मुकुलभट्ट से प्रभावित जान पड़ते हैं। मुकुलभट्ट भट्टकल्लट के पुत्र और प्रतिहारेन्द्रराज के गुरु थे। भट्टकल्लट अवन्तिवर्मा (८५५-८८३ ई०) के समकालिक थे (राजतरंगिणी ५।६६)। इसलिए मुकुलभट्ट का समय ९०० ई० है। पुण्यराज ९०० ई० के बाद के हैं। पर वे अभिनवगुप्त (१००० ई०) के पूर्व हुए होंगे अथवा ध्वनि की लक्षणा के भीतर स्वीकार बिना विशेष युक्ति के नहीं कर सकते थे।

पुण्यराज ने वाक्यपदीय २।२४३ की टीका में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है

सतां च न निषेधोस्ति सोऽस्तमु च न विद्यते ।

जगत्पतेन मायेन नञश्च प्रलय गत ॥

श्री के० गम० शर्मा ने बालभट्ट के आधार पर इस श्लोक को खण्डनखण्डखाद्य का माना है और इसी आधार पर पुण्यराज को श्री हप के बाद का बारहवीं शताब्दी का माना<sup>५८</sup> है। परन्तु यह उचित नहीं जान पड़ता। मुद्रित खण्डनखण्डखाद्य में उपयुक्त श्लोक नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त यह बहुत प्रसिद्ध श्लोक है और अनेक ग्रंथों में उद्धृत पाया जाता है। हेलाराज ने भी वाक्यपदीय ३ पृष्ठ ११७ पर इसे उद्धृत किया है। श्री हप ने खण्डनखण्डखाद्य में दूसरों की कारिकाओं का भी उल्लेख किया है। अतः यदि किसी प्रति में उपयुक्त श्लोक मिले भी तो वह श्री हप का ही है नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः यह श्लोक धर्मकीर्ति का है।

पुण्यराज ने अपनी टीका में संक्षेप शैली को अपनाया है, फिर भी वह सौष्टिक-पूर्ण और गम्भीर है। मत हरि की तरह पुण्यराज भी भीमासा दर्शन के ममज्ञ जान पड़ते हैं।

## हेलाराज

हेलाराज ने वाक्यपदीय (प्रथम और द्वितीय काण्ड) पर शब्दप्रभा नाम की टीका लिखी थी। इसका उल्लेख उन्होंने कई स्थानों पर किया है।<sup>५६</sup> अतः यह टीका उपलब्ध नहीं हो सकी है। वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड (प्रकीर्णक) पर प्रकीर्णप्रकाश नाम की इनकी टीका है जो काशी से छपी है और साधन क्रिया समुद्रा से लेकर वृत्ति समुद्रेश तक द्रावकीर से भी दो भागों में शुद्ध रूप में छपी है।

हेलाराज कश्मीरी थे। वे मुक्तापीठ के मंत्री लक्षण के वंशज थे और उनके पिता का नाम भूतिराज था। अभिनवगुप्त ने अपने साहित्यिक गुरु इन्दुराज के पिता का नाम भी भूतिराज बताया है।<sup>५७</sup> यदि भट्ट-इन्दुराज और हेलाराज भाई होते तो हेलाराज का समय ९७५ ई० के आसपास होना चाहिए। हेलाराज कैयट के बाद के जान पड़ते हैं। वाक्यपदीय के वृत्तिसमुद्रेश के संपादक श्री रवि वर्मा ने कैयट और हेलाराज के कई समान वाक्यों का उद्धरण किया है और संकेत किया है कि हेलाराज कैयट के बाद के जान पड़ते हैं। मैं भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ। वस्तुतः हेलाराज कैयट के बाद के हैं। हेलाराज ने कैयट के कई व्याख्यानों का उनका बिना नाम दिये खण्डन किया है। जैसे, हेलाराज ने लिखा है

‘धातुरथ प्रयोजनमस्येतत्तु भाष्यव्याख्यानमयुक्तम्।’

—वाक्यपदीय ३, साधनसमुद्रेश पृष्ठ १७३

हेलाराज ने यहाँ जिस भाष्यव्याख्यान का उल्लेख किया है वह कैयट का है। कैयट ने लिखा है

धात्वय क्रिया सा अथ प्रयोजन यस्य साधनस्य तस्मिन् वतमानाद उपसर्गात् स्वार्थे धति प्रत्यय।

—कैयट प्रदीप ५।१।११८ ४।१।७८ भी द्रष्टव्य

अलंकार सवस्व (११३५ ई०) में कैयट के भाष्याब्धौ क्वातिगभीरम्' इस वाक्य का उल्लेख है।<sup>५८</sup> ई० ११७२ में लिखी दुषट वृत्ति में कैयट का कई बार नाम आया है। श्री युधिष्ठिर भीमांसक ने अपने 'व्याकरण का इतिहास' में कैयट का समय ई० १०३५ के लगभग अनुमान से निश्चित किया है। श्री दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य कैयट का

५६ विस्तरेणागमप्रामाण्यं वाक्यपदीयेऽस्माभिः प्रथमकाण्डे शब्दप्रभायां निरूपितमिति। (वाक्यपदीय ३।४६ पृ० ३६।)

५७ "श्रीभूतिरामनयन" स्वधितृप्रसाद" तन्त्रालोक ३७।६०, डा० के० सी० पाण्डेय द्वारा अभिनवगुप्त ऐन हिस्टोरिकल ऐण्ड फिलासफिकल स्टडी पृ० १४३ पर उद्धृत।

५८ अलंकार सवस्व अन्तिम श्लोक की वृत्ति। इस पर डा० वी० रायचन्द्र ने प्रकाश डाला था।

समय ६०० ई० मनु के आसपास मानते हैं।<sup>१२</sup> इस आधार पर हेनाराज और इन्दुराज को महोदर भाई माना जा सकता है क्योंकि इन्दुराज का भी यही समय है।

हेनाराज ने वाक्यपदीय ३ द्रव्य समुद्देश ६ की टीका में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है

एकदेशेन सारूप्ये सर्वं स्मात् सव्यवेदनम् ।

सर्वात्मना तु सारूप्ये ज्ञानमज्ञानतां प्रजेत ॥

यह तत्त्वसंग्रह की १३५८वीं कारिका है। तत्त्वसंग्रह के लेखक शास्त्ररचित का समय ७५० ई० है।

माधवाचार्य ने सवदशनसंग्रह में वाक्यपदीय के व्याख्याता हेनाराज का उल्लेख किया है

कमप्रवर्तनीयेन च पञ्चवमेन सह पदस्य पञ्चविधत्वं इति हेनाराजो व्याख्यातवान् ।

इसलिए १३वीं शताब्दी के पूर्व हेनाराज हुए थे। १००० ई० इनका समय मान लेने में कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती।<sup>१३</sup>

हेनाराज अतीव प्रतिभासम्पन्न लेखक थे। शास्त्रप्रभा और प्रकीर्णकप्रकाश के अतिरिक्त इन्होंने क्रियाविवेक वार्तिकोभेय और अद्वयसिद्धि नाम के ग्रन्थों की भी रचना की थी। इन पुस्तकों का उल्लेख उनकी टीका में मिलता है।

हेनाराज की लेखनी में अद्भुत शक्ति है। वे महाभाष्य में निष्णात, आगम शास्त्र के पण्डित विभिन्न दशनों के परिचाता और वाक्यपदीय के परम ममन हैं। इनकी टीका में जो मौलिकता और चारुता है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

## धर्मपाल

इतिहास के अनुसार धर्मपाल ने भृगु हरि के पेड़ में (प्रकीर्णक) पर टीका लिखी थी। धर्मपाल की टीका के बारे में अन्यत्र कोई उल्लेख नहीं मिलता। इतिहास के अनुसार

<sup>१२</sup> परिभाषा वृत्ति की भूमिका, पृ० ८।

<sup>१३</sup> हेनाराज ने कई श्लोकों और वाक्यों के उद्धरण दिए हैं जो अन्य कवियों के हैं। उनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है, क्योंकि वे उद्धरण उनके काल पर प्रकाश डालते हैं। इन श्लोकों और वाक्यों का मूल अभी तक नहीं मिल पाया है

स्वर्णवेशेन कलुषत्वमुपागतस्य

दूरामुखस्य तव सुन्दरि साम्यमेत्य ।

चेन प्रहर्षमरपूरितगुणैश्च

स्वाङ्गेष्वपि प्रसन्नमय न माति चन्द्र ॥

—वाक्यपदीय, ३, वृत्तिसमुद्देश ३७३ में उद्धृत

रोलम्ब शवन (गरल) ब्याल समालम्ब्यामल नम ।

नभोनिर्मलनिर्दिश यग्रपाणय वे ॥

—वही, वृत्तिसमुद्देश ३७२

भट्ट हरि और धर्मपाल समकालिक थे। धर्मपाल शीलभद्र के गुरु थे। ह्वेनच्यांग (६२५ ई०) के समय में शीलभद्र इतने अधिक वृद्ध थे कि वह ह्वेनच्यांग को पढ़ा नहीं सकते थे। धर्मपाल की मृत्यु ५७० ई० में हो गई थी। धर्मपाल अपने समय में नालंदा विश्वविद्यालय के प्रधान आचार्य थे।

भट्ट हरि के वाक्यपदीय का अय्यदशन के क्षेत्र पर प्रभाव पड़ा। छठी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक भारत में जितने महान चिंतक उत्पन्न हुए वे सब किसी न-किसी रूप में भट्ट हरि दशन से परिचित जान पड़ते हैं। भारतीय चिंतन परंपरा में एक छटकने वाली प्रथा प्राचीन काल से ही दिखाई देती है। वह है अपने संप्रदाय अथवा दशन का सवधा पोषण और दूसरों के विचारों का खण्डन। जो विचारक जिस दशन से नाता जोड़ लेता था, वह अपनी प्रतिभा का उपयोग उसी के समयन में करता था और अय्य मत उसे भ्रूटिपूर्ण दिखाई देते थे। संप्रदायनिरपेक्ष रूप में स्वतंत्र विचारक भारतीय दशन के इतिहास में अल्प हैं। भट्ट हरि के मतों की समीक्षा भी प्रायः साम्प्रदायिक आधार पर की गई है। भट्ट हरि ने वाक्यपदीय में अय्य दशनों के भी विचारों को स्थान दिया था किंतु समीक्षकों ने उन सब विचारों को वाक्यपदीय में लिखे देखकर भट्ट हरि का ही मानकर उनकी समीक्षा की है। इसके एक रोचक उदाहरण का उल्लेख आवश्यक है। भट्ट हरि ने वाक्यकाण्ड के आरम्भ में वाक्य के कई लक्षण एक साथ दे रखे हैं। ये लक्षण निश्चित रूप में सगृहीत हैं। भट्ट हरि ने भी स्वयं वाक्य प्रति मतिभिन्ना' कह कर स्पष्ट कर दिया है कि ये वाक्यलक्षण सगृहीत हैं। उन्होंने 'याय दर्शनाम्' शब्द से यह भी संकेत कर दिया है कि इन लक्षणों का सम्बन्ध भीमासा दशन से है। वाक्यपदीय के टीकाकार पुण्यराज ने भी इसे भीमासको का वाक्यलक्षण माना है और तदनु रूप व्याख्या प्रस्तुत की है। किंतु कुमारिल भट्ट को ये लक्षण वाक्यपदीय में दिखालाई दिए और सबका उन्होंने खण्डन कर दिया। कुमारिल के श्लोकवार्तिक के टीकाकार मुचरितमिश्र और पाथसारथि मिश्र ने भी व्याकरणों के मत के रूप में वाक्यपदीय में दिए वाक्यलक्षण को उद्धृत कर उनका खण्डन किया। कहने का तात्पर्य यह है कि समीक्षा करते समय आवश्यक ध्यानबोध नहीं की जाती थी। अवश्य ही दूसरे दशन के आचार्यों द्वारा उल्लिखित वाक्यपदीय सम्बन्धी मत अनेक दृष्टियों से बहुत उपादेय हैं और स्वयं भट्ट हरि के समझने में बहुत सहायक होते हैं।

बौद्ध दार्शनिकों में धर्मकीर्ति ने भट्ट हरि की भाष्यताओं की समीक्षा की है। यद्यपि धर्मकीर्ति ने भट्ट हरि का नाम नहीं लिया है किंतु उनकी भाष्यताओं का उल्लेख अवश्य किया है। प्रमाणवार्तिक के टीकाकार कणकगोमी और प्रज्ञाकर गुप्त ने भी वाक्यपदीय की अनेक कारिकाओं का उद्धृत कर उनकी समीक्षा की है। कणकगोमी की टीका में भट्ट हरि की वृत्ति का एक अंश मिल गया है जो प्रकाशित वृत्ति में सन्निहित



है। शांतरक्षित और कमलशील भी भक्त हरि से प्रभावित हैं। कमलशील ने कई कारि काओ का अर्थ स्पष्ट किया है। किसी बौद्ध आचार्य ने 'शब्दायचिन्ताविवृति' नाम का एक स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखा था। ऐसा रत्नश्रीज्ञान रचित काव्यादर्श की टीका से जान पड़ता है।<sup>१५</sup>

जन आचार्यों में मल्लवादिशमाधमण, वादिदेव सूरि, प्रभाचन्द्र आदि ने वाक्यपदीय के अनेक सिद्धांतों पर विचार किया है। वादिदेव सूरि के सामन हरिवर्ति भी थी और इसके कुछ अंश वही मिलते हैं।

भट्ट हरि की सबसे अधिक समीक्षा कुमारिल भट्ट ने की है। श्लोकवार्तिक और तत्रवार्तिक दोनों में स्थान स्थान पर भट्ट हरि का नाम दिए बिना किंतु इनकी कारिकाओं के मकन दते हुए कुमारिल ने वण, पद, वाक्य प्रतिभा स्फोट सम्बन्धी वाक्यपदीय में आए मतों की आलोचना की है। भट्ट उन्म्वेक सुचरित मिश्र और पायसारथि ने वाक्यपदीय का कई कारिकाओं के उद्धरण दिए हैं और उनका खण्डन किया है। भीमासकी में मण्डन मिश्र व्याकरणदर्शन के प्रति उदार हृदय रखते थे। उन्होंने कुमारिल के कई तर्कों के उत्तर दिए हैं। किन्तु स्फोटसिद्धि की रचना का मुख्य उद्देश्य मेरी समझ में व्याकरण के सिद्धान्त के समर्थन की अपेक्षा धर्मकीर्ति का खण्डन है। वस्तुतः स्फोटसिद्धि का अधिकांश वाक्यसमूह धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक के हैं अल्प मण्डनमित्र के हैं। वाचस्पति मिश्र ने भीमासादर्शन की दृष्टि से तत्त्व बिन्दु की रचना की है। इसमें भी वाक्यपदीय की आलोचना है।

प्राचीन नैयायिकों में जयन्त भट्ट ने यायमजरी में व्याकरणदर्शन की कुछ भाष्यताओं की आलोचना की है। जयन्त भट्ट अच्छे वैयाकरण भी थे। उनका हृदय व्याकरणदर्शन की ओर है और मस्तिष्क व्याकरणदर्शन की ओर।

छठी शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी तक के प्रसिद्ध वैयाकरणों में कारिकाकार (जयान्तिय और वामन), यामकार, कण्ठ और भोज प्रमुख हैं। यद्यपि इन आचार्यों ने व्याकरणदर्शन पर यथ नहीं लिखे हैं किन्तु इनकी टीकाओं में व्याकरण दर्शन सम्बन्धी प्रचुर सामग्री है। इनमें यामकार बड़े ही मौलिक विचारक थे। कण्ठ (ई० ६००) ने महाभाष्यप्रदीप में वाक्यपदीय का बहुत आधार लिया है और वाक्यपदीय के अनेक उलझे मतों को थोड़े में स्पष्ट रूप में रखने में सफल हैं। महाभाष्य के दार्शनिक सवेतों को वे स्पष्ट करत चलेते हैं। ऐसे अवसर पर उनकी शक्ती यो होती है

१५ एतच्च विस्तरेण शब्दायचिन्ताविवृतिं चिन्तितम् इति तत्त्वोपधायात् ।—रत्नश्रीज्ञान, काव्य तत्त्व टीका—५० पृ३। यह विद्वान् प्रमाणवार्तिक के शब्द चिन्ता प्रकरण पर भी ग्रन्थवादिमी शब्दायचिन्ता ग्रन्थ पर भी, ग्रन्थवादि है। प्रमाणवार्तिक के शब्द चिन्ता प्रकरण में उद्धृत वाक्यपदीय का सम्बन्ध नहीं जान पड़ता। उद्धरण में वाक्यपदीय की भी एक कारिका है जिसमें पाठभेद है। उद्धरणरूप उद्धरण में लिया की प्रमाणता निन्द की गई है।

‘भाष्यकारस्तु कुणिदशनम अग्निधियत’

‘ज्ञानस्य शब्दरूपत्वापत्तिरिति दशनमत्र भाष्यकारस्य’<sup>१५</sup>

कयट का प्रदीप एक अत्यंत उत्कृष्ट रचना है।

भोज (१७५ ई०) के सरस्वतीकण्ठाभरण में तो नहीं किन्तु शृंगारप्रकाश में व्याकरणदशम सम्बन्धी अपार सामग्री है। भोज ने व्याकरणदशम से सम्बद्ध प्रायः सभी पक्षों पर विचार किया है। और सब जगह से सामग्री एकत्र कर उसे विस्तृत रूप दे दिया है। इस ग्रंथ में वाक्यप्रदीप की बहुत कारिकाएँ उद्धृत हैं। सबसे अधिक हृष की बात तो यह है कि वाक्यप्रदीप द्वितीय काण्ड की लगभग दो सौ कारिकाओं की हरिवृत्ति शृंगारप्रकाश में विभिन्न स्थलों पर ज्यों की त्यों सुरक्षित हैं। भोज ने उन्हें ऐसे ढंग से अस्तव्यस्त रूप में रखा है कि प्रथम दृष्टि में उन्हें पहचानना सरल नहीं है। महाभाष्यत्रिपादी (दीपिका) के भी कुछ भाग शृंगारप्रकाश में उपलब्ध हैं। इसमें अतिरिक्त अनेक उद्धरण अज्ञात व्याकरणों के हैं। कहीं कहीं भोज ने भर्तृहरि की समीक्षा भी की है। उनके प्रतिभादशन का उही के शब्दों में उल्लेख कर भोज ने उसमें असहमति व्यक्त की है। स्फोट और शब्दब्रह्मवाद का अपने ढंग से उल्लेख किया है।

चारहवीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक संस्कृत के व्याकरणों का एक जाल-सा बिछा हुआ है। इस बीच कुछ ग्रंथ व्याकरण के शासनिक पक्ष को सामने रखकर लिखे गए थे उनमें भी कुछ ही उपलब्ध हैं। उपलब्ध ग्रंथों में भी प्रकाशित ग्रंथ अल्प हैं। इन प्रकाशित ग्रंथों के सब लेखक भी मूल रूप से शासनिक विचारधारा के नहीं थे। उन्होंने जैसे व्याकरण के अन्य पक्षों पर विचार किया वैसे ही व्याकरणदशम पर भी कुछ लिखा। किन्तु इस रूप में भी बहुत सी उपादेय सामग्री अभी तक सुरक्षित है। इस अवधि में व्याकरणदशम पर लिखने वालों में पुरुषोत्तमदेव, सायण शेष श्रीकृष्ण और भट्टोजि दीक्षित प्रमुख हैं। पुरुषोत्तमदेव (चारहवीं शताब्दी) ने व्याकरण की अनेक पुस्तकें लिखी हैं। उनमें उनका कारकचक्र व्याकरणदशम से सम्बन्ध रखता है। सायण (चौदहवीं शताब्दी) अपने युग के अद्वितीय विद्वान् थे। उन्होंने सप्तदशम सग्रह में पाणिनिदशम के नाम से व्याकरणदशम का परिचय दिया है। शेष श्रीकृष्ण अकबर के समय में थे और भट्टोजि दीक्षित के गुरु थे। उन्होंने शब्दाभरण नाम का एक प्रौढ़ ग्रंथ लिखा था जो आज अनुपलब्ध है। इनका ‘स्फोटतत्त्व निरूपण’ प्रकाशित है। इनके प्रक्रियाप्रकाश और पदचन्द्रिका विवरण में भी व्याकरण के शासनिक तत्त्वों की चर्चा है। पदचन्द्रिका उनका स्वतन्त्र व्याकरण है। शेष श्रीकृष्ण के पुत्र शेष नारायण ने महाभाष्य पर सूक्तिरत्नाकर नाम की टीका लिखी है। इसमें भीमासादशन और व्याकरणदशम का कई स्थलों पर तुलनात्मक विवेचन मिलता है। भट्टोजि दीक्षित (१६०० ई०) ने शब्दकोस्तुम में व्याकरण के दशम पक्ष पर भी यथास्थान विचार किया है। इनमें आई हुई कारिकाओं का सग्रह व्याकरणसिद्धांतकारिका के नाम से ज्ञात है। इनमें व्याकरण के शासनिक

पदाथ उल्लिखित हैं ।

सत्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक अनेक आचार्यों ने संस्कृत व्याकरणदशन की सुरक्षा में योग दिया जिनमें कुछ नयायिक भी हैं । इनमें उल्लेखनीय कौण्डभट्ट, नागेश भट्ट, जगदीश भट्टाचार्य, कृष्ण मिश्र, भरत मिश्र आदि हैं । कौण्ड भट्ट ने वयाकरणभूषण लिखा जो भट्टोजि दीक्षित की वारिकाआ की व्याख्या है । उसका लघु संस्करण वयाकरणभूषणसार नाम से प्रसिद्ध है । वयाकरण भूषण विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ है और पहली बार एक वयाकरण ने भीमासकी, नयायिकों और वेदातियों के आक्षेपों के उत्तर देने का प्रयत्न किया है । वयाकरणभूषणसार पर प्रकाशित टीकाआ में हरिराम काले की वाशिका महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है । हरिवल्लभ ने भी इस पर दपण नाम की टीका लिखी है ।

नागेश भट्ट (१७०० ई०) ने व्याकरणदशन पर स्वतंत्र ग्रंथ 'वयाकरण सिद्धांतमजूपा' लिखा है । इसका एक लघु संस्करण परमलघुमजूपा है । मजूपा की कला टीका पृ० ५३०-५३५ पर गुहमजूपा का भी उल्लेख है । नागेश ने वाक्यपदाय विशेषकर पुण्यराज और हेलाराज के आधार पर इसकी रचना की है । किंतु भीमासा और याय के पदार्थों पर भी विचार किया है । यह महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है । नागेश ने स्फोटवाद पर एक अर्थ ग्रंथ भी लिखा है जो अद्वयार से प्रकाशित है । नागेश की मजूपा पर रामसंस्कृत त्रिपाठी व पुत्र कृष्ण मिश्र की कुज्जिका नाम की टीका है । इस पर कला टीका नागेश के शिष्य वक्षनाथ पायगुण्ड की लिखी हुई है । दोनों ही टीकाएँ सारगर्भित हैं ।

जगदीश भट्टाचार्य की 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' भी प्रसिद्ध पुस्तक है । श्री गिरिधर भट्टाचार्य रचित 'विभक्त्यथनिर्णय' और गोकुलनाथ रचित 'पदवाक्यरत्नाकर' उल्लेखनीय हैं । भरत मिश्र ने स्फोटवाद पर छोटी सी किंतु विचारपूर्ण पुस्तक लिखी है । कृष्णमिश्र ने व्याकरण के अनेक ग्रंथ लिखे हैं । नागेश की मजूपा पर इनकी टीका का उल्लेख हो चुका है । व्याकरणदशन से सम्बंध रखने वाले इनके कई छोटे छोटे ग्रंथ भी प्रकाशित हैं । इनमें वादमुधाकर लघुविभक्त्यथनिर्णय और वृत्तिनौपिका उल्लेखनीय हैं । कृष्णमिश्र के पुत्र लक्ष्मीदत्त का पदाथदीपक भी व्याकरणदशन का ग्रंथ है । मोनी श्रीकृष्णभट्ट की स्फोटचंद्रिका, रसमनदि का वारकसम्बन्धोद्योत अचलोपाध्याय का वाक्यवाद श्री हरियशोमिश्र की वाक्यनौपिका (वाक्यवाद टीका) भी उल्लेखनीय ग्रंथ हैं । बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में व्याकरणदशन पर अल्प काय हुआ है । डॉ० गोपीनाथ जी कविराज श्री ए ए एस ए अम्यर और प० अम्बिकाप्रसाद उपर्याय ने व्याकरणदशन पर उच्चकोटि का निबन्ध लिखे हैं । प्रभातचंद्र चक्रवर्ती की दो पुस्तकें फिलामफी आफ संस्कृत ग्रामर और लिग्विस्टिक स्पकुलेशन आफ द हिन्दू इस अवधि की प्रसिद्ध पुस्तकें हैं । प० रामाना पाण्य का प्रतिभादशन और प० सभाषति उपाध्याय रचित मजूपा की टीका भी उल्लेखनीय हैं ।

इधर व्याकरणदशन की ओर कई विद्वानों का ध्यान गया है और इस विषय में प्रोधकाय हो रहे हैं । डॉ० व० राघवन् पिल्लै ने वाक्यपनीय का अंग्रेजी में अनुवाद

किया है। प्रो. अय्यर ने भी प्रथम बाण्ड सवृत्ति का अंग्रेजी में अनुवाद किया है। प. रघुनाथ शास्त्री ने वाक्यपदीय प्रथम बाण्ड पर वपम के आधार पर संस्कृत में टीका लिखी है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से वाक्यपदीय से सम्बद्ध विषय पर कुछ प्रबंध अंग्रेजी और हिन्दी में प्रस्तुत किए गए हैं जिनमें उल्लेखनीय डा० गौरीनाथ शास्त्री का 'फिलासफी ऑफ वड एण्ड मीनिंग' है।

## वाक्-ध्वनि-वर्ण-शब्द

व्याकरण का सम्बन्ध भाषा से है और भाषा का मूल रूप वाक है। वाक का एक स्वतन्त्र दर्शन है। वाक के बिना जगत् सूना और जीवन पगु है। ससार के प्रायः सारे व्यवहार वाग् व्यापार पर ही निर्भर है। सम्पत्ता और सस्कृति इसकी गोद में फूलती फलती हैं। वाक केवल विचारों के विनिमय का ही माध्यम नहीं, अपितु विश्व में जो कुछ सत्य है शिव है, सुन्दर है उन सब का भी व्यञ्जक है। वाक का एक स्थूल रूप है, एक सूक्ष्म रूप है। स्थूल रूप में वाक भाषा का प्रतिनिधित्व करती है। सूक्ष्म रूप में वाक ब्रह्ममय है, चित्ति तत्त्व है। वाक तत्त्वमेव चित्तित्रियारूपमित्यये (वाक्यपदीय १।१२७ हरिवर्त्ति)। भक्त हरि ने वाक की महिमा का उद्घाटन मुख्य रूप में तीन तरह से किया है श्रुति के आधार पर, आगम के आधार पर और भाषाविज्ञान के आधार पर। वेदों और उपनिषदों में वाक पर पर्याप्त विचार किया गया है। भक्त हरि ने श्रुतियों के उन वाक्यों को उद्धृत किया है जिनमें वाक सृष्टि का मूल तत्त्व मानी गयी है। सम्पूर्ण सृष्टि नाम और रूप इन दो वर्गों में विभाजित है। दोनों एक ही के विवर्त हैं। रूप अपने सूक्ष्म रूप में नाम है

नामवेद रूपत्वेन ब्रह्मे रूपं चेदं नामभावेवतस्थे ।

एके तदेकमविभक्त विभेजु प्राग्विवाये भेदरूपं वर्तते ॥

—वाक्यपदीय १।१२ हरिवर्त्ति में उद्धृत

वेद में वाक को सूक्ष्म और अथ सः अविभक्त तत्त्व कहा गया है और इसके नाना रूप माने गये हैं

सूक्ष्माभयैनाप्रविभक्ततत्त्वामेका वाचमनमित्य ब्रह्मानाम ।

उताये विदुरयामिव च एता नानारूपामात्मनि सनिविष्टाम ॥

—वाक्यपदीय १।१ हरिवर्त्ति में उद्धृत

वेद को ब्रह्मराशि कहा गया है। वेद ब्रह्म का प्राप्ति उपाय है और अनुकार भी है। प्राप्ति शब्द का प्रयोग यहाँ पारिभाषिक है। भक्त हरि के अनुसार मेरा या मैं' इस अहंकार ग्रन्थि का सवया उन्मूलन ब्रह्म की प्राप्ति है। कुछ लोगों के मत में विकारों का अपने मूलप्रकृतिरूप में हो जाना प्राप्ति है। प्राप्ति के निम्नलिखित नव विकल्प भक्त हरि ने वाक्यपदीय १।५ की वर्त्ति में गिनाए हैं—

(१) वक्त्रण्य—चक्षु आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियो हाथ पर आदि पाँच कर्मेन्द्रियो

बुद्धि और मन इन सब की निवृत्ति को वकरण्य कहते हैं। क्योंकि ससार का परिज्ञान इन्द्रियो द्वारा ही होता है, इन्द्रियो की निवृत्ति से ससार की निवृत्ति मान ली गई है।

(२) असाधना—वृषभ के अनुसार असाधना का अर्थ अबहि साधना है। बाह्य ससार में अनुकूल विषयो की साधना भी की जाती है। उससे भी तृप्ति होती है। परंतु अन्त साधना का ही महत्त्व अधिक है।

(३) परितप्ति—वह तप्ति जिसमें कोई इच्छा नहीं रह जाती।

(४) आत्मतत्त्वम्—वह अवस्था जिसमें बाह्य परिस्थिति सवथा ओझल हो जाती है और व्यक्ति केवल आत्मानुभूति में लीन हो गया रहता है। उपनिषदों में इस परिस्थिति को प्रिय स्त्री से आलिंगित पुरुष की आत्मविभोर परिस्थिति के प्रतीक के द्वारा व्यक्त किया है (आत्मतत्त्व यदुपनिषत्सु वण्यते यथेष्टया स्त्रिया परिष्वक्तो न किंचन वेद इति—बृहदारण्यक उपनिषद् ४।३।२१—वृषभ वाक्यपदीय टीका १।५)।

(५) आत्मकामत्व—रूप, रस आदि विषय भोगों की कामना न होना और केवल आत्मा की कामना होना आत्मकामत्व है। आत्मतत्त्व और आत्मकामत्व में भेद यह है कि आत्मतत्त्व में आत्मानुभूति की गहराई छीनित है जबकि आत्मकामत्व में बाह्य विषयों में अनासक्ति लक्षित है।

(६) अनागतुकायत्व—आगन्तुक या परिवर्तनशील भोगों में तितिक्षा का होना। श्रीमद्भगवद्गीता में सस्पृशज भोगों को उत्पन्न होनेवाला (आगामी) माना गया है।

(७) परिपूर्ण शक्तित्व—सब तरह के सामर्थ्य का होना।

(८) कालवर्तियों का आत्ममात्रा में असमावेश—जन्म विपरिणाम आदि विकार कालवर्तियों के रूप हैं। कालवर्तियों के धर्मों का आत्मवर्तियों के धर्मों से पृथक् परिज्ञान कालवर्तियों का आत्ममात्रा में असमावेश है।

(९) सर्वात्मना नराश्य—सवथा निरीह होना। नराश्य परमसुख माना गया है।

प्राप्ति के उपयुक्त भेद एक दूसरे से सवथा भिन्न न होकर एक दूसरे से मिले हुए हैं। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि वेद के प्रसंग में प्राप्ति शब्द का जो पारिभाषिक अर्थ भीमासादशन में गृहीत है उससे अतिरिक्त अर्थ यहाँ भक्त हरि द्वारा गृहीत हुआ है।

वेद ब्रह्म का अनुकार अर्थात् अनुकरण माना गया है। ऋषियों ने दृष्ट श्रुत और अनुभूत अर्थों का सब साधारण के लाभ के लिए प्रवचन किया है। यह प्रवचन वाक् के द्वारा ही सम्भव है। यद्यपि वाक् सूक्ष्म, नित्य तथा अतीन्द्रिय है फिर भी ध्वनि-नाद के संयोग से वह अभिव्यक्त होकर भेद के द्वारा अभेद के प्रतिपादन में समर्थ होती है। सूक्ष्म और अतीन्द्रिय वाक् प्रतिभा द्वारा जन्मशक्ति के साहचर्य से ज्ञान के रूप में, अर्थ के रूप में परिणत होती है और उपदेश का विषय बनती है। अतीन्द्रिय के बाध को समझाने के लिए भक्त हरि ने स्वप्न वृत्त का उदाहरण दिया है। स्वप्न में बिना बाह्य व्यापारों के विषय अनुभूत होते हैं और उनका अवास्थान किया जाता है।

यां सूक्ष्मा नित्यामतीन्द्रिया वाचमय साक्षात्कृतधर्माणो म प्रवश पश्यति  
तामसाक्षात्कृतधर्ममयोपरेभ्य प्रवेदयिष्यमाणा चित्तम समामनति स्वप्नयत्तमिव  
दृष्टश्रुतानुभूतमाचिरयासत इत्येष पुराकल्प ।

—वाक्यपदीय १।५ हरिवृत्ति पृ० १३ (द्रष्टव्य निरुक्त १।२०।२)

अतीन्द्रिय प्रज्ञास्वरूप वाक कसे ज्ञान का अथवा प्रत्यक्ष का विषय होती है  
इस पर भत हरि की तरह योगसूत्र १।४३ के भाष्य में व्यास ने भी प्रकाश डाला है ।  
उनके मत में शब्द के साहचर्य से अतीन्द्रिय और असकीर्ण प्रज्ञा ज्ञान के रूप में बदल  
जाती है और प्रत्यक्ष का विषय होती है । योगियों को सूक्ष्म प्रज्ञा का दर्शन 'निर्विक  
समाधि' में होता है । किंतु निर्विक समाधिज दर्शन शब्द सकेत के साहचर्य से परि-  
शुद्ध स्मृति में ग्राह्यस्वरूप वाला हो जाता है । बिना शब्द का सहारा लिए उस निर्वि  
तक समाधिज ज्ञान का उपदेश दूसरों को दिया ही नहीं जा सकता और न वह दूसरों  
से गृहीत हो सकता है । ग्राह्यस्वरूप वाली अवस्था को 'निर्विकर्ता समापत्ति' कहते हैं ।  
दृष्ट मन्त्रों का वाणीरूप में व्यक्त होने का प्रकार यही माना जाता है । इसी पद्धति से  
वेद प्रकाश में आए । इसमें यास्क व्यास और भत हरि एकमत<sup>१</sup> हैं ।

वाक की महिमा उसके व्यावहारिक दृष्टि से भी स्पष्ट है । वाक और ज्ञान के  
विषय में दो तरह के मत प्रचलित रहे हैं । कुछ लोग मानते हैं कि शब्द प्रकृति है और  
ज्ञान उसका विकार है । कुछ आचार्य ज्ञान को प्रकृति और शब्द को उसका विकार  
मानते हैं । पहले पक्ष के अनुसार शब्द भावना बीज रूप में मस्तिष्क में उद्बुद्ध होती  
है । इसके बाद उसके अर्थ का संवेदन होता है । दूसरे पक्ष के अनुसार अर्थ ज्ञान पहले  
होता है । बाद में उसके लिए शब्द की सृष्टि होती है । इसलिए ज्ञान प्रकृति और  
शब्द उसका विकार है । भत हरि पहले पक्ष के समर्थक हैं । उनके मत में शब्द भावना  
अनादि है । शब्द की अभिव्यक्ति के प्रकार अर्थात् प्रयत्न भी स्वाभाविक (प्रतिभा  
जय) हैं ।

अनादिश्च घानादभावना प्रतिपुरुषमवस्थितज्ञानबीजपरिग्रहा । न ह्येतस्या  
क्यञ्चित्पौर्ष्वेयत्व सभवति । तथा ह्यनुपदेशाद्या प्रतिभागम्या एव  
करणविद्यासादय ।

—वाक्यपदीय १।१२३ हरिवृत्ति पृ० ११०

शब्दानुविद्ध ज्ञान के द्वारा वस्तु का अवभास होता है । सुप्तावस्था में भी  
जाग्रत् अवस्था की तरह ज्ञानवृत्ति व्यापारित रहती है । केवल अंतर यह है कि  
स्वप्नावस्था में शब्दभावनाबीज अत्यंत सूक्ष्म रूप में रहते हैं । अन उस अवस्था में  
आचार्यों ने तामसी अवस्था (अस्पष्ट अवस्था) कहा है ।<sup>२</sup>

सभी प्रकार के ज्ञान निम्नलिखित तीन प्रकार से व्यावहारिक अनुभव के विषय

१ द्रष्टव्य-वाक्यपदीय १।१५ हरिवृत्ति पृ० १३ १४, निरुक्त १।२० और योगसूत्र यास भाष्य  
१।४३ और गोपीनाथ जी कविराज का लेख शैव एव शाक्त स्कूल, हिन्दी भाषा फिलासफी  
इंस्टीट्यूट बैरुत, बाल्यूम पर्स, पृष्ठ ४०१, ४०२ ।

२ हरिवृत्ति, वाक्यपदीय १।१२४, पृष्ठ १११ ।

होते हैं—(१) स्मृतिनिरूपणा (२) अभिजल्प निरूपणा और (३) आकार निरूपणा के द्वारा ।

शब्दानुविद्ध बुद्धि के द्वारा 'यह है', ऐसा है' आदि का जो स्मरण होता है वह स्मृति निरूपणा कहा जाता है। स्मृति के द्वारा शब्द और अर्थ का अभेद नान अभिजल्प निरूपणा कहलाता है। 'यह वह है' इस रूप में जब शब्द का अर्थ के साथ अध्यास किया जाता है उस शब्द का अभिजल्प कहा जाता है। भर्तृ हरि ने अभिजल्प की परिभाषा या की है

सोऽप्यमिति सम्बन्धाद्रूपमेकी कृत यदा ।

शब्दस्यार्थेन त शब्दमभिजल्प प्रचक्षते ॥

—वाक्यपदीय २।१३०

कुछ लोगो के मत में 'वह' इस तरह के अनुसंधान में स्मृति, 'यह वही है' इस तरह के बोध में प्रत्यभिज्ञा, वह उसके तरह है' इस तरह के ज्ञान में उत्प्रेक्षा, 'यह वही है' इस तरह की धारणा में अनुयोगव्यवच्छेद होता है और ये सभी विक्लप अभिजल्प के ही भेद हैं।<sup>३</sup>

यह इसका साधन है 'यह इनका साध्य है' इसे आकारनिरूपणा कहते हैं। स्मृति निरूपणा से ज्ञान का अभिजल्पनिरूपणा से शब्द का और आकारनिरूपणा से अर्थ का निरूपण होता है ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं।<sup>४</sup>

भर्तृ हरि के मत में जिस तरह प्रकाशकत्व अग्नि का धर्म है चैतन्य आत्मा का धर्म है उसी तरह नान भी शब्द का धर्म है। बिना शब्द के नान ही नहीं सकता। यदि वाक न हो, जगत प्रकाशित ही न हो। वाक ही प्रकाशक है। वही समस्त विद्याओं, कलाओं तथा विज्ञान का आधारभूत है। सभी विद्यार्थे वाक् रूप से बुद्धि में निबद्ध हैं। वाक न हो तो घट-पट आदि की सत्ता ही न हो। वाक से ही वस्तु का निष्पादन होता है। वह सूक्ष्म रूप में बुद्धि में स्थित है। उसकी बाह्य अभिव्यक्ति ही वस्तु है। वाक तत्त्व और चेतना तत्त्व एक ही बात है। वाक तत्त्वमेव चित्तित्रियारूपमित्यर्थे।<sup>५</sup>

वपभ के अनुसार वाक और चैतन्य में अभेद इस दृष्टि से है कि परा प्रकृति में भावों के आकार ग्रहण के रूप में विवर्त होता है और वह चैतन्य के रूप में परिणत होता है। (यतश्च भावनामाकारपरिग्रहेण परा प्रकृति विवर्तते, तच्चैतनात्मना परिणमते इति वाक्चतययोरभेद ।—वाक्यपदीय १।२७ टीका, पृष्ठ ११४)

३ इश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, प्रथम भाग, पृष्ठ ११५

४ वृषभ, वाक्यपदीय टीका १।१२६, पृष्ठ १०७ (स्मृतिनिरूपणयेति ज्ञानस्य निरूपणमाह। अभिजल्पनिरूपणयेति शब्दस्याह। आकारनिरूपणयेत्यर्थस्याह। सर्व एवैते शब्दानुविद्धा व्यवहाराश्च न स्वतन्त्ररूपेणेति।)

५ वाक्यपदीय १।१२५, १२६, १२७।



## तीन तरह की वाक्

### वखरी

भत हरि ने वाक के तीन अवयव माने हैं। वखरी, मध्यमा और पश्यती। भत - हरि के अनुसार वखरी सभी तरह के अभिव्यक्त शब्दों का प्रतीक है। यह व्यापाररूप और वाररूप दोनों है। व्यक्तवण और अव्यक्तवण साधुशब्द और असाधु शब्द (अपभ्रंश) गाड़ी के पहिये की चरचराहट, नगाड़े की आवाज बांसुरी की ध्वनि और घीणा की झंकार जैसे अपरिमित ध्वनि समूह का द्योतक शब्द वखरी है और इसलिये वखरी के अपरिमित भेद सम्भव हैं।<sup>६</sup> चरचराहट, झंकार आदि यद्यपि शब्दभेद के रूप में गहीत होते हैं, वाक के भेद के रूप में नहीं, फिर भी अथवाद के आधार पर वखरी की व्याख्या में इनका स्थान<sup>७</sup> है। वखरी शब्द का निवचन विलर शब्द से किया जाता है जिसके अनेक तरह से अर्थ किये गये हैं

(१) विलर शरीर तत्र भवा तत्पय त चेष्टा सपादिकेत्यथ ।

—अभिनवगुप्त, ईश्वरप्रत्यभिनाविवर्तिविमर्शिनी भाग ३ पृ० १८७

(२) वक्तमि विशिष्टायां खरायस्याया स्पष्टरूपाया भवा वखरी ।

—वादिदेवसूरि स्याद्वादरत्नाकर १।७ पृष्ठ ८६

(३) विलर इति देहेन्द्रिय सघात उच्यते तत्र भवा वखरी ।

—जयतभट्ट वाक्यमञ्जरी पृ० ३४३ चोखम्बा संस्करण १९३६

(४) विशिष्ट खमाकाश मुख्यरूप राति गहणाति इति विलर प्राणवायुसंघार-विनिष्ट वर्णोच्चार तैनाभिव्यक्ता वखरीति ।

—जयरय अलंकारसवस्व टीका पृ० २

वखरी सज्ञा वर्णों के उच्चारण से सम्बद्ध है। वखरी की विशेषता यह है कि यह स्वसंवेद्य और परसंवेद्य दोनों है। व्याकरण की दृष्टि से वखरी का महत्त्व बहुत अधिक है। इसी के आधार पर साधु असाधु विचार चलता है। और कुछ आचार्य यहाँ तक मानते हैं कि वखरी का संस्कार अथ सभी वाक के अवयवों के संस्कार का उपलक्षण है। येय वखरी वाक तस्या सस्त्रियमाणाया सर्वा एव संस्कृता भवन्ति तज्जातीय क्त्वात्—वपम, वाक्यपदीय १।१४३, पृष्ठ १२८) ।

६ परै संवेद्य यस्या श्रोत्रविषयावेन प्रतिनियत श्रुतिरूप सा वखरी। श्लिष्टा व्यक्तवणसमुच्चारणा प्रसिद्धमाधुभावा अष्टसंस्कारा च। तथा याऽच्चे, या दुऽदुमी, या वेणौ (या) कीर्णाया मित्यपरिमाणभेदा ।

—वाक्यपदीय १।१४३, हरिवृत्ति, पृष्ठ १२६

वखरी करणव्यापारानुग्रह। श्रोत्रज्ञानविषया शब्दबुद्धि ।

—महाभाष्यव्याख्या, हस्तलेख, मद्रास, मार ४४३६

७ ननु वाचो भेदकथनमेतत्, न तु शब्दमात्रभेदकथनम्। तत्कथं शब्दाच्च उपात । उच्यते, अथवाददर्शनान्दिमुपात्तम्।

—वपम वाक्यपदीय १।१४३

## मध्यमा

मध्यमा को भक्त हरि ने 'अतः सन्निवेशिनी' कहा है। उसका व्यापार नीचरी है। वह सूक्ष्म प्राणशक्ति के सहारे परिचालित होती है। उसका उपादान केवल बुद्धि है। वक्ता की बुद्धि में शब्द क्रम रूप से प्रतिभासित हो जाते हैं। उसमें क्रमसन्निवेश नहीं भी हो सकता है। मध्यमा में बुद्धिगत आकार के अवयवों से क्रम, और एक बुद्धि होने के कारण और शब्द का बुद्धि से अभिन्न होने के कारण अन्तर्गत दोनों रूप माने जाते हैं—(बुद्धि-स्यवान् अतः सन्निवेशित्वमादाकारेण प्रत्यवभासात् क्रमवत्त्वमेकबुद्धिस्वादव्यतिरेका दन्तमवम्—वचन वाक्यपदीय १।१४३, पृ० १२६)। मध्यमा में यद्यपि प्राणवृत्ति का संचार माना जाता है फिर भी प्राणवृत्ति का अतिशयण कर शब्द के उपादान के रूप में केवल बुद्धिमात्र भी रह सकती है। दूसरे शब्दों में, चित्तन शब्द से जो कुछ द्योतित होता है उस मध्यमा का रूप लिया जा सकता है। भक्त हरि के अनुसार द्रुता, मध्यमा और विलम्बिता इन तीनों वृत्तियों में शब्द के उच्च माद (गर्भ) उपाशु, परमोपाशु और सहस्रतन्त्र ये पाँच औपाधिक भेद माने जाते हैं।<sup>१५</sup> इनमें उपाशु और परमोपाशु मध्यमा के प्रतीक हैं। उपाशु मौन भाषण को कहते हैं। इसमें प्राणवृत्ति का संचार रहता है। पर वाक किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा गीत नहीं हो सकती। वह दूसरे द्वारा संवत्सा अवस्था होती है। प्राणवृत्ति की सहायता के बिना जब शब्द अपने एकमात्र उपादान बुद्धि में ही समाविष्ट रहता है उस अवस्था को परमोपाशु कहते हैं।

तत्र प्राणवृत्त्यनुग्रहे सत्येव यत्र गद्यरूप परसवेद्य भवति तदुपाशु ।

अतरेण तु प्राणवृत्त्यनुग्रहे यत्र केवलमेव बुद्धौ समाविष्टरूपो बुद्ध्युपादानएव गद्यात्मा ततः परमोपाशु ।

—वाक्यपदीय २।१६ हरिवृत्ति पृ० १६

मध्यमा के भीतर ये दोनों अवस्थाएँ आ जाती हैं और इनके आधार पर मध्यमा के दो भेद माने जा सकते हैं। वाक के तीन भेद—वैखरी, मध्यमा और पश्यती में मध्यमा मध्य अवस्था को अभिव्यजित करती है और इसलिए उसे मध्यमा कहते हैं।

## पश्यती

पश्यती का स्वरूप भक्त हरि ने निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया है प्रतिसहस्र क्रमा सत्यप्यभेदे समाविष्ट क्रमशक्ति पश्यती । सा चला च अचला च प्रतिलब्धा समाधाना च, आवृत्ता विगुह्या च सन्निवेशित्वमाकारा प्रतिलीनाकारा निराकारा च, परिच्छिन्नाप्रत्यवभासा ससृष्टाप्रत्यवभासा प्रज्ञातसर्वाप्रत्यवभासा चत्यपरमित-भेदा ।<sup>१</sup>

—वाक्यपदीय १।१४३ हरिवृत्ति पृष्ठ १२६

पश्यती प्रतिसहस्रक्रमा है। प्रतिसहस्रक्रम परमोपाशु के एक डग और परे की

विषय है। तब तब की वचन शक्ति है। उसके माग बुद्धि का माग होता है। बुद्धि द्वारा व्यवहार करने में तब का व्यवहार होता है। य व्यवहारोचित सत्त्विक तब दूसरे निमित्तों से युक्त होते हैं—प्रमाणा की मागमित्र चक्षुषां से परिचायित होते हैं उनका साक्षात्कार सा होता है। इस पूरी प्रक्रिया की प्रतिगह्यताम कहते हैं। (यत्तु प्रतिगह्यताम शक्तियोगया बुद्ध्या निमित्तात्तरोपगम्यापामभ्यन्ते तब व्यवहारोचित हि शक्त्या तब रूपमिव साक्षात् विषयो तत् प्रतिगह्यतामम्—वाक्यपदीय २।१६ हरिवर्ति)। परमती में तब शक्ति सन्निहित रहती है इसलिए उसमें तबो में भेद के कारण भेद होना चाहिए। पर यस्तुत भेद नहीं होता क्योंकि तब आरोपित होता है वास्तविक नहीं। जब बुद्धि में तबरूप का पूणतया उपसहार हो जाता है यह असम्भ्यात अवस्था की-मो हो जाती है और लोक व्यवहार (शब्द व्यवहार) से अतीत होती है। वाक की अन्त विरहित अवस्था का मूल पश्यती है, इसलिए उन सबका इसके साथ सम्बन्ध है और उनका स्वरूप का बोध भी इसमें है। अतः पश्यन्ती चला और अचला दोनों है। यह चला है क्योंकि शक्त्या की अभिव्यक्ति में गति होती है। टीकाकार यपम के अनुसार पश्यन्ती चला इसलिए है कि रूप रस आदि विषयो में तीन बुद्धि साधारण व्यक्ति को वाक की तरह जान पड़ती है। (रूपादिषु विषयेष्वर्वादिशक्त्या विविक्ष्योत्पद्यते बुद्धिवर्गिव हि सा—वाक्यपदीय १।१४३ टीका) वह अचला है क्योंकि अपने स्वरूप में वह निस्पन्द है। यह प्रतिलब्धा है क्योंकि उसमें तब आदि की अलग अलग उपलब्धि सम्भव है। यह समाधाना भी है क्योंकि क्रम आदि उसमें एक साथ समाहित भी हैं। यह आवृत्ता है क्योंकि वह अपभ्रंश आदि से सकीर्ण है। वह विणुद्धा भी है क्योंकि वाक के रहस्य को जानने वाला (वागयोगविद) उसके अन्तरूप में अथवा अपभ्रंश से अस्वीकृत रूप के दर्शन करते हैं वह सबका शुद्ध स्वरूप वाली है। वह सन्निविष्टज्ञाकारा है क्योंकि उसमें ज्ञेय का रूप आविष्ट (जुटा) रहता है जैसे ज्ञान में ज्ञेय का रूप अनुस्यूत रहता है। उसमें ज्ञेय का आकार पूरा लीन भी रहता है और ऐसा भी हो सकता है कि उसमें ज्ञेय के आकार का बिल्कुल ही परिज्ञान न हो। उस दशा में वह निराकारा है। उसमें शब्द के अर्थों का, गो अथ आदि का अलग अलग अवभास हो सकता है। इस दशा में उसे परिच्छिन्नाथ प्रत्यवभासा कहते हैं। सन्निविष्टज्ञाकारा और परिच्छिन्नाथ प्रत्यवभासा इन दो रूपों में भेद केवल इतना है कि एक में ज्ञेय का आकार ज्ञान में सन्निहित रहता है और दूसरे में शब्द में अर्थ का आकार सन्निहित रहता है। एक ऐसी भी दशा सम्भव है जिसमें शब्द और अर्थ एक दूसरे में बिल्कुल गुथे हुए से जान पड़ते हैं—समृष्ट रहते हैं। प्रतिलीनाकार और समृष्टाथप्रत्यवभास इन दो रूपों में यह भेद है कि पहले में आकार का परिज्ञान अत्यन्त कठिन है पर दूसरे में शब्द और अर्थ के आकार का अलग अलग तो नहीं परन्तु समृष्ट रूप में ज्ञान सम्भव है। ऐसा भी हो सकता है कि अर्थों का अवभास अनुद्वन्द्व रह जाय उनका बिल्कुल ही भान न हो। उस समय पश्यती प्रशांतसर्वाथप्रत्यवभासा है। इस तरह पश्यती अनेक भेद वाली है। परन्तु अपने मूल रूप में वह क्रमरहित है स्वप्रकाशा है और सविद्रूप है।

चैतन्यी मध्यमा और पश्यती के लिए इतिहास के निदर्शन का उल्लेख करते हुए

मन हरि न महाभारत के कुछ श्लोकों को उद्धृत किया है। उद्धृत श्लोकों में कुछ श्लोक महाभारत के आश्वमेधपर्व के २१वें अध्याय में पाठभेद के साथ मिलते हैं। भगु हरि द्वारा उद्धृत श्लोकों का सारांश निम्नलिखित है —

भारती वाणी (संस्कृत) दिव्य और अदिव्य भेद से दो प्रकार की है। उमम एव प्राण और अपाण के बीच रहती है और दूसरी जिना प्राणवृत्ति के ही रहती है और अप्रेयमाणा भी है। उससे प्राण उत्पन्न होता है और प्राण में युक्त हाथर वह व्यवहार का साधन बनती है। व्यवहारनिवर्धन वाक् के भी तीन रूप हैं। घोषिणी, जाननिर्घोषा और अघोषा। घोषिणी और निर्घोषा में निर्घोषा का अधिक महत्त्व है। मन हरि न तीन प्रकार के वाक् के लिए भी महाभारत का उद्धरण दिया है। महाभारत के अनुसार वैखरी वाक् प्राणवृत्तिनिर्गम्या है अर्थात् प्राणा के आधार पर उसकी भित्ति निर्मित है। मध्यमा वाक् का उपादान बुद्धि है और उमम क्रम रहता है। परंतु प्राणवृत्ति नहीं रहती। पश्यती में क्रम का उपगमन हो गया रहता है उसमें किसी प्रकार का विभाग नहीं होना। वह स्वप्रकाशा है और नियत है। वाक् के स्थूल भेदों में संपृक्त होने पर भी उसमें कोई विकार नहीं होता। वह अमृतकला है।<sup>६</sup>

यह ध्यान देने की बात है कि मन हरि परा वाक् का कहीं उल्लेख नहीं करते। वे वाक् के केवल तीन अवयव पश्यती मध्यमा और वैखरी ही स्वीकार करते हैं। मन हरि के इस व्यवहार में कुछ प्राचीन आचार्यों ने यह निष्कर्ष निकाला था कि व्याकरण शास्त्र में परा वाक् का कोई स्थान नहीं है। अभिनवगुप्त ने लिखा—“ननु पश्यत्येव पर तत्त्वमिति जरदव्याकरणा मय ते”<sup>७</sup> अर्थात् प्राचीन व्याकरणों के अनुसार पश्यती ही परमतत्त्व है परा वाक् नहीं। इक्ष्वरप्रत्यभिज्ञाविवर्तिविमर्शिनी में अभिनवगुप्त ने व्याकरणों के साथ शास्त्राथ किया है और समझाने का प्रयत्न किया है कि व्याकरणों को भी परा वाक् की सत्ता माननी चाहिए।<sup>८</sup> धेमराज ने भी लिखा—“नदब्रह्ममय पश्यतीरूप आत्मतत्त्वमिति व्याकरणा”<sup>९</sup> अर्थात् व्याकरणों के मत में पश्यती ही परमतत्त्व है। वाक् के तीन प्रकार का उल्लेख सुचरित मिश्र ने भीमासाश्लोकवार्तिक की काशिका नाम्नी टीका में किया है—“त्रेधा हि वाच विभज्यते वैखरी मध्यमा सूत्रमा चेति। यथात्म—

नदब्रह्म वतेषा हि परिणामि प्रधानवत् ।

वैखरीमध्यमासूक्ष्मा वागवस्था विभागत ॥ —काशिका टीका पृष्ठ २४८

मन हरि ने परा वाक् का उल्लेख क्या नहीं किया, उसकी सत्ता क्यों नहीं मानी, यह प्रश्न विचारणीय है। उनके नय्या वाच पर पदम (वाक्यपदीय १।१४४) इस वाक्य से स्पष्ट है कि वे वाक् के केवल तीन ही अवयव मानते हैं। परा वाक् की खोज भी उनके समय अवश्य रही होगी। उपयुक्त श्लोकों की व्याख्या में

६ वाक्यपदीय १।१४३ हारेवृत्त में उद्धृत।

७ इक्ष्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, द्वितीय भाग, पृष्ठ १६१।

८ द्रष्टव्य वाणी, द्वितीय भाग, पृष्ठ १६५।

९ प्रत्यभिज्ञाहृदय, पृष्ठ ४३ अनुसार संस्करण।

चत्वारि वाक् परिमिता पञ्चानि' यह कथन उद्धृत किया है। इसमें यह स्पष्ट है कि ये चार भेद संप्रगत थे। वैंगरी, मध्यमा और पञ्च तीनों वाक्य परा वाक् की वर्णा भवश्य च न गृहीधी। सभी यही उपयुक्त मंत्र उद्धृत किया जा सकता है। कथन तीन भेद मानने में उक्त मंत्र के चत्वारि भागों का सामञ्जस्य नहीं रहता।

इस प्रश्न पर पहलू का कुछ विज्ञान का ध्यान गया था। नागार्जुन ने इस प्रश्न का एक उत्तर निकाला। उनका मत है भत हरि के त्रयी वाक्य कहने का कारण यह है कि वैंगरी, मध्यमा और पश्यती इन तीनों तक प्रकृति प्रत्यय विभाग का ज्ञान होता है। यद्यपि पश्यती लोकाध्यवहार से सर्वथा पर है फिर भी योगिया का उगम भी प्रकृति प्रत्यय का विभाग दृष्टिगोचर होता है। परा वाक् में प्रकृति प्रत्यय धातु का ज्ञान योगिया को भी नहीं होता। इसलिए भू हरि ने परा वाक् का उगम नहीं किया और वाक् को केवल तीन अवयव धारणी माना।

पश्यती तु लोकाध्यवहारातीता योगितां तु तत्रापि प्रकृति प्रत्यय विभागा यतिरस्ति, परायां तु नेति प्रम्या इत्युक्तम्

—श्रीत, महाभाष्य पञ्चगान्धर्वक।

परन्तु नागार्जुन की यह उक्ति युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि भत हरि जो लक्ष-शब्द और भाग संप्रगत का विकास जस गूढ़ विचार सामने रख सकते हैं तो परा वाक् के नाम लने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए थी और परा वाक् की सत्ता चाह जिस किसी रूप में भी मानत हुए वाक् को त्रयी वाक्य कहना असंगत होता। नागार्जुन ने प्रमाण के रूप में 'स्वरूप ज्योतिरेवान् परावागनपायिनी यह वाक्य उद्धृत किया है। परन्तु वाक्यपदीय की हरिवर्ति में 'यायमजरी म और स्पष्टवादरत्नाकर में परावागन पायिनी के स्थान पर सूत्रमावागनपायिनी पाठ मिलता है। वही-वही सूत्रमा का स्थान पर सभा पाठ है। अस्तु नागार्जुन की उक्ति से उपयुक्त प्रश्न का समाधान नहीं होता।

हेलाराज का ध्यान इस प्रश्न पर अवश्य गया होगा। क्योंकि एक स्थान पर वे पश्यती को ही परा वाक् के रूप में व्यवहृत करते हैं

सर्विच्च पश्यतारूपा परावाक् शब्द ब्रह्ममयोति ब्रह्मतत्त्व शब्दात् पारमार्थिकान् मिच्छते। विवत दत्ताया तु यत्पर्यायना भेद

—हेलाराज वाक्यपदीय ३ द्रव्य समुद्देश ११।

इसमें तो इतना स्पष्ट हो जाता है कि हेलाराज के अनुसार भत हरि परा की सत्ता नहीं मानते और पश्यती को ही परम तत्त्व मानते हैं। परन्तु यह प्रश्न अभी बना हुआ है कि परा वाक् को स्वीकार करने में उनके सामने क्या कठिनाई थी।

एक कठिनाई का संकेत उत्पलन किया है। उपन के मत में यदि व्याकरण प्रत्यभिज्ञान में गृहीत पश्यती के स्वरूप की मान लें तो उन्हें ईश्वर की भी सत्ता (उपगम) माननी पड़गी

पश्यती च नैश्वरप्रत्यभिज्ञात् 'यायेन' शब्दनात्मिका परमेश्वरशक्तिरिष्यते भवति ईश्वरोपगमप्रसङ्गात् अपितु सूक्ष्मो वाच्याभेदेन स्थित वाचक शब्द इत्येव शब्दनात्मासी।

—शिवशक्ति २।३५ पृष्ठ ५८।

वैयाकरणभूषण के एक टीकाकार कृष्ण मित्र ने स्फोट को ही परा वाक माना है, परा वाक ही शब्दब्रह्म है। 'अत्र परावाक् स्फोट शब्देनोच्यते। सर्व शब्दब्रह्म इत्युच्यते' (कृष्णमित्र, वैयाकरणभूषण टीका, मैयुष्मिन् पृष्ठ १)। परन्तु ऐसा जान पड़ता है परा वाक को वाक्यपत्नीय में स्थान न देने का मुख्य कारण भक्त हरि का प्रतिभावाद है। प्रतिभावाद पर आगे विवेचन किया जायगा। यहाँ केवल यह दिखलाना है कि भक्त हरि क मत से वाक का मूल प्रतिभा है वाग विकाराणा प्रकृति प्रतिभामनुपरति (वाक्यपदीय १।१८ हरिवृत्ति, पृष्ठ २७)।

व प्रतिभा, सत्ता और महासत्ता का एक ही तत्त्व मानते हैं।

तदभ्यासाच्च शब्दपूर्वक योगमधिगम्य प्रतिभा तत्त्वप्रमवा भाव विकारप्रकृति सत्ता साध्यसाधनवित्युक्ताम् सम्यगवबुद्ध य नियता क्षेमप्राप्तिरिति।

—वाक्यपदीय १।१३२ हरिवृत्ति, पं० ११८।

शैवागम में विश्व का विकास परा वाक से व्यक्त किया गया है। भक्त हरि विश्व का विवर्त प्रतिभा से मानते हैं। प्रतिभा से विश्व का विकास मानने पर उन्हें परा वाक् नाम की किसी अथ वस्तु के मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। शैवागम में भी परा वाक और परा सत्ता को एक ही माना गया है

चित्ति प्रत्यक्षमशक्तिमा परावाक स्वरसोदिता।

स्वातन्त्र्यमेतमुच्य तदश्वय परमात्मन ॥

सा स्फुरत्ता महासत्ता देवकालाविनेयिणी।

सया सारतया प्रोक्ता हृदय परमष्ठिन ॥

उत्पलनारिका १३ १४।

भक्त हरि ने परशद का आध्यात्मिक अर्थ में केवल एक बार प्रयोग किया है और उसे प्रतिभा के अर्थ में किया है। 'भेदानुरागमात्रच परस्मिन् अभेदे शब्दात्मनि सनिवेशयति (वाक्यपदीय १।११८ हरिवृत्ति पं० १०५) टीकाकार वपम ने यहाँ परस्मिन् का अर्थ प्रतिभास्वरूपी शब्दतत्त्व किया है (परस्मिन् इति प्रतिभास्ये गदतत्त्वे—वृषभ पं० १०६)।

शिवदृष्टिकार उत्पल और उनके अनुगामी अभिनवगुप्त आदि ने व्याकरणों द्वारा परा वाक के गृहीत न किए जाने पर जो आश्लेष लगाए हैं उन पर विचार करने के पूर्व कश्मीर शैवागम में गृहीत परा पश्यन्ती आदि का संक्षेप में उल्लेख यहाँ आवश्यक है।

## कश्मीर शैवागम में वाक्

शैवागम की दृष्टि में परमेश्वर ही गद राशि है। उसकी शक्ति भिन्न और अभिन्न रूप में विविध है। मातृका के वर्गाष्टक म्द्र के शक्त्यष्टक हैं और पचास वण म्द्र की पचाम शक्तियाँ हैं। आगमों में प्रकाश गरीर वागे विमर्गात्मा भगवान का स्वल्प शक्त्यामय

माना गया है।<sup>१३</sup> शवागम म वाक का एक सूत्र सत्ता या शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। शक्ति (शक्त्यद्वयवाद नहीं) के रूप में मानने का प्रधान कारण यह है कि कश्मीर के ग्रामासवादी वाक को पाणि आदि की तरह इन्द्रिय रूप नहीं देना चाहते। उनके मत में संपूर्ण ज्ञान और बोध सविनमय है। 'प्रकाश और विमर्श' इन दो तत्त्वा में संपूर्ण विश्व आ जाता है। प्रकाश और विमर्श दो विभिन्न वस्तु नहीं हैं, किंतु एक ही के दो पहलू हैं। विश्व का वाक्य अंश प्रकाश है और वाचक अंश विमर्श है। वाक्य और वाचक में कोई भेद नहीं है।

न च वाच्य पथक जातु वाचकाद ध्वनिनिष्ठतः ।

—मानिनीत प्रवाचिक पृ० ४० ।

इसलिए वाक्य विमर्श में अभिन्न है, परंतु निवरूप है और स्व पर प्रकाशक है— इत्येवात्मकविमर्शपदादिभिः

शब्द स्फुटत्वत इह स्वपरप्रकाशः ।<sup>१४</sup>

## चार प्रकार की वाक्

वाक के चार प्रकार के भेद की खोज अथवा प्राचीन है। ऋग्वेद का चत्वारि वाक परिमिता पन्थानि यह सूत्र<sup>१५</sup> उपयुक्त भेद का आधार मान लिया गया है। परंतु चार से बढ़कर ऋषि का तात्पर्य क्या था वह आज तक स्पष्ट नहीं हो सका है। ब्राह्मण ग्रंथों में चार प्रकार की वाक का तात्पर्य मनुष्य की भाषा पशुप्रा की बोली पत्निया के कूजन और क्षुद्र जंतुभा जस मरीच्य आदि की चर्चिप्रा—इन चार रूपों में बतलाया गया है।<sup>१६</sup> प्राचीन वैयाकरण चार प्रकार की वाक का अभिप्राय नाम आख्यात उपसर्ग और निपात के रूप में समझते थे। याज्ञिक ने अपने समय में प्रचलित ग्रंथ अर्थों का भी उल्लेख किया है।<sup>१७</sup> बहुत बाद में चार प्रकार के वाक का विवरण परा पश्यन्ती मध्यमा और वैगरी इन चार रूपों में किया जान लगा। महाभाष्यकार पतञ्जलि (५० पू० द्वितीय गतांगी) तक यह अर्थ स्वीकृत नहीं हुआ था। मुक्त एका जान पड़ता है य चार भेद पढ़ने पहले तत्र ग्रंथों में व्यवहृत हुए। उसका प्रसार बाद में उपनिषद् पर पडा और वैयाकरण मत हरि भी इन भेदों से प्रभावित हुए। परंतु भक्त हरि ने परा वाक का अपनाना में शक्य नहीं किया। तब तीन पश्यन्ती मध्यमा और वैगरी—की एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत की जा तत्र ग्रंथों में गुनी व्याख्याओं से बहुत दूर तक भिन्न है। शवागम के अर्थों को सभी मत हरि के वाक्य हुए और प्राय सभी मत हरि के व्याकरण ज्ञान से परिचित हैं। वैगरी आदि की व्याख्या के लिए तत्रा की अपनाना वाक्यपदीप्रसार के अधिक कुरी है। अथवा ही व मत हरि के

१३ शरत्पथभित्तिविमर्शविमर्शानि त्रिंशद् भाग, पृष्ठ १६६ ।

१४ शक्तिवाचकप्रकाश पृष्ठ ४३ ।

१५ शरत्पथभित्ति ११५४।६ ।

१६ शरत्पथ भित्ति ४।१।३।५

१७ शरत्पथ भित्ति १ । परिशिष्ट

विपरीत परा वाक की सत्ता मानते हैं और पश्यती आदि का विवेचन आगम की मायतामा के अनुसार करते हैं फिर भी वे अपने मन की पुष्टि के लिए वाक्यपनीय के अवतरण आदर के साथ उद्धृत करते हैं। अस्तु आगमा म वाक के चार भेद परा, पश्यती, मायमा और वखरी स्वीकृत कर लिए गए और इनकी चर्चा इनकी अधिक हुई कि वाद का सम्पूर्ण सम्स्कृत साहित्य और लोक साहित्य उनके प्रभाव में आ गए। और नय व्याकरण ने भी परा का स्थान दत्त हुए चार भेद मान लिए।

## वैखरी

शवागम के अनुसार वाक का वखरी रूप त्रियाशक्ति से परिचालित है। च्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति ये तीन शवागम की आधारशिला हैं। त्रियाशक्ति का प्रतिनिधित्व वैखरी करती है। वखरी त्रियाशक्तिरूपा है। जिह्वा व्यापार वागिन्द्रिय का उपलक्षण है और वह विमल स्वभाव वाला है। सभी तरह के व्यापार या क्रियाएँ—विमल रूप के भीतर आ जाती हैं। वैखरी में वे रूप मिलते हैं। एक सघोष और दूसरा अघोष। सघोष से यहाँ तापय अथ द्वारा श्रूयमाण से है जो दूसरी द्वारा स्पष्ट सुन लिया जाता है। अघोष से तापय यथा उपायु से है अर्थात् ऐसा उच्चारण जो स्वतः सुनाई दे परन्तु जो दूसरी को न सुनाई दे सके। सघोष और अघोष दोनों रूप गन्तानुबुद्धि होते हैं। स्वतन्त्र वण के उच्चारण में सुने जान की शक्ति अपेक्षाकृत अधिक होती है। पद भी यदि उमम अथ वण हा, अच्छी तरह सुन जा सकते हैं। परन्तु वाक्य में श्रूयमाणानुबुद्धि अस्पष्ट रहती है क्योंकि बुद्धि वर्णों के सकलन और स्मरण की क्रिया में मलग रहती है इसीलिए स्फुट श्रवण संभव नहीं। अतएव वैयाकरण भी वाक्यस्फाट का बुद्धिग्राह्य ही मानते हैं।

वखरी मध्यमा का बाह्य प्रसार है। प्रमाणा का स्थान करण अभिहनन रूप जो व्यापार है वखरी पहले उसका रूप धारण करती है पुनः उन व्यापारों से संपादित गदरूप धारण करती है और श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य होकर भिन्न रूप से आभासित होती हुई तथा वेद्य अथवा ग्राह्य वस्तु के स्वरूप को छनो हुई सी परिस्पष्ट होती है। वखरी व्यापार रूप और कायरूप दोनों हैं।

अभिनवगुप्त ने सामान्य वखरी और विशेष वखरी के आधार पर वखरी के कई रूप माने हैं

वचन सप्तधा। तद यथा मध्यमारूपतत प्ररोहात्मक सामा यवखर्यात्मक तत्प्ररोहात्मक विशेषशब्दात्मक वखरीस्वभाव आवेगोचित विशेषवखरीरूप तत्प्रबंध विच्छेदश्च।

—अभिनवप्रसारती तृतीय भाग, पृ० ३०७

शवागम में गृहीत वखरी का उपयुक्त स्वरूप भक्त हरि के मत में मल खाता है। वखरी गद का निवचन अभिनवगुप्त ने विपर गद में किया है जिसका अर्थ शरीर है।

वखर शरीर तत्रमया तत्पयत्त चेष्टा संपादिकृत्यय।

—अभिनवगुप्त, ईश्वरप्रत्यभिनाविवतिविमर्शिनी भाग २ पृ० १८७



विशेष तार अने समुद्र तार ध्वनि व प्रतीक होने व कारण इगवा नाम बैजरी पडा होगा ।

## मध्यमा

अन्तरण मन बुद्धि और महार सहायवाला है । मध्यभूमि म पुण्ड्रक प्राणाधार म व विग्राम करता है । विमल शक्ति जब अन्त करण को प्रेरित करती है तब वह शक्ति मध्यमा वाक कहलाती है । विमल शक्ति स प्रेरित अन्तरण म विकल्पना नामक व्यापार पैदा होता है, जिसके भीतर सकल्प निश्चय और अभिमान व्यापार गृहीत है । उस समय वह विमलमयी वाक सत्त्व वस्तु (ग्राह्य अथवा वाच्य और सकल्प करने वाल (ग्राह्य अथवा वाचक) को स्पष्ट रूप स प्रथम स ग्रहण करती है । चंद्र के घट देखने की प्रिया म इस घट को मैं चंद्र देग रहा हूँ इस रूप म ग्राह्य और ग्राह्य दोनों का स्पष्ट भाव होता है । चित्तनप्रधान हान व कारण मध्यमा को चित्तन शब्द से भी कहते हैं । इसलिए मध्यमा जागृति रूप भी मानी जाती है । जागृति इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति व बीच की वस्तु है । मध्यम होने के कारण मध्यमिति के प्रतीक वाक को भी मध्यमा वाक कहते हैं ।

कश्मीर श्वागम म मध्यमा ही विकल्प भूमि मानी जाती है । विकल्प के प्राण अभिलाषाश हैं, विकल्प म ही वाचक का स्वरूप निहित है जो सत्त्व अभाव रूप म होता है । किसी शब्द का सकेत आदि भी विकल्प भूमि म ही हाता है । अभिनवगुप्त के मत म जो शब्द मुनाई देता है, वास्तव म वह वाचक नहीं है । उसके पूर्व का मध्यमास्थित जो उसका स्वरूप है वही वाचक है । क्योंकि वाच्य और वाचक म यह वही है ऐसा अध्ययन माना जाता है । स्वतन्त्रता का स्वतन्त्रतातर म अध्ययन संभव नहीं है । इसलिए शब्द का जागरूक और क्रमिक रूप है वह मध्यमावस्था म ही स्फुट हा गया रहता है । श्रोतग्राह्य जो शब्द है वह मध्यस्थित शब्द रूप का एक विकृतित या पल्लवित रूप है । विकल्प घट से बाह्यघट म कोई भेद नहीं होता । दोनों का रूप एक ही माना जाता है । वही घटाभास देग आन्ति अथ आभासा व सत्त्वरे स्वतन्त्रभाव प्राप्त करता है । यही बात ग द के विषय म ठीक है । वही शब्द स्वरूप म पूर्ण आभासित होने पर भी दूसरे आभासा स भेद करने के लिए श्रोतग्राह्य गरीर वाला माना जाता है । यही उसका स्वतन्त्रता है ।<sup>१८</sup>

अभिनवगुप्त के मत म स्मित मध्यमा का सूचक है क्योंकि स्मित एक तरह का भीतरी सज्ज है जो मध्यमा का रूप है—

‘स्मित ह्यत सज्जलरूपा मध्यमा सूचयति’ —

—अभिनवभारती भाग तृतीय पृ० ३०७

## पश्यन्ती

पश्यन्ती म ग्राह्य और ग्राह्यगत क्रम देश और काल दृष्टि से यद्यपि सभव है, परन्तु वह स्फुट नहीं होता। क्योंकि पश्यन्ती का विमल निर्विकल्पक होता है वह अक्रम है और इसलिए उसमें विभाग सभव नहीं है। जिस तरह प्रसेवक (बोरा) अपने भीतर अनराशि को समेट रहा है उसी तरह पश्यन्ती में भी ग्राह्य और ग्राह्यगत क्रम अतः संकुचित रहते हैं। अतः पश्यन्ती को सहस्रक्रम वाली कहते हैं। उसमें शब्द अतर्हीन में रहते हैं। अतः उसे सूक्ष्म भी कहते हैं। उसमें रस सर जैसे पद और देवदत्ततुरगादि जैसे वाक्य क्रमहीन रूप में पिण्डीभूत से हो गये रहते हैं। एक में मिले रहते हैं। जिस तरह सूत्र अधिक से अधिक भाव को अपने अन्दर समेटे रहते हुए भी सूक्ष्म कहा जाता है उसी तरह पश्यन्ती का अभिजल्प भी सूक्ष्म माना जाता है। भगवद् हरि ने भी पश्यन्ती को 'प्रतिसहस्रक्रमा और समाविष्टश्रमशक्ति' कहा है।

पश्यन्ती को इच्छाशक्ति रूप माना गया है। मध्यमा नानशक्तिरूपा है और वक्त्रा न्रियाशक्तिरूपा है। इच्छाशक्ति नानशक्ति और त्रियाशक्ति का अनुग्राहक है। वैसे ही पश्यन्ती भी मध्यमा और वक्त्रा का अनुग्राहक है। पश्यन्ती को बोध्य और बोध्यस्वभावा भी माना गया है। उसमें वस्तु का अवयव परिपूर्ण रहता है। इच्छाशक्ति का प्रकाश रूप अप्रतिहत होता है। इच्छाशक्तिमयी पश्यन्ती विद्याशक्ति और उसके प्रसारस्वरूप बुद्धि और इन्द्रिय वगैरे को समेटती हुई निर्विकल्पक नाग का उद्बुद्ध करती है।

कश्मीर शैवागम की दृष्टि में पश्यन्ती में चित्त की भी सत्ता है। इसी लिए वह पश्यन्ती का परा वाक के रूप में नहीं स्वीकार करता

यत पश्यत्या प्रमाणोपपन्न चित्ताभयत्वं तत पश्यत्या परत्वं शिवदृष्टि-  
गास्त्रे निवारितम् ।<sup>१६</sup>

मात्र ही पश्यन्ती देश और काल से उसके मत में, संकुचित है और जमा कि उसके नाम (पश्यन्ती शब्द) से घनित होना है वह दश त्रिया अथवा देखने के व्यापार के कारण सम्भव विषयगमित है। देश और काल से संकुचित वस्तु परिपूर्ण नहीं हो सकती। अतः पश्यन्ती को परा वाक का महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

शिवज्ञान के किसी किसी आगम में पश्यन्ती को अब य परा वाक कहा गया है। परन्तु सामान्य और उत्पल ऐसे स्थला में परा का पश्यन्ती में उपचार मानते हैं। श्रीकिरणसहिता में नाद विदु आदि के रूप में पश्यन्ती में परा का उपचरित रूप स्वीकृत है।<sup>१७</sup>

पश्यन्ती को देश और काल से संकुचित इसलिए मानते हैं कि यदि पश्यन्ती देश और काल से असंकुचित मानी जाएगी तब मध्यमा में जो विकल्प होता है और

१६ ईश्वरप्रयमिज्ञाविवर्तिविमर्शिनी, त्रिनाथ भाग, पृ० १६०

२० शिवदृष्टि ३।१५, और उभ पर उत्पन्न का टीका।

के आधार पर नहीं गता है और न उस दंग काल से सीमित माना है। अभिनवगुप्त ने यह सुझाव रखा कि यदि पश्मती की दंग काल से सङ्कुचित नहीं मानेंगे तो मध्यमा और वैखरी में भी वाक को असङ्कुचित ही मानना पड़ेगा।<sup>१४</sup> इसलिए पश्मती को दंग काल से सङ्कुचित ही मानना चाहिए। परन्तु यही तर्क शवागम की परा' के विरुद्ध भी रखा जा सकता है क्योंकि इस तर्क के अनुसार 'परा' की नियम असङ्कुचित मानि विगपताएँ वैखरी में भी आ जानी चाहिए। अभिनवगुप्त के मत में वाक को करण रूप में मानने पर वह वर्मोद्भयवग की वस्तु होगी इसलिए उसे वस्तु रूप (वक्ति) में स्वीकार करना चाहिए। परन्तु भक्त हरि ने स्वयं शब्द तत्त्व को अनाति निधनब्रह्म रूप में प्रतिष्ठित किया है। इसलिए अभिनवगुप्त का उपर्युक्त आशेष निःसार है।

भाषा के व्याकरण ने परा वाक को स्वीकार कर लिया परन्तु उन पर कश्मीर शवागम का प्रभाव न पड़कर तत्त्व यो का पडा। नागे ने परा, पश्मती आदि का विवचन तत्र प्रथा के आधार पर किया है जो प्राचीन व्याकरण सम्प्रदाय के मतों का सन नहीं माना।

## भाषा

### संस्कृत

संस्कृत का प्राचीन नाम भाषा था। बोलचाल की भाषा होने से इसे भाषा कहते थे। भाष्यत इति भाषा। बाद के व्याकरण विनम पाणिनि मुख्य है। बहिर संस्कृत से अथवा तात्स भाषा से लौकिक संस्कृत को अलग करने के लिए इसका लिए भाषा शब्द का व्यवहार करते थे। जब बोलचाल में अपभ्रंश आया, अपभ्रंश करने लगी तो उससे पाणिनि की 'भाषा' को अलग करने के लिए संस्कृत शब्द का प्रचलन हुआ। अपभ्रंश शब्दों को प्रकृति प्रत्यय के भ्रमेला में डालने की आवश्यकता प्रारम्भ में नहीं थी। एक तरह से वे असंस्कृत थे। जिन शब्दों को प्रकृति प्रत्यय के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता था वे ही संस्कृत शब्द थे। और ऐसे शब्दों से गठित भाषा संस्कृत भाषा थी। संस्कृत शब्दों में स्वर दिया हुआ के अथवा व्यक्त करता है। यास्व ने संस्कार शब्द का उल्लेख किया है और भाष्यकार ने भी पदों के संस्कार का उल्लेख किया है। (संस्कृत्य संस्कृत्य पदानि उत्तज्यन्ते महाभाष्य १।१।१) संस्कृत का अर्थ शुद्ध की हुई भाषा नहीं है जैसा कि बहुत-से लोग समझते हैं। यह उन शब्दों की व्यक्त करनी है जो प्रकृति प्रत्यय के द्वारा बनाए जा सकते हैं जिनकी सिद्धि की जाती है। भक्त हरि ने स्वयं स्वर शब्दों का प्रयोग किया है (शब्द ब्रह्मणो हि स्वरूपसंस्कार साधुत्वप्रतिपत्त्यय वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।१।१) यद्यपि संस्कार का भाव स्पष्ट करते हुए कहा है कि किसी विगप या उत्पन्न का आधार यहाँ संस्कार से तात्पर्य नहीं है अपितु प्रकृति प्रत्यय आदि के विभाग से है। न विगप्योत्पत्तिरथ संस्कार, अपितु प्रकृति

प्रत्ययादिविभागावाह्यानम (ईश्वरप्रत्यभिनाविवर्तिविमर्शिनी द्वितीय भाग, पृष्ठ १६३) कालिदास ने सस्कृत के लिए सस्कारवत्येव गिरा, (कुमारसम्भव १।२८) शब्द का प्रयोग किया है। इस पर मरिलनाथ न लिखा है—सस्कारो व्यञ्जकजया गुद्धि। सस्कारपूतेन पर वरेण्य (कुमारसम्भव १।६०)। इसमें भी सस्कारपूत शब्द का उपयुक्त ही भाव है। सस्कृत शब्द का भाषा के अर्थ में व्यवहार वारमीकि रामायण में हुआ है। साथ ही सस्कृत से इतर भाषा का भी संकेत है। पलजलि के समय में प्राकृत बालवाल में आ गई थी।<sup>२८</sup> भत हरि के समय तक सस्कृत लोक जीवन से दूर जा पड़ी थी और इसलिए 'दबी वाक' मान ली गई थी। (वाक्यपदीय १।१५५)।

### अपभ्रंश

सस्कृत के व्यञ्जक अपभ्रंश शब्द से उन शब्द समुदायों की ओरित करत है जिनके मूल (प्रकृति) सस्कृत शब्द रहे हैं। पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएँ उनमें मत में सस्कृत से विभक्त हुई हैं। अपभ्रंश के निषय में वाक्यपदीय में कई उल्लेखनीय बातें दी गई हैं और अनेक तरह की विचारधाराओं का संकेत किया गया है।

भत हरि के मत में सम्भारहीन शब्द को अपभ्रंश कहते हैं। भत हरि ने सप्रहकार के एक वाक्य का उल्लेख किया है जिसमें सस्कृत को अपभ्रंश की प्रकृति माना गया है। शब्दप्रकृतिरपभ्रंश इति सप्रहकार (वाक्यपदीय हरिवर्ति १।१८८)। उनका मत में ऐसे अपभ्रंश की जिसका मूल सस्कृत न हो स्वतन्त्र सत्ता नहीं है (नाप्रकृतिरपभ्रंश स्वतन्त्र कश्चिद विद्यते। सबस्यैव साधुरेवापभ्रंशस्य प्रकृति।—वाक्यपदीय १।१४८ टीका)।

अपभ्रंश शब्द के बारे में चार मूल्यवान विचार भत हरि ने व्यक्त किए हैं—

(१) गुद्ध सस्कृत शब्द के उच्चारण के असाध्य से या प्रमाद से उभका अगुद्ध उच्चारण चल पड़ता है और वह कालान्तर में शब्द मान लिया जाता है। गोशब्द से गावी शब्द उच्चारण की अशक्ति या प्रमाद से चल पड़ा।

(२) बहुत से अपभ्रंश शब्द प्रतीक पद्धति पर और अनुकरण के आधार पर प्रचलित हो गए। जैसे सस्कृत में गोणी शब्द आवपन (एक विशेष प्रकार की धनी) के अर्थ में व्यवहृत होता था। गों के लिए गोणी शब्द का व्यवहार संभवतः इसलिए होने लगा कि उसका धन गाणी के आकार में साम्य रखते थे या गाणी की तरह अधिन दूध धारण करने में समर्थ थे (गोणी वेद्य गौ गौणीति बहुक्षीरधारणादिविषयादावपनत्वसामान्यादभिधीयते।—वाक्यपदीय हरिवर्ति १।१४९)।

(३) कुछ अपभ्रंश शब्दों की स्वतन्त्र सत्ता थी। अर्थात् उनकी प्रकृति का कोई

२५ महाभाष्य १।३।२ महाभाष्यकार के समय में दृष्टि के लिए लोक में 'किसि' शब्द और दृश्य के अर्थ में 'दिसि' शब्द प्रचलित थे। लोक ही कृष्यर्थे किसि प्रयुक्तने दृश्यर्थे च दिसिम् महाभाष्य १।३।२। महाभाष्य में देव दिव्य (देवत्व के लिये), आणवयति, वग्नि और वग्निनिये प्राकृत शब्द मिलते हैं। 'स्वपादिपु' (१।१।६१) वार्तिक अपभ्रंश मुनि शब्द को सामने रखकर लिखा गया था। सपनि—सोवइ।

पता नही था। इन्हें ही पीछे के व्याकरण देखी गल्त द्वारा यकन करने लग (प्रसिद्धेस्तु  
रूढितामापद्यमाना स्वातन्त्र्यमेव कचिदपभ्रंशं प्रयुज्यते—वाक्यपदीय हरिवर्ति  
१।१४८)।

अनभट्ट ने इस पर टिप्पणी करत हुए कहा है कि सस्कृत के साथ साथ अथ  
भाषाओं की भी मट्टि हुई होगी। यवन ज्ञान में यवन भाषा ही पहले बनी होगी।  
यवनों के यहाँ भी पहले सस्कृत भाषा थी बाद में अपभ्रंश का प्रयोग प्रारम्भ हुआ—  
यस उत्पत्ति में कोई प्रमाण नहीं है।

न हि तदानीं सस्कृतमेव सप्त न भाषा तरमित्यत्र मानमस्ति। तत्तद्यवना  
सिन्धो तदीयभाषाया अपि तदानीमेव सप्तत्वात्। न हि तेषामपि प्रथम  
सस्कृतेनैव व्यवहार पञ्चादपञ्च शब्दभाषाप्रवृत्तिरिति कल्पनाया मानमस्ति।

—अनभट्ट महामाध्यमप्रौढोद्योतन प्रथम भाग पृष्ठ ४७

(८) सस्कृत में दा के विकृत या विकृतिरूप यान अपभ्रंश में भी मूल  
सस्कृत में की अपेक्षा कुछ विगिष्ट अथ रघत थे (तस्यपञ्च गमिच्छति विगिष्टाथ  
निवर्गिनम्—वाक्यपदीय १।१८८)। इसका अनुसार गो शब्द के लिए गौ म जितने  
गायी गायी, गोता गोपोतलिका आदि शब्द प्रचलित थे वे बवल गौ अथ को नहीं  
यक्त करत थे अपितु विशेष प्रकार या जाति के गौ अथ को प्रकट करत थे। इनमें से  
प्रत्येक के अर्थ में कुछ विशिष्टता थी। भाषा विज्ञान के अनुसार गोपोतलिका का गो ग द  
का अपभ्रंश नहीं माना जा सकता। अवश्य ही लोभ में गोपोतलिका ग द गाय के  
जिमी विगप नस्त के लिए प्रयुक्त होता होगा। पर गिग समुदाय में वह प्रचलित  
नहीं था। इसलिए पतञ्जलि ने लोक में प्रचलित मानत हुए उन शब्दों को अपभ्रंश  
ग द माना।

अतः हरि ने अपभ्रंश के विषय में उक्त प्रवाण का भी उक्त किया है जो आज  
भी किसी न किसी रूप में सजीव है। अतः हरि के समय में अपभ्रंश का व्यवहार इतना  
घट गया था कि उन्हीं की प्रवानता हो गई थी। (तरेव प्रसिद्धतरो व्यवहार) और  
उहाँ कहा गुद्ध (साधु) ग द के प्रयोग में सशय होता था उसका निणय उसके अपभ्रंश  
के आधार पर किया जाता था। (मति च साधुप्रयोगात्सगये यस्तस्यापञ्च गस्तेन सप्रति  
निणय विद्यते।—वाक्यपदीय हरिवर्ति १।१५४) अतः एक ऐसा वग मड़ा हो गया  
था जो अपभ्रंश की ही सस्कृत का मूल (प्रवृत्ति) मानता था और सस्कृत का अप  
भ्रंश की विकृति मानता था। उनका मत में प्राकृत ग द का अर्थ था साधु ग द का  
समुदाय जो प्रकृति से उत्पन्न है। विचार बाट में पता हुआ और स्वर सकार आदि  
विकृत भाषा में ही किए जात हैं। प्राकृत (मूल) भाषा में नहीं।

अनित्यवादिनस्तु ये साधना धमहेतुत्व न प्रतिपद्यन्ते सन्तममयादिसङ्गो  
साधुव्यवस्था भवति ते प्रवृत्तौ नच प्राकृत साधुना गद्धाना समदमाचक्षत।  
विकारस्तु पञ्चाद व्यवस्थापित य सभि नबुद्धिभि पुरुष स्वरसस्कारा—  
क्षिभिर्निर्णयत इति।

—वाक्यपदीय हरिवर्ति १।११५।

कुछ लोगो के मन में मस्कृत भाषा कभी भी अपभ्रंश (अपभ्रंश शून्य) नहीं थी। मस्कृत और अपभ्रंश का सदा से साथ-साथ व्यवहार होता आया है। दोनों अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती हैं। व्यवहार में एक शब्द का साधु और दूसरे का अपभ्रंश उसी रूप में कहते थे जैसे एक स्त्री को गम्या और किसी दूसरी को अगम्या मानते थे। यद्यपि दोनों की विशेषताएँ स्त्रीरूप में मग्न में एक ही रही हैं। और दोनों का गम्यत्व और अगम्यत्व केवल परम्परा से परिचालित है न कि स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक है (येषामपि च नव पुराकल्पो न च द्रव्यो वागसकीर्णो वदचिदासीत्तेषामपि गम्यागम्यादिव्यवस्यावदिय साध्वसाधुध्यवस्या नित्यमविच्छेदेन शिष्टं स्मरते—वाक्यपदीय हरिवर्त्ति १।१५६)।

अपभ्रंश की अथवाधकता शक्ति के बारे में भी वाक्यपदीय में मुख्यरूप में तीन तरह के विचार व्यक्त किए गए हैं।

(१) अपभ्रंश शब्द साक्षात् वाचक नहीं है। उनके मुनन पर श्राता को गुद्ध शब्द का स्मरण होता है और तब अथ बाध होता है। अतः अपभ्रंश शब्द साधु शब्द के व्यवधान से अथ प्रत्यायक होता है।

(२) अपभ्रंश शब्द प्रमिद्धिवातात् रुद्ध होकर बिना साधु शब्दों की याद दिलाये ही अथ बोधन होता है।

(३) जिस रूप में साधु शब्द साक्षात् अथ बोधक होता है उसी रूप में अपभ्रंश शब्द भी साक्षात् अथबोधक होता है। वाचकत्व की दृष्टि से साधु शब्द और अपभ्रंश शब्द में कुछ भी अंतर नहीं है।

सिद्धांत रूप में तृतीय मत ही वैयकरणों का मान्य है। भाष्यकार ने भी माना है कि शब्द और अपभ्रंश दोनों से समान रूप से अथ का बाध होता है। केवल अंतर यह है कि साधु शब्द का प्रयोग अभ्युत्पन्न करने वाला है जब कि अपभ्रंश अथवा अपभ्रंश का प्रयोग प्रत्यवायकारक है।

समानायामर्थावगतौ शब्दनचापरादेन च धमनिधम नियते—महाभाष्य पम्पगातृक।

भन हरि ने कहा है —वाचकत्वाविशेषो वा नियम पुण्यपापया—वाक्यपदीय ३ सब धसमुद्देश ३०।

भन हरि ने इस बात को भी स्पष्ट किया है कि साधुता असाधुता का सम्बन्ध शब्दों की प्राकृति अथवा रूप में नहीं है। एक ही शब्द अथभेद से साधु भी हो सकता है और असाधु भी। जैसे गाणी शब्द आवपन के अर्थ में तो साधु है और गाय के अर्थ में असाधु माना जाता है (वाक्यपदीय १।१४६)

हरदत्त ने पदमजरी (प्रथम भाग पृष्ठ ८) में और भण्डाजि दीनित ने शब्दरीम्तुभ में साधुता के चार रूप दिए हैं

अनपभ्रष्टतानादियद्वाभ्युदययोग्यता।

व्याक्रिया व्यञ्जनीया वा जाति कापीह साधुता।—शब्दरीम्तुभ पृ० २०  
शक्ति वक्त्र के कारण किसी शब्द का अथवा उच्चारण अपभ्रंश या अपभ्रष्टता है।

उमसे रहित अनपभ्रष्टता है। वही साधुता है। महाभाष्य म अपभ्रंश क लिग ते मुराहेलयो हल्य इति कुवत्त पराबभूषु — इस ब्राह्मण-वाक्य का उद्धरण है। हेलय हेलय म क्या अपभ्रंशता है इसमें टीकाकारों में विवाद है। कुछ लोग मानते हैं कि प्लुत और प्रकृतिभाव इस वाक्य में होना चाहिए। (हे ३ अल्य ह ३ अनय) पर वही हुआ है। जो साग प्लुत को वभाषिक मानते हैं उनके मत में यहाँ अपभ्रंशता पद का द्वित्व करने की अपेक्षा वाक्य का द्वित्व कर देना है। कुछ लोग हेरय (हे अरय) में र क स्थान में ल श्रुति हाना ही अपभ्रंशता मानते हैं। जनपथ ब्राह्मण १२।१।२ २४ में 'हेलवो हे लव ऐसा पाठ है। इधर हाल ही में डाक्टर वामुदेवगण अपभ्रंश न हल्य शब्द पर नवीन प्रकाश डाला है। उनके मत में इन्तु ववीनानियना का एक प्रतिष्ठित देवता था। ववीलोन शब्द बवा और इल्लु स बना है जिसका अर्थ स्वर्ग द्वार था। इल्लु शब्द सभी समेटिक भाषाओं में है। हिन्दू में एल और कनाइट में इतु फोनीसी में एल केडियन में इलु और अरबी में इलाह है और सब में इसका अर्थ ईश्वर है। ववीलोन वाल युद्ध में अपने देवता को पुकारते हुए इसी शब्द का उच्चारण करते होंगे जिस पतञ्जलि आदि ने हल्य के रूप में ग्रहण किया है। हेलय हे अरय का अपभ्रंश नहीं है। (द जरनल आफ द यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी वाल्यूम २३ पाठ १।२, १६५०)।

अपभ्रंश को साधु शब्द के समानार्थक माना गया है। (अपभ्रंशोद्दिलोक प्रयुज्यते साधु शब्दसमानार्थक—कथं मन्त्रभाष्य ३।१।८) किन्तु व्याकरण अपभ्रंश का अर्थ वाक्यान्त नहीं करते और न उसे साधु शब्द के पर्याय ही मानते हैं। नागेश के मत में व्याकरण की दृष्टि से शब्द का जरा सा भ्रंश अनपभ्रंशता है (अपभ्रंशत्वव्याकरणानुगत—शब्दस्थेयं भ्रंश एव प्रसिद्धम्)—नागेश पस्पशाह्निक पृष्ठ २३ गुरुप्रसाद) अथवा अनादिता साधुता है। जिस शब्द के आदि का पता नहीं है जो अनन्तकाल से जिस रूप में आ रहा है वही उसका साधुरूप है। जो शब्द पौरुषेय सकेत का रूप रखते हैं वे अनादिसाधुता के रूप में गृहीत नहीं हो सकते।

अथवा अभ्युदय योग्यता साधुता है। जिन शब्दों के उच्चारण में अभ्युदय होता है वही साधु शब्द हैं।

अथवा साधुता एक तरह की जाति विशेष है। जिस तरह रत्नों को बार-बार पहचानने से उनकी शुद्धता पहचानने की योग्यता आ जाती है उसी तरह शास्त्र के बार-बार परीक्षण से विद्वानों को साधु शास्त्रों की पहचान हो जाती है। साधुता एक तरह से जाति विशेष है।

यह चारों प्रकार की साधुता निर्दोष मानी जाती है और व्याकरणगम्य है। इसी तरह अपभ्रंशता भी चार प्रकार की है। अपभ्रंशता सादिता प्रत्ययव्यपगतता और तदवच्छेदक जातिविशेष।

टि घृ आदि सना शास्त्र न तो साधु माने जाते हैं और न अपभ्रंश। किसी किसी के मत में अनपभ्रंशरूपसाधुता उनमें भी है। भव्य आदि सौत्र निर्देश और कृत्वा कम्मान भवति आदि भाष्य के वाक्य इसमें प्रमाण हैं।

## सज्ञा शब्द

वाक्यपदीय में सज्ञा शब्द के विषय में कई तरह के विचार हैं। लोक में देवदत्त आदि सज्ञा शब्द प्रचलित हैं। देखा जाता है कि केवल दत्त कहने से देवदत्त का, कवन मामा कहने से सत्यमामा का बोध हो जाता है—ऐसा कस होता है? क्योंकि सज्ञा के एक देश का जैसे देवदत्त में देव का लोप किसी शास्त्र में विहित नहीं है और केवल दत्त सज्ञा भी नहीं की गई है। पुनः दत्त आदि सज्ञा किसी दूसरे की भी हो सकती है। अतः दत्त शब्द देवदत्त का बोधक कैसे होता है? यह प्रश्न कद रूप में सुनझाया जाता है। कुछ लोग मानते हैं कि शब्द-स्वरूपों का अपने सभी अवयवों के साथ सभी प्रकार के सन्तों के साथ समकाल संबंध होता है। जिस तरह समुदाय अर्थात् पूरा शब्द सन्तों का बोधक है उसी तरह उसका अवयव भी सन्तों का बोधक है। अतः शब्द का एक देश भी सम्पूर्ण का अर्थ प्रत्यायक है और इसलिए दत्त शब्द भी देवदत्त का वाचक है। (वाक्यपदीय २।३५६) इस पक्ष में दा दाप माने जाते हैं। यदि एक देश (अवयव) को भी प्रत्यायक माना जाएगा तो वर्णों का अर्थ जान मानना पड़ेगा। देवदत्त शब्द का एक वर्ण भी देवदत्त अर्थ को कहने लगगा। फिर समुदाय से अलग हाकर उसमें वाचकता भी नहीं आ सकेगी। अतः एक देश से अवयव एक देश के तुल्य में सज्ञा का प्रत्यायन सम्भव नहीं है।

इसलिए दूसरे आचार्य मानते हैं कि देवदत्त, देवदत्त शब्द बार बार सुनते रहने पर कभी केवल एकदेश दत्त आदि के भी सुनने पर पूरे शब्द (देवदत्त) की स्मृति आ जाती है। अतः सज्ञा शब्द का एकदेश, स्मृति के सहारे समुदाय का अर्थ का अभिव्यक्ति करते हैं। इस पक्ष में यह दोष माना जाता है कि सघात के अवयवों में बँट जाने पर अवयवों से स्मृति सम्भव नहीं है क्योंकि स्मृति सदृशदृश्य से होती है। सघात या समुदाय से ही सादृश्य सम्भव है, छिन भिन्न सघात से सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह कि स्मृति प्रतीयमान वस्तु (देवदत्त) का अभिधायक नहीं हो सकती। जो कर्णोद्भूत गोचर होता है वही अभिधायक होता है जो प्रतीयमान है वह नहीं।

अतः तीसरा मत, जो सिद्धान्त के रूप में माना जाता है यह है कि सज्ञा शब्द के जो अवयव हैं वे एकदेश के तुल्य (एकदेशस्वरूप) हैं। वे अनुनिष्पादी (नातरीयक) हैं। और समुदाय के समीप (गुणों) से युक्त हैं। इसलिए देवदत्त शब्द जिस सज्ञा को बतलाता है, दत्त शब्द या देव शब्द भी उसी सज्ञा को बतला सकता है। यह ठीक है कि देव शब्द देवता अर्थ को भी कहता है और किसी (देवदत्त) से अर्थ व्यक्ति का भी वाचक हो सकता है इसी तरह दत्त शब्द क्रिया शब्द भी हो सकता है, सज्ञा शब्द भी हो सकता है फिर भी शब्द सामर्थ्य से ये नियत अर्थ वाले मान लिए जाते हैं। अतएव शास्त्र में लोप आदि काय उनके किये जाते हैं। देवदत्त शब्द से स्वतंत्र देव (देवता बोधक) और दत्त (क्रियायक) अनुनिष्पादी नहीं होने के कारण देवदत्त शब्द के अवयव के रूप में गृहीत नहीं हो सकते। ~~क्योंकि~~ के लिए





तर्ह साम्प्रतीय वृद्धि आदि सज्ञायें भी मभी तरह के अय प्रकाशन म समय है परन्तु दूसरी सज्ञाओं स भेद दिखाने क लिए और व्यवहार म भुविधा के लिए नियम कर दिया जाता है कि आदव की ही वृद्धि सना मानी जाए । जिस तरह से विशेषण विनेष्य म नील उपल म नीलादि योग कोई पुरुष नहीं करता स्वाभाविक है उभी तरह वृद्धि आदि सनागना का भी सबध स्वाभाविक है कृत्रिम नहीं ।

व्यवहाराय नियम सज्ञाना सज्जिति क्वचित् ।

नित्य एव तु सम्ब धो डित्यादिषु गवाक्षित ॥

वद्ध यादीना तु नास्त्रेस्मि छवत्यवच्छेद लक्षण ।

अकृत्रिमोऽभिसम्ब धो विनेषणविनेष्यवत् ॥

—वाक्यपदीय २।३६६, ३७० ।

## सज्ञाशब्द के प्रवृत्तिनिमित्त का विचार

सज्ञाशब्द के प्रवृत्तिनिमित्त के विषय मे भाष्यकार ने यह माना है कि प्राथमिक कल्प के सज्ञी क गुण और त्रिया सज्ञा शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त होग । (क्वचित् प्राथमकल्पिको डित्यो डाम्मिट्टश्चेति । तेन कृता त्रिया गुण वा य क्वचित् करोति स उच्यते डित्यत्व त एतडडाम्मिट्टत्व त एतत्—महाभाष्य ५।१।११६) प्राथमकल्पिन म वृत्ति कैसे होगी इस पर भाष्यकार ने विनेष प्रकाश नहीं डाला है केवल यह कहा है कि जस उसका (सना शब्द का) प्रयोग होता है वैस किसी तरह उसम वृत्ति भी हो जाएगी (यथैव तस्य कायवित्क प्रयोग एव वृत्तिरपि भविष्यति । —महाभाष्य ५।१।११६)

भग्न हरि के अनुसार सना गना क प्रवृत्ति निमित्त उनके स्वरूप है । सभी सना शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त उनके स्वरूप ही होते हैं । वही ता उसम अथ का सा निश्चय भी निमित्त रूप म रहता है और कभी-कभी अथशून्य भी स्वरूप निमित्त होता है । एकाक्षर सना ही या बनी सना हा इस विषय म उनम भेद नहीं है । शास्त्र मे महुनो सना करने क कारण यह अनुमान हाता है कि उनके शब्दस्वरूप ही प्रवृत्ति निमित्त है और उनके अवयवों का प्रत्यायक है । अनुमान का रूप तीन रूप म देखा जाता है । आवृत्ति क रूप म, शब्दभेद के रूप मे और शक्तिभेद के रूप म । एक ही सज्ञा शब्द की दो बार आवृत्ति की जाती है । एक के द्वारा स्वरूप निरूपित सनी का जान होता है और दूसरे के द्वारा अवयवाधनिबन्धन जान होता है । सात्त्विक के कारण आवृत्ति का अनुमान होता है । अथवा दो बार शब्द का उच्चारण हुआ है इसी का अनुमान करत है । उनम एक से स्वरूप से आच्छादित सनी का जान होता है । दूसरे से अवयवाधनिबन्धन प्रतिपत्ति होनी है । अथवा वही एक शब्द दो शक्तियों म उच्चरित हुआ है ऐसा अनुमान कर लेते हैं । इनम एक से सनी की प्रतिपत्ति और दूसरे से अवयवाध की समिति होनी है ।

कयट ने प्रवृत्तिनिमित्त के प्रश्न को दो तरह से सुलभाया है । उनके मत मे शब्द क स्वरूप म अथ का अध्यास कर यह डित्य है ऐसा सना सनि सम्बध करते

है। शब्द स्वरूप व आत्मन से नित्य शब्द का जिन तरह द्विध अथ म व्यवहार होता है उसी तरह शब्दस्वरूप अथ म भावप्रत्यय होता है। कुछ लोग मानते हैं कि द्विध आत्ति सत्ता म भी जाति रहनी है। उत्पत्ति तत्त्वर अन तब कुमार योजन आदि अवस्थाभेद म भिन्न द्रव्य म सम्बन्ध सम्बन्ध से रहने वाली जाति द्विध म है ही जिसके कारण शब्द द्विध का युवा अवस्था म देगन पर यह वही द्विध है एमी प्रतीति होती है। वही जाति सत्तागण की प्रवृत्तिनिमित्त है उमी म प्रत्यय होता है। यहच्छा शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त गण स्वरूप भी माना जाता है (कथन महाभाष्य ५।१।११६)।

कुत आत्ति व विषय म कथन ने लिखा है कि शब्द और अथ म अथ मान कर सत्ता व सत्तास्वरूप म प्रत्यय का अध्यास होता है। निमी किमी व मन म सत्तासत्ति सम्बन्ध म प्रत्यय होता है (कुत्वमित्यालो सत्ता स्वरूप सत्तिध्वन्यस्त प्रत्यय अथेतु सत्तासत्तिसम्बन्ध इत्याहु —कथन महाभाष्य ५।१।११६) नानात्न सत्त्व योगपद्यत्व जस शब्द म उनका अथ प्रवृत्तिनिमित्त होता है और उसी म प्रत्यय होता है (नागार्ज ५।१।११६)।

## सत्ता शब्द के चार प्रकार

व्याकरण शास्त्र म सत्ता गण चार रूप म गहीत होते हैं—(१) वृत्रिम रूप म (२) अकृत्रिम रूप म (३) वृत्रिम और अकृत्रिम उभयरूप म और (४) अकृत्रिम का वृत्रिम रूप म।

शास्त्रीय परिभाषा जित सत्तागण की दो गई है व वृत्रिम हैं और वृत्रिमरूप म शास्त्र म व्यवहृत है। जस कम्पण ३।२।१ मे कम पारिभाषिक है परन्तु वनरि कम व्यतिहारे १।३।१६ मे अकृत्रिम का ग्रहण है। व्यतिहार की यहाँ वृत्रिम सत्ता उपयुक्त नहीं है। अत कम भी लौकिक कम है पारिभाषिक नहीं। वनृ वरणयोस्ततीपा २।२।१८ म वरण शब्द वृत्रिम सत्ता है जबकि गणवरकलताअवण्यमेधम्य वरण ३।१।१७ म वरण शब्द अकृत्रिम है। सत्या विषयक सूत्रो म लौकिक और शास्त्रीय अकृत्रिम और वृत्रिम दोनों तरह के सत्ता शब्दों का निर्वाह हो जाता है उसे बहुगण बहुवृत्ति सख्या १।१।२३ म सरथा शब्द वृत्रिम और अकृत्रिम दोनों रूप से समानरूप म गहीत है। वभी वभी लौकिक अकृत्रिम सत्ताशब्द शास्त्रीय वृत्रिम सत्तागण का प्रत्यायक होता है जैसे एकश्रुतिदूरात सम्बुद्धो १।२।३३ म सम्बुद्धि पद लौकिक अकृत्रिम होता हुआ भी वृत्रिम शास्त्रीय वृत्रिम सम्बुद्धि पद का भी प्रत्यायक होता है (वाक्य पत्नीय २।२५६ २७७)।

## सत्ता-सत्ता शक्ति के अवच्छेदक

जिस तरह एक ही वस्तु निमित्त भेद से भिन्न भिन्न हो जाती है उसी तरह सत्तामनिसम्बन्ध भी निमित्त भेद से भिन्न भिन्न भासित होता है। लोक म बुद्धि प्रवृत्ति भेद को मान कर सत्ता की अगुठी (सुवणस्य अगुलीयकम) कहते हैं भेदनिबन्धन पच्छी

विभक्ति का प्रयोग करते हैं। इकोयणचि ६।१।७७ म भी इकारादि चार की इक् सना है। यकारादि चार की यण सना है। यहाँ भी सनी से सना भिन्न रूप है। इनम इक् या यण उच्चारण के कारण कमश स्थानी या आदेश नहीं है अपितु उनसे प्रत्यायित सनी काय के पात्र होत ह। भाव यह है कि वद्धि शास्त्र सना नहीं है अपितु वद्धि शब्द से प्रत्यायित जो वृद्धि शब्द वह सना है इसी तरह आदेश शास्त्र से प्रत्यायित जा आदेश व सनी हैं।

वद्धयादयो यथा शब्दा स्वरूपोपनिबन्धना ।

आदेश प्रत्यायित शास्त्र सम्बन्ध याति सन्निभि ॥ —वाक्यपदीय १।६०

सनी के सम्बन्ध से पहले सना अपना स्वरूप की चोत्तिका हाती है और इसलिए पण्टी और प्रथमा विभक्ति का निमित्त होती है। सना शास्त्र में प्रथमा विभक्ति का व्यवहार किया जाता है क्योंकि स्वरूप से अविच्छिन्न होने के कारण अव्ययत्व है। सोऽयम इस रूप में सनी के द्वारा शब्दव्यवच्छेदलक्षण सम्बन्ध नियमित होता है। जस गोवा हीक सिंहा माणवक जस वाक्या में शक्ति का अवच्छेद किया गया है। वाहीक शास्त्र के द्वारा विनिष्ट गा का और पुरुष शास्त्र के द्वारा सना शास्त्र का शब्दव्यवच्छेद किया गया है। (वाक्यपदीय १।६० ६८)

## सना शब्द और अनुकरण शब्द में भेद

सना शब्द और अनुकरण शास्त्र में कुछ दूर तक साम्य है। अनुकरण शास्त्र भी सना शब्द की तरह स्वरूप का प्रयायक होता है। सना शास्त्र और अनुकरण शास्त्र में भेद यह है कि अभिधेय के उच्चारण किय जान पर अनुकरण होता है। सना के लिए अभिधेय प्रत्यायक होना है उच्चायमाण नहीं। (अतएव अनुकरण शाब्दात् सना शब्दस्य विशेष स्पष्टो भवति। उच्चायमाणे मिधेयेऽनुकरणम्। सनायास्तु प्रत्याययमेवाभिधेयम् नोच्चायमाणमिति—वपभ—वाक्यपदीय टीका १।६६ पृष्ठ ६८)

इस भाव की सग्रहकार न भी व्यक्त किया है

न हि स्वरूप शाब्दानां गोपिण्डादिवत्करणे सनिविगते । तत्तु नित्यमभिधेयमेवाभिधानसनिवेशे सति तुल्यरूपत्वादसनिविष्टमपि समुच्चायमाणत्वेनावसीयते ।

मग्रह वाक्यपदीयवृत्ति में भत हरि द्वारा उद्धृत १।६५ पृ० ६६ ७०

गोरित्ययमाह इत्यादि अनुकरणात्मक वाक्या मे केवल स्वरूप वाच्य का निर्देश रहता है। उनमें अवयवा के निर्देश की भावना नहीं रहती। क्योंकि अवयवा में काय (प्रत्यय आदि) नहीं हान। जमे अग्नद्वय में अग्नि शास्त्र से प्रत्यय होता है न कि अग्नि शब्द के अवयवा से। ठीक यही बात अनुकरण शाब्दा के लिए भी है। यदि अनुकरण शास्त्र में भी अवयवनिर्देश माना जाएगा तो वे अलग अलग ग्रहणीत जान पड़ेंगे। गौ इस अनुकरण शास्त्र में स्थित अकार से अकार के अकार की प्रतीति हान लगती।

अनुकरणव्यपि यद्यप्यया उपादित्यता ते पुष्यनियतप्रमा प्रतीयेरनिति ।  
गौरित्ययमाहेत्यत औपगवमित्यत्र स्थिता औपारादय प्रतीयेरन ।

—वपम वावयपदीय टीका १।४४ पृष्ठ ५६

अनुकरण 'ग' प्रत्यायव होने के कारण सना है और अनुकाय प्रत्यायव होने के कारण सनी है । सना कभी सनी को नहीं छाड़ती (न सना सानि व्यभिचरति—महाभाष्य ५।२।५६) जिस तरह गो आदि 'ग' सासना, लागूल वाते अथ (व्यक्ति) को जतात हुए उस अथ जाने के अथ म अनुप प्रत्यय लाते हैं जस गोमान् उगी तरह अनुकरण शब्द भा अपन अथ अनुकाय की बताते हुए उसक द्वारा अनुकाय वाते के अथ म छ प्रत्यय लाते हैं । अनुकरण शब्द जाति समवेत अथ को यत्न करता है । वह जाति शब्द है । यह बात लकार वार्तिक म (भाष्य म) कही गई है । (कयट—महाभाष्य ५।२।५६)

भट्टोजि दीक्षित ने भी अनुकरण शब्द को जाति शब्द माना है । अनुकरण शब्दाश्च जाति शब्दा एव तत्रानुकायनिष्ठजाते प्रवृत्तिनिमित्तत्वात् ।

—शब्दकोशभूष, १।१।१

## अनुकरण शब्द और आम्नाय शब्द में भेद

अनुकरण शब्द का आम्नाय शब्द से भेद स्वर, वर्णानुपूर्वी, देग और काल की दृष्टि से किया जाता है ।

आम्नायशब्दानामायभाय स्वरवर्णानुपूर्वीशकालनियतत्वात् ।

वार्तिक ५।२।५६

अनुकाय और अनुकरण म अथभेद स भेद होता है । इस दृष्टि स आम्नाय शब्द और अनुकरण शब्द म भेद है ही । स्वर आदि की दृष्टि से भी भेद है । आम्नाय शब्द के स्वर नियत ह जबकि अनुकरण शब्द एक श्रुति रूप म नी देसे जाते हैं । अस्यवाम शब्द आम्नाय म प्रत्ययस्वर से अतोदात्त है । अस्य भी अतोदात्त है । वाम भी अतोदात्त है । अनुकरण अस्यवाम शब्द प्रातिपदिकस्वर स अतोदात्त है । इसम दो उदात्त न होकर एक ही उदात्त है । क्याकि यहा अनुकरण के रूप म अस्यवाम शब्द एक पद है । आम्नाय शब्द म वर्णों का क्रम नियत रहना है । अनुकरण शब्द म उनका उच्चारण व्युत्क्रम रूप म करने पर भी अनुकाय की प्रतीति हा जाती है । आम्नाय शब्द के उच्चारण के लिए देग काल नियत हैं । इसमान म आम्नाय नहीं पटना चाहिए अभावस्या को अध्ययन नहीं करना चाहिए आदि । जब कि अनुकरण शब्द के लिए देग काल का बंधन नहीं है । आम्नाय शब्द म पद के एक देग का तथा विभक्ति का लोप भी देखा जाता है अनुकरण शब्द म विभक्ति के अभाव म उनका लोप सम्भव नहीं है । नागेश मानत है कि आम्नाय शब्दों के अक्षर स गूढ़ का प्रापश्चित्त होता है । जब कि अनुकरण शब्द सुनने से उह प्रापश्चित्त नहीं हाना (अनुकरणअप्यन गूढस्य प्रापश्चित्त्वाभाव इत्यपि औध्यम ।—नागेश, महाभाष्य ५।२।५६) ।

## अनुकरण शब्द और अपशब्द में भेद

अनुकरण शब्द में और अपशब्द में भेद यह है कि शिष्ट अनुकरण साधु माना जाता है। अशिष्ट अनुकरण न तो दोषजनक माना जाता है और न अभ्युत्थजनक। जबकि अपशब्द का प्रयोग अशुभोद्बोधक होते हुए भी प्रत्यवायजनक माना जाता है। 'अविरविक्रयाय (महाभाष्य ४।१।८८) शब्द में अवि शब्द, कण्ठ के अनुसार, विभक्त्यन्त रूप में अनुकरण है। अनुकरण हाने के कारण समास होने हुए भी विभक्ति का लोप नहीं हुआ है।

अविरविक्रयायेति । अथवा विरित्यस्य विभक्त्यन्तस्यानुकरणमविरिति । ततो नुकार्येणार्थेनाथवत्त्वाद्वा विभक्तिरुपपद्यते तस्या द्विधातर्भावात्लोपः, न तु पूर्वस्या अनुकरणत्वात्सुपत्वाभावात् । यथास्वयामीयमिति पठ्यथा लुगभावः । अथवा भाष्यकारवचनप्रामाण्यादस्य साधुत्वम् ।

—कथं महाभाष्य ४।१।८८

## व्याकरण

शिष्ट प्रयुक्त साधु शब्दों का अ वाक्यान्त व्याकरण करता है। (शिष्टप्रयोगानुविधायि इव शास्त्रम्—महाभाष्य दीपिका प० १२६) अपभ्रंश के भी व्याकरण वाला मैं बने किन्तु संस्कृत के व्याकरण व्याकरण का लक्ष्य परिनिष्ठित शब्दों का ही मानते थे। भत हरि न व्याकरण शास्त्र को आगम माना है और इसके प्रति अत्यन्त मनोरम भाव व्यक्त किया है। विद्या का अधिष्ठान वेद है। वह एक है। पर उसके परिकल्पित भेद किए गए हैं। मन्त्रद्रष्टा ऋषिया ने साधारण जान वाले प्राणी के दिए वेद का कई रूप में अ वाक्यान्त किया है। वह लोक का प्रकृति (मूल) है। वही लोक का उपपत्ता है। लोक की सभी व्यवस्थाओं का विधाता है। वह प्रणवमय है। वह सब शब्द अर्थ की प्रकृति है। सभी तरह के विद्याभेद उसी से उद्बुद्ध हुए हैं। विद्याभेद ज्ञान के हेतु हैं। उनमें पुष्प का सम्भार होता है। उनकी बुद्धि का उनके ज्ञान का संस्कार होता है। ये विद्याभेद वन के अग के रूप में प्रसिद्ध हैं और उन अगों में भी उपाग हैं जिनसे स्वर्ण पाक, योनि आदि का ज्ञान होता है। उपाङ्गैश्च स्वर्णविज्ञानपाकयोनिज्ञानादयो विद्याभेदाः प्रसिद्धा लोके—वाक्यमतीय हरिवंशि १।१०

इन अगों उपागों में सर्वप्रथम स्थान व्याकरण का है (प्रथमं च दसममगमा हु व्यकरणं बुधा—वाक्यपदीय १।११)

वेद शब्दमय हैं। व्याकरण शब्द का ही सम्भार करता है। इसलिए शब्दों के साक्षात् उपकारी होने के कारण वेद का समीपी है। इसीलिए अक्षर ममाम्नाय के ज्ञान मात्र से सब वेदों की पुण्यफल प्राप्ति कहा जाता है। इसलिए अगों में व्याकरण को प्रधान माना है।

शब्द समूह को भत हरि न वाणी का परमरस कहा है (यो वाच परमोरसः) वह पुण्यतम ज्योतिः है। व्याकरण उस परम ज्योति का ऋजु भाग है। स्वरूप और परस्पर के चोतक तीन तरह के प्रकाश होते हैं। एक अग्नि का प्रकाश। दूसरा पुष्प



शब्दवती के रूप में शब्दानुशासन कहने का तात्पर्य यह है कि शब्द का नामन उल्लेख कर प्रकृति प्रत्यय आदि के रूप में उसका संस्कार किया जाता है। पाणिनि आदि सूत्रकारों के लक्षण इसी काटि में आते हैं जहाँ 'अग्नेदक' इस सूत्र के द्वारा अनुशासन कहा जा रहा है उसे हम शब्दवती अनुशासन पद्धति कह सकते हैं।

परन्तु सहाय्य में यह है जिनके बारे में अनुशासन उपलब्ध नहीं है। ऐसे भी बड़ा शब्द है जिनमें लक्षण ठीक नहीं बैठते फिर भी वे साधु माने जाते हैं। ऐसे शब्दों का अनुशासन गिष्ठा के व्यवहार के आधार पर मान लिया गया है। यद्यपि शब्दों में उनका उल्लेख विधि के रूप में नहीं है फिर भी वे शब्द अपने प्रकृत रूप में शास्त्रकार का दृष्ट है। इसीलिए हम वाक्य मिलते हैं। दृष्टमेवतदगोनर्दीयस्येति—महाभाष्य ३।१।६२। इस तरह के अनुशासन को भन हरि ने अशब्दा स्मृति कहा है।

हमारे शब्दों में हम कह सकते हैं कि आचार्यों अथवा शिष्टों द्वारा दो प्रकार से व्याकरण अथवा शब्दानुशासन आरम्भ किया गया। पहला उपायनिर्देश के द्वारा और दूसरा उपायनिर्देश के द्वारा। उपायनिर्देश का भाव निपातन जैसी प्रक्रिया है। बहुत से शब्द हैं जिन्हें पाणिनि आदि ने निपातन से सिद्ध किया है अर्थात् वे शब्द जैसे मुने जाते थे जस लाक में प्रचलित थे उनका उसी रूप में उल्लेख कर दिया गया। प्रकृति प्रत्यय का विचार उनके बारे में ठीक से नहीं किया गया। निपातन के बारे में निम्न लिखित श्लोक प्रसिद्ध है—

धातुसाधनकालानां प्राप्त्यय नियमस्य च।

अनुबन्ध विचारणा स्त्वय च निपातनम् ॥

—कयट ५।१।११४ में उद्धृत

उपायनिर्देश में तात्पर्य विधि से है प्रातिपदिक आदि से प्रत्यय आदिका विधान कर शब्दों के साधुत्व प्रत्ययन में है। शास्त्रकारों ने प्रकृति और प्रत्ययों में अनुबन्ध की कल्पना विशेष दृष्टि से की है। प्रकृति के प्रकार आदि अनुबन्ध उपग्रह आदि के संकेत की दृष्टि में किए गए हैं। घञ अण आदि प्रत्ययों में अनुबन्ध वद्धि उदात्तादि स्वर आदिके संकेत के लिए किए गए हैं। वस्तुतः गिष्ठाओं को निमित्त मध्य समुदाय को प्रकृति प्रत्यय आदि की आवश्यकता नहीं होती। शब्दों की ठीक पहचान उन्हें लक्षण व्यवहार से पर-परया मिल जाती है। जनाराज के अनुसार शिष्टों की प्रतिभा निमल रहती है। उनकी बुद्धि सब की यथाथरूप में ग्रहण करने में स्वभावतः समर्थ होती है। इसलिए उन्हें प्रकृति प्रत्यय के उपरान्त की आवश्यकता नहीं होती। उनके लिए उपायनिर्देश (निपातन से शब्द सिद्धि) भी अत्यन्त ही है।

जब एसी बात है गिष्ठा के व्यवहार से ही काम चल जाएगा, शब्दानुशासन की अपेक्षाधीन आदि व्याकरण ग्रंथों की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि गिष्ठा प्रयोगों का कोई उल्लेख नहीं करे इसलिए उन गिष्ठाओं द्वारा प्रयुक्त शब्दों का ही व्याकरण लक्षण द्वारा समझना है। व्याकरण स्वयं शब्द नहीं गन्ता। लाक में प्रयुक्त शब्दों का ही अनुशासन करता है। किसी नियम के रहने पर गिष्ठा मध्य लोभ मनमाना व्यवहार कर सकते हैं और भाषा के परिनिष्ठित रूप में विच्छेद खलना ला सकते हैं। दूसरा कारण यह है कि गिष्ठा का भी विशेष शब्द के बारे में भ्रम हो सकता है। भ्रम के निराकरण के लिए भी आकर शब्दों की आवश्यकता है। इसलिए भन हरि ने कहा है कि जो शिष्ट प्रयोग के साक्षात्कार करने में असमर्थ हैं अथवा वे हैं, उनके लिए शास्त्र ही दृष्टि है (शास्त्र चयुरपश्यतामन्वाक्यपरीय ३ वृत्ति समुद्देश ७६)। जो लक्षण जानते हैं परन्तु लक्षणनिर्देश रूप में ही साधु शब्दों का व्यवहार करते



है। उह भी पतजलि न सिष्ट कहा है। उनक एस व्यवहार स उनके गिष्ट होने का अनुमान कर लिया जाता है। अत व्याकरण सम्प्रदाय म लभ्यलक्षणे व्याकरणम और सपाणिष्टपरिज्ञानार्थाष्टाध्यायी' य दोना ही उभितया प्रचलित और माय हैं। (हेलाराज वाक्यपदीय ३ वतिसमुद्देश, ७८ ७९)।

व्याकरण द्वारा शास्त्र का अवास्यान किया जाता है। इस सम्प्रदाय म दो तरह के मत हैं। एक मत है कि व्याकरण द्वारा शास्त्र का अवास्यान पत्र अवधि है। दूसरा मत यह है कि अवास्यान वाक्य अवधि है। अत हरि न दोना पशो का उत्तर दिया है

केपाचित पदावधिरमवास्यानम, वाक्यावधिकमेकेयाम ।

पाणिनि आदि के अनेक वस्तव्य पद के अवास्यान और वाक्य के भी अवास्यान म प्रमाण है। पत्र सस्कार पत्र म एक शास्त्र दूसरा शास्त्र स निरूपे न होता है। उसका सस्कार भी निरूपे न रूप म ही होता है। जम गुण शास्त्र गुणवाचक शास्त्र है। मतुप प्रत्यय के लोन क होने पर शुक्ल शास्त्र शुक्ल गुण वाल वस्तु का भी बोधक है। ऐसी परिस्थिति म वह विरपण हो जाता है। किसी दूसरे पत्र क सम्पक म भी वह विरपण हो सकता है जसे 'शुक्ल' पत्र म। अब पत्रसस्कार पत्र म शुक्ल शास्त्र को विरपण क रूप मे भी नपु सक लिंग और एकवचनात होना चाहिए कयाकि निरूपे न रूप म एकवचन और नपु सक लिंग ही स्वाभाविक है और अनरग होने के कारण तथा श्रुति अश्रुति के कारण विरपण अथ मे वतमान 'शुक्ल' शास्त्र म भी के ही उपस्थित हो जाए गे। इस दोष को हटान के लिए विरपणाना चाजाते १।२।१२ यह नियम बनाया गया। अर्थात् गुणवचन शास्त्रो का आश्रय क अनुसार लिंग वचन होते हैं। आश्रय का बहिरग और भावी होना इसम बाधक नहीं है। अत विरपणाना चाजाते १।२।१२ यह सूत्र पदसस्कारपक्ष का समर्थक है। वाक्यसस्कारपक्ष म गुण का आश्रय म अत्यन्त ससृष्ट होने के कारण उनका अलग विवेक न होन के कारण गुण का कोई सामांय रूप ही संभव नहीं है। आश्रय क भान हाने क साथ ही साथ गुण का भी भान होगा कयाकि गुण तनिष्ठ है और इसलिए द्रव्यगत लिंग और वचन भी स्वभावत सिद्ध हो जाएगे। इस पत्र म सूत्र कवल अनुवाद मात्र ह।

पदसस्कारपक्षे वाचनिकमेतत् । पदे हि पदा तरनिरपेक्ष सन्नियमाणे नपु सर्कलगतयनामप्राप्तमेकत्व च वस्त्वतरनिरपेक्षत्वात् सनिहितमिति 'शुक्ल' पटा इति प्राप्ते भाविनो बहिरगस्याश्रयस्य लिंगसत्त्वेऽनेन प्रतिपाद्यते । यदा तु वाक्यसस्कार तदायमनुवाद एव ।

पाणिनि न तदगिष्य सज्ज्ञाप्रमाणत्वात् १।२।१३ सूत्र स भी उपयुक्त सूत्र की निरयक्ता द्योतित की है।

वाक्यायन ने पदसस्कारपक्ष का मान कर द्वन्द्व सामान्य म प्रत्यय अवयव के सस्कार की दृष्टि स द्वन्द्वबहुपु लुग वचनम कहा और वाक्य सम्प्रदाय क आधार पर न वा सर्वेषा द्वन्द्व बहुवचनत्वात् यह कहा (वातिक महामाष्य २।४।६२) ।

उपमानानि सामांयवचन २।१।१५ जस सूत्र और भवति क लिए भू भूति न अति आदि की कत्पना पत्रावधि अवास्यान पत्र म ही ठीक है।

अत हरि ने सप्रहकार का निम्नलिखित वचनय वाक्यावधि अवास्यान पत्र क समयन म उद्धृत किया है

—कयट महामाष्य १।२।१२  
—वाक्यपदीय १।२६ हरिवृत्ति पृष्ठ २८ ।

न हि किञ्चित् पद नाम रूपेण नियतं व्यवहितं ।

पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थदेव जायते ॥

यासकार ने भी कौस्त यौस्त इन श श की सिद्धि पदसंस्कारपक्ष में दुर्लभ चतात हुए वाक्यसंस्कारपक्ष पाणिनि को अभिप्रेत है ऐसा माना है

किं पुनरिदं राजासन्न पदसंस्कारपक्ष गद्दानुगासनं कतव्यमिति । अथ शास्त्रकारस्य वाक्यमभिप्राय इति चेत् । न । शास्त्रकारेण हि युष्मद्युपपदे समा नाधिकरणे स्यात्तत्रापि मध्यम (१।४।१०५) इति युष्मदाद्युपपदे मध्यमादि-पुरुषविधानात् वाक्यसंस्कारप्रयुक्तमपि शास्त्रमेतदिति सूचितम् ।

—यास १।१।५८ पृष्ठ १११ ।

पुरुषोत्तमदेव न भी पदसंस्कारपक्ष और वाक्यसंस्कारपक्ष दोनों को आचार्य-सम्मत माना है ।

इह प्रातिपदिकाय मात्रे प्रथमा विवदता आचार्येण नाप्यते पदसंस्कारकमिदं याकरणमिति । तथा वाक्यसंस्कारकं चेदं याकरणमाचार्यस्याभिमतमिति धातु सम्बन्धे प्रत्यया (३।४।१) इति सूत्रकरणात् ।

—पुरुषोत्तमदेव नापक समुच्चय पृष्ठ ६७ ६८ ।

पदवधिक अ-वाक्यान् और वाक्यावधिक अ-वाक्यान् में हलाराज के मत में, भेद यह है कि सम्बन्ध सामान्य की अपेक्षा में पदवधिक अ-वाक्यान् और सम्बन्ध विनाश की अपेक्षा से वाक्यावधिक अ-वाक्यान् किया जाता है ।

सम्बन्ध (सम्बन्ध) सामान्यापेक्षायां पदवधिकं तद्वाक्योपात्तसम्बन्धं विशेषापेक्षायां तु वाक्यावधिकम-वाक्यान्मिति इयाननयो पक्षयो विनोप ।

—हलाराज वाक्यपटीय ३ माघनसमुद्देश ३, पृष्ठ १७६ ।

यद्यपि पदसंस्कारपक्ष और वाक्यसंस्कारपक्ष दोनों ही गृहीत हैं । फिर भी याकरणशास्त्र प्रकृति प्रत्यय आदि के द्वारा पदसंस्कार ही करता है । एतत् विभाग पद में ही सम्भव है । वाक्य में अनङ्ग पदा के होने के कारण वाक्य का साक्षात् अ-वाक्यान् उतना उपयुक्त नहीं है । दशम भेद से दोनों पक्षा में भेद होने पर भी पदसंस्कार को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है क्योंकि पद का स्वरूप अव्ययस्थित है ।

दशमभेदात् भेदेऽपि व्यवस्थितं रूपत्वात् पदमेवावाख्येयम् इति ।

—वपम वाक्यपटीय १।२२६ पृष्ठ ८३ ।

## व्याकरण लोकपक्ष को महत्त्व देता है

गद्दानुगासन की प्रक्रिया में सत्र तरह के व्यायमिद्ध सिद्धांत काम में लाए जाते हैं । फिर भी व्याकरण दशम 'लाकविज्ञान' को भी महत्त्व देता है । पाणिनि वाक्यान् और पतञ्जलि लौकिक पक्ष के समर्थक हैं । जहाँ वहीं गाम्नीय सिद्धांत और लाकप्रसिद्ध यक्षनारा में विरोध होता है व्याकरण ज्ञान लोक प्रसिद्ध पक्ष का ही प्रथम देता है । उदाहरण के लिए सभी दशम मानते हैं कि अवयव में अवयवी रहता है । इस सिद्धांत के अनुसार गान्धा में वक्ष है वक्ष में गान्धा नहीं । किन्तु लोक में सदा वक्ष में गान्धा यही रहता है । अतः वषाकणा न गाम्नीय आधाराधेय भाव को ठुकराकर लाकपक्ष को ही अपनाया है और उसके अनुसार य ने गान्धा यरी कहते हैं ।

एतच्च लौकिक व्यवहारानुगुण्येन शास्त्रेऽस्मिन् प्रुत्पाद्यत । गाम्नात्तर प्रसिद्धा व्यवस्था लोकविद्वदा । लाके हि गवि अङ्ग वक्षे गान्धा इति व्यवहार । तथैव याकरणव्याधार सप्तमी । शास्त्रा तरे तु अवयवेऽवयवीति शृणु गौ

गात्राया वक्ष इति स्यात् ।

परतु विचार क लिए — गणरक्षण दशन विचार अवश्य करता है । भट्टोजि दीक्षित ने लिखा है कि जिस कोई वराटिका (कौडी) दूतन चल और उसे चिनामणि मिल जाए उसी तरह ग = विचार म प्रवृत्त भन हरि न प्रसंग म विवतवा आदि का भी अ गान्यान किया है जिसमे वयाकरणा का भी अद्वतत्रह्य क विषय म परिचान हा । तदेव वराटिका वेपणाय प्रवृत्तदिव तामणि लब्धवानिति वसिष्ठरामायणोक्ता भाणक यापन ग = विचाराय प्रवृत्त सन प्रसगाद्वते सहाय्यपि व्युत्पद्यता मित्यभिप्रायेण भगवान भन हरिविवतवादादिकमपि प्रसङ्गाद्व्युत्पादयत ।

परतु भट्टोजि दीक्षित की उक्ति उतनी सही नहीं है । वस्तुतः भन हरि ने ग = विचार एन दान्तिक की भाति आरम्भ किया है और वाक्यपनीयक आरम्भ म ही उसकी प्रतिष्ठा कर दी है । निवचन की सूक्ष्मता और यापकता क आधार पर मभी तरह क मौलिक विचार दशन के क्षेत्र म आ जात है । ग गानुसामन की प्रनिया क मून म छिप हुण गहन विचारा का निश्चेपण अपना स्वतंत्र महत्त्व रखता है । वाक्य पदीय का दशन एक प्रामाणिक दशन नहीं है । अपितु भाष्याधिधीयूषच्छाचतुरित याकरण दशन का रस है ।

— गणकोस्तुभ पाठ १२ ।

## ध्वनि

### ध्वनि को परिभाषा

भन हरि क अनुसार जो स्फोट का अभि यजक है उस ध्वनि ग = स यक्त करत ह । दूसरे ग = श = क यजक को ध्वनि कहत ह । महाभाष्यकार ने प्रतीतपदायक ध्वनि को ग = माना है (प्रतीत पदायको लोके ध्वनि शब्द इत्युच्यत — महाभाष्य पस्पताल्लिक) । अर्थात् लोक म जो ध्वनि समूह पत्ताय वाचक के रूप म प्रसिद्ध है जो श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य है और वणरूप है वह ग = है । हम दष्टि स ध्वनि और ग = म कोई भेद नहीं है । किन्तु सूत्र १।१।७० म भाष्यकार ने ध्वनि ग = को ग = का गुण कहा है (स्फोट ग = ध्वनि ग = गुण) । ध्वनि को ग = क गुण मानने का भाव है कि ध्वनि ग = का उपकारक अथवा यजन है । भाष्यकार ने उभयतः स्फोटमात्र निर्विषयतरभ्रुतलभ्रुतिभवति इम वाक्य म स्फोट ग = का व्यवहार किया है । आकृतिनियत्ववान्तिषो क मत म हम वाक्य म स्फोट ग = स अथ ग = गृहि अभिप्रत है । शब्दत्व और ग = गृहि म भेद यह है कि ग = त्व सभी ग = म रहने वाला धम है सब ग = साधारण है । ग = गृहि विरोध ग = से सम्बद्ध है । व = क्रमगति स उदबुद्ध एक ग = कर मुनाई दन वाला और उमी क्रम स गहीन वणों स गठित होती है । य (उपलब्धि निमित्त सस्कार) उमम कपित होत हैं वास्तविक नहीं । ग = ध्वनि उत्पन्न होत है । उनम स्वय अपन आप का अभि यजन करने की क्षमता नहीं होती परतु व स्फोट का द्योतिन करत है । स्फोट को द्योतिन करने वाल ग = यक्ति का नाम ध्वनि है (वाक्यपनीय १।६४ हरिवर्ति) । ग = नाकगतिकार क अनुसार स्फोट ग = है और ध्वनि उसका व्यापाम (विस्तार) है ।

स्फोट ग = दो ध्वनि तस्य व्यापाम उपजायत ।

— वाक्यपनीय १।२२ की हरिवर्ति म उद्धत ।

कुछ नागा के अनुसार जातिस्फोट के व्यञ्जक को ध्वनि कहत हैं।

अनेक व्यवस्यभिः यस्या जाति स्फोट इतिस्मृता  
कञ्चित्त व्यवस्य एवास्या ध्वनित्वेन प्रकल्पिता ।

—वाक्यपदीय १।६४

नाग के अनित्यत्व और नित्यत्व के विचार से भी ध्वनि के रूप में कुछ भेद दृष्टिगत होता है। भक्त हरि ने इस निम्नलिखित रूप में व्यञ्जन किया है—

य सयोगविभागस्या करणरूपजयते ।

म स्फोट शब्दजा शब्दा ध्वनयो यद्वाहता ॥—वाक्यपदीय १।१०३  
अनित्यपक्षे स्थानकरणप्राप्तिविभागहेतुक प्रथमाभिनिय तो य श द स स्फोट इत्युच्यते। तज्जातास्तु सवदिकस्तद्रूपप्रतिबिम्बोपग्राहिण सद्यद्व्याणा स्वनात्मना निरवयवत्वात् आकाशस्यापि मुख्यसमवायिदेशवत् सयोगि द्रव्या तरदंगप्रविभागोपचारे सति दशनरतयप्रत्यासत्याकायकारणसत्ताना विच्छेदेन यथोत्तरमपचीयमानपूवप्रतिबिम्बोपग्राहणशक्तयो मदप्रदीपप्रकाशित-रूपकल्पा क्रमेण प्रध्वसमाना ये वणध्वति विभजति ते ध्वनय इत्युच्य ते । नित्यपक्षे तु सयोगजविभागजध्वनित्वमय स्फोट । एषा सयोगविभागजध्व निसंभूतनादाभिः य । स्फोटरूपानुग्राहिणस्तु यथोत्तरमपचीयमानाभि-व्यवस्यसामर्थ्या द्रुतादित्तिभेदव्यवस्था हेतवोऽपचयात्मका ध्वनय ।

—वाक्यपदीय १।१०३ पर हरिवर्जित

अनि य पर म स्थान और करण क सयोग विभाग क हनु स निव त्त का नाद कहत ह । उसकी प्रथम अभि यन्ति हाती ह । उस नाद का स्फोट कहत है । अपन ममवायी आवाज की तरह वह भी निरवयव है परंतु जमे आकाश म घट आदि सयोगी द्र य म देग भेद हात के कारण पूवारर व्यवहार होता है उभी तरह नाग म भी पूवारर व्यवहार आरोपित रहता है । शब्द क वात् जो पैदा हाती है वे ध्वनिया ह । व वणध्वति क विभक्कन करती हैं । अथात् प्रतिभक्कन स्पुट अक्षर वाली होती हैं । व शब्द क प्रतिविम्ब म युक्कन रहती है और सत्र णिगाग्रा म फनती हैं । उनके फनन की दा पद्धतिया मानी गई ह । बीचिनरगवत् और कन्ध्व कारकत्त । जसे एक लहर दूसरी लहर को पत्ता करती हुई विस्तार पाती है वैसे ध्वनि भी एक ध्वनि नहर से दूसरी ध्वनि लहर उठानी हृद रातत रूप म फलनी है । कदम्बकोरक का मन मानने वाला का अभिप्राय यह है कि णित तरह कन्ध्व क कोरक एक उ एक चारा तरफ समान रूप स छिरात ह वम ही ध्वनियाँ चारा तरफ समान रूप स फनती हैं । बीचिनरगयात्र और कन्ध्वसारक वायमभेद यह माना जाता है कि पहले मत क अनुसार चारा णिगाग्रा म फनन वाली ध्वनि की एक नहर सी होती है जयकि दूसर मत क अनुसार चारा आर फैलन वाली ध्वनि अलग अलग सी होती है । ध्वनि का स्वभाव यह है कि वह जमग क्षीण होती जाती है और अन्त म क्रम म नष्ट होती जाती है । भक्त हरि न दनका उपमा मन्त्र प्रदीप क प्रकाश म लेी है । यद्यपि ध्वनि दीपन क तुल्य है व्यञ्जक होन क कारण न कि प्रकाश क । फिर भी जसे मद प्रकाश दूर पडन पर क्रमग क्षीण और वितीन होन जाने हैं वस ही ध्वनि की भी बात है । यही दोना म साम्य है ।

नाग के नित्यत्वपक्ष म ध्वनि यथोत्तर अपचय प्राप्त हात वाली अभियन्ति म ममय द्रुतादित्तिभेद व्यवस्था का कारण और अन्त म पिनगवनील है । अनित्य पक्ष और नित्यपक्ष म ध्वनि के स्वरूप म भेद न हाकर नाग अथात् स्फोट क स्वरूप म भेद है । अनित्य पक्ष म नाग पदा होना है तत्र ध्वनि फलनी है । नित्य पक्ष म मन्त्र ध्वनि स योग्य है । नाग व्यक्ति का ही स्फोट मानन वाले सयोगविभागज ध्वनि

ध्वनि को और कुछ बहुत ध्वनिया का जन्म देकर विलीन होती है। इसलिए शब्दकाल ध्वनिकाल से भिन्न है। इसी आधार पर द्रुता मध्यमा आदि वक्तियां म ध्वनिभेद ही माना जाता है। शब्द भेद नहीं (स्यात्वाद रत्नाकर ४।१० पृष्ठ ६/६६/१)। द्रुता मध्यमा और विलम्बिता ये तीन वक्तियां मानी जाती हैं। प्राचीनकाल में समय नापने की एक प्रकार की नाडिका थी। एक कटोरे में पानी भरा रहता था। उसमें से पानी चूने का प्रयत्न था। चूने वाले जब जिद्दुआ को पानीय पल कहते थे। द्रुतावत्ति पढ़ने के उस ढंग का कहते थे जिसमें एक श्रृंखला के पत्तों के काल में नव पानीय पल चू जाते थे। मध्यमावत्ति में द्रुतावत्ति के तीन भाग आधे समय लगता था। अर्थात् यदि द्रुतावत्ति में ९ पानीय पल का समय लगता था तो मध्यमा में १२ पानीय पल का समय लगता था। विलम्बिता वत्ति से पत्तों पर १६ पानीय पल का समय लगता था। (नागेश ने नाडिका का अर्थ सुस्पष्ट किया है। और पानीय पल को ब्रह्माण्ड से समतुल्य बना लिया है उसका यह भी एक दृष्टांत है। नाडिकाया मुपुष्पाया इत्यथ। रहस्यात्मक बना लिया है उसका यह भी एक दृष्टांत है। नाडिकाया मुपुष्पाया इत्यथ। पलानि त्रिंशत्। ब्रह्माण्ड सम्बद्धा साऽमनवि दुःखाविणीति प्रसिद्धियोगिनाम्—नागेश महाभाष्य १।१।७०।)

वक्तियों में ध्वनित्व भेद होने हुए भी वण का काल एक ही रहता है। एक ही वण को कोई शीघ्रता से उच्चारण करता है और कोई देर से उच्चारण करता है। जिस तरह से गति भेद से माग में भेद नहीं माना जाता उसी तरह से वक्ता के उच्चारण भेद से वणों में उपचय का अपचय नहीं माना जाता। हाथी का हाथी के साथ और मत्तक का मत्तक के साथ सनिकप एक सा है। उनमें भेद उ के शरीर की मात्रा पर निर्भर करता है। घन बार बार देखे जान पर भी वही रहता है। उसमें भेद नहीं होता। उसी तरह द्रुतविलम्बित आदि वक्तियां म प्रकार प्रकार के रूप में अकार नहीं होती। उसमें कोई भेद सम्भव नहीं है। इसलिए वक्तिभेद हाते हुए भी वणभेद माना जाता है जबकि ह्रस्व दीर्घ और प्लुत में काल भेद माना जाता है जसा कि ऊपर उक्त किया जा चुका है।

वपम के अनुसार द्रुता मध्यमादि वक्तियां म भेद बुद्धि कृत है। उनके मत में स्फोटग्राहिका बद्धि उपाधि रूप में कालभेद से भिन्न भिन्न प्रतीत होती है और मन्त्रिए तादि वक्तियां म भेद हो जाता है (अभिनेऽपि स्फोटे ता एव बुद्धय उपाधि भूता कालभेदेनावतमाना मिथ्ये ते। तत्कताश्च द्रुतादि वक्तिभेद —वाक्यपनीय टीका १।७६ पृष्ठ ७८ लांनोर संस्करण)

उपयुक्त विवरण वण की नित्य मान कर उल्लिखित है। वण के उत्पत्तिवाक्य पक्ष में भी वण की अभिव्यक्ति के बाद दूर से भी ग्राह्य किमी ध्वनि की सत्ता माननी ही पड़गी। उस ध्वनि के कालभेद से वक्तिभेद माना जाना चाहिए। (वर्णोत्पत्तिपक्षतु तदननिष्पादो दूरादपिग्राह्य कश्चिदध्वनिरवयाम्युपेय। तस्यैव कालभेदाद वक्ति प्रविध्यम गत्तौस्तम १।१।७०)

वक्तियां का उद्देश्य निम्नलिखित श्लोक में किसी न लिखा है  
अभ्यासार्थे द्रुतावत्ति प्रयोगार्थे तु मध्यमा।  
निष्पाणा तूपदेनाय वक्तिरिष्टा विलम्बिता।—गत्तौस्तम १।१।७० म उद्धृत

गत्तौ की अभिव्यक्ति का प्रक्रिया के विषय में कई मत हैं। कुछ लोग मानते हैं कि ध्वनि उत्पन्न होकर वर्णोद्वय में एक अप्रकृत गति का संचार करती है।

कान का सम्कार करती है। उसमें सुनने की शक्ति पैदा करती है अथवा उसमें स्थित शक्ति को जगा देती है। दाँत तरह का सम्कार देखा जाता है।—लौकिक (प्राकृत) और अलौकिक। ये दोनों ही सम्कार चान्द्रिय में होते देखे जाते हैं। उनका विषय में नहीं। आँख में अजन लगाने से आँख की शक्ति बढ़ती है। यह आँख का लौकिक सम्कार हुआ। कभी कभी कोई व्यक्ति अपनी आँखों से बहुत सूखे की हुई अथवा अत्यन्त दूर की भी वस्तु का प्रत्यक्ष कर लेता है। यह आँख का कोई अलौकिक सम्कार है। ये दोनों ही सम्कार चान्द्रिय में होते हैं न कि विषय में। यदि विषय में सम्कार होने तो बिना अजन आदि के द्वारा और बिना दिव्य दृष्टि आदि अलौकिक शक्ति के द्वारा भी सबको उन वस्तुओं का प्रत्यक्ष होना। ऐसा होता नहीं है। इसलिए चान्द्रिय में ही सम्कार होने के कारण चन्द्रिय का ही सम्कार होता है और तब शब्द का श्रवण हो पाता है।

इसके विपरीत कुछ लोग मानते हैं कि सम्कार विषय में ही होता है चान्द्रिय में नहीं। पृथ्वी पर जब जल छिड़कते हैं उसमें से गंध निकलती है और उसका ग्रहण घ्राणद्रिय करती है। तल को जब किसी सुगन्धित द्रव्य से वासित करते हैं तब वह सुगन्धित जान पड़ता है। इसीलिए विषय में ही सम्कार मानना ठीक है अथवा घ्राणद्रिय में सम्कार मानने से संस्कृत असंस्कृत सभी प्रकार के विषयों में कोई भेद जान नहीं हो सकता। इसलिए हम मत के अनुसार ध्वनि के समग्र में शब्द का ही सम्कार होता है और तब वह कणोच्चर होता है।

कुछ लोगों के मत से विषय और इन्द्रिय दोनों का सम्कार होता है। जो लोग चक्षु को अप्राप्यकारी मानते हैं उनके मत में अधकार में स्थित पुस्तक का प्रत्यक्ष प्रकाश होता है। प्रकाश माना विषय का सम्कार करता है। जिनके मत में चक्षु प्राप्यकारी है उनके मत में तुरन्त जातीय तेज (प्रकाश) से नयन रश्मियाँ का अनुग्रह होता है। सूक्ष्म रश्मियाँ आँख के प्रवाहरूप में निकलकर बीच के तल परमाणुओं से जा 'यापक' होने के कारण सबका है मिल कर एक तरह की सूक्ष्मतर और भिन्न कोटि की रश्मियाँ पैदा करती हुई वहाँ तक जाती हैं जहाँ तक आलाक है। फिर उस आलाक से उन रश्मियों का सम्कार होता है ऐसा वैज्ञानिक मानते हैं।

ध्वनि के अभिव्यञ्जक के बारे में भी तीन तरह के विचार हैं। कुछ लोग मानते हैं कि ध्वनि सदा स्फोटसंश्लेष ही गहीत होती है। स्फोट से अलग वह कभी भी ग्राह्य नहीं होती। तब तो स्फोट और न ध्वनि ही परस्पर विभक्त रूप में जान जा सकते हैं। जिस तरह से विषय और आलाक एक दूसरे से संश्लेष गहीत होते हैं पर व्यवहार में आलाक सूर्य किरण से जन्म है और विषय स्तम्भ आदि काष्ठज यही ऐसा उनमें भेद कर्त है उसी तरह तालु आदि स्थान से ध्वनि पैदा होती है और स्फोट नित्य होने के कारण अकारण है ऐसा उनमें भेद करते हैं परन्तु उनका ग्रहण अलग अलग न होकर मत्त संश्लेष ही रहता है।

कुछ लोग मानते हैं कि ध्वनि अगहीत रूप में ही शब्द का अभिव्यञ्जक है। ध्वनि का रूप कभी गहीत नहीं होता। वह अगहीतरूप में ही शब्द के ग्रहण में निमित्त होता है। हम दान के मत में इन्द्रिय और इन्द्रियों के गुण अनुमय होते हैं। उनका प्रत्यक्ष नहीं होना। विषय का प्रत्यक्ष होता है। उसका कोई साधन अवश्य है। इससे इन्द्रियों का अनुमान कर लिया जाता है। उनके मत में इन्द्रियाँ भौतिक हैं और उनके आश्रित रूप आदि अपनी अधिकता से समान जातीय रूप आदि के ग्रहण में हेतु होते हैं। पृथ्वी गन्धत्व ज्ञान में गन्धमयी होने के कारण हेतु और गन्ध की अधिकता होने के कारण

हनु है। घ्राणद्रव्य की गंध उपलब्धि मनिमित्त पृथ्वी का समवेत गन्ध है जो अपनेममवायि कारण इन्द्रिय को व्यपन करता हुआ (भगुगन्तु) गंध की उपलब्धि म निमित्त होता है परन्तु स्वयं समवेत गंध का मयत्न नहीं होता। उसी तरह ध्वनि भी समवेतस्वरूप म ही किसी दूसरे उपाय से स्फोट की उपलब्धि म कारण होती है। (तत्र यथा घ्राण द्रव्यस्य पृथिवीभूमिष्ठगन्धयात समवेता गन्धस्ततः समवायि कारणमिन्द्रियमनुगह्यते गन्धोपलब्धिनिमित्तम्। न च समवेतो गन्धः सवेद्यः। तथा ध्वनिरसवेदित एवायनोपायेन स्फोटोपलब्धि निमित्तम् भवतीति—वपम वाक्यपदीय १।८२ प० ८३)

कुछ लोग मानते हैं कि केवल ध्वनि का भी स्वतन्त्ररूप म ग्रहण होता है। इस मत म दो तरह के विचार हैं। एक तो यह कि स्फोट (शब्द) के अवधारण का परिणाम के बिना भी दूर से केवल ध्वनि का ग्रहण देखा ही जाता है। दूसरा यह कि ध्वनि स्वयं शब्द की उपलब्धि की तरह है (गन्धोपलब्धि कल्प एवासावित्यपरे—वाक्यपदीय हरिवर्ति १।८२)। दखा जाता है कि रेगिस्तान जैसे स्थानों म छोग भी तिला पवत की तरह टियाई देता है। च द्रमण्डल बहुत बड़ा है पर दरम म अत्यंत लघु जान पड़ता है। देशविशेष और सम्बन्ध विशेष के कारण भिन्न आकार और अवस्था वाली वस्तु उससे भिन्न आकार अवस्था वाली मानूम पड़ती है। स्फोट और ध्वनि अलग अलग हैं। जब वण-बोध रहित केवल अनुरणन रूप ध्वनि रहती है उस समय इसकी स्वतन्त्र सत्ता स्पष्ट है। अकार आदि स्पष्ट वणबोध के समय वह स्फोट से सस्पष्ट जान पड़ती है।

प्रयत्नविशेष से उदबुद्ध ध्वनि वणसम्बन्ध भी होती है, पदसम्बन्ध भी होती है और वाक्यसम्बन्ध भी होती है। दूसरे शब्दों म, वणस्फोट पदस्फोट और वाक्यस्फोट की बुद्धि म आरोपित करती है। बुद्धि के सहारे ही वणों के पौवापय का ज्ञान होता है। अथवा वणों के विनाशाल हान के कारण उनम क्रम सम्भव नहीं है। अतः उनका परिणाम भी सम्भव नहीं है। क्रम से उत्पन्न वण भी मन्त्रि अवस्थित रहते तो उनमें भी उसी तरह वण का व्यपदेश सम्भव था जिस तरह ज्येष्ठ मध्यम और तृतिष्ठ म होता है। किन्तु उच्चारण के बाद प्रध्वस्त हो जाने के कारण वण अतवस्थित हैं और इसलिये तत्काल उनमें पूर्वापर भाव नहीं है। शब्दों के पूर्वापर का व्यवहार बौद्धिक है। वणों के विषय में सावयव और निरवयव सम्बन्धी विचार हम य म अत्यन्त किया गया है।

वपम के अनुसार भन हरि वणों की भागश रूप म बुद्धिग्राहिता स्वीकार करते नहीं जान पड़ते। वण की अभिव्यक्तिपथ म और वण की उत्पत्तिपथ म भी भागश अभिव्यक्ति मानन पर भी उनके समुदाय का ग्रहण नहीं हो सकता। उत्पत्ति वादियों के मत म वण के विभाग परमाणुकल्प है इसलिये क्रम से उत्पन्न होन पर भी वे अतीन्द्रिय ही रहण। फलतः उनका समुच्चित रूप म ग्रहण नहीं किया जा सकता।

वण के निरवयवपथ में भी और उसके भागा की इन्द्रियग्राह्य मानन हुए भी उनके समुदायभाव की स्मृति नहीं हो सकती। वे क्रम से उत्पन्न होत जायग और नष्ट होते जायेंगे इस कारण उनका समुदाय ही नहीं हो सकता। एक एक के अनुभव होन पर भी

समुदाय का अनुभव सम्भव नहीं है। अनुभव न होने में उनकी स्मृति भी नहीं हो सकती। पुनः वण के भाग में स्मृति जगाने की शक्ति भी नहीं है क्योंकि उसके बारे में किसी प्रकार का अभ्यास नहीं दिया जाता।

निरवयव वण के अभिप्रक्ति-वाद के पक्ष में भी सकल शब्द का ग्रहण सम्भव नहीं है क्योंकि अभिव्यक्ति से अभिप्रेर्य का ग्रहण होता है किन्तु अतः में उन समुदित व्यञ्जनों की सत्ता न रहे सकेगी। इसलिए सम्पूर्ण शब्द का ग्रहण नहीं हो सकता। जो लोग स्फोट की भी भावना अभिप्रक्ति मानते हैं और उसे भाग वाला मानते हैं उनके मत में भी यह दोष है।

यदि यह कहा जाए कि पूर्व उच्चरित वण आगे वाले वण में अपना मस्कार डालते चलते हैं और जब अन्तिम वण उच्चरित हो जाता है तब उन सबका समूह लवनात्मक मस्कार बुद्धि में पैदा हो जाता है और शब्द का ग्रहण होता है—तो यह भी युक्ति-युक्त नहीं है क्योंकि अभिप्रक्ति वस्तु मस्कार ग्रहण करती है, जबकि आगे वाला वण अनभिप्रेत है। वही मस्कार का आधान कम सम्भव है और जब आगे वाला वण अभिव्यक्ति होता है उस समय पूर्व का वण अनभिप्रेत हो जाता है। इसलिए भी मस्कार नहीं हो सकता। क्योंकि अपनी अभिप्रक्ति में मस्कार का आधान होता है, अनभिप्रेत में नहीं। अथवा नित्य हान के कारण सबका सबत्र आधान होने लगे (वधम, वाक्यपदीयटीका १।८५)।

## ध्वनि और नाद

वाक्यपदीय में ध्वनि और नाद शब्दों का समान अर्थ में प्रयोग हुआ है। भक्त हरि ने इनमें अन्तर केवल यह किया है कि नाद ध्वनि का विवर्त है।

तच्च सूक्ष्मे व्यापिनि ध्वनौ करण व्यापारेण प्रचीयमाने स्थूलेताभ्रस घातबहु पलम्भेन नादात्मना प्राप्तविवर्तेन ।

—हरिवर्त्ति वाक्यपदीय १।८८, पृष्ठ ५८

दूसरे शब्दों में प्राकृत ध्वनि का ध्वनि और वृत्त ध्वनि को नाद शब्द से प्रकट करते हैं। इन दोनों ध्वनियों का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। ध्वनि ह्रस्व दीर्घ आदि का व्यवस्था हेतु है और नाद द्रुता मध्यमा आदि वृत्तिभेदों में व्यवस्था स्थापित करना है। भक्त हरि ने प्राकृतनाद और वृत्तनाद शब्दों का भी प्रयोग किया है।

नादादि प्राकृत शब्दात्मनि प्रत्यक्षमानस्यतिरूपो भेदस्याग्रहणाय ह्रस्व दीर्घस्तुतकालभेद-प्रवहार-प्रवस्थाहेतुः । वक्तस्तु नादो बाह्यद्रुतादिवृत्तिकाल व्यवस्था प्रकल्पयति ।

—वाक्यपदीय हरिवर्त्ति १।१०२ पृष्ठ ६७, ६८

द्रव्याभिघात से, तात्परादिस्थान में जिह्वादि के अभिघात से कम्प पैदा होता है। कम्प के बाद नाद पैदा होता है। अभिघात वृत्त वायु के स्पन्दन को कम्प कहते हैं। कुछ लोग मानते हैं कि जिस तरह ज्वाला में ज्वाला पैदा होती है उसी तरह स्फोट से ध्वनियाँ पैदा होती हैं। कम्प से उत्पन्न शब्द के समानान्वित ध्वनियाँ स्फोट का सम्भार



करती है। उनके बाद प्रकाशित होने वाली उनके अनुपम म भासित होने वाली ध्वनिया का नाम कहते हैं

द्रव्याभिधानात्प्रचिनी भिन्नो दीघन्तुतावपि ।

कम्पे तूपरते जाता नादा धर्तोविशेषका ॥

अनवस्थितकम्पेऽपि करण ध्वनयोपरे ।

स्फोटादेवापजायते ज्वाला ज्वालातरादिव ॥

—वाक्यपदीय १।१०६ १०७

वपम के अनुसार नाद सूक्ष्म है क्योंकि नाद के भाग परमाणु कल्प है (परमाणु कल्पत्वा नादभागानाम्—वपम वाक्यपदीय टीका १।६८)। नाद के भाग सकल व्योम व्यापी है। नाद क्रमवान है। म्यान और वरण (जिह्वादि) के अभिघात क्रमवागे है। उनके सहारे अभिव्यक्त नाद भी क्रमवाला माना जाता है। नाद उपसहृत क्रम के रूप में प्रचयरूप में प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा ध्वनिया के द्वारा स्फोट को उत्पन्न करता है।

भत हरि के मत में नाद और ध्वनि दोनों में बुद्धि में गहराई का अवधारण होता है। नाद से बुद्धि में जिस उत्कर्ष का आधान होता है उस मत हरि ने अनुगुण सस्वार भावनाबीज कहा है और अन्त्य ध्वनि से जो उत्कर्ष का आधान होता है उसे परिच्छेद सस्वारभावनाबीज वल्लभाभप्राप्तयोग्यता कहा है। सस्वार से तात्पर्य महा शक्ति विशेष से है। गति ही चित्त का सस्वार करती है (शक्तम चेत सस्कुर्वति विविष्ट जनमति इति सस्वार शब्दोक्ता)। —वपम वाक्यपदीय १।८५) विविष्ट बुद्धि के जनन होने के कारण बीज और तद्रूप की भावना होने से उन्हें भावना भी कहते हैं। अन्त्य ध्वनि के वात शक्त के विशिष्ट स्वरूप का गी आदि गद का अवधारण होता है। इसलिए बुद्धि-सस्वार का स्फोट का परिच्छेद या परिच्छेदोपाय भी कहे हैं। बुद्धि में स्फोट के स्वरूप के अवधारण की योग्यता आ जाना बुद्धि का परिपाक कहा जाता है। अन्त्य ध्वनि से ऐसी योग्यता-संपन्न बुद्धि में गद का आकार (स्वरूप) उत्पन्न होता है। इसे ही बुद्धि में गद का अवधारण होना कहते हैं।

## नाद (ध्वनि) और स्फोट

गान्धिव्यादियों के मत में नाद और स्फोट में अन्तर यह है कि नाद ध्वजर है और स्फोट व्याप्य है। गान्धिव्यादी प्रथम अभिघात में ध्वनि का गद अथवा स्फोट कहते हैं और उससे उत्पन्न होने पर उससे भिन्न ध्वनिया का ध्वनि या नाद कहते हैं। प्रथमो-अभिघातजस्तारतर गद तदन्त्या नाद इति स्पष्ट एव भेद

—वपम वाक्यपदीय १।१०५

## वर्ण

म्यान-वरण के अभिघात में ध्वनि पैदा होती है। ध्वनि पयस-पयस प्रपन्न से पयस-पयस रूप में अभिव्यक्त होती है। पयस प्रपन्न जब ध्वनि का वर्ण कहते हैं।

पथक प्रयत्ननिवर्त्य हि वर्णमिच्छति आचार्या ।

—वागिका-एग्रौच ।

वर्ण नाम क्या पडा यह स्पष्ट नहीं है । हरदत्त के अनुसार वर्णन किये जाने के कारण इसकी सत्ता वर्ण है (वर्ण्यते उपलभ्यते इति वर्ण —पदमजरी ७।४।१३)

कुछ लोगों के अनुसार वर्ण वज्र से बना है (वर्णो वर्णात्) । यामकार के अनुसार वचन गन् भी वर्ण के अर्थ में प्रयुक्त होता था । उनके अनुसार मुखनामिका-वचनोऽनुनासिक १।१।८ में वचन शब्द वर्णपरक है (उच्यते इति वचना वर्णो वर्तते) ।<sup>२६</sup>

## वर्ण की निष्पत्ति के प्रकार

वर्ण की अभिव्यक्ति के विषय में भक्त हरि ने अनेक वादा का उल्लेख किया है । शिक्षासूत्रकारों में कुछ मानते हैं कि आभ्यन्तर प्रयत्न में ऊपर उठाया हुआ प्राणवायु आन्तरिक उत्पत्ति से युक्त होता है । फिर शरीर के भीतर की नाडियाँ के छिद्रों में स्थित सूक्ष्म गन्धकणों को प्रेरित करता है । जिस तरह वायु से प्रेरित धूम के अवयव एकत्र होते हैं वैसे ही प्राण वायु से प्रेरित गन्धकण घनीभूत हो जाते हैं । फिर किसी विशेष प्रकार की मात्रा के सहारे अन्तर्स्थित शब्द के विम्ब को ग्रहण कर वर्णरूप में अभिव्यक्त होते हैं । अत्यन्त सूक्ष्म के कारण वर्ण के आन्तरिक और बाह्य स्वरूप में भेद नहीं है ।

अतर्वर्तिना प्रयत्नेनोर्ध्वमुदीरित प्राणो वायुस्तेजसानुगहीत शब्दवह्नाभ्यनुविभ्य सूक्ष्मांश धूमसत्तानवत्सहति । स स्थानेषु शब्दधन राह्यमान प्रकाशमात्रया कयाचिदन्त सनिवेशित शब्दस्याविभक्त विम्बमुपगृह्णाति ।

—वाक्यपदीय १।१।१६ की हरिवर्ति में उद्धृत

आपिण्डीय शिक्षा के अनुसार नाभि प्रदेश से प्रयत्न प्रेरित वायु ऊपर उठती हुई उरस्थ कण्ठ आदि स्थानों में किसी स्थान पर टकराती है उसमें शब्द की निष्पत्ति होती है

नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितो वायुरुर्ध्वमाश्रयमनुरस्यादीना स्थानानामन्तमस्थानमिहति । ततः शब्दनिष्पत्तिः ।

—वाक्यपदीय १।१।१६ की हरिवर्ति में उद्धृत

किसी दूसरे प्राणिशास्त्रकार का मत है कि वायु कोष्ठस्थानगत ध्वनि विशेष (अनुप्रदान) का प्राप्त होती है । वही कण्ठ में पहुँचकर श्वासनाद आदि के रूप में परिणत हो जाती है

वायु कोष्ठस्थानमनुप्रदानमापद्यते । स कण्ठगत श्वासता नादता वा इत्यादि ।

—वाक्यपदीय १।१।१६ की हरिवर्ति में उद्धृत

इस मत के अनुसार कण्ठ के विभिन्न स्थानों पर श्वास और शब्द हान पर नाद

<sup>२६</sup> अभिनवगुप्त ने वाक् तत्त्व के अन्तरगत विद्वत् को नाद और बहिरंग विद्वत् को वर्ण माना है —

की मष्टि हाती है। इस दष्टि में श्वास और अनुप्रदान भेद में दो तरह के वर्ण होते हैं। वषभ के अनुसार यह मत वह वचप्रातिशाख्य में शौनक ने व्यक्त किया है

यथा ब्रह्म वचप्रातिशाख्ये शौनक — वायु प्राण कोष्ठयमनुप्रदान कण्ठ विवते सवते चापद्यते श्वासता नादतां च वषत्रीहायामुभय चातरे तदपीति ।

वह वचप्रातिशाख्य—वषभ द्वारा वाक्यपदीय १।१।१६ की टीका में उद्धृत ।

अनुप्रदान शब्द के विभिन्न अर्थों का व्यासकार ने उल्लेख किया है  
उपरिवर्तिनौ तौश्वासनादौ अनुप्रदानमिति केचिदाचक्षते । वषनिष्पत्तेरनु पश्चात् प्रतीयत इत्यनुप्रदानम् । अथे तु ब्रूयते अनुप्रदानमनुस्वानो घण्टानिर्ह्रादिवत् ।

—व्यास १।१।१६ पृष्ठ ५७

किसी अन्य प्रातिशाख्य के अनुसार मन से अभिहत कायाग्नि प्राण को प्रेरित करती है। वह प्राणवायु नाभि से उठती है। मूढा से जाकर टकराती है। पुनः एक दूसरी उठती हुई वायु से टकराकर कंख आदि ध्वनियों का रूप ग्रहण करती है

मनोभिहत कायाग्नि प्राणमुदीरयति । स नाभेरुद्यन्मूढानि अभिहतोऽप्येन पुनरुद्यता मरुताभिहृत्यमानो ध्वनिं सपद्यते क इति वा ख इति वा ।

—वही उद्धृत

पाणिनीय शिक्षा के अनुसार जब किसी वस्तु को शब्द द्वारा कहने की इच्छा होती है पहल वद्धि मन का सहाय होता है। मन कायाग्नि पर आघात करता है। कायाग्नि वायु को प्रेरित करती है। वायु उरप्रदान में मद्रस्वर करती है और आग वद्धती है। कण्ठ स्थान में पहुँचकर मध्यम स्वर करती है और शीघ्र स्थान में पहुँचकर तारस्वर करती है। फिर मुँह से टकराकर वह लौट आती है और मुँह में विशेष स्थानों में टकराकर विशेष वर्णों को पदा करती है।

आत्मा बुद्ध या समेत्यार्थामनो युक्तेष्विवक्षया ।

मन कायाग्निमाहति स प्रेरयति मारुतम् ॥

मारुतस्तूरसि चरमद्र जनयति स्वरम् ।

प्रातः सवनयोग त द्यौः गायत्रमाश्रितम् ॥

कण्ठे माध्यदिनयुग मध्यम अक्षमा ॥

तार तार्तीयसवन शीघ्र जाग्रतानुगम् ॥

सोदीर्णो मूढयभिहतो वषत्रमापद्य मारुत ।

वषाञ्जनयते तेषां विभाग पञ्चधा स्मृत ॥

—पाणिनाय नि ता ६८

वाक्यपत्याकार ने नि तातांग के विभिन्न मन्त्रों की समीक्षा कर उद्धृष्ट किया है किमी प्रकार मान मन का मन्त्र दा है — प्रतिगाय नितांगु भिन्न आगमन्त्रान् दध्यमान सव प्रपचेन समययितव्यम् ।

—वाक्यपत्या १।१।१६ हरिवन्ति पृष्ठ १०८

## वायुशब्दत्वापत्तिवाद

किसी दशान के अनुसार वायु की गन्तत्वापत्ति होती है। वायु प्रकृतिमात्राया (ऋकतत्र पृष्ठ १) वायु ध्वनि के इच्छाजय प्रयत्न में नियन्त्रित होकर तात्वादि स्थानों में टकराकर गन्त रूप में परिणत हो जाती है। वायु के वर्ग में ध्वनि का उद्भूत होना कोई आश्चर्य नहीं है। क्योंकि वायु गतिमान है। उसके वर्ग में मारवान वस्तुएँ पर्वत आदि तक विभक्त हो जान हैं फिर उसके प्रकप में तालु आदि में ध्वनि के प्रकट होने में कोई बाधा नहीं — (वाक्यपनीय १।१०८ ११०)।

## अणु शब्दत्वापत्तिवाद

भन हरि ने एक ऐसे दशान का भी उल्लेख किया है जिसके अनुसार अणु ही गन्त रूप में परिणत हो जान हैं। शब्द परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म हैं। वे सबगतिमान हैं। मयान और विभाग उनकी क्रियाएँ हैं। जब किसी निमित्त में उनका संयोग हो जाता है व परिणत होने लगते हैं। जब अलग हो जाते हैं परमाणु की छाया में अवस्थित रहते हैं। यद्यपि अणु गन्तत्वापत्ति गति-युक्त है फिर भी प्रयत्न में महियमाण होकर ही व गन्तरूप को प्राप्त करते हैं। गन्तरूप में परिणत होने के कारण उन अणुओं का गन्त कहते हैं।

अणु के वाक्य तत्त्व में बदलने का मिद्वान जनदशान का है

आहतास्त्वाह सूक्ष्म शब्दपुद्गल आरधगरीर शब्द स्वप्रभवभूमे निष्कस्य प्रतिपुष्ट्य कणमूलमुपसपतीति—वायमजरी, श्रीवम्बा मन्त्रण १८३६, पृष्ठ १६८

गन्त परमाणु आने-द्रिय ग्राह्य होकर गन्तरूप में परिणत हो जाते हैं। इस मिद्वान का बोद्धदशान भी मानना है।

गन्तपरमाणव एवं सहता श्रोत्रेन्द्रियग्राह्या शब्दाकारा ।

—जिनेन्द्रबुद्धि प्रमाणममुच्चय टीका पृष्ठ ७७

## ज्ञान शब्दत्वापत्तिवाद

कुछ विचारकों के अनुसार ज्ञान ही गन्त रूप में परिणत हो जाता है। ज्ञान सूक्ष्म है। उसमें और सूक्ष्म गन्तत्त्व में कोई अन्तर नहीं है। ज्ञानात्मा और वागात्मा एक ही चीज है। सूक्ष्मता के कारण अनेन्द्रिय है। ज्ञान जब अपने का स्थूल रूप में व्यक्त करता चाहता है गन्त रूप में उसका विवर्त होने लगता है और वह श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य होने लगता है। वह पञ्च मनोभाव को प्राप्त होता है। पुन आन्तरिक ज्ञान से उसका पाव होता है जिसमें उसमें विषय के ग्रहण की शक्ति आ जाती है। फिर वह प्राण वायु में प्रवेग करता है। प्राण वायु अन्न करण के तत्त्व में युक्त होती है। अज्ञान मना मय रूप धारण करती है और जिस तरह इधन अग्नि के संयोग में इधन रूप का उत्पन्न कर अग्निमय बन जाता है वही तरह प्राण-वायु भी अपने स्वरूप छोड़ कर मनोमय हो जाता है। पुन भिन्न भिन्न धुनिया (विशेष ध्वनियों) में अपने स्वरूप को विभक्त

करती हुई प्राणवायु वणों का व्यापन कर वणों में हा जान हा जाता है । प्रधान प्राण वायु वण का रूप में अभिव्यक्त हा उठती है । अगानि चान की विवृति म शब्द प्रमाण माना जाता है ।  
(वाक्यपटीय १।११३ ११६)

कथं क अनुगार आत्मानापवाग १।६।२६ सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि ने भी चानात्मापत्तिवात् ता मन्त्र किया है । महाभाष्यकार ने अध्यापन चान के उपाध्याय के चान का मतनवन्ता है और उस ज्योति की तरह माना है । जिस तरह ज्योति लगानार अविच्छेदरूप में निरलती हुई भिन्न भिन्न होती हुई भा गान्धर्व के कारण एक ही एक सन्तान में जान पड़ती है उसी तरह उपाध्याय के चान भी भिन्न भिन्न है और भिन्न भिन्न चान स्वरूप को ग्रहण करत है और अगानि उग गतन कहत है

यथा ज्वालादप ज्योति अविच्छेदेन उत्पद्यमान सादृश्यात् तत्त्वेन अध्यवसीय मान सतत तथैव उपाध्यायज्ञानानि भिन्नानि भिन्नशब्दरूपताम आपद्यमानानि सतता युच्यन्ते । ज्ञानस्य शब्दरूपापत्तिरिति दर्शनमथ भाष्यकारस्य ।

—कथं महाभाष्य १।६।२६

एक दूसरे प्रवाद के अनुसार चान निय (अजस्रवनि) के सूक्ष्म होने के कारण उसकी स्वतन्त्र उपलब्धि नहीं होता । जिस तरह वायुपरमाणु व्यञ्जक या निमित्त के अभिघात से महति का प्राप्त होत है वैसे ही सूक्ष्म चानपरमाणु कारण (आम्यन्तर प्रयत्न) के अभिघात से सह्यमाण होकर चान रूप में एक होत है ।

—(वाक्यपटीय १।११७)

ध्वनि या चान की निष्पत्ति के बारे में भक्त हरि ने एक और मत का निर्णय किया जा उनका अपना जान पड़ता है । निष्पत्ति की दृष्टि से चान दो तरह का है । प्राणाधिष्ठान और बुद्धि अधिष्ठान । प्राणमात्रागति और बुद्धिमात्रागति दोनों के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है और तब श्रवण का आभास होता है । बुद्धि शक्ति से प्राण शक्ति का अनुग्रह (सहभाव) होता है । वह प्राण में विणय शान्तिकार का डाल देती है जिसमें प्राण विणिष्ट स्थान पर टकराकर विणिष्ट ध्वनि या वण का पदा करता है । यदि बुद्धिशक्ति से प्राण का अनुग्रह न हा—उसमें किसी विणय चान की भावना न हा ता प्राणशक्ति के आघात से केवल अश्रवणाश्र ध्वनि पदा होती है । प्राणशक्ति के द्वारा भी बुद्धिशक्ति का अनुग्रह हाता है । क्योंकि बुद्धि चानाकारागन्त पाणशक्ति के बिना चान रूप में परिणत नहीं हा सकती । प्राणशक्ति ऊपर उठे हुई जिस वण विषयक प्रयत्न में प्ररित रहती है उस स्थान पर जाकर चान करती है । तब तरह से वण की निष्पत्ति होती है । वह विवत के रूप में पृथ्वी केनन प्रगोध धाय आनि भक्त को ग्रहण करता है और चान तत्त्वरूप प्रतिभा में ता वास्तव में इन भेदा की छाया ही (अनुराग) रहती है

नन्द खलु प्राणाधिष्ठानो बुद्धि अधिष्ठानश्च स तु द्वाभ्या प्राणबुद्धिमात्रागतिभ्या प्रतिलब्धाभिव्यक्तिरथ प्रत्यापयति । तत्र प्राणा बुद्धि तत्त्वेनातराविष्ट । स चोध्वमभिप्रवत्तो ज्वालावद्वणस्यानेषु आक्षेपकप्रयत्नानुविवाधौ प्रतिविघातविवर्तेन नित्यान्दोषग्राहिणा विवर्तते । स च ससष्टप्राप्तशक्ति

विवृत पृथिवीकललयप्रोधधानादिवदभेदमुपगच्छति । भेदानुरागमात्रं च परस्मिन्भेदे शब्दात्मनि सन्निवेशयति ॥११८॥

—वाक्यपत्नीय, हरिवृत्ति १।११८ पृष्ठ १०५

## वर्ण सावयव और निरवयव

प्राचीन वैयाकरणा न वर्ण के सावयव और निरवयव पक्ष पर भी विचार किया है । यद्यपि सावयव और निरवयव दोनों रूप में वर्ण पर विचार किया गया है परन्तु सिद्धान्त रूप में निरवयव पक्ष को अधिक मायना दी गई है । भक्त हरि ने वर्ण के लिए विभाग शब्द का भी प्रयोग किया है । विभक्त किए जाने के कारण वर्णों का विभाग कहते हैं । (विभज्यन्ते इति विभक्ता वर्णा ) और कहीं कहीं वर्ण के अवयवों के लिए मात्रा शब्द का भी व्यवहार किया है । निरवयववर्णपक्ष में मात्रा विभाग कल्पित होते हैं तत्तद्वाच्य निरवयव वेष्टु वर्णेषु मात्राविभागाध्यवसाय —वाक्यपत्नीय हरिवृत्ति १।८६) ।

भक्त हरि न वर्णतुरीयाश (वाक्यपदीय १।६३ हरिवृत्ति) और तुरीयतुरीयक (वाक्यपत्नीय १।७३ हरिवृत्ति) शब्दों का व्यवहार किया है जो वर्ण के सावयव पक्ष में ही मायक हो सकते हैं । वर्णमय अनुसार तुरीयतुरीयक का अर्थ वर्ण की पाट्टीकता है (तुरीयतुरीयमिति चतुर्थस्य चतुर्थो भाग षोडशी कला पृष्ठ ७६) । व्याकरण संप्रदाय में वर्ण की चतुर्थ या पाट्टी कला प्रसिद्ध नहीं है । परन्तु भक्त हरि के समय में तत्रो में इस तरह के विचार प्रारंभ हो गये थे जिसका प्रभाव भक्त हरि पर पड़ा है । वर्ण की पाट्टी कलाया का उल्लेख श्वागम में मिलता है

अमो चाकाराद्या स्थितिमत प्राणे तुटिषोडशकादिस्थित्या एका तुटि संधी कस्यार्धाधभागेन प्रलयोदययोर्बहिरपि पचदशदिनात्मककालरूपता तच्चत इति त्रिषय कलाश्चोक्ता षोडश्येव च कला विसर्गिता ।

—परात्रिणिका पृष्ठ २००, २०१

कश्मीर श्वागम में विसर्ग ह्कार का आधा माना जाता है और विनश्य उसका भी आधा । वर्ण जब निरवयव है उपयुक्त मत कम ठीक है ? इसके उत्तर में अभिनव गुप्त का कहना है कि सब कुछ अनवयव है क्योंकि सब एक चिन्मय में अवभासित है । तथापि स्वातन्त्र्य के कारण ही अवयव के अवभास होने पर भी अनवयवता ही अविनश्यरी (अनपायिनी) है । इस ही वर्ण के विषय में भी समझना चाहिए । वर्ण की उत्पत्ति हाँ एमा है । अथवा दन्त्य आष्ठ्य कण्ठ्य, तालय आदि वर्णों में क्रम से प्रसारित होने वाली वायु कम कठ का हनन कर तातु पर आघात करती है । यदि दोनों स्थान पर युगपत् आघात मान तो दोनों ध्वनियाँ समकालिक हो जाएँगी और कण्ठस्थान में उत्पन्न ध्वनि तालयज जान पड़ने लगेगी । पश्चात् प्रतीयमान होने के कारण श्वाभ और नाद को अनुप्रदान कहते हैं । जिस तरह द्विमात्रिक त्रिमात्रिक के गम में एक मात्रिक द्विमात्रिक पड़ ही रहते हैं उसी तरह मात्रिक में भी अवभासा आदि का योग मानना चाहिए । इस तरह वर्ण में षोडश कलाएँ संभव हैं । ये ही कलाएँ ह्लादनामात्र चित्तवृत्ति के अनुभावक होकर स्वर कही जाती हैं



## वर्ण सार्थक और निरर्थक

वयाकरण वर्ण को साधक और निरर्थक मानता है। जहाँ अवयव व्यतिरिक्त के आधार पर वर्ण साधक जान पड़ता है वहाँ वह अर्थवान् है। अर्थहीन माना जाता है। वर्ण के अर्थयुक्त होने का मुख्य आधार तब है। पद जो वर्ण समुदाय है साधक देखा जाता है। यदि वर्णों का सघात साधक है तो उसका एक अवयव, वर्ण भी साधक है। भाष्यकार ने इसका समयन म कहा है कि यदि एक तिल में तेन निक्कन सकता है तो एक पसेरी तिल में भी तेन निक्कन सकता है। यदि एक मिश्रता-वर्ण में तेल असंभव है तो बालू की ढेर में भी तेल असंभव है। अतः यदि वर्ण-समुदाय साधक है तो प्रत्येक वर्ण भी अर्थयुक्त होगा। इसका अतिरिक्त एक एक अक्षर वाले धातु प्रातिपदिक, प्रत्यय और निपात साधक देखे जा सकते हैं। वर्ण व्यत्यय (एक वर्ण के स्थान पर दूसरा वर्ण आ जाना) से दूसरा अर्थ देखा जाता है और एक पद में एक वर्ण का हटा देने में अर्थ बदल जाता है। इन कारणों से वर्ण की साधकता भिन्न होती है।

वर्ण का निरर्थक मानने वाला का कहना है कि प्रत्येक वर्ण का अर्थ अनुभव में नहीं आता इसलिए वर्ण का साधक नहीं मानना चाहिए। वर्ण के व्यत्यय (एक पद में वर्ण का स्थान परिवर्तन) अपाय (लाप) उपजन (आगम) और विकार (आदेश) होने पर भी कभी-कभी वही अर्थ देखा जाता है। इससे भी वर्ण की अर्थहीनता चोत्थित होती है। यदि प्रत्येक वर्ण साधक है और उदाहरण के लिए कूप सूप यूप में विशेष अर्थ का और य का मान लिया जाय तो उप शब्द पथ हो जाता है। इसलिए प्रत्येक वर्ण में अर्थवत्ता न मान कर वर्णों के सघात में ही विशिष्ट अर्थ की ओर ध्यान देना चाहिए।

न कूपसूपयूपानाम-व्यो-यस्य विद्यते।

अतोऽर्थांतरवाचित्वं सघातस्यैव गम्यते ॥

—वाक्यपदीय २।१७० (लाहौर मस्करण)

अभिनवगुप्त ने वर्ण की वाचकता का समयन करत हुए कहा है कि सकार परमानन्द अमृत स्वभाव वाला है। वह अपने आविर्भाव के साथ सम्पूर्ण वर्ण समुदाय का आशेष कर उत्पन्न होता है। देखा जाना है कि हमारे के अभिप्राय और इगित का गीघ्र ही समझ जाने वाले व्यक्ति गगन गवय गो आदि शब्दों के आदि में अर्थवाची में स्थित ग आदि वर्ण या मात्रा में ही अभीष्ट समझ जाते हैं—अर्थात् ग मुक्त ही चक्रों का अभिप्राय गगन से है ऐसा समझ जाते हैं—उनमें मात्रा से सत्य का संकेत हो जाता है। वस्तुतः प्रत्येक वर्ण में वाचकता होती है। नीचे कहा है—

शब्दाथप्रत्ययाना इतरेतराध्यासात् सकार । ततः प्रविभागसयमात् सवभूत  
स्तज्ज्ञानम् ।

—यागसूत्र १।७

अ च आदि एक वर्ण मात्र निपात विभक्ति आदि वाचक देखे जाते हैं। वे मायापद में रहते हुए भी पारमार्थिक प्रमाणपद में नहीं रहते हैं। और इन्हीं से पराङ्मुख -



मुख्य अतत्त्वभूत कभी निषेध के रूप में और कभी समुच्चय के रूप में नियत या समुच्चय के अर्थ को व्यक्त करता है। भन्तृ-ह्रि का भी ऐसा अभिप्राय है जो वे वाक्य-विचार के प्रसंग में कहते हैं—

पदमाद्य पथकसव पद साकाक्षमित्यपि (वाचस्पतीय २।२)। इसलिए वे व्याकरण में साकाक्षियों में मात्र लीक्षा आदि के शास्त्रों में अभाव्यवर्ण के साम्य पर निवर्तन किया जाता है। तथा च वेदव्याकरण पारमेस्वरपु शास्त्रेषु मन्त्रोभादिशब्देषु अक्षर-वर्णमाभ्यात निवर्तनमुपपन्नम्।

—पराशरिका २३६ २४१

## शब्द

शब्द शब्द का प्रयोग नती धाप आदि के रूप में भी किया जाता है। किन्तु व्याकरण शास्त्र में विचार के क्षेत्र में शब्द शब्द मदा उस ध्वनि के लिए आता है जिसके उच्चारण में किसी विषय अर्थ का ज्ञान होता है। भन्तृ-ह्रि न तो शब्दों के लिए उपादान शब्द का प्रमाण किया है। वाचक शब्द को उपादान कहते हैं। वाचक अर्थ का ग्रहण होता है अथवा उसमें अर्थ अपने स्वरूप में अध्वारापित होता है अथवा वाचक शब्द स्वतः माना अध्वारा हा जाता है क्योंकि वाचक अर्थ के आकार से पहचान संशय होकर शब्द का उच्चारण करता है इसलिए माना शब्द स्वयं अर्थमय हा जाता है।

सप्रह में उपादान का विवरण दा-सीत तरह से किया गया है। अयुत्पत्तिपथ में शब्द अपने स्वरूप का ही निमित्त मान कर अर्थ का ज्ञाता है। इसलिए यह उपादान है वाचक है। अयुत्पत्तिपथ में वह अर्थ को ध्यान में रखकर निमित्त होता है शब्द की अयुत्पत्ति का प्रयोजन होता है। जो शब्द अयुत्पत्तिपथ में गमनशील अर्थ रखता है। इसलिए गमनशील गोजानिरूप अर्थ का वह निमित्त होता है। इस दृष्टि से वह स्वरूप से भिन्न है और उपादान अर्थान् मूल कारण है। कुछ लोगो के मत में उपादान शब्द होता है क्योंकि वह वह है तथा व्यवस्था के द्वारा सम्बन्ध निणय में समर्थ होता है।

एव हि सप्रह पठयत—वाचक उपादान स्वरूपवान् अयुत्पत्तिपक्षे। अयुत्पत्ति पक्षे स्वर्णविहित समाधित निमित्त शब्दअयुत्पत्तिवमनि प्रयोजकम्। उपादान श्रोतक दृष्टेके। मोक्षमिति ध्यपदनेन सम्बन्धधापयोगस्य शक्यत्वात् इति।

सप्रह वाचस्पतीय १।४४ हरिवर्णि म उद्धत

वपभ य अनमार प्रयोजक उपादान —तथा पाठ होता चाहिए।

भन्तृ-ह्रि के मत में शब्द का उपादान ध्यान में रहते हैं कि उसमें समुदाय वर्ण समूह का उपादान होता है। स्वरूप पद में व्यवस्था से वाचकता होता इसलिए वाचक का अनन्त अनन्त ज्ञान का अध्वारापित होता है।

उपादानों का समुदाय उपादान। तथाहि स्वरूपपदायकपु अवयवानामनुपादपदाव विभागात्माप्रतिपत्ति।

—वाचस्पतीय हरिवर्णि १।४४

उपादान शब्द का तरह का होता है। यह भेद कल्पित है वास्तविक नहीं। शब्द के उच्चारण के बाद शब्द के स्वरूप और उसके अर्थ के अवधारण में दा तरह की क्रिया होती जाती है। इस आधार पर दा तरह के उपादान शब्द का अनुमान किया जाना है। एक प्रत्यायन का निमित्त होता है और दूसरा अर्थ का प्रत्यायक, प्रतिपादक होता है। पहला प्रत्यायन का निमित्त इसलिए माना जाता है कि ये प्रत्यायन के आश्रय होते हैं और श्रुति द्वारा शब्दार्थ की प्राप्ति प्रत्यायन द्वारा ही होती है। दूसरे उपादान का प्रतिपादक या प्रत्यायक इसलिए कहते हैं कि वह केवल प्रत्याय्य परतंत्र होता है। स्थान-करण के अभिधान से शब्द की अभिव्यक्ति हो जाने पर शब्द में अर्थ के आकार का प्रातिविम्बिक संक्रमण हो गया रहता है शब्द अथाकार में हो गया रहता है और उसमें अर्थप्रकाशन की शक्ति की पूर्णता आ गई रहती है। निमित्त और प्रतिपादक में थोड़ा भेद है। कुछ लोग लघुशब्दों का निमित्त और उपजनितक्रम को प्रतिपादक या प्रत्यायक मानते हैं। क्योंकि एक पद में स्थित वण अलग अलग रूप में केवल निमित्त होते हैं। परंतु अन्तिम वण के उच्चारण होते होते समुदित रूप में एकाकार बुद्धि में जब भावित हो उठते हैं वाचक कहे जाते हैं। दूसरे शब्दों में अक्षरों को निमित्त और क्रमवान को प्रतिपादक कहते हैं। वक्ता की दृष्टि से अक्षर क्रमवान का निमित्त होता है। परंतु श्रोता की दृष्टि से यह क्रम उलट जाता है। अर्थात् क्रम अक्षर का निमित्त होता है। क्योंकि उच्चरित शब्द क्रमवान के रूप में श्रोता तक पहुँचता है परंतु उस क्षण श्रोता की प्रत्याय्य प्रत्यायक शक्ति अक्षररूप में ही रहती है। कुछ प्राचीन आचार्य निमित्त और प्रतिपादक में स्वभावतः भेद मानते हैं। जो लोग वाय-कारण में भेद वाल मिथ्यात के अनुगामी हैं उनके अनुसार निमित्त और प्रतिपादक में भेद वाय-कारण में भेद के अनुसार है। कुछ लोग के मत में निमित्त और प्रतिपादक एक ही शब्दात्मा के दो पहलू हैं। दो तरह की शक्तियों में दा तरह की बुद्धि भावना के हो जाने के कारण एक ही दो रूप में विभाजित होता है। कुछ आचार्य शब्दावृत्ति का निमित्त और शब्दव्यक्ति का प्रतिपादक मानते हैं। उनके विपरीत कुछ चिंतन शब्दव्यक्ति को निमित्त और शब्दावृत्ति का वाचक मानते हैं। पुनः कुछ आचार्य शब्दावृत्ति और शब्दव्यक्ति में भेद और कुछ आचार्य उनमें अभेद मानते हैं।

उपादान शब्द निमित्तरूप में भी स्वरूप और परम्पर का प्रकाशन करता है। जैसे अक्षरों में ध्वनिरूप से स्थित प्रकाश दूसरे प्रकाश का कारण होता है। शब्दों में व्यक्त होता है उसी तरह बुद्धि में ध्वनिरूप में स्थित शब्द परम्पर का कारण के अभिधान से ध्वनिरूप में व्यक्त होकर स्वरूप और परम्पर का प्रकाशन करता है। भगवद् गीता के मत में बुद्धि में विभिन्न शब्दों की भावना रहती है। स्पष्टता और मुख्यता उसके परिपाक है। विविधा हान पर वह शब्दों का प्रकाशन करता है। ध्वनिभेद से उसके आकार में भेद और शब्दों का प्रकाशन करता है। वक्ता की दृष्टि से पहले शब्द का बोद्धि का ग्रहण होता है और शब्दों का प्रकाशन करता है। पहले शब्द का किसी अर्थ से सम्बन्ध स्थापित करता है।

तर्ह अन्न कणा के सघात से उनकी मूल अभिव्यक्ति हानी है वैसे ही नाद परमाणुओं के सघात से नाद की स्थूल अभिव्यक्ति हानी है। शब्द श्राव्यग्राह्य होता है। शब्द अपने आप में अविकृत है जबकि नाद या ध्वनि विनियामक है। नाद के रूप में विघटन होने से उसमें नादगत गुणों का क्रम श्रान्ति का आभास होता है और वह विचार को प्राप्त होता हुआ जान पड़ता है। जम जलगत चंद्र प्रतिबिम्ब जल की चंचलता से चंचल जान पड़ता है परन्तु वस्तुतः उसमें चंचलता नहीं है। उसी तरह अभिनात्मा शब्द भी भेदमयी नादवृत्ति के कारण विचित्र अवस्था को प्राप्त हुआ जान पड़ता है।

ज्ञान में ज्ञान का स्वरूप और ज्ञेय का स्वरूप दोनों दिखाई देते हैं। ज्ञान नय परतन्त्र होता है। और ज्ञान के स्वरूप का स्मरण होता है। इससे ज्ञान के स्वरूप का अनुभव अवश्य होता है। इसी तरह शब्द में शब्द के स्वरूप और अर्थ स्वरूप दोनों भासित होते हैं। जम ज्ञान ज्ञेय परतन्त्र है वैसे शब्द भी अभिधेय परतन्त्र है। अर्थ के लिये शब्द का प्रयोग होता है। इसलिये शब्द अर्थ और अपने स्वरूप दोनों को व्यक्त करता है। ध्याकरण की दृष्टि में अर्थ में प्रत्यय आदि न हो सकने के कारण स्वरूप का प्रधानता दी जाती है। (वाक्यपदीय १।६७।१)।

अतः दृष्टि में शब्द की अभिव्यक्ति में काम करने वाली क्रियाशक्ति का बार बार उल्लेख किया है। शब्द पढ़ने क्रमवान होता है। शब्द स्वतन्त्र रूप में अपने अवयवों से परिपूर्ण है। किन्तु जब वक्ता की बुद्धि में लीन रहता है उसके सभी भाग एक में मिल गए रहते हैं। सभी अवयवों का उपसंहार रहता है वह अन्तर्गत हो गया रहता है। किन्तु विवक्षा जगत् पर अवयव रूप में वर्तमान शब्द पर वाक्य श्रान्ति के घम को ग्रहण करता हुआ अपने प्रत्येक अवयव का ध्यान करता हुआ क्रमवान का रूप बना है। यह व्यापार जिस शक्ति के द्वारा होता है उस क्रियाशक्ति कहते हैं जिस तरह वक्ता के शब्द की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में शब्द क्रमवान क्रमवान और पुनः क्रमवान होता है उसी तरह श्राव्य की दृष्टि में भी अभिव्यक्ति के उपयुक्त तीन रूप में जाना है। श्रोता जब शब्द सुनता है शब्द क्रम रूप में जान पड़ता है, पूरा सुनने पर शब्दों के अवयव एक में मिल जाते हैं और विभाग भिन्नता जाता है क्रम का ज्ञान मंद पड़ जाता है। पुनः दूसरा का वर्तनात ममम शब्द क्रमवान में ठहरे है। ध्वनि के मग्न अभिव्यक्ति हानि के कारण शब्द का क्रम रूप में जान पड़ना स्वाभाविक है। एकबुद्धिनिवृत्ति के रूप में शब्द का प्रतिमहूतक्रम के रूप में जाना भी स्वाभाविक होता है किन्तु क्रम पूर्व की अवस्थामें भी शब्द का क्रमवान जाना विन्य है।

तत्र स्वयं ग्राह्य भी होता है और ग्राह्य भी होता है। श्रोता मग्न का प्रत्यय होता है और स्वयं प्रकाश का भा। शब्द भी एक तरह का मग्न प्रकाश है। मग्निका क्रम भी शब्द का अन्तिम है। वक्ता प्रकाशक है। वक्ता प्रकाश है। वक्ता प्रकाश भी है।

प्रकाशकप्रकाशयत्य वाक्यकारणरूपता।

अन्तर्मात्रात्मनस्तत्तत् शब्दवत्त्वस्य सत्त्वः ॥ - वाक्यपदीय १।७०

भौतिक तज म गद तज में अन्तर यह है कि भौतिक प्रकाश वस्तु उम प्रकाश म मवथा भिन्न है। सकती है जैसे दीप के प्रकाश स गद प्रकाश म प्रकाशित वस्तु भत हरि क मत म उम प्रकाश म भि पडती है पर वस्तुन भिन नहीं है।

अयमन्तर्मात्रा शब्दोऽनपायि यपायिनोभ्यां द्वाभ्यां शब्दशक्तिभ्यामनुगत । तस्थन-  
स्मिन्नात्मप्रविभवतमपि प्रकाशकत्वे प्रकाशकत्व विभक्तमिव प्रत्यवमासते ॥

—वाक्यपदीय २।३२ पर हरिवृत्ति, लाहौर संस्करण

जब भत हरि शब्द और अथ (प्रकाशक और प्रकाश्य) की अभिनता की चचा करते हैं उम समय व उम दगन का मानत जान पडत हैं जा अथ (वस्तु) को बुद्धिमन्तात मानता है। बिना बौद्धिक अयभावना के बाह्य अय-व्यवहार सम्भव नहीं है। बुद्धि मन्तात अथ बुद्धिमन्तान्त गद का एक पहलू है। दाना एक ही तत्त्व के रूप हैं।

एकस्वधात्मनो भेदो शब्दार्थाव पृथक्स्थितौ ।

न हि प्रतिल धाय रूपविपर्यासा बुद्धिमारेण बाह्य वस्तु व्यावहारिकीष्वथ  
क्रियासु समथ भवति । तस्मादतर्निविष्ट रूपेणार्थेन सर्वो व्यवहार क्रियते ।

—वाक्यपदीय २।३१ हरिवृत्ति ला० म० पृष्ठ २८

वाक्यपदीयकार के मत मे ध्वनि के उच्चारण और गद स्वरूप के परिमाण के बीच म कुछ गद जान व महायक साधन है। व कर्क हैं पर उनका स्वरूप ममन्ता कठिन है। सवन्त और प्रत्यक्ष के बीच म जस कुछ मानसिक क्रिया जानी है वग ध्वनि सवन्त और गद प्रत्यक्ष के बीच भी अवश्य जानी जानी ।

प्रत्ययरनुपाख्येयप्र हणानुगुणस्तथा ।

ध्वनि प्रकाशित शब्दे स्वरूपमवधायते ॥

शब्द के आकार-ग्रहण का प्रकार

करण को मानते हैं। इस तरह क बौद्धिक अवधारण को वातिककार न (यमकीर्ति और उनका व्याख्याता प्रताकर गुप्त) चित्र बुद्धि' कहा है

अवधारणापरपर्यायि ज्ञानमपि बुद्ध्याख्यात करणाधिकरणमिति साध्या  
मयते । एतच्चावधारण चित्रबुद्धिरिति वातिककारीया मयते ।

—स्फोटसिद्धि टीका पृ० १३३

स्फोट सिद्धि की व्याख्या में ऋषिपुत्र परमेश्वर ने यहाँ अवधारण का समस्त वण विषयक स्मरण माना है। उसके मत में श्रवण के बाद शब्द का स्पष्ट परिचय ही अवधारण है

अवधारण समस्तवण विषय स्मरणमित्याक्षते । परमाथतस्तु प्रत्यक्षज्ञानमेवतत ।  
ध्वनिसस्कृतश्रोत्रेन्द्रियजनितत्वात् । न अथवा स्फुटप्रकाश उपपद्यत इति ।

—चाण्डेव शास्त्री द्वारा वा० प० १।८५ की टिप्पणी में उद्धृत पृ० १३३

भत हरि के अनुसार शब्द का आकार ज्ञानावधिके द्वारा पाव भागा में निम्न रूप में वृत्ता और श्रोता दोनों में मूलमान होता है। गन रूप में उच्च रूप में उपांगु रूप में परमापांगु रूप में और सनिहितक्रम रूप में। इनमें शन और उच्च अभिव्यक्त ध्वनियों के पीछे रहने वाली प्राणशक्ति अथवा बलाघात आदि की शक्ति पर निर्भर करना है। बलाघात के तार या मन्द से ध्वनि भी उच्च या गन रूप में भासित होगी। उच्च ध्वनि का विषय महाभाष्य (१।२।२८) में आयासो दाहण्यम अणुता खस्येति उच्च कराणि शब्दस्य निष्ठा है। गात्रा का निग्रह (स्तब्धता) आयाम है। स्वर की स्थिता (अग्नि स्थिता) दाहण्य है। कण्ठ की मवतता अणुता है। य सब गान् के उच्च करण है। नीच ध्वनि का विषय वही निष्ठा है—अववसर्गो मादवम उरुता खस्येति नीच कराणि शब्दस्य । गात्रो की गिथिनता का नाम अववसर्ग है। स्वर की स्निग्धता मात्व है। कण्ठ की महता उरुता है (कण्ठविवर का महत होने के कारण वायु शीघ्र ही निकल जाती है। फलतः गलावयव गुप्त न हो पाते हैं और स्निग्ध बन रहते हैं—याम १।२।३०)। महाभाष्यकार के अनुसार उरु कण्ठ और गिर के समान प्रथम पर भा उच्च निच्च भाव अवस्थित है। कैयट के मत में प्रथम का अर्थ स्थान है। गन (वृत्ता) का तानु घाति स्थाना में जो ऊँच और अधरभाग में युक्त है उच्च भाग में निष्पन्न ध्वनि उच्च (उगात्त) है और अधर भाग में निष्पन्न नीच (अनुगात्त) है। उच्च और नीच गान् ऊँच और अधरभाग का उपन गान् है। षड्ज आदि स्वर त्रिषेध की तरह उच्च-नीच का अनुभव भी अभ्यासयोग्य है। (कथं महाभाष्य १।२।२६ ३०)। उपांगु गान् का उम धवम्भा का कहना है जिगम प्राणशक्ति का मवगता रहना है किन्तु दूसरा का ध्वनि उम मवगजय ध्वनि का ग्रहण नहीं कर सकता है। वयं सूक्ष्म होती है और दूसरा म धमवद्य होती है

तत्र प्राणव्यनुग्रह सत्यय यत्र गान् रूप परमवेद्य भवति तदुपांगु ।

—वाचस्पत्यय १।१८ इत्यिति, सायण स्मरण पृ० १३

जब गान् प्राणशक्ति का मवगता रहने के कारण बुद्धि में मवान् रहता है और

बुद्धि शक्ति में ही संचालित रहता है उस अवस्था का परमापांगु शब्द संचालित करत है—

अन्तरेण तु प्राणवत्यनुग्रह यत्र केवलमेव बुद्धौ समाविष्टरूपो बुद्धयुपादान एव शब्दात्मा तत् परमोपांगु ।

—वाक्यपदीय २।१६ हरिवृत्ति पृ० १७ ।

अव्यक्त शब्द में आरोपित क्रम का बुद्धि द्वारा सा तात्पार्य तो होता है परन्तु अभिव्यञ्जक किसी भी निमित्त से उसका सम्पर्क नहीं होता वह निम्पद पर बुद्धिग्राह्य क्रममय रहता है। उस अवस्था का प्रतिसहृत्तक्रम कहते हैं

यत्र तु प्रतिसहृत्तक्रमशक्तियोगया बुद्ध्या निमित्तात्तरोपसम्प्राप्तमव्यक्ते शब्दे ध्यारोपित हि शब्दानां क्रमरूपमिदं साक्षात्प्रियते तत् प्रतिसहृत्तक्रमम् ।

—वही पृ० १-१

इसमें परे भी एक अवस्था होती है। बुद्धि में शब्द जब क्रमरहित रूप में अवस्थित रहते हैं, सवथा उसमें लीन हो गए रहते हैं वे अनिवचनीय में होते हैं और व्याख्यान शक्ति से परे हैं

शब्दानां क्रमरूपोपसंहार विषयाया बुद्धावसम्प्रख्यात तत्त्वमिव प्रतिपद्यमानायामारम्भतः शब्दातीतो व्यवहार ।

—वही पृष्ठ १७

विवक्षा हान पर प्रवक्ता का शब्द बुद्धि में प्रयत्न में प्राण में, जिह्वेन्द्रिय में क्रमशः अपारित होता हुआ व्यक्त होता है और शब्दा का भी क्रमरूप में भावित होता है।

## अल्प शब्द और महत् शब्द

अल्पता और दीघता परिमाण है। शक्ति गुण है। द्रव्य के समवायी है। शब्द ता एक दृष्टि से स्वयं गुण है इसलिए उसमें अल्पता या महत्ता (दीघता) कस सम्भव है? दूसरे शब्दों में अपेक्ष और दीघत्व मूल पदार्थ के धर्म हैं। शब्द तो अमूल है। अतः शब्द अल्प या महत् कैसे कहा जा सकता है? भन हरि ने इस प्रश्न का उत्तर दा तर्क से दिया है। पहला तो यह कि शब्द अल्प या महत् उपचार (लक्षणा) के कारण कहा जाता है। एक सुई छोटी कही जाती है क्योंकि वह अल्पस्थान घेरती है। एक पर्वत बड़ा कहा जाता है क्योंकि वह अधिक स्थान घेरता है। इस सादृश्य के सहारे जो शब्द कम स्थान में फैलता है वह अल्प और जो दूर तक फैलता है उसे महत् या दीघ कहते हैं। शब्द की यह व्याप्ति अनुमान से जानी जाती है। दूसरा यह कि व्याकरणद्वारा लाङ्गत व्यवहार को आधार मानकर चलता है। सवत्र अथव्यवस्था का कारण लोक प्रसिद्धि है। लोक का छोटा होने पर पदार्थ व्यवस्था के निणय में कठिनाई पड़ता है। क्योंकि तब अनवस्थित है उसका निश्चय डावाडोल है और शास्त्रों में सिद्धान्त विषय परस्पर मतभेद पाया जाता है। इसलिए लोकविज्ञान उपयुक्त आधार है। लोक में शब्द का अल्प और महत् शब्द से व्यक्त करत हैं। अतः शब्द को अल्प या महत् कहा जाता है (वाक्यपदीय १।१०४, हरिवृत्ति और वपम टीका) ।

करण को मानते हैं। इस तरह के बौद्धिक अवधारण को वार्तिककार ने (यमकीर्ति और उनके व्याख्याता प्रणाकर गुप्त) चित्र बुद्धि कहा है

अवधारणापरपर्यायि ज्ञानमपि बुद्ध्याख्यातकरणाधिकरणमिति साह्या  
मयते। एतच्चावधारण चित्रबुद्धिरिति वार्तिककारीया मयते।

—स्फोटसिद्धि, टीका पृ० १३३

स्फोट सिद्धि की व्याख्या में ऋषिपुत्र परमेश्वर ने यहाँ अवधारण का समस्त वण विषयक स्मरण माना है। उसके मत में श्रवण के बाद शब्द का स्पष्ट परिचय ही अवधारण है

अवधारण समस्तवण विषय स्मरणमित्याचक्षते। परमाथतस्तु प्रत्यक्षज्ञानमेवततः।  
ध्वनिसस्कृतश्रोत्रेद्रियजनितत्वात्। न अथया स्फुटप्रकाश उपपद्यत इति।

—चाण्डदेव शास्त्री द्वारा वा० प० १।८५ की टिप्पणी में उद्धृत पृ० १३३

भक्त हरि के अनुसार शब्द का आकार समन्वित्व द्वारा पाँच भागों में निम्न रूप में वक्ता और श्रोता दोनों में भूतमान होता है। गान रूप में उच्च रूप में उपागु रूप में परमापागु रूप में और सनिहितक्रम रूप में। इनमें गान और उच्च अभिव्यक्त ध्वनियों के पीछे रहने वाली प्राणशक्ति अथवा बलाघात शक्ति की शक्ति पर निर्भर करना है। बलाघात के तार या मूल से ध्वनि भी उच्च या गान रूप में भासित होगी। उच्च ध्वनि के विषय में महाभाष्य (१।२।२८) में आयामो दाहण्यम अणुता खस्येति उच्च करणि शब्दस्य लिया है। गात्रा का निग्रह (स्तब्धता) आयाम है। स्वर की स्थिता (स्थिति स्थिता) दाहण्य है। कण्ठ की सख्यता अणुता है। ये सब शब्दों के उच्च करण हैं। नीचे ध्वनि के विषय में वही लिया है—अववसर्गो मादवम उस्ता खस्येति नीचे करणि शब्दस्य। गात्रा की निश्चिन्ता का नाम अववसर्ग है। स्वर की स्थिगता मादव है। कण्ठ की महत्ता उस्ता है (कण्ठविवर के महत् होने के कारण वायु शीघ्र ही निचल जाती है। फलतः गलावयव गुच्छ न हो पाते हैं और स्थिग बन रहते हैं—याम १।२।०)। महाभाष्यकार के अनुसार उर कण्ठ और गिर के समान प्रक्रम पर भी उच्च निचल भाव अवस्थित है। कथन के मत में प्रक्रम का अर्थ स्थान है। गान (वक्ता) के तालु शक्ति स्थानों में जो ऊँचे और अधरभाग में युक्त हैं ऊँचे भाग में निष्पन्न ध्वनि उच्च (उत्तम) है और अधर भाग में निष्पन्न नीचे (अनुत्तम) है। उच्च और नीचे गान उच्च और अधरभाग के उपरि गत हैं। पडज शक्ति स्वर विषय की तरफ उच्च-नीचे का अनुभव भी अनुभवयोग्य है। (कथन महाभाष्य १।२।२६ ०)। उपागु गान का उग अवस्था का कथन है जिसमें प्राणशक्ति का गमन होता रहता है किन्तु दूरी का स्थिति उग सख्यजय ध्वनि का प्रक्रम नहीं कर सकता है। वह सूक्ष्म होती है और दूरी में समवेद्य नहीं है

तत्र प्राणवत्यनुग्रह शब्दस्य यत्र शब्दरूप परस्मयस्य भवति तदुपागु।

—वाचस्पत्य १।२ इति नि तादौ गमनं पृ० १३

अब गान शक्ति के मत में शक्ति के वक्ता बुद्धि में मग्न रहता है और

बुद्धि शक्ति से ही मंचालित रहता है उस अवस्था का परमोपाय शब्द से व्यक्तित्व बनता है—

अतरेण तु प्राणवत्यनुग्रहं यत्र केवलमेव बुद्धौ समाविष्टरूपो बुद्धयुपादान एव शब्दात्मा ततः परमोपायः ।

—वाक्यपनीय २।१६ हरिवृत्ति पृ० १७ ।

अथवा शब्द में आरोपित क्रम का बुद्धि द्वारा या तात्कार तो होता है परन्तु अभिव्यक्ति किसी भी निमित्त से उसका सम्पर्क नहीं होता वह निम्न पर बुद्धिग्राह्य नममय रहता है । उस अवस्था का प्रतिसहस्रकर्म कहते हैं

यत्र तु प्रतिसहस्रकर्मशक्तियोगया बुद्ध्या निमित्तात्तरोपसम्प्राप्तमव्यक्ते शब्दे ध्यारोपितं हि शब्दानां श्रमरूपमिव साक्षात्प्रपद्यते तत् प्रतिसहस्रकर्मम् ।

—वही पृ० १-१ ।

क्रम पर भी एक अवस्था होती है । बुद्धि में शब्द जब स्मरतिरूप में अवस्थित रहते हैं मन्त्रा उमम लीन हो गए रहते हैं वे अनिवचनीय स हान हैं और व्याख्यान शक्ति से परे हैं

शब्दानां श्रमरूपोपसंहार विषयाया बुद्ध्यावसम्प्रसात् तत्त्वमिव प्रतिपद्यमानायासारम्यते शब्दातीतो व्यवहारः ।

—वही पृष्ठ १७

विवक्षा हान पर प्रवक्ता का शब्द बुद्धि में, प्रयत्न में प्राण में निह्वेन्द्रिय में क्रमशः व्यापारित होता हुआ व्यक्त होता है और श्रोता का भी क्रमशः भावित होता है ।

## अल्प शब्द और महत् शब्द

अल्पता और दीघता परिमाण है । श्रमणि गुण है । द्रव्य के समवायी है । शब्द तो एक दृष्टि से स्वयं गुण है इसलिए उसमें अल्पता या महत्ता (दीघता) कम सम्भव है ? दूसरे शब्दों में, अप्रत्यक्ष और दीघत्व मूल पदार्थ के धर्म हैं । शब्द तो अमूल है । अतः शब्द अप्रत्यक्ष या महत्त्व कहा जा सकता है ? भले हरि न इस प्रश्न का उत्तर नहीं देता है । पता तो यह कि शब्द अल्प या महत्त्व उपचार (नश्वरता) के कारण कहा जाता है । एक सुई छोटी कही जाती है क्योंकि वह अल्पस्थान घेरती है । एक पर्वत बड़ा कहा जाता है क्योंकि वह अधिक स्थान घेरता है । इस सादृश्य के सहारे जो शब्द कम स्थान में फैलता है वह अल्प और जो दूर तक फैलता है उस महान या दीघ कहते हैं । शब्द की यह व्याप्ति अनुमान से जानी जाती है । दूसरा यह कि व्याकरणद्वारा शास्त्रगत व्यवहार को आधार मानकर चलता है । मन्त्र अथर्ववेदस्था का कारण लोक प्रसिद्धि है । लोक का छोड़ने पर पदार्थ व्यवस्था के नियम में कठिनाई पड़ती है । क्योंकि लोक अनावस्थित है उसका निश्चय डीवाडोने है और शास्त्रों में मिथ्यात्व विषय परस्पर मतभेद पाया जाता है । इसलिए लोकविज्ञान उपयुक्त आधार है । लोक में शब्द को अल्प और महत्त्व शब्द में व्यक्त करते हैं । अतः शब्द को अप्रत्यक्ष या महत्त्व कहा जाता है (वाक्यपनीय १।१०४ हरिवृत्ति और वृषभ टीका) ।



## शब्द का स्वरूप

ऊपर ध्वनि व आधार पर गाने का स्वरूप पर प्रमाण डाला गया है। अथ व आधार पर भी उसके स्वरूप पर विचार किया जाता है। शब्द का उच्चारण अथपरिमाण व लिए ही किया जाता है। अथ अथ व आधार पर गाने का अर्थ अथपरिमाण है। पत जलि न भी ऐसा ही किया है। गाने व स्वरूप व अथ म उनसे प्रसिद्ध बनता है।

“येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूल ककुदपुरविषाणिनां सप्रत्ययो भवति स गान्द ।”

प्रतीतपदाथक लोके ध्वनि गान्द इत्युच्यते ।”

—महाभाष्य पृ० १ कीलहान मन्वरण

इन दाना वाक्या व अथ म प्राचीन काल से ही निवास बना आ रहा है। पहल वाक्य का सरल अर्थ यह है—जिसके उच्चारण से सामना लाङ्गूल व कुद गान और माग वान का बोध होता है वह शब्द है। इसमें मास्ना लाङ्गूल आदि का उच्चारण गा गान व प्रमाण म पतजलि ने किया है उस हटा दन पर उनसे मत म गाने की परिभाषा का रूप या होगा येनोच्चारितेन (कस्यचित्) सप्रत्ययो भवति स गान्द ।

इसमें उच्चारण और सप्रत्यय य दाना गान गान व लक्षण पर प्रमाण डालत है। गान वह है जो उच्चारित होता है और किसी अर्थ का प्रत्यायक हो। उच्चारण शब्द गान के ध्वन्यात्मक स्वरूप को सामने लाता है। सप्रत्ययगान गान व सावैतिक रूप को यकन करता है।

पतजलि व दूसरे वक्तव्य का अर्थ है कि प्रतीतपदाथक ध्वनि का गान कहा जाता है। प्रतीतपदाथक का अर्थ है लाक प्रचलित अर्थ। लाक प्रचलित अर्थवाल ध्वनिका नाम शब्द है। पतजलि न महाभाष्य म अर्थ दा स्थाना पर प्रतीतपदाथक गान का प्रयोग किया है।

द्वयोहि प्रतीतपदाथकयो लोके विनोपणविशेष्यभावो भवति। न आदच शब्द प्रतीतपदाथक ।

इहहि व्याकरणे ये वते लोके प्रतीतपदाथका शब्दा त निर्देशा क्रियते पशु अपत्य देवतेति । या वता कृनिमा टिपुभस ताभि ।

—महाभाष्य १।१।१।५० ३६

—महाभाष्य १।६।२३ पृ० ३२३ कीलहान)

इन उद्धरणों से दो बात स्पष्ट हो जाती है। एक तो यह कि आदच टि प म आदि प्रतीतपदाथक गाने नही हैं। दूसरी यह कि पशु अपत्य देवता आदि प्रतीतपदाथक गाने हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतीतपदाथक गाने का अभिप्राय ऐसे गानों से है जो मवसाधारण व लिए समान अर्थ रखते हैं और निरपत्य रूप से व्यवहार म आत हैं। प्रतीतपदाथक गाने व लिए यहा पतजलि ने प्रतीतपदाथक ध्वनि गाने का व्यवहार किया है। वस्तुतः प्रतीतपदाथक गाने स्पष्टताय व लिए प्राचीन समय म व्यवहृत होता था जमा कि कौनसे व निम्नलिखित वाक्य से स्पष्ट है

### ‘प्रतीतशब्दप्रयोग स्पष्टदृश्य’

—कौटल्य अथशास्त्र अधिकरण २ अध्याय १०, पं० १३०

भाग १ त्रिवेद्रम सस्करण ।

इसलिए स्पष्टायक ध्वनि का शब्द कहा जाता है । यह अभिप्राय महाभाष्यकार का जान पड़ता है ।

पहले वाल वस्तुय म दूसर वस्तुय म थोडा भेद है । यदि सप्रत्ययक ध्वनि को गद्य माना जाएगा गि, घ, भ आदिब्रजिम सनाएँ भी गद मानी जाएँगी । क्याकि टि आदि म भा सप्रत्यय किसी-न किसी का होता ही है । किन्तु टि आदि मबवे लिए शब्द नहीं है । इसलिए सप्रत्यय के स्थान पर प्रतीतपदायक रखना पतजलि को अधिक उपयुक्त जान पड़ा हागा । दूसरा भेद लाक शब्द म ध्वनित है । शब्द की दूसरी परिभाषा म पतजलि न लाक गद भी रखा है । अथात दूसरी परिभाषा लाक व्यवहार को सामने रखकर की गई है । पहली परिभाषा क अनुसार वृजिम सनाएँ भी शब्द है । दूसरी परिभाषा के अनुसार सामान्य रूप म व शब्द नहीं हैं । पहली परिभाषा म सप्रत्यय प्रधान है । दूसरी परिभाषा म ध्वनि रूप प्रधान है ।

इस विषय पर महाभाष्य क कनिषथ व्याख्यानभा के मत का मन्त्रेप म उक्तय किया जा रहा है ।

येनोच्चारितेन सप्रत्यय भवति—

—इस वाक्य के तीन अभिप्राय भत हरि न भिन्न भिन्न मत क के रूप मे दिखाए है ।

केचित मयते योवायमुच्चायते क्रमवान् अवर कश्चिदय अक्रम शब्दात्मा बुद्धिस्थो विगाहते । तस्मादथप्रतीति कुत यथवार्थांतरनिबधनो नार्थांतर प्रत्यापत्ति एव स्वरूपनिबधनो नोत्सहते प्रत्याययितुम् ।

—महाभाष्यत्रिपादा पं० ३, पूना सस्करण

इसका अभिप्राय है कि कुछ लोग के मत म जिसका उच्चारण किया जाता है वह नमवान है । इससे भिन्न एक सहतक्रम अथवा अमरहित रूप है जिसम वर्णों के क्रम अक्रम रूप मे रहत है वहा गद्य है । वह बुद्धि म रहता है । उसी से अर्थ की प्रतीति होती है । जस एक अर्थ म निश्चित गद किसी दूसर अर्थ का प्रत्यायन नहीं करा सकता वसे ही उच्चरित शब्द अपन स्वरूप का ही प्रत्यायन करा सकता है उसम अर्थ किसी वस्तु का प्रत्यायक वह नहीं हा सकता ।

दूसरे आचार्य मानत है कि वण म भी भाग हाते है वण का तुरीयभाग वण जाति का व्यजक हाता है । इसी तरह पद म कइ वण होते है तुरीयवण शब्द जाति का व्यजक हाता है । वण अमजमा हात है । एक समय म नहा हात । अतिम वण पदस्थ जानि क व्यजक है । वक्ष गद क उच्चारण स वक्षत्व व्यजित होता है । अर्थात जाति से अर्थ की प्रतिपत्ति हाती है । यह अर्थ का स्वरूप स्फाट कहलाता है । यह शब्दात्मा है । यह नित्य है ।

कुछ अन्य आचार्यों की मान्यता है कि शब्द म दो प्रकार की शक्ति है—आत्म-प्रकाशन शक्ति और अर्थप्रकाशन शक्ति । जम दीप अपने का व्यक्त करता हुआ अर्थ

अर्थों का भी प्रकाशन है। इन्द्रिय म बाह्य अर्थ के प्रकाशन की शक्ति तो होता है किन्तु आत्मप्रकाशन शक्ति नहीं होती। इनके मत म उच्चारित शब्द का अर्थ है—उच्चारण और प्रकाशन।

इन तीनों मतों को मशेष म या कहा जा सकता है। पहला मत के अनुसार शब्द ध्वनि समूह के पीछे छिपी हुई बुद्धिस्थ शक्ति विशेष है। दूसरे मत म शब्द शक्ति है। शब्द शक्ति का ही नाम स्फोट है। तीसरे मत के अनुसार शब्द वह ध्वनि है जो अपने स्वरूप का साथ ही अर्थ वस्तु का प्रत्यायक होता है।

कथट शेषनारायण अन्नभट्ट, नागेश आदि ने यहाँ स्फोट अर्थ माना है। उनका मत म पदस्फोट अथवा वाक्यस्फोट वाचक है।

महाभाष्यकार के प्रतीतपदार्थक शब्द मत हरि के अनुसार प्रतीतपदार्थकता के लिए प्रसिद्धि के लिए है। जो शब्द प्रसिद्ध है वही 'शब्द शब्द' म यहाँ अभिप्रेत है। उद्देश्य प्रतीत पदार्थ की प्रतीत पदार्थ (व्यवधारक) रूप म लिया है और ध्वनि को इसका अभिधेय माना है। शब्द ध्वनि म ही अपना स्वरूप पाता है। इसके लिए उस अर्थ प्रकरण शब्दान्तर की अपेक्षा नहीं होती।

शेषनारायण ने प्रतीतपदार्थ शब्द म बहुव्रीहि समाप्त माना है

प्रतीत पदार्थो यस्येति विग्रहः । युक्तः प्रतीतस्य पदार्थस्यायमिति वा विग्रह इति तान् ।

—सूक्तिरत्नाकर, हस्तलेख ।

अन्नभट्ट के अनुसार प्रतीतपदार्थक शब्द के आगे शब्दशक्ति छिपा हुआ है। अर्थात् प्रतीतपदार्थकशब्द शब्द शब्द का विशेषण है।

नागेश ने प्रतीतपदार्थ को पदार्थबोधक रूप म लिया है। उनका अनुसार पदार्थ बोधक रूप म प्रसिद्ध श्रोत्रग्राह्य ध्वनिसमूह का नाम शब्द है। किसी के मत म प्रतीतपदार्थक वाला व्यक्ति उन लोगों के लिए है जो स्फोट को नहीं मानते हैं किन्तु श्रोत्रग्राह्य ध्वनि को शब्द मानते हैं। उनका मत में समुचित ध्वनिसमूह का किसी वस्तु विशेष बुद्धि द्वारा उपपादित स्वरूप शब्द है। (सूक्ति रत्नाकर हस्तलेख)

शब्द नित्य है। मसूतव्याकरणद्वारा शब्द को काय मानकर भी विचार किया गया है और शब्द को नित्य मानकर भी विचार किया गया है। किन्तु मिथ्या रूप से शब्द नित्य ही माना जाता है। जहाँ शब्द द्रव्य के रूप म माना जाता है वहाँ भी प्रवाहिनित्यता रूप म नित्यत्व अप्रतिष्ठित रहता है।

पाणिनि ने तदर्थस्य सत्ताप्रमाणत्वात् १।२।३३ वचन के रूप म शब्द की नित्यता का सूक्त किया है। 'याडि ने नित्य और अनित्य विषय पर पर्याप्त विचार कर शब्द की नित्यता का समर्थन किया था। कात्यायन ने 'सिद्धे शब्दायसम्बन्धे' इस प्रथम वार्तिक द्वारा शब्दनित्यत्व का उद्घोष किया है। 'नामवार्तिककार ने भी 'स्फोट शब्दो ध्वनिस्तस्य ध्यायामादुपजायते' के रूप म शब्द का नित्य माना है। भट्ट हरि ने (नित्या शब्दायसंबन्धः—वाक्यपणीय १।२३ आदि वाक्या द्वारा शब्द के नित्यत्व की चर्चा की है।

शब्द के नियम के विषय म कुछ तर्क भी दिए जाते हैं। सबसे पहला संभवतः

वेदवादिशा ने गान की निग्रता का समर्थन किया था। मीमांसा और व्याकरण द्वारा गान के नित्यत्व के विषय में जो तर्क दिए जाते हैं, नैयायिकों और बौद्धों ने उनका बड़ी निन्द्यता से स्पष्ट किया है। जमिनि के लक्ष्य तर्कों पर तरस खाते हुए धर्मकीर्ति ने लिखा है

तस्य तावदौदृश प्रज्ञास्वलित कथं वत्तमिति सविस्मयानुक्कम्य न चेत् । तम् परेष्वनुवदतीति निन्दयात्रात्तभुवनं धिग व्यापकं तम् ।

—प्रमाणवातिक पृ० ८० द्वाराणसी सम्मरण

अथान जमिनि जिस विचारक ने इतने हलके स्तर के तर्क उपस्थित किए यह देख कर हमारा मन विस्मय और अनुकम्पा से भर जाता है। उस दूसरे भी तुहराने चैन आ रहा है। आह समाप्त कितना महारा अनान का अधिकार है।

भत हरि ने नियम के सम्बन्ध में बड़ा महत्त्वपूर्ण वक्तव्य दिया है।

उन जिनो भी कुछ ऐसे आचार्य थे जो प्राकृत को मूल भाषा मानते थे और मस्कृत को उसका विकृत रूप मानते थे। उनके मत में प्राकृत प्राकृतिक भाषा है और इसलिए नित्य है।

‘केचिदेव मयते, य एवते प्राकृता गद्वा त एवते नित्या । प्रकृतो भवा प्राकृता ।

—महाभाष्य निपादी (टीपिका) पृ० २० पूना सम्मरण

गान की निग्रता पर विचार आकृति और द्रव्य पदार्थ की दृष्टि में भी है। यदि शब्द स आकृति की अभिव्यक्ति हाती है गान नित्य है क्योंकि वक्ष्य आदि आकृति नित्य है। द्रव्यपक्ष में भी शब्द नाम में अभिव्यक्ति के रूप में नित्य माना जाता है। आश्रय भेद से भेद की प्रतीति होती है। स्वरूप में भेद नहीं होता। निग्रता अनिग्रता के विषय के रूप में भी स्वीकार की जाती है। भत हरि ने तीन प्रकार की अनिग्रता का उल्लेख किया है—समगानित्यता विपरिणामानित्यता और वस्तुविनाशानित्यता।

स्पष्टिक का दूसरा द्रव्य के संयोग से अपने शुद्ध स्वरूप की अनुपलब्धि समर्पण नित्यता है। बदरी पत्र के अपने श्याम रंग का छोड़कर रक्तरंग का आश्रय विपरिणामानित्यता है। वस्तुविनाशानित्यता सवात्मना विनाश का नाम है। कयट ने इसका लिए प्रध्वसानित्यता गान रखा है। इन तीनों प्रकार की अनित्यता के विपरीत जा हो वह नित्यता है। अथवा जा ध्रुव है कूटस्थ है<sup>२</sup> अविचालि है, जिसमें अपाय उपजन, विकार उत्पत्ति वृद्धि और व्यय नहीं होता वह नित्य है। गान में इन सब बातों के मिश्रण से वह भी नित्य है। अथवा वह भी नित्य है जिसमें तत्त्व का विघटन नहीं होता। यह वही है यह जान ही तत्त्व है। इसी को प्रवाहनित्यता भी कहा जाता है। गान भी गान और काल भेद से उच्चरित हान पर भी यह वही है इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञान का

२७ कूटस्थारूप निष्ठानि न किंचिदयं चलति कूटं वचनं अनुलक्षणीयं निष्ठानि, न च न किंचिदयथा कत शनयम् कूटं विश्वतो दाहं विनाशकारणोपनिषत्पि तिष्ठति कूटं व्याज्जपि अपह्वात्मनि नियमाणं निष्ठाननयथा भवतीति अचलरूपतया भवन् कूटस्थानि यमुच्यन्ते ।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी भाग १ पृष्ठ १२६

प्रियय मना रहता है। अतः प्रवाहनिमित्तता व सहार गन् नित्य माना जाता है। अथ भी जातिरूप म नित्य है। सम्प्रत्य भी व्यवहारपरम्परा म अनानि के कारण नित्य माना जाता है।

किसी के मत म शब्द और अर्थ म सम्प्रत्य का कर्ता कोई नहीं जाना। जिस शब्द के उच्चारित होने पर जिस किसी अर्थ की अभिव्यक्ति होती है वही उस शब्द का अर्थ है।

“अथे मय त नेह कश्चित् शब्दापसम्बन्धस्य कर्ता।

—वाक्यपदीय २।३२६ हरिवर्ति, हस्तलघु

शब्द म चाह अर्थ का ज्ञान हो अथवा मिथ्या का प्रतिपादन होना हो शब्द अपन अर्थ स नित्य सम्बद्ध है।

असत्या प्रतिपत्तौ च मिथ्या वा प्रतिपादने।

स्वरथे नि यस्तस्यद्वाम्ते त शब्दा व्यवस्थिता ॥

—वाक्यपदीय २।३३३

कोई आचार्य शब्दजाति का सम्प्रत्य अर्थ म मानत है, कोई शब्द-व्यक्ति का सम्बन्ध अर्थ म बताता है। किसी के मत स जाति अथवा व्यक्तिमाधना क्रिया अभिप्रेत होती है। वाच्यवाचक सम्बन्ध का आधार परबुद्धिस्थ शब्द का बुद्धिस्थ अर्थ म विनियोग होना है अर्थात् अनर्थ अर्थ म स किसी एक के साथ सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध शब्दगत उक्ति के सहार अभिव्यक्त होता है।

इह कश्चिदाचार्या शब्दजातिसम्यक्सम्बन्धिन मय त। केचित् शब्दव्यक्तिम्।

अथवा तु जातिसाधना वक्तिसाधना वा क्रिया सप्रत्यफला। तत्रानेनाय वक्तव्य इत्युभयो परिग्रह कृत्वा बुद्धिस्थशब्दो बुद्धिस्थ यत्र विनियुज्यते प्रवर्णाक्रियते सव्यपनेकव्यत्वे तत्रास्य सामग्यमवच्छिद्यते।

—वाक्यपदीय २।४०६ हरिवर्ति हस्तलघु

शब्द और अर्थ का यौद्ध मानकर भी अनम नित्यत्व दिसाया जाता है। भन हरि ने इस विषय म अनेक प्रवाणों का अनेक स्थाना म प्रसंगवश उल्लेख किया है। कुछ दर्शन सब कुछ वास्तविक मानत हैं। हम पण म शब्द विनिष्ठाथ भाग का स्पष्ट करता है और उसका अर्थ मे विधारण (विभाग) करता है। कुछ अर्थ दर्शन किसी वस्तु की मना नहीं मानते। इस पण म शब्द उन उन अर्थों की प्रकल्पना करता है।

अथ कश्चित् वास्तव सव्यति प्रपद्यितम्। तस्य तु विनिष्ठाथमागोपनित्या तिन शब्दा ता ता शक्तिमवच्छिन्ति इति प्रतिपत्ता। अपरे पुन नव वस्तु किंचिदस्ति। शब्दा एव तु प्रवत मानास्त तमथ प्रकल्पयति।

—महाभाष्यविपादा १।१।४४

कुछ अर्थ विचारक मानत हैं कि कवन शब्द सुनत मात्र म बुद्धि म अग्रस्थित अर्थ का बोध नहीं होता। अथवाय अनुमान की प्रक्रिया म होता है। शब्द स जिस बुद्धि का उद्भव होता है, उससे सन्नित्त अग्रपुस्त पणश्रय का दूसरी बुद्धि जानी है उस बुद्धि के सहार अर्थ का प्रतिभास होता है।

अपरे तु मयते नावश्य भूत एव गच्छे बुद्धौ सनिपनितमथ प्रत्याययति ।  
सवथा बुद्धौ सनिविष्ट प्र स्मिन्नेव शब्देविशिष्ट रूपे या बुद्धिरुत्पद्यते  
तया व्यवहित बुद्धयन्तर बुद्धौ प्राप्तसनिधान तदथ प्रतिपत्तिनिमित्त भवति ।  
अपरे तु पद — वाक्यपदीय २।३२८ हरिवर्ति हस्तनेत्र<sup>२८</sup>

कुछ अथ विचारका क मत म एक ही अर्थात्मा होती है। अथ एक है। वह  
भवसाधारण है। जैसे मयोगमज्ञा दो में भी होती है, समुदाय में भी होती है वस ही अथ  
एक में, दो में भवम अवस्थित रहता है। केवल सनिधान में अभिव्यक्त होता है

केचित्त मयत यथा सयोग सना द्वयो द्वया समुदाये चावतिष्ठते । तथा  
प्रत्येक द्वयो समुदिनेषु च स एवकार्यात्मा व्यवस्थित एव । स तु सनिधानेन  
यज्यते । — वाक्यपदीय २।४०१ हरिवर्ति हस्तलेख

जस आग्र में भव कुछ देखने की शक्ति है किंतु जिस जिसको जगना ईप्सित  
होता है उस उममें माध्यम से देखा जाता है उसी तरह गद में भव अथ व्यक्त करने की  
क्षमता है। जो अथ अभीप्सित होता है उस वह प्रकाशित करता है अपन आप में अभि  
व्यक्त करता है (वाक्यपदीय २।४०७) ।

अथवा गद अभिधान (करण) है। अथ अभिधेय (कर्म) है। जाना में अभिधा  
नियम है।<sup>२९</sup>

अथवा शब्द और अथ का कोई मीधा सम्बन्ध नहीं है। अथ के स्वरूप का परि  
चान गद में सम्भव नहीं है। अथ का अवधारण अगद होता है। दाह शब्द में जो कुछ  
अथभाषित होता है उसमें और यथाथ रूप से आग में जनन होने पर जो कुछ अनुभव  
में आता है उसमें आवाग पाताल का भेद है। हिम गद के उच्चारण में और वफ से  
ठिठुरन में बहुत भेद है। गद केवल अथ का आभास मात्र कराते है अथवा किसी मादश्य  
के आधार पर अथ की स्मृति मात्र जागृत है (वाक्यपदीय २।४२४) ।

अथवा शब्द वस्तु का उपलक्षण मात्र है। जस हम वाक में वदत्त क गह का  
वतलाल है वम विशेष शब्द में विशेष वस्तु को वतलाया जाता है। गद में ऐसा शक्ति  
नहीं है कि वह पदार्थ की समग्रता को छू सके। अथवा शब्द स वस्तुमात्र निविशेष रूप  
में विशेष धमगहित रूप में बनाया जाता है। गद पदार्थ का (वस्तु का) किसी रूप में  
उपकारक नहीं है। गद में पदार्थ के किसी भी धम के स्पष्ट करने की क्षमता  
नहीं है —

वस्तुमात्रमनाश्रितशक्तिविशेषमपरिगही तत्त्वधमक येन सविनानपदेनोप  
सक्षयते । न तद्वस्तुकृताना शक्तिना यदुपकारिरूप तत् सप्तापार स्व कार्येण  
गहनोती वक्तुम् । न हि स वस्तुमात्र सस्पशितवान भेदका युपकारीणि  
शक्तिरूपाणि सस्पगति । — वाक्यपदीय २।४४२ हरिवर्ति हस्तलेख

२८ पुण्य राज न २ अनुसार भृगु हरि का अभिप्राय यहा श्रुताभाषिता से है।

२९ अभिधानियम तामाश्रितानाभिधेयो । वाक्यपदीय २।४०८

अभिधानियम गद को अभिधावृत्ति का मूलरूप समझना चाहिये।

શબ્દ ધા મ્મથ

उपप्लव विभिन्न मत १०० व स्वरूप और सामान्य पर प्रकाश डाला है। जहाँ का समय क्या है, उस प्रश्न पर भी भाष्य है। विचार किया है। और पुनरागत न उग १२ प्रकाश में लाया है। य प्रकाश भी दाह व दाहिने से गहरा है। रंग है और मतभेद प्रकाश है। तब प्रथम प्रकाश।

[illegible]

अस्त्यथ सवगब्दानामिति प्रत्याख्यलक्षणम् ।

अपूवदेवतास्वर्गे सममाहुर्गवादिषु ॥

— वार्षिकपत्रीय २११२०

इसकी समीक्षा में कुमारिन का बन्ता है कि गन्त का शक्ति नियत होती है। अर्थात्पत्ति का आधार पर गन्त की वाचक शक्ति नियत अथ विषयक होती है। किन्तु कुमारिन भट्ट ने उपयुक्त मन का भाव अथवा रूप में लिया है। उपयुक्त मन में सभी गन्त का अर्थ सत्ता मानने का यह अभिप्राय नहीं है कि गन्त का अर्थ कोई अर्थ नहीं है उसका अभिप्राय केवल इतना है कि गन्त का अर्थ होता है क्या होता है इस शब्द ठीक नहीं कहा जा सकता। किसी अर्थवाचाय का मत है कि गन्त में जो कुछ अर्थ भासित होता है उस अर्थ के साथ अनुनिष्पात्ति रूप में जो कुछ भासित होता है वह भी शब्द का अर्थ है। जिस शब्द का अर्थ जानि है तो उस जाति के प्रयोजक प्रति भी शब्द का अर्थ होगा। कुछ लोग व्यक्ति का अनुपग रूप में लन है। जानि गन्त में व्यक्तिगत धर्म बोध कराने की क्षमता नहीं होती। गन्त सम्पूर्ण विशयताओं से युक्त अर्थ का वाचक नहीं करा पाता है।

न हि सकलविशेषसहितमथ शब्द प्रत्यापयितुमलम ।

—पुण्यगज २११२४

विभी अथ विचारक क मत म न का अथ वह सब कुछ ह जिसके बिना अथ

म अथवन्ता ही नहीं आती है। इस मत में कुछ अक्षरों का प्रत्यायक और कुछ अक्षरों का नातरीयक नहीं माना जाता। अपितु शब्द का अभिधेय सब आकार सहित अर्थ है। केवल कही किसी पक्ष का प्राधान्य और कही किसी स्वरूप का गौणभाव अभिप्रेत रहता है।

इसी तरह किसी के मत में शब्द का अभिधेय समुदाय है किन्तु उसमें विकल्प या समुच्चय का स्थान नहीं है। वन शब्द से धव, खादिर आदि का समुदाय अभिधेय है। ब्राह्मण शब्द से तप, विद्या जाति आदि से युक्त समुदाय अभिधेय है। वन शब्द से धव है कि खादिर है इस रूप में विकल्प रूप में प्रतीति नहीं होती। वन धव भी है खदिर भी है इस रूप में समुच्चय रूप में भी प्रतीति नहीं होती। अपितु सात्वत्य रूप में एक प्रतीति होती है। इसलिए विकल्प समुच्चय रहित समुदाय शब्द का अर्थ है।

कार्द कार्द शब्द का अर्थ समग मानते हैं। समग जाति गुण और क्रियात्मक अर्थ का असंयभूत रूप है। द्रव्य का द्रव्यत्व आदि के साथ जो सम्बन्ध होता है वह गद का अर्थ है। वह सम्बन्ध सम्बन्धियों के शब्दात्त्व होने के कारण असत्य माना जाता है। अथवा तप श्रुत आदि का एक में सम्मिलित रूप में भान होने से उनका परस्पर समग, ब्राह्मण शब्द में असत्य है। अथवा घट आदि शब्दों से घट आदि की जाति आदि समग कही जाती है। अलग रूप में वह असत्यभूत मानी जाती है। सम्मिलित पदार्थ ही सत्यभूत है। किसी अन्य मत में असत्य उपाधि में अवच्छिन्न सत्य ही शब्द का अर्थ है —

असत्योपाधि यत सत्य तद्वा शब्दनिबन्धनम् ।

—वाक्यपदीय २।१२८

इस वक्तव्य पर पुण्यराज ने प्रकाश नहीं डाला है किन्तु जिस आचार्य की यह भाष्यता है उसने बहुत गूढ़ तर्क अल्प में व्यक्त कर दिया है। उसने गद्वदशन और सत्यदशन का एक कर दिया है। शब्द अपने अन्तिम विश्लेषण में सत्य है। इसलिए निरूपण रूप में गद का अभिधेय यदि सम्भव है तो वह सत्य है।

कमलशील ने सुवर्ण को सत्य और वलय, अंगूठी आदि का असत्य माना है। गद का प्रवृत्तिनिमित्त स्वर्ण की तरह सामान्य रूप सत्य है। वही उसका अभिधेय है। अथवा गद का अभिजल्प स्वरूप गद का अर्थ है। मैं अथवा यह वह है इस रूप में शब्द के स्वरूप का अर्थ में अपाय किया जाता है। अपायवर्ग गद और अर्थ एकाकार हो गया रहते हैं। गद के इस स्वरूप का नाम अभिजल्प है। अभिजल्प गदार्थ है। वह गद ही है। गदार्थ के एकाकार रूप में होने के कारण उनका कार्द रूप कही प्रधान रूप में अवगत होता है और कही उनका कार्द अर्थ रूप अवगत होता है। तब भी उनका अर्थरूप अधिक गहरा होना है। सामान्य में गद और अर्थ पाना रूप विवेका के आधार पर गहीन होत है। लोक में अग्निम ध्यानय वाक्य में अग्नि रूप अर्थ अभिप्रेत रहता है। सामान्य में स्त्रीम्यो ढक (८।१।१००) कहने में स्त्री वाचक साथक गद का बाध होना है।

दण्ड में और उत्प्रेक्षा में अर्थ का अभिधेय के रूप में ग्रहण कर गदार्थ



अपनी शक्ति का निक्षेपण कर इस भाग में यह कथन गरा है इस भाग में बुद्धि में भवता हुआ बाह्य ध्वन्यात्मक श्रुत्यन्तर की प्रवृत्ति में हनु होता है। अभिज्ञाप भाग विज्ञान नभण है। आन्तर शब्द है। मल्लवादि क अनुसार यह मन भव हरि का है

वशानोप्रेक्षाभ्यामथमभिधेयत्वेनोपगृह्य तत्र यगभूतस्वशक्ति बुद्धौ परिलब्धमान श्रयभित्तिमनेन शब्देनोच्यत इत्यातरो विज्ञानतत्त्वण शब्दात्मा श्रुत्यन्तरस्य बाह्यस्य ध्वन्यात्मकस्य प्रवृत्तौ हेतुः । स अभिज्ञत्वाभिधेयाकारपरिग्राहो बाह्यात शब्दादय इति भवत ह्यभिहितम् ।

—द्विभाष्यनयचक्र १० ३३८

अथवा अथ भवशक्तिः ॥ अथ म शक्ति नही ॥ भाग क द्वारा अथ म नियत शक्ति का आधान होता है। जिस रूप में शब्द अथ की शक्ति की अभिव्यक्ति चाहता है उसी रूप में अभिव्यक्ति होती है। इसलिए भाग का अथ स्वशक्ति से उत्थापित अथ है। एक ही अथवस्तु एक ही क्षण में अनन्त शक्तिया द्वारा अनन्त रूप में प्रवहन की जाती है। जस सोजन पचाने की क्रिया का भिन्न भिन्न व्यक्तित्व या कह सकते हैं -- ओदन पचति । पाक ओदनस्य । पाक निवर्तयति । करोति निवर्तयति पाकस्य । अत यदि भाग से अथवस्तु की अभिव्यक्ति होती तो एक ही आदन की एकसाथ कथन के रूप में सम्बन्ध के रूप में भिन्न भिन्न विरोधी रूप में अभिव्यक्ति नहीं हो सकती थी। इसलिए मान लेना चाहिए कि अथ म शक्ति नहीं है। शक्ति भाग में है। भाग अपनी शक्ति का बुद्धि के द्वारा अथ म आरोपित कर देता है। अत भाग द्वारा नियत शक्ति ही भाग का अथ है। अथवा अथ शक्ति नहीं है। वह भवशक्तिसंपन्न है। भाग से कवन उसकी निश्चित शक्ति का अभिधान होता है। शक्ति के द्वारा अथ कभी क्रिया के रूप में प्रकाशित होता है कभी कारक के रूप में प्रकट होता है। जना भवया भाग द्वारा ही अथशक्ति नियत होती है। मल्लवादि क अनुसार यह मन वसुरात का है

वसुरातस्य मन ह्युपाध्यायस्य मतम् तु स च स्वल्पानुगतमथरूपमन्तर विभागेन सन्निवेशयति—अशक्ते सप्रशब्देर्वागदरेव प्रकल्पिता । एकस्याथस्य नियता क्रियादि परिकल्पना ।

—वाक्यपदीय १।१२३ द्विभाष्यनयचक्र १० ३८०

अथवा भाग का कोई बाह्य अथ नहीं होता। भाग का कवन बुद्धि उपाध्याय वौद्ध अथ होता है। यह वौद्ध अथ बाह्य वस्तु के लिए होता है उसका रूप बुद्धि उपाध्याय ही होता है किन्तु भवशक्ति बुद्धिगत अथ का बाह्य अथ समझ लिया जाता है। अथवा भाग का प्रसार क अथ होता है जो वस्तु सूत्र है आकारवान है उसका अथ आकार विषय के रूप में जात होता है। जो वस्तु धमून है निराकार है उसका अथ कवन भविष्य है। अथवा भाग का अथ आकारमहित अथ भाग में भविष्य (तानमात्र) भी है।

अथवा भाग का का नियत अथ न होता। अपनी अपनी वामना भवकार कवन में जाता भिन्न भिन्न अथ एक ही भाग का प्रमाण प्रकट है। इसलिए भाग अथ अथ भाव क अनुरूप विभक्त विभक्त भाषित होता है। एक ही वस्तु का एक ही समय में भिन्न भिन्न प्रत्यक्ष भिन्न रूप में लब्ध सकते हैं। एक ही पदार्थ एक ही व्यक्ति का

कालान्तर में भिन्न जान पड़ सकता है। इसलिए शब्द का कोई नियत अर्थ नहीं होता। शब्द के अर्थ के साधन भी अव्यवस्थित हैं। वे भी नियत नहीं हैं। इसलिए एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यही कारण है कि एक ही पदार्थ भिन्न भिन्न दशनात्म्या में विभिन्न रूप से व्याख्यात है।

यह मत भाषाविद्वानों के इस भिन्नता के अनुकूल है कि अर्थ एक समझना मान्य है। विभिन्न भाषाओं में एक ही प्रकार की ध्वनियाँ विभिन्न अर्थ व्यक्त करती हैं। शब्द का अर्थ सामाजिक रूप में स्थापित तत्त्व है।

## शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

गौ शब्द कहने में गौ शब्द का गौरूप अर्थ का और गौरूप जान का एक साथ एक में मिला हुआ भाव आभास होता है (गौरिति शब्दो, गौरित्यर्थो, गौरिति ज्ञानम्—यागसूत्रभाष्य ११७) यह आभास सम्बन्धसाधन है। जय शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का विचार किया जाता है तब अर्थ में अभिप्राय वस्तु से न होकर अर्थ के शास्त्रमय रूप से होता है। प्रतीति के कारण ऐसा होता है। शब्द के कारण भ्रम नहीं होता।

शब्द का अपने स्वरूप और अर्थ के साथ वाच्यवाचक सम्बन्ध माना जाता है। वक्ता की दृष्टि में (वाच्य अर्थ न मानकर बुद्धि उपाशब्द अर्थ) शब्द और अर्थ में वाच्य-कारणभाव सम्बन्ध माना जाता है। एक अर्थयाम सम्बन्ध की भी चर्चा की जाती है जो वास्तव में याग्यता और वाच्यकारणभाव सम्बन्ध का निष्कर्ष है। इनमें भिन्न नहीं है। भक्त हरि के अनुसार अर्थ के प्रवृत्तितत्त्व का शब्द निर्वचन है। अर्थ की प्रवृत्तित्व के कई अभिप्राय हैं। अर्थ के प्रवृत्तित्व विवक्षा है। मत्त्व के रूप में अर्थवाच्यत्व के रूप में वस्तु का स्वरूप अर्थ का प्रवृत्ति तत्त्व नहीं है। विवक्षा याग्य शब्द पर निर्भर करती है। कुछ कहने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति जिस वस्तु को अभिधेय मानकर कुछ कहने की अभिप्राय रखता है वह उस अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए याग्य शब्द का आश्रय लेता है। अर्थ व्यक्त करने की क्षमता योग्यता है।

अर्थवाच्य के व्यञ्जक में जो निमित्त होता है उसे अर्थप्रवृत्तित्व कहा जाता है। निमित्त के आधार पर निमित्तवान् अर्थों का निमित्तस्वरूपमय जान जय उत्पन्न होता है अर्थ द्वारा व्यवहार संभव होता है। शब्द निमित्त है। गापिण्ड निमित्तवान् है। जानिरूपानुकारी निमित्तस्वरूप है। जय तब पृथक्-पृथक् गापिण्ड शब्द से अनुरजित नहीं होता तब तक द्रव्यरूप में उनमें व्यवहार की सम्भवा नहीं आती। जानिनिष्पन्न गुण द्रव्य केवल्य की तरफ अर्थवहाय योग्य। दूसरे शब्दों में जानि के आधार पर अर्थ व्यवहार के विषय बनते हैं।

अर्थवाच्य के व्यवहार का तत्त्व समग्र है। मध्य में रहित अर्थ का व्यवहार सम्भव नहीं है। समग्र क्रिया और वाच्य के परस्पर सम्पर्क का नाम है। अर्थ साधन रूप में होता है और वाच्यरूप में होता है। नाम पद क्रिया सम्पूर्ण साधन का प्रतिपादन करते हैं। क्रियापद साधनसम्पूर्ण क्रिया की अभिव्यक्ति रखते हैं। दूसरे पदों के

प्रमाण कारक और त्रियापत्त के आशयविधि के उपमहार के लिए हात है। इस तरह ममग सभी पदों का सम्पन्न किए रहता है।

अथवा अथ स तापय केवल वस्तु स है। उसका प्रवृत्तित्व को ममग कहा जाता है। अथवा जान अथ के आकार के रूप में वाह्य वस्तु में आशयित होता है। यही अथप्रवृत्ति का तत्त्व है।

हजारों ने सम्बन्ध के प्रसंग में सम्बन्ध को पश्यती आदि वाक् के भेदों के साथ नियमों का पद्यन किया है। उनका अनुसार चित्तवृत्ति का वाक्यनाम का व्यापार होता है। उसका दूसरा नाम गन्ता है। गन्ता व्यापार ध्वनि रूप में न होता हुआ भी व्यापार प्रमाण में गन्ता कहा जाता है। वही वाचक माना जाता है। गन्ता जब अपने अविभागापत्त गन्ता में रहता है जब वह गन्तायमय रहता है जब उदभेद आरम्भ नहीं हुआ होता तब वह अपने स्वरूप में पश्यती (परवाक) के रूप में स्थित रहता है। वाक् में वह प्राणवृत्ति में अनुप्राणित और मन की भावना से अवलम्बित होकर अपने आप का वाच्य और वाचक इन दो भावों में विभक्त करना हुआ स्थित रहता है। यह मध्यमा की अवस्था है। उसमें परामर्श व्यापार होता है। परामर्श वाचक गन्ता है। परामर्शमा वाचक गन्ता चतुर्थ अर्थात् पश्यन्ती से सम्बन्ध निश्चित नहीं किए जाता है। उसका सम्बन्ध चतुर्थ में विवक्षित किन्तु अविभक्त पश्यता में भी अभिमान रहता है किन्तु वह अपने स्वरूप का ही वाच्य के रूप में परामर्श करने लगता है। यह परामर्श सामानाधिकरण्य रूप में होता है। यही अथ है। इसलिए उस वाच्य अथ का वाचक का अभिमान वाक्ता कहा जाता है। उसके पश्चात् वही परामर्श गन्ता पूर्व अवस्था का पड़े हुए ही स्थान वर्ण आदि के रूपों की साम्यता में उचल-चढ़ाई द्वारा प्राण स्वरूप के रूप में अपने आपका ढालकर वाच्य और वाचक रूप में विभक्त होता हुआ व्यक्त होता है। गन्ता पश्यती (परवाक) का निष्पत्त है। पश्यन्ती के प्रभाव से उसमें गन्ताभाव व्यापार होता है। उस व्यापार के चलते वह अपने विधि स्वरूप में विधि गन्ताभिधान का दत्ता का प्राप्त कर लेता है। उसका प्रकार सामानाधिकरण्य अथ का सम्पन्न और अभिमान रूप में एक ही व्यापार का होता है। अथ गुणन पत्त उस वाच्य में गुणगुण से अवभासित विधिपत्त का परामर्श एक साथ हो जाता है। गुणगुण का अर्थ में परामर्श नहीं होता। यही प्रकार चतुर्थ अर्थ में चतुर्थ के स्वरूप का परामर्श प्रधानभूतविधिपत्त में स्पष्ट रहता है। यही गन्ता और अथ का एक ही गन्ताभाव प्रतीति होता है। कर्माकर्मा गन्ता का अपने स्वरूप में ही विराजित रहता है। उस अर्थक ४।१।२३ में। यही गन्ता का स्वरूप ही अनुपात है। वही प्रधान है। वाह्य अथ के प्रतिपादन का गन्ता में स्वरूप और अथ का भव के रूप में अवभास होता है। गन्ता अपने का व्यक्त करता है और अथ का भी प्रकाशित करता है। अथ का प्रकाशित अभिधीयमान रूप में करता है। अपने स्वरूप का अभिधीय गन्ता अभिधीय रूप में करता है। अत्रिधिया विषयभाव प्राप्त कर लेता अभिधीय का रूप लेता है। जो गन्ता के अभिधान का विषय होता है उस अभिधीय कहा जाता है किन्तु अथ के साथ स्वरूप का सामानाधिकरण्य स्वरूप का

अथ के रूप में परामर्श आवश्यक है। वाचकता में अभिव्यक्तमानता नहीं होती। पश्यती (परवाक) के वक्तु भूमि उपारूढ परामर्शमय प्रवागस्वभावावाचक होता है। उसमें परामृश्यमानात्मक वाच्यता का अविराध होता है। जो वक्तृ शक्ति से युक्त होता है वही कमशक्ति का आधार उभी समय नहीं होता। क्योंकि स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य एक साथ एक समय में नहीं रह सकते। जो प्रतिपादक है वह प्रतिपाद्य नहीं।

इस तरह शब्द और अर्थ के सामानाधिकरण्य से अभेद अध्ययन नाम का सम्बन्ध व्यक्त होता है। याग्यता और कायकारण में भी फल की दृष्टि से अध्ययन सम्बन्ध ही प्रमुख है।

जैसे इन्द्रियों की अपने विषय में योग्यता अनादि सिद्ध है उसी तरह शब्द का अर्थ के साथ याग्यता-सम्बन्ध अनादि सिद्ध है। यद्यपि इन्द्रियों का एक ही कारण अज्ञात ज्ञान की ही उत्पन्न करती है, शब्द चापक है वह अपने ज्ञान द्वारा अर्थ बुद्धि का हेतु होता है फिर भी पुरुष प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होता दोनों में समान है।

शब्द और अर्थ में कायकारण भाव भी है। क्योंकि शब्द अर्थ का कारण है, शब्दपूर्वक अर्थ की प्रतीति होती है। आता के मन में जो अर्थ शब्द सुनने के बाद भवता है उस अर्थ का जनक शब्द है। अर्थ भी शब्द का कारण है। क्योंकि वक्ता पहले मन में अर्थ को रखकर ही उसके लिए शब्द का प्रयोग करता है। इसलिए ज्ञान और में कायकारण भाव होने के कारण शब्द और अर्थ का अग्र्याम लक्षण अभेद सम्बन्ध माना जाता है।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बुद्धि उपारूढ है। ओदन भुक्त जस वाक्य में भी शब्द और अर्थ का परिज्ञान बुद्धि अधीन है। इसी दृष्टि में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य माना जाता है। क्योंकि अनित्य पदार्थों के नष्ट होने पर भी अभिव्यक्तता के रूप में नियतत्व बना रहता है। घट आदि शब्दों के उच्चारण से अथाकार ज्ञान सदा उदबुद्ध होता है। इसलिए प्रवाहनियता के रूप में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य माना जाता है।

अनीन अनागत आदि शब्दों के भी अर्थ होते हैं और इस आधार पर यहाँ भी सम्बन्ध नित्यता है। शब्दविषाण आदि अमन पदार्थ में भी बुद्धि परिकल्पित सत्ता रहती है और इस आधार सम्बन्ध वहाँ भी है। उपचारमत्ता के आधार पर भी शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की उपपत्ति की जाती है।

सवत्रोपचारसत्तारूढ एव शब्दाथ द्वयुक्त भवति।

क्रियाकारकभावेनापि चार्थाना निरूपण बौद्धमेव॥

—हेताराज वाक्यपदीय = सम्बन्ध समुद्देश ५१

शब्द चाहे भाव-बोधक हो अथवा अभाव बोधक हो अर्थ का अभिव्यक्ति प्रयत्न सदा में होती है। अस्तु प्रवाहनित्यता के आधार पर शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य माना जाता है।

शब्द और अर्थ के अनित्य सम्बन्ध के मानने पर अथवा शब्द का नित्यत्व

कर काय मानन पर गत् और अथ की व्यवस्था लक्षण के अनुसार होती है ।

कार्या शब्द इति दर्शने लक्षणादेव शब्दानामथ-वस्था ।

—कयट महाभाष्यप्रतीप २।१।६

संस्कृतव्याकरणदशम लोकाविज्ञान लाकमत को प्रमाण मानता है इसलिए गत् और अथ के सम्बन्ध के विषय में भी लाक ही प्रमाण माना जाता है

शब्दाथसम्बन्धे लोक-यवहार एव प्रमाण, नायत ।

—कयट, महाभाष्यप्रतीप ४।१।६३

लाक में अथ के लिए गत् का प्रयोग किया जाता है । इसलिए व्याकरणदशम में भी उसका सामने रखकर ही विचार किया जाता है । गत् से अथ नहीं बनाए जाते । अथ के लिए गत् का आश्रय लिया जाता है

न हि शब्दरथा उत्पाद्य ते । यथोक्त न हि शब्दकृतेन नामार्थेन भवितव्यम्

—कयट महाभाष्यप्रतीप २।२।२६

अवश्य ही दानविक धरातल पर अथशब्द से वस्तु अथ न कर गत्-अथ रूप अथ लिया जाता है

इह हि व्याकरणे न वस्तुवर्थोऽथ, अपितु शब्दावर्थोऽथ ।

—हेलाराज वाक्यपनीय क्रियासमुद्देश १

कभी कभी गत्-रूप को सामने रखकर अथ-यवहार जोड़ में देखा जाता है और व्याकरण में भी उसे उसी रूप में अपनाया जाता है । जैसे भ्रमर के लिए द्विरेफ गद्द का व्यवहार किया जाता है । भ्रमर गद्द में दो रेफ हैं । इस दो रेफमय गत् लक्षण के आधार पर भ्रमर को द्विरेफ कहा जाता है

यद्यप्यर्थे शब्दस्य गुणभावादयत एव साम्यं यादयं तथापि शब्दधर्मेणाप्यथस्य व्यपदेशो दृश्यते यथा भ्रमर गद्दस्य द्विरेफत्वात् द्विरेफो भ्रमर । तथा द्वयक्षर मास द्वयक्षरमस्थि ।

—कयट महाभाष्यप्रतीप १।१।१०

गत् और अथ के नित्य सम्बन्ध का अधिक मन्त्र-तन्त्र के कारण अथपरिग्रह जस विचार संस्कृत व्याकरणदशम में सम्भव नहीं था । गत् कभी भी अपना अथ छोड़ कर दूसरे अथ का नहीं बताता

न तु गद्द स्वाथ परित्यज्यार्यान्तरं वक्तुं समर्थः शब्दाथसम्बन्धं धर्म्यानिर्णयता प्रसपात ।

कयट महाभाष्यप्रतीप २।२।६ २।१।११५

जहाँ अथ में परिवर्तन निर्धारित था है उस स्थिति के लिए प्राचीन व्याकरण वर्तमान काम में लाते हैं । भ्रमर ही उस स्थिति पर गत् के भूत अथ में एक दूसरे अथ का आश्रय करने हैं । उक्त अनुसार गत् के अथ में परिवर्तन सम्भव नहीं है अथ का आधार में आधारित सम्भव है ।

अथवा त्रिन गत्-अथ में भ्रमर गत् निर्धारित था था उन गत्-अथ के अर्थानुसार अथवा गत् मान लिया जाता था । प्रतीक कृतान् प्रतिनाम अनुनाम आदि अर्थों में

रूढ शब्द है

तुलया समित तुल्यम् । व्युत्पत्त्यथमेव तुलोपादीयते । रुद्धिशब्दस्त्वय सट्टश  
पर्याय । यथा प्रवीण कुशल प्रतिलोम अनुलोम इत्यवयवार्थाभाव  
एव तुल्यशब्देऽपि ।

—कथं महाभाष्यप्रदीप १।१।६

अपनी मायना के कारण वे कभी-कभी कठिनार्थ में पड़े जाते हैं । तिल  
शब्द से तल शब्द तिल के तेल के अर्थ में निष्पन्न होता है । किंतु सपत्तल, इट गुटी  
तन का भी लाल में व्यवहार होता था । कायायन ने इस समस्या का तलच प्रत्यय की  
सृष्टि कर सुलभाया था । पतजलि ने तल का सम्बन्ध तिन से न मानकर उस स्वनत्र  
अयुपन शब्द माना था

तल शब्दाच्च प्रत्ययो न वक्तव्य इति । प्रकृत्यन्तर तलशब्दो विकारे  
वतत । एव च कृत्वा तिलतलमपि सिद्ध भवति ।

—महाभाष्य ५।२।२६

कथं न उल्लङ्घन किया है कि कुछ लोग तिल के विकार को ही मुख्य रूप में  
तल मानते हैं । दूसरे तन भी तिल-तल के सादृश्य से तन कह जाते हैं किंतु भेद दिखाने  
के लिए इड गुट तन जस शब्द से व्यवहृत किए जाते हैं । किंतु कथं इगम महमन नहीं  
है । पतजलि के अनुकरण पर वे तल शब्द का रूढ शब्द ही मानते हैं

उपमानाश्रयेणापीडगुदतलमित्यादि सिध्यति । तिलविकारे मुख्य तल, तत  
सादृश्यादयदपि तलमिडगुदादिभिर्विशिष्यते । गौणसमवे च मुख्यतलप्रतिपाद-  
नाय तिल विशेषणात् तिलतलमित्यपि भवतीति केचिदाहु ।

व्युत्पत्त्युपाय एव तिलतल विकार तलमिति । रुद्धिशब्दस्त्वय स्नेहद्वय  
वति ।

—कथं महाभाष्यप्रदीप ५।२।२६

प्रवीण शब्द की भी यही कहानी है । प्रकृत्यो घीणाया प्रवीण इति व्युत्पत्ति-  
मात्रं विद्यते । कौशल स्वस्थ प्रयत्तिनिमित्तम् ।

—कथं, महाभाष्यप्रदीप ५।२।२६

अथवा मत्र शब्द महा प्रकार के अर्थ व्यक्त करने में समर्थ है सर्वे सवपदादेगा  
—(महाभाष्य १।१।२०) नाश्वर्यहार के आधार पर किसी शब्द का किसी विशेष  
अर्थ में नियम कर लिया जाता है

सर्वार्थानिधान शक्तिमुक्त शब्दो यदा विगिष्टेभ्यो सव्यवहाराय नियम्यते तदा  
तत्रैव प्रतीति जनयति ।

—कथं महाभाष्यप्रदीप—१।१।२०

अथवा शब्दशक्ति को नियम विषय में भी वे कभी-कभी स्वीकार कर रहे हैं—

नियतविषया शब्दानां शक्तयो दूष्यन्ते यदा द्विदगा इत्यादौ कृत्वोर्था  
रुमिधानमिति ।

—कथं महाभाष्यप्रदीप ५।२।२०

जहाँ साधनिक या प्रतीयमान अर्थ होता है उन्हीं शब्दों के स्वाभाविक अर्थ में  
हा समझा की चला करता है

भवति हि पदात्तरसम्बन्धेन गदस्यार्थात्तरे वत्ति यथा सिंहो माणवक ।

—याम ८।१।२४

अभुतवाक्यार्थे च पदानां वत्ति दृश्यते । —कयट महाभाष्यप्रदीप २।२।२४

अस्तु गन् और अथ के नित्य संबंध की रक्षा संस्कृत के व्याकरण किसी न किसी प्रकार करन आए है । ऊपर कहा जा चुका है कि वाक्यदर्शन भी उनका विचार क्षेत्र के बाहर का नहीं है । इसे कयट ने स्पष्ट कर दिया है

यद्यपि नित्या गद्वा तथापि ग्रास्त्रप्रक्रियायां क्वचिदुत्पत्तस्य लोपादिव्यापारेण निवृत्ति क्रियते । पञ्चिदपवादविधानेनोत्सगस्यानुत्पत्ति ज्ञाप्यते । ततो निवृत्तिपक्षो नानुपपन्नः ।

कयट, प्रदीप ३।१।३१

## शब्द के प्रकार

महाभाष्य व्याख्याप्रपञ्च के लेखक के अनुसार भूत हरि न वारह प्रकार के गन् भेदों का निरूपण किया था । भूत हरिणा द्वादशप्रकारा शब्दा निरूपिता योगिका योगरूढाश्च रूढा ।

—परिभाषावत्ति (पुष्पोत्तमदेव) पृ० १३५

इनमें योगिक यागरूढ आदि भेद थे । इस तरह के कोठे भेद वाक्यपीठ में उपनयन नहीं है । व्याकरणदर्शन में चार भेद की चर्चा अवश्य है । वे चार भेद योगिक रूढ योगरूढ और योगिकरूढ है ।

योगिक शब्द वह है जो अवयववाक्य से ही अर्थ का प्रत्यायक होता है । योगिक गन् के लिए अमिधेय की तरह होते हैं । जैसे लवण गन् । लवणा यवागृ । लवण मूष । यहाँ लवणगन् लवण से समृष्ट अर्थ में है । इसलिए योगिक गन् है लवणेन सस्सष्टमिति सस्सष्ट इति ठक (४।४।२२), तस्य लवणा लल्लुगिति (४।४।२४) लुक । अतएव तद्विधायोगे भूतत्वात् योगिकोत्र लवणशब्द

—याम २।४।३१

रूढ शब्द—केवल समुदाय वाक्य से अर्थप्रत्यायक रूढ हैं । रूढ गन् की उत्पत्ति की जाती है किन्तु उत्पत्ति से उनका अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं होता । जिन गन् के विग्रहवाक्य में अर्थ अर्थ होते हैं और वत्ति में अर्थ के रूढिशब्द है रूढाना हि धम नियमाय यथाकथञ्चित् युत्पत्ति क्रियते । न तु युत्पत्तिवशेन रूढयोवतिष्ठत ।

—शृंगार प्रकाश पृ० ६७

कयट के अनुसार रूढ गन् की उत्पत्ति असदर्थ के आधार पर नहीं की जाती चाहिए । जहाँ सदर्थ सम्भव हो वहाँ असदर्थ का आश्रय रूढि में भी नहीं लेना चाहिए । जहाँ किसी भी प्रकार से अर्थ का सम्बन्ध नहीं बट पा रहा है वहाँ असदर्थ अर्थ का आश्रय से उत्पत्ति की जा सकती है । जिस तलपायिका आदि गन् में ।

—कयट, प्रदीप १।२।६

यागरूढ अवयववाक्य और समुदायवाक्य दोनों के द्वारा एक अर्थ का प्रत्यायक गन् माने जाते हैं । (संस्कृत गन्) ।

योगिक रुढ़ शब्द व कह जाते हैं जो कभी रुढ़यथ की उपस्थापना करत है कभी योगिक अर्थ की। जमे मण्डप शब्द गृहविशेष का भी बोधक है और योगिक अर्थ के रूप में मण्डपान करने वाले पुष्प के अर्थ में भी आता है। कुछ लोग इस भेद को नहीं स्वीकार करते।

## शब्द-वृषभ

पतञ्जलि ने शब्द स्वरूप के प्रसंग में वृषभ का प्रतीक रखा है जिसमें शब्द के सभी अर्थों का परिचय हो जाता है। वृषभ आता है —

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तास अस्य ।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मत्स्या आविवेश ॥

—शृङ्गा ४५८।३

इस मंत्र में चार शृङ्गा तीन पाद दो शिर मान हाथ तीन स्थान पर बद्ध ग द करने किसी वृषभ का उल्लेख है। व्याकरण के क्षेत्र में, यहाँ वृषभ, शब्दस्वरूप का प्रतीक माना जाता है और उसके अनुरूप इस मंत्र की व्याख्या पतञ्जलि आदि ने प्रस्तुत की है।

चार सिंग से अभिप्राय चार पदजाता से है—नाम, आख्यात उपसर्ग और निपात। कुछ लोग कमप्रवचनीय को भी पदजात मानते हैं। चार पक्ष में कमप्रवचनीय का निपात में अतभाव समझना चाहिए। कुछ लोग केवल दा ही पदजात मानते हैं— नाम और आख्यात

कमप्रवचनीया निपातध्वेवातभूता इति चत्वार्युच्यन्ते। अयेषा द्वे पदजाते नाम आख्यात च ।

—महाभाष्य शीर्षिका प० १३

उपसर्गशब्देन कमप्रवचनीया इह गृह्यन्ते। क्रियायोगमतरेणापि प्रयोग दृष्टान्तः ।

—मूर्तिरत्नाकर हस्तलख

कुछ लोग चार सिंग का अभिप्राय चार प्रकार के वाक से मानते हैं। आचार्यों का एक ऐसा भी वाक था जो नाम आदि की व्याख्या वाक भेद के आधार पर करता था उसका उल्लेख मलवादि ने किया है

न हि काचिदपि चेतना अशब्दास्ति। अनादिकालप्रवृत्तशब्दयापाराभ्यास वासितत्वाद विज्ञातस्य। चतयमेव पश्यत्यवस्था मध्यमा वक्ष्ययोरवस्थयो र्स्थाने कारण नामेत्युच्यते। कारणात्मकत्वात् कायस्य ।

—द्वाद्वारनयचक्र प० ७७८

इसका अभिप्राय यह है कि चेतना शब्दमयी ही होती है। कोई चेतना अशब्द नहीं है। विज्ञान (चतय) अनादिकाल से शब्दयापार के अभ्यास से, पुन पुन प्रवृत्ति से वासित होता है। चतय ही पश्यनी अवस्था है। वह मध्यमा और वक्ष्ये के





शब्द के रूप में गृहीत होना चाहिये। गाय का वाधक गो शब्द और इन्द्रिय का बोधक गो शब्द भिन्न भिन्न हैं। उनमें एकता का भान सादृश्यनिबन्धना प्रत्यभिज्ञा के बल पर होता है।

शब्द के कायत्व पक्ष में और नित्यत्व पक्ष में एकत्ववादी और नानात्ववादी अपने-अपने सिद्धांत अपनाए रहते हैं।

एकत्ववादी दशन के अनुसार जाति-व्यक्ति व्यवहार की संभावना नहीं है। क्योंकि जाति के बिना भी एक बुद्धि या एक प्रत्यय की प्रवृत्ति स्वयमेव हो जाया करेगी। इसलिए उनके मन में जाति भेद निबन्धन सत्तामनि-सम्बन्ध भी नहीं है।

एकत्ववादी के अनुसार शब्द के नित्यत्वपक्ष में एकत्व मुख्य होता है, अर्थात् उपचार से एकता नहीं होती बल्कि स्वाभाविक रूप में होती है। कभी कभी कारण-भेद से प्राप्त भेद में उपचरित एकत्व मानना पड़ता है किन्तु भेद में भी अभेद ज्ञान के सदा हान में प्रकटित एकत्व मुख्यसदृश ही है। शब्द के कायत्व पक्ष में भी एक वण या एक पद के एक वाक्य उच्चारण के बाद पुनः उच्चारण करने पर यह वही वण है वही पद है ऐसी बुद्धि सदा देखी जाती है। इस अभेद बुद्धि से शब्द के एकत्व की कल्पना की जाती है।

एकत्व दशन का ही मान कर कायायन न एकत्वादकारम्भसिद्धम (वार्तिक अइउण) कहा है। उपलब्धि के व्यवधान से वण या शब्द की एकता नष्ट नहीं होती। वस्तुतः व्यवधान उपलब्धि में होता है, वण में नहीं। वण की अभिव्यक्ति के साधन की त्रियाशीलता से वण की उपलब्धि होती है, अर्थात् नहीं होती। जैसे भिन्न दशा में स्थित द्रव्य में एक साथ ही गृहीत सत्ता सत्ता के रूप में एक ही रहती है अपना एकत्व नहीं छोड़ती वस ही वण भी भिन्न काल में उच्चरित होकर भी अभेद प्रत्यय के कारण एकत्व नहीं छोड़ पाता है।

नानात्ववादी दशन के अनुसार शब्द के नित्यत्व या कायत्व पक्ष में, नानात्व मुख्य रहता है और एकत्व औपचारिक होता है। नानात्ववादी को भी औपचारिक एकत्व मानना पड़ता है। क्योंकि शाब्द-व्यवहार एकत्व के बिना सिद्ध नहीं होना। एक शब्द का उच्चारण किया गया पुनः उसी शब्द का द्वितीय बार उच्चारण किया गया। अब यदि उस शब्द के प्रथम उच्चरित स्वरूप से द्वितीय उच्चरित स्वरूप का भेद माना जाए तो अर्थ में गड़बड़ी संभव है। एक व्यक्ति जब गो शब्द कहगा और उस गो शब्द के अर्थ को पहले से जानने वाला व्यक्ति उसका अर्थ समझ जाएगा, परन्तु किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा उच्चरित गो शब्द का वही व्यक्ति नहीं समझ पाएगा क्योंकि उस उम-अर्थ व्यक्ति द्वारा उच्चरित गो शब्द का संकेत जान नहीं है। अतः नानात्ववादी भी गौण-रूप में एकत्व की सत्ता स्वीकार करते हैं। गो शब्द के लगभग नव अर्थ होते हैं। इन नव अर्थों में नव तरह के गो शब्द हैं। किन्तु गो द्रव्य का वाधक गो शब्द एक ही है। इसी तरह किरण द्रव्य का बोधक गो शब्द एक है। इसी तरह विभिन्न अर्थों के साथ उनका एकत्व लगा हुआ है। भिन्नार्थक एक पद में और भिन्न पदों में स्थित एक ही वण में, नित्यत्व और काय व दोनों पक्षों में नानात्व मुख्य है और एकत्व औपचारिक है।



वणमात्रमेव पदम् । तेषामपि सावयवत्वात् अमप्रव सावयवानामा ध्यव  
हारविच्छेदात्तुरीयतुरीयक किमप्यपदेश्य रूप ध्यवहारातीत अस्ति इति न  
वणपदे विद्येते ।

—वाक्यपदीय १।७३, हरिवर्त्ति, पृष्ठ ७५

अत्र वण का समुदाय उपयुक्त दृष्टि में समभव नहीं है, अविच्छिन्न रूप वाली और  
सीमित अथवा सीमा नाम की कोई वस्तु भी नहीं है ।

नानाववादी मानते हैं कि पद में वण नहीं होता और न वण में अवयव होने  
है । वाक्य में पदा का कोई अत्यन्त अलगाव नहीं होता । वे इस बात का तो मानते  
हैं कि वण की विवक्षाजय ध्वनि से अभिव्यक्त वण की प्रतिपत्ति (नान) पद की  
विवक्षाजय अभिव्यक्ति की प्रतिपत्ति से विलक्षण है । क्योंकि पद में समुदाय विषयक  
प्रयत्न की जरूरत पड़ती है वण के उच्चारण में उतनी नहीं । फिर भी तुल्य स्थान  
करण आदि के कारण वणों की ध्वनिया में एक सादृश्य आ जाता है । फलतः वण-  
विभाग का नान पद की प्रतिपत्ति में आभासित होता है । अर्थात् पद जिसमें कोई  
विभाग नहीं है विभाग वाला जान पड़ने लगता है । वस्तुतः पद एक है । अविच्छिन्न  
है । नित्य है । अभेद्य है । वह अन्तिम वण (तुरीय वण) से मानो अभिव्यक्त होता  
है । वणों के तुरीय (वह अन्तिम अवयव जिनसे उनकी अभिव्यक्ति स्पष्ट हो जाती है)  
कल्पित है क्योंकि वे व्यवहारातीत और अपदेश्य हैं । इसलिए शास्त्र-व्यवहार में  
उनका एकत्व प्रसिद्ध है । परन्तु सांकेतिक व्यवहार में वाक्य का प्रयोग होता है । वाक्य  
प्रतिपत्ति में उपायस्वरूप पद प्रतिपत्ति है । वाक्य अविच्छिन्न है । निर्भाग है । वाक्य  
के उच्चारण करने पर वण पद आभास वाली क्रमवती जो बुद्धि पदा हानी है वह  
अनात्मिक है । वाक्य में अभिधेयनिर्गन्धन भेद के अभाव के कारण उक्त पद वण का  
विवक्ष्य अवास्तविक है । सप्रहकार ने कहा है

न हि किञ्चित्पद नामरूपेण नियतं क्वचित् ।

पदानामथ रूपं च वाक्यार्थदेव जायते ॥

—सप्रह वाक्यपदीय २।३१८ में पुण्यराज द्वारा उद्धृत

और वाक्यपदीय १।२६ हरिवर्त्ति में भक्त हरि द्वारा उद्धृत ।

शब्द के भेदाभेद दर्शन को वार्तिककार और महाभाष्यकार दोनों ने अद्भुत  
सूत्र के विवेचन में स्पष्ट किया है । कात्यायन ने एकत्वदर्शन को अपनाते हुए  
एकत्वाकारम्य सिद्धम् यह वार्तिक लिखा है और नानात्वदर्शन का मानते हुए  
'आद्यभाष्य तु कालशब्दप्रवाधान' यह दूसरा वार्तिक लिखा है ।

भाष्यकार के अनुसार अक्षरममाभ्याम् में पठित अक्षर अनुवर्त्ति (गाम्य का  
लक्ष्य में प्रवर्त्ति) में उपलब्ध अक्षर और धात्वादि स्थित अक्षर एक है । अ मूल वाल  
प्रत्यय जैसे अण क आदि में अनुबोध काय साम्य नहीं हो सकेगा क्योंकि उनमें विधेय  
स्थला के लिए विशेष अनुबोध इसी दृष्टि से किया गया है कि कित आदि के स्थान में  
गिन आदि काय न होने पावें और उदात्तादि की पहचान स्पष्ट रहे । यह आशेष कि  
जैसे एक घट से अनेक व्यक्ति एक साथ ही काम नहीं ले सकते उसी तरह वण एक-व

मानन पर एक वण का उच्चारण कई व्यक्ति एक साथ नहीं कर सकत ठीक नहीं है। जिस तरह एक ही घट के दशन और स्पृग जैसे काय अनेक व्यक्ति भी एक साथ कर सकत है वैसे ही अकार आदि वण का उच्चारण भी अनेक व्यक्ति युगपत् कर सकते हैं।

भाष्यकार ने नानात्व पक्ष का भी समर्थन किया है। कालव्यवधान स पदव्यवधान स (शब्द के व्यवधान में भी कालव्यवधान रहता है) और उपात्तादि गुणा के भिन्न भिन्न होने से अकार को भी भिन्न भिन्न मानना चाहिए। भिन्न होते हुए भी उसका प्रत्यभिज्ञान अत्व आदि सामान्यनिवन्धन है। अकार अश्व अक्र, अथ जस विभिन्न पदस्थला में एक साथ ही उपलब्ध हो जाता है। एकत्वदर्शन के अनुसार ऐसा संभव नहीं है। एक ही देवत्त एक साथ ही मुद्ग और मथुरा में अवस्थित नहीं देखा जा सकता। अकार विभिन्न स्थला में एक साथ देखा जाता है। अतः अनेक हैं एक नहीं। यह नहीं कहा जा सकता कि जस एक ही सूय अनेक स्थाना में युगपत् देखा जाता है वगैरे एक ही अकार विभिन्न पदा में युगपत् देखा जा सकता है क्योंकि एक द्रष्टा अनेक स्थानगत सूय को एकसाथ ही नहीं देख सकता। अतः प्रयोगमय ध्वनि स अभिव्यक्त होता है श्रोत्र द्वारा उसकी उपलब्धि होती है बुद्धि द्वारा उसका ग्रहण होता है और उसका ज्ञान आसन्न है। जिस तरह एक ही पृथ्वी के विभिन्न नगरों के आधार पर विभिन्न देश का व्यवहार होता है उसी तरह एक ही आकाश में विभिन्न समशीतोष्ण की सीमा के कारण अनेक आकाशवायु का व्यवहार होता है। अनेक अविवरणस्थ सूय की तरह अनेक अधिकरणस्थ गजार की भी युगपत् उपलब्धि नहीं हो सकती।

गणभेद पक्ष का मान कर भाष्यकार ने लिखा ग्राम गण के बहुत अर्थ हैं—गात्रा समुदाय वाटपरिक्षेप (गाँव की रक्षा के लिए उनके चारों ओर का घेरा) मनुष्य और अरण्यवाला सीमावाला और जमीन वाला। पुनः अनेक पक्षों को मानते हुए यह कहा जा सकता है कि ये गाँव ग्राम एक में मिले हैं तो वही ग्राम गण स ता पय सारण्य ससीमक मस्यपिण्ड स है। —महाभाष्य १।१।७

व्याकरणज्ञान दोनों पक्षों का ग्राह्य मानना है। श्रुति के अर्थों में अनन्तार्थता में भी एक गण और अर्थभेद से एक श्रुति होने पर भी अनेक गण मानने हैं। एक के मत में भेद औपचारिक और एक के मुख्य है। दूसरे के मत में गण व्यावहारिक और पथगत (भेद) मुख्य है। ऐसा तरह अनेक गणितयाग और एक गणितयाग के विषय में भी विचार है।

भन्तृ हरि न एव ववा और नाना ववा का वरि ववा मय में भी गिराया है। विवृति याग में प्रमाण (किसी के मत में एकता) सामर्थ्य के कारण ग्राह्य है। नमिधनाथ होने के कारण ऋचाया का भी गणना करने है। इनमें प्रथम और अन्तिम ऋचाया का तीन-तीन बार आवृत्ति का जाता है त्रिगुण इसी मन्त्रा गण (प्रथम पक्ष) हो जाती है। आवृत्ति में ववा ऋचाया की संख्या में गणना की जा सकती है। अतः ऋचाया को विभिन्न (स्वतंत्र) माना गया है। अतः गणभेद का मत भी मानना ग्राह्य जान पड़ता है। अतः एक ही मन्त्र विवृति के मत में भिन्न भिन्न

माना जाता है जमा कि ऊहमत्रा म भी देखा जाता है  
 सामिधेय तर चवमाव तावनुपज्यते ।  
 मत्राश्च विनियोगेन तमते भेदमूहवत ॥

—वाक्यपत्नीय २।२६०

इसी तरह सावित्री मंत्र सस्कार म दूसरा यन म दूसरा और जप में भी  
 भिन्न माना जाता है यद्यपि उसका स्वरूप एक ही मालूम पड़ता है  
 अथा सस्कारसावित्री कमण्य या प्रयुज्यते ।  
 अथा जपप्रबन्धेषु सा त्वेकव प्रतीयते ॥

—वाक्यपत्नीय २।२६३

इसके विपरीत कुछ लोग वद मत्रा म अथ ही नहीं मानते । इसलिए उनके  
 लिए अथ भेद म गान्धर्व भेद की चर्चा का मूल्य नहीं है । कुछ लोग गान्धर्व-स्वरूप का ही  
 अथ मानते हैं

अनथकाना पाठो वा शेषस्त्वय प्रतीयते ।

गान्धर्वस्वरूपमथस्तु पाठोऽयमपच्यते ॥

—वाक्यपत्नीय २।२६१

वाक्यपत्नीय में एक गान्धर्वशतन म शब्दोपचार प्रसिद्धि अप्रसिद्धि निमित्तक माना  
 गया है और अर्थोपचार स्वरूपायत्व और बाह्याय व भेद से दो तरह का माना गया  
 है । इस प्रसंग में भक्त हरि ने गान्धर्व के गौण मुख्य पहलू पर भी विचार किया है क्योंकि  
 गौण मुख्य का स्वरूप गान्धर्व के भेदाभेदद्वयन म प्रभावित है ।

## गौण-मुख्य विचार

गान्धर्व एकवादी के मत में गौण मुख्य भाव प्रसिद्ध अप्रसिद्ध भेद पर आश्रित  
 है । गौवाहीक शब्द में गो शब्द का ही अर्थ बाहीक भी है । अतएव इतना ही है कि  
 गो के अर्थ म गो गान्धर्व अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्ध है और बाहीक के अर्थ म कम प्रसिद्ध  
 है (वाक्यपत्नीय २।२४५) ।

यदि केवल शब्दोपचार माना जाए तो शब्द और अर्थ के संबन्ध में अनिश्चयता लगे  
 आ जाएगा इसलिए भक्त हरि ने अर्थोपचार भी माना है । गान्धर्व का अर्थ दो तरह का  
 होता है—स्वरूप और बाह्य । गौवाहीक म गो शब्द का अर्थ गो व है । जाडय आदि  
 के आधार पर गो व बाहीक स भी जुट जाता है यही बाह्यार्थोपचार है । अतएव केवल  
 इतना ही है कि गो में गोत्व मुख्य है और बाहीक में उपचरित है ।

—वाक्यपत्नीय २।२४७

इसी तरह गान्धर्व का स्वरूप भी सभी अर्थों से अनुपगत होता है । मन्त्र गान्धर्व  
 का उसका अपना स्वरूप ही है । गो गान्धर्व का अर्थ अपना गो शब्द-स्वरूप स्वरूप है । वह  
 स्वरूप कभी गो जाति म जुटता है और कभी बाहीक जाति म । इसमें किसी की  
 मुख्यता और किसी की गौणता प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि पर निर्भर है ।

गान्धर्वभक्त्यानी (नाना उवादी) के अनुसार गौण अर्थ यत्न करने वाला गो शब्द

अथ ह और मुख्य अथ व्यक्त करने वाला गौण अथ ह । शब्द भन्वात् व्याकरण दर्शन के एक माय सिद्धान्त पर अवलम्बित है । व्याकरणशास्त्र में शब्द और अथ में अध्यासलक्षण संबंध माना गया है । यदि एक शब्दवाद माना जाएगा तो एक शब्द का किसी एक अथ में अध्यास माना जाएगा और वह उस अथ से अभेद प्राप्त कर लेगा फिर एक अथ के साथ अभेद होकर वह किसी अथ के साथ वस अध्यास प्राप्त करेगा ? अतः शब्दभन् पक्ष मानना चाहिए । महाभाष्यकार ने भेद पक्ष और अभेद पक्ष दोनों का स्वीकार किया है (एतच्च भेदाभेदस्वाभावात् दानद्वय गन्तानां भाष्यकारेण वातिकव्याख्यानावसरे दण्डितम् । (पुण्यराज वाक्यपदीय २।२.५६) । भन् भेद दर्शन पर भाष्यकार के मतों का ऊपर विचार किया जा चुका है ।

अनक शब्दज्ञान के पक्ष में अथभन् से शब्दभेद मानने के कारण गौण अथ अथ ह और मुख्य अथ अथ ह एका माना जाता है ।

गौण—मुख्यभाव के संबंध में एकशब्दवाद और अनक शब्दवात् में एक मोलिक भन् यह भाव है कि अनक शब्दवात् के अनुसार शब्दापचार ही उपयुक्त माना जाता है क्योंकि उसके मन में सादृश्य के कारण अभेद प्रतीत होता है । मुख्य अथ के अधिक प्रसिद्ध होने के कारण उसका वाचक शब्द में अपचार मानना उचित है । जबकि एकत्व वात् के अनुसार अर्थोपचार का आश्रय लिया जाता है । एकत्ववादी अर्थोपचार का आश्रय शब्द और अथ के सम्बन्ध में अनिश्चयानुपेक्षक निवारण के लिये तब है । भन् चरित्र न शब्दापचार और अर्थोपचार माना का यथा असर मान्य लिया है (पुण्यराज वाक्यपदीय २।२.६२) ।

गौण मुख्य भाव का निमित्त क्या है—गौण मुख्य का टाट स्वरूप क्या है तब पर भन् चरित्र न अनक भन्ता का उद्गम किया है । कुछ प्रसिद्ध मन निम्नलिखित है

### अर्थप्रकरणशब्दांतरसन्निधानपक्ष

तब मन के अनुसार गम्य शब्द के अर्थ व्यक्त करने में गम्य शब्द का गौण मुख्य विभाग निमित्तका होता है । निमित्त के आधार पर क्या शब्द कभी मुख्य और कभी गौण कहा जाता है । वे निमित्त अथ प्रकरण और शब्दांतर के माग हैं । गौण शब्द जब गम्यता सामान्य बात व्यक्त का व्यक्त करता है तब शब्द या शब्द का भाव व्यक्त करता है । इनमें मुख्य और गौण व्यस्तार प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध पर निर्भर है ।

महाभाष्य के अनुसार मुख्य शब्द और अथ क्या है त्रिगुण निमित्त । व्याकरण में भाष्यकार का अभिप्राय है कि जो शब्द अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रकरण अथवा त्रिगुण अथ शब्द के गति ध्यान का शब्द या शब्दता है वह गौण है

मुद्रुष्योच्चारण स्वाप्य प्रसिद्धा यव्य गम्यता ।

स मुख्य इति त्रिगुणा क्तमात्रनिर्वाचनम् ॥

यव्योच्चारण प्रयोगेण यव्यादिषु त्रिगुण्यम् ।

तबप्रसिद्ध गम्यता गौणाय त्रिनिर्वाचनम् ॥

इसका कुछ लोग इस रूप में भी कहते हैं कि निमित्त तात्पर्य अथ होता है और निमित्ती गौण होता है। गो शब्द वाहीक के अर्थ में प्रयुक्त होता हुआ साम्ना आदि वाले अर्थ को व्यक्त करने वाले गो शब्द के सम्बन्धी अर्थ को निमित्त के रूप में ग्रहण करता है इसलिए उस विषय में मुख्य अर्थ निमित्त है और निमित्ती गौण है। दूसरे शब्दों में जहाँ शब्द की गति स्वलिन नहीं होती वहाँ मुख्य अर्थ और जहाँ शब्द की स्वलिंगति होती है वहाँ गौण अर्थ होता है। यह मत अर्थोपचार पक्ष में एक शब्दवाद के अनुसार है। यहाँ शब्दभेद कल्पित समझना चाहिए क्योंकि एकशब्दद्वय पक्ष में शब्द भेद संभव नहीं है।

परन्तु भन हरि ने अर्थप्रकरण के आधार पर गौण मुख्य विभाग को प्रथम नहीं दिया है। बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनके अर्थ का निणय अर्थ प्रकरण आदि के आधार पर किया जाता है जैसे पुरा, आरात आदि। पुरा और आरात शब्द का अर्थ भूत और भविष्य और कभी दूर और समीप अर्थ होता है। प्रकरण के अनुसार उसका निश्चय हो जाता है। यदि प्रकरण सहाय अर्थ को गौण माना जाए तो पुरा आरात में भी गौण मुख्य भाव होने लगेगा पर होता नहीं है। इसलिए अर्थ प्रकरण के आधार पर गौण मुख्य विवेचन उतना युक्ति युक्त नहीं है।

एकशब्दवाद और अनन्यशब्दवाद दोनों पद और पदार्थ का सत्य मान कर चलते हैं। परन्तु अखण्डवाक्यवाद्या के मत में पद और पदार्थ असत्य है। फलतः पद और पदार्थ पर आश्रित गौण मुख्य भाव भी संभव नहीं है। गौर्वाहीक यह अखण्ड वाक्य है और इसमें गौणतन्मय से अवच्छिन्न वाहीक लक्षण अर्थ अखण्ड रूप में ही प्रतिपादित किया जाता है। जहाँ एक ही पद है वहाँ भी निया चरित (छिपी) रहती है। इसीलिए कोडयम के प्रश्न में गौ (अस्ति), अश्व (अस्ति) आदि के रूप में निया छिपी रहती है। इसलिए एक अखण्ड वाक्य ही वाचक है। फिर भी अपाद्धार पद्धति का आश्रय लेकर पद पदार्थ की कल्पना की जाती है और प्रसिद्धि अप्रसिद्धि के आधार पर गौण मुख्य विभाग किया जाता है।

## न्यूनाधिकभाव

कुछ लोग गौण मुख्य विभाग का आधार न्यून और अधिक भाव मानते हैं। धर्मा का न्यून भाव गौणता का प्रतीक है और अधिक भाव मुख्यता का द्योतक है परन्तु भन हरि के मत में यह मत अवज्ञानिक है। क्योंकि न्यून और अधिकभाव अनवस्थित है। किसी धर्म का आधिक्य या प्रसिद्धि भी कभी किसी दृष्टि से न्यून हो सकती है इसलिए न्यून अधिक भाव का गौण मुख्य विभाग का निमित्त नहीं माना जा सकता।

## सादृश्य निमित्त के रूप में

कुछ आचार्यों के मत में गौण मुख्यभाव में निमित्त सादृश्य है। वाहीक में गात्र जानि नहीं है। फिर भी गा शब्द वाहीक के अर्थ में प्रयुक्त होता है क्योंकि गो व्यक्ति के



जाड्य माद्य आदि गुणों का बाहीन गत जाड्य माद्य आदि गुणों से सादृश्य है। इसी सादृश्य के आधार पर गानाद गाव रहित वाणीय के लिए भी प्रयुक्त होता है।

पुण्यराज के अनुसार यह मत भी प्रयुक्त नहीं है क्योंकि वाक्यप्रतिवृत्ति वाक्यप्रतिवृत्ति स्थला में सादृश्य निमित्त तो है परंतु गौणता नहीं है। इसलिए सब सादृश्य को गौण मुख्यभाव का निमित्त नहीं माना जा सकता।

## विपर्यास

गौण और मुख्य भाव के विवचन में एक मत विपर्यास पर भी अवलम्बित है। बाहीन रूप अथ विपर्यास से मानो गो रूप हो जाता है। बाहीन का गो रूप होना अर्थात्तर होना है। इसलिए उसका वाचक गो गान गौण है। विपर्यास दो तरह में होता है—अध्यारोप रूप में और अध्यवसाय रूप में। गौवाणीक इस गान में गो गत गुणों का बाहीन में अध्यास होता है। अतः यहाँ विपर्यास अध्यारोपित है। रजत रजस इमं विपर्यास अध्यवसाय रूप में है। अध्यारोप और अध्यवसाय में अन्तर यह है कि अध्यारोप में आरोप्यमाण और आरोपविपर्यास दोनों का भेद अपहृत नहीं होता जबकि अध्यवसाय में आरोप्यमाण के द्वारा आरोपविपर्यास निगोण (अतः कृत) होता है। अध्यारोप में दा वस्तुग्रा में भेद होना हुआ भी तादृश्य की प्रतीति मुख्य प्रयोजन है जबकि अध्यवसाय में सबथा अभेद का परिचय प्रयोजन होता है। वस्तुतः जहाँ अध्यारोप है वहाँ गौण मुख्यभाव हो सकता है परंतु जहाँ अध्यवसाय है वहाँ गौण मुख्यभाव स्पष्ट नहीं होता। इसलिए केवल अध्यारोपलक्षण विपर्यास को गौणमुख्यभाव का निमित्त माना जा सकता है।

## रूप-शक्ति

गान रूप और शक्ति से स्वभावतः संपन्न रहता है। औपत्तिकस्तु शक्त्या येन सम्बन्ध (मीमांसा सूत्र १.१.१५) इस वाक्य में भी गान में स्वाभाविक शक्ति निहित है। गान रूप और शक्ति दोनों में उत्पत्तिकाल में ही युक्त रहता है। गान में अनेक शक्तियाँ हैं। इसलिए गान अपनी शक्ति के बल से अनेक अर्थ कर सकता है। अतएव कुछ विचारकों के मत में गौण मुख्य-व्यवहार रूपशक्ति निमित्तक है। मीर (हल) मुसल खग आदि अपने रूप और अपनी शक्ति से समन्वित होकर नियत अर्थ रखते हुए भी कभी कभी अन्य अर्थ को प्रकट करती हैं। जम किसी के गग लाओ नम वाक्य से लड़ाई की बात आ गई है इस अर्थ का अभिप्राय नहीं है। यह अभिप्राय रूप शक्ति की महिमा है। रूप शक्ति के बल से गौण मुख्य विभाग को प्रकिया यह है कि गान श्रवणमात्र से अपने जिस स्वाभाविक अर्थ का व्यक्त करता है वह मुख्य अर्थ है और जहाँ अभिधान शक्ति के द्वारा हुआ भा अप्रमिद्धि के कारण प्रकरण आदि के कारण यन्त्रपूर्वक उक्त अर्थ अर्थ किया जाता है वह अर्थ गौण है।

भूतिमात्रण यथास्य तादात्म्यमवसीयते ।

मुख्य समथ मयते गौण परतोपपादितम् ॥

—याज्ञवल्क्य २।२८०

अनभट्ट व अनुसार मुख्यता और गौणता यमन गत्यान्तर निरूपण और गत्यान्तर सापण अथ प्रतीति के आधार पर माननी चाहिए

यथा अनेपु मुख्यस्य प्राधाय तथा शब्दान्तरनिरपेक्षतया प्रतीयमानस्य मध्यस्य प्राधायनम् । शब्दस्यापि स्वशक्तिविषय-सादृश्याय प्रतिपादकत्वेन मुख्यत्वम् ।

—अनल भट्ट महाभाष्यप्रतीपाद्योक्त द्वितीयभाग प० २३

व्याकरण मप्रदाय के अनन्त आचार्य गत्याय का बौद्ध मानत है । उनका अनुसार गत्या में गौण मुख्य विभाग सम्भव नहीं है । वक्ता जिस अभिप्राय से गत्या का प्रयोग करता है प्रतिपत्ता को उस शब्द में यही अर्थ का ज्ञान होगा अतः सर्वत्र गत्या मुख्य रूप में ही रहना कभी गौण न हो सकेगा । फलतः गौण मुख्य विभाग भी उपयुक्त न होगा । परन्तु अतः हरि इस मत का प्रथम नहीं था । एक तरह के गत्या या ज्ञान होने पर भी ज्ञान में सत्य और असत्य का भेद दिया जाता है । दग्धन में मृग मरीचिका में जल दिखाई पड़ता है परन्तु मगमरीचिका जल नहीं है चित्रा में नदी, पर्वत आदि के स्वरूप निम्न और उन्नत दिखाई देते हैं परन्तु चित्रगत उच्चता या निम्नता में प्रतिघात आदि काद वायभेद नहीं होता । देग जान दृष्टिमगत भेद में वस्तु अथवा रूप में (अथवा गृह्यरूप व विपरीत) दिखाई पड़ती है परन्तु जोर में प्रियाभेद के आधार पर और प्रसिद्धि के आधार पर उस वस्तु का अविपरीत (यथाथ) रूप में ही ग्रहण होता है । वस्तुतः जो सत्य के विपरीत उपघातज ज्ञान है और जो अलौकिक ज्ञान है उन दोनों में गत्यान्तर नहीं होता । गत्या मात्र व्यवहार के निमित्तभूत होता है । इसलिए प्रसिद्धि या अप्रसिद्धि अथवा स्मरणगत या अस्मरणगत के आधार पर गत्याय के बौद्ध होने पर भी गत्या के गौण मुख्य विभाग सम्भव हैं ।

गौण मुख्यभाव मानकर ही गौणमुख्ययो मुख्ये काय सप्रत्यय (परिभाषा वृत्ति सागदव १०३) का परिभाषा प्रतिष्ठित है । अग्ने ढक (४।२।३३) इस सूत्र में मुख्य अग्नि शब्द से ढक प्रत्यय होता है अग्निर्माणवक जस उपचरित (गौण) अग्नि गत्या से नहीं होता । अग्ने गौ सपद्यते गोऽभवत् जस स्थाना में गौणाय होतः कारण आन्त के निषानन होने पर भी ओत (पा० १।१।१२) स प्रगृह्य सत्ता नहीं होती ।

वार्तिककार ने गोऽभवत् जस स्थाना में प्रवृत्तिभाव के निषेध के लिए ओतशब्द प्रतिषेध इस तरह का प्रयत्न किया है । इसमें यह जान पड़ता है कि वार्तिककार के मत में गोऽभवत् में चपय लक्षण गा गत्या का मुख्य अर्थ ही है । सभी अर्थ मुख्य ही होते हैं । अतः गौण मुख्य भाव विभाग सम्भव नहीं है परन्तु महाभाष्यकार ने गौण मुख्य याय के आधार पर यहाँ प्रगृह्य सत्ता का निर्देश किया है । इसी तरह अग्निपोम गत्या में स का प ता होता है परन्तु अग्निमात्र मानवकौ में नहीं होता क्योंकि दूसरा गौण हो गया है । महाभाष्यकार ने इसकी पुष्टि के लिए कहा है कि जस गौरव-



(४।१।६२), भाव (३।३।१८) जैसे स्थला म पुलिंग द्वारा निर्देश किया गया है। अतः नपुंस्कलिंग और स्त्रीलिंग से प्रत्यय नहीं हाना चाहिए। इसके उत्तर म भाष्यकार ने कहा है कि यहाँ लिंग और सख्या नातरीयक हैं, अतः अविवक्षित है। जिस तरह अन्न की कामना से कोई व्यक्ति 'तुप और पलाल सहित' गालि लाता है पुनः उसम से अन्नादि जो कुछ लन योग्य होता है उस लेता है। शेष को छाड़ देता है। अथवा जिस तरह मासार्थी शकल और कण्ठक सहित मस्य लाना है क्योंकि गङ्गा और कटक नातरीयक हैं पुनः लेने योग्य अन्न को लेकर गङ्गा कटक आदि का फल देता है उसी तरह शास्त्र म भी तद्धिताय निर्देश आदि म तद्धिताय का ता ग्रहण किया जाता है और नातरीयक रूप म व्यक्त लिंग और सख्या को छोड़ दिया जाता है। वे विवक्षित नहीं हात। इसी का पुण्यराज ने 'पदार्थैकदेशाविवक्षा' कहा है।

कयट क अनुमार कहो-वही सख्या विवक्षित होती है जस सुपसुपा म —

सवत्रव हि शास्त्रास्मिन् नातरीयकत्वाद्गुपात् लिंगसख्य न विवक्ष्यते।  
क्वचित् सख्या विवक्ष्यते यथा सुपसुपेति।

—कयट महाभाष्य ४।१।६२

सकलपदार्थ अविवक्षा यहाँ हाती है जहाँ शब्द क द्वारा उपात्त पदार्थ का त्याग कर दिया जाता है और अनुपात्त अर्थ गृहीत होता है। जस तस्यादित उपात्त मद्ब्रह्म (१।२।३२) मे अद्ब्रह्म शब्द। अद्ब्रह्म का अर्थ ता होना चाहिए ब्रह्म का आधा। पर इस अर्थ के लेने पर दीध और स्वरित क अद्ब्रह्मात्रा का ग्रहण नहीं होगा परन्तु होना चाहिए। इसलिए अद्ब्रह्म शब्द का अर्थ अद्ब्रह्मात्रा कर दिया जाता है। यहाँ ब्रह्म शब्द उपलक्षण है दीध और स्वरित का भी अद्ब्रह्मस्वमित्यनेन अद्ब्रह्मात्रा लक्ष्यते, ब्रह्मग्रहणमतत्रम।

—काशिका १।२।२२

कुछ लोग ऊवालो जसम्बदीधप्लुत (१।२।२७) म ब्रह्म दीध और प्लुत के एक साथ निर्देश होने के कारण ब्रह्म शब्द से दीध और प्लुत भी ललित है एमा मानत है। कुछ लोग के अनुसार अद्ब्रह्म प्रमाण के अर्थ म रुति शब्द है। निरवयव है अद्ब्रह्म शब्द प्रमाणवाची रुटिगद। 'पुत्पत्यथ च ब्रह्मस्यापादानम्। अद्ब्रह्मात्रात्वेनार्नामधीयते।

—कयट महाभाष्य १।२।२२

उपात्त पदार्थ के अपरित्याग द्वारा अर्थ अर्थ का उपलक्षण भी मुख्य और नातरीयक का एक प्रकार है। जव कोई कहता है अभी बहुत चलना है मूय का देखा तो उसका उद्देश्य दिन के अप शेष भाग का लिखना रहता है। एम स्थला म प्रधान अर्थ ही अर्थ अर्थ का उपलक्षण हो जाता है। इसी तरह काज मे दधि की रक्षा करो इस वाक्य का काज शब्द अर्थ जीवा जस कुत्ते आदि का भी उपलक्षण है। गाम्भ म भी विध्यत्यधनुपा इस वाक्य म अधनुपा पद स करणमामाय मात्र का निर्देश माना जाता है। भाजनमस्योपाद्यताम एम वाक्य क कहने पर नातरीयक क रूप म आभनन्तान पात्र प्रभालन, आनि भाजन क अर्थ के रूप म आभिन

ज्ञान ही है।

पुण्यराज व अनुगार मन्त्रपथ अधिवशा और उपात्तपथाय व अपरित्याग द्वारा अथअथ का उपलक्षणयदा मुख्य-नान्तरीयन व विभाग अधिवशित धाच्यनशणा (ध्वनि) और विविता-परवाच्य नशणा (ध्वनि) व सूचक हैं—

—वाक्यपटीय २।२१५

मुख्य और गौण मन्त्री उपयुक्त मना म पुण्यराज न निम्ननिमित्त चार को अधिन महत्व दिया था

१ प्रमिद्ध अप्रमिद्धि सहित प्रवरणानि ।

२ प्रवरणानि सहित प्रमिद्धि अप्रमिद्धि ।

३ अधपारोपनक्षण विपर्याय ।

४ रूपगति ।

भन हरि ज्ञान म ग न अनवधमा है सवगतिमान है। एक हा गा ग न कभी जाति विरोध का अभिधायी होता है तम गौरनुबध्य म और कभी जानिविनिष्ट द्रव्य का अभिधायक होता है जैसे गौ आनायताम म। कुछ लोग इस केवल जातिमात्र का वाचक मानते हैं। कभी गौ ग न परिच्छिन्न द्रव्य विरोध के लिए प्रयुक्त होता है जैसे अस्त्यत्र काचित् गा पश्यमि म। वही रूढ सम्बन्धो म त्रिया गुणा म गो ग न का प्रयोग देखा जाता है जैसे जाडय के कारण अथवा उच्छिष्ट (भोजन के कारण) अथवा सब कुछ सह लेने के कारण अथवा बहुत अधिक भोजन करने के कारण बाहीक को गौ कहा जाता है। इस तरह गो ग न सवगतिमान है। उसका सामर्थ्य दूसरे निमित्तों के कारण नियमित होता है। इसलिए गौणभाव प्रमिद्धि अप्रमिद्धि पर निर्भर करता है। ग न सुनने मात्र से ही जिस अथ म वह अवरुद्ध हा जाता है किसी दूसरे शब्द स वाच्य प्रसिद्ध अथा तर को नहा समेटता, वह मुख्य माना जाता है।

जहा शब्दान्तर से अभिधेय अथान्तर का अवलम्बन कर लोक म अथ गृहीत होता है वहाँ गौण माना जाता है।<sup>३३</sup>

३२ एक एवाय गोशब्दो वाक्ये ववचित्तातिनिशवाभिरायं

तत् यथा गौरुवच'य' इति । ववचित्ता युपसजने

द्रव्यमात्रे वतते । न' यथा गौरानीयताम्' गौ दुध्यनामिति ।

रुचिदत्र तातिमात्राभिधायित्व मयते । तत् यथा वचित्

गोशब्द परिच्छिन्न एव द्रव्यविशेषे वतते । तत् यथा

अस्त्यत्र काचित् गा पश्यन्तीति महति गोमटले आसीन यदा

गोपातक पृच्छसा (ती) ति । ववचित् रुचि सम्बन्धे त्रियागुणेषु

गोशब्द प्रयुज्यमानो दृश्यते । तद् यथा ताट्या औद्विष्ट्यान् (१)

सप्तसहस्रान महारान्बाद् वा गौवाहीक इति ।

तस्य शवशस्ते गोशब्दय निमित्तान्तरावच्छिद्यमान

साप यस्य प्रसि यप्रसिद्धिभ्या गौणत्व विव्रायते ।

वाक्यपटीय २।२४५ हरिवृत्ति, हरनलेख शृंगार प्रकाश पृ० २५८ में भी उपलब्ध ।

किमी आचार्य के मत में गब्द की वृत्ति स्व विषय में मुख्य में होती है। मुख्य में अयत्न नहीं होती। वचन रूपान्तर का अध्यारोप अथातर में किया जाता है। और इसका आधार बुद्धि का विपर्यास है। जस समाह अथवा भ्रम से रज्जु में सप के विपर्यास हो जाने पर सप शब्द स्वविषय में (मुख्य विषय में) प्रयुक्त होता है। इसी तरह में भूतकाल में दखे गए किमी धर्म का सादृश्यता में, अथवा भविष्य में हान वाले भूत सम्पर्क किमी धर्म से बुद्धि में विपर्यास हो जान में बाह्यिक में गात्व लाकर सास्नावाले गो पिण्ड में ही गो शब्द का प्रयोग करता है। यहाँ वचन अथ रूप मात्र विपर्यास है। गब्द का अपन मुख्य विषय में व्यभिचार नहीं है।<sup>३६</sup>

महाभाष्यकार ने भी ताद्रूप्य का समर्थन किया है। जमे तस्य इदं मन्वध होता है वम ही में अयम के रूप में भी सम्बन्ध होता है। यह वह है सम्बन्ध चार प्रकार से होता है—तानस्थ्य से तान्धर्म्य से, तन सामीप्य से और तत साहचर्य में। महाभाष्य में इन चारों का उदाहरण दिया है

तात्स्थ्यात् मचा हसति । गिरि दह्यते ।

तादधर्मात् जटिन पीन ब्रह्मदत्त इत्याह ।

तत्सामीप्यात् गगाया घोष । कूपेगमकुलम् ।

तत साहर्चायत् कुतान प्रवेशय । यष्टी प्रवेगय ।<sup>३७</sup>

महाभाष्यकार की यह उक्ति लक्षणा शक्ति का बीज है। यही से लक्षण का विकास हुआ है। भत मित्र ने महाभाष्यकार की इस उक्ति के आधार पर पाँच प्रकार की लक्षणा का उल्लेख किया था

अभिधेयेन सामीप्यात् सारूप्यात् समवायत् ।

वपरीत्यात् क्रिया योगात् लक्षणा पचधा मता ।

—ध्वयानोक्त लोचन में उद्धृत प०, २८

उपचार के रूप में भी लक्षणा के संकेत महाभाष्य में मिल जाते हैं

ध्रुवत्व लोके ईप्सित पूजेत्युपचयते<sup>३८</sup>

लोके हि सख्या पवत मानामुपचरति<sup>३९</sup>

- २४ पण्यभाष्याणां मुख्यात् स्वविषयादन्यत्र शास्त्रस्य वृत्तिः नास्ति ।  
रूपान्तरा यारोपणं अथान्तरे क्रियते । यथैवैकं समोहान् रज्जुर्व्ये  
प्रान्तविषयासं सपशब्दं स्व विषये प्रयुज्यते । विषयातरे तु विषयातर—  
रूपमध्यारोपयति । तथा करयचिदेव सत्य धर्मस्य भूतस्य दर्शनात् भाविनी  
वा भूतपदामगात् गोत्वमासाद्य (आसज्य) बाह्यिके प्र त रूपविषयामा  
बुद्धौ गोशब्दं सान्नादिमत्येव पिण्डे प्रयुज्यते । तत्राथ रूपमात्रविषयाम् ।  
शब्दार्थं तु विषये व्यभिचारो व दृश्यते बावयपदाय २०५६  
हरिवृत्तिः हस्तलेख । २४ गार प्रकाश ६००५६ में भी उपलब्ध है ।

२५ महाभाष्य ४।१।४८

२६ महाभाष्य ४।१।६३

२७ महाभाष्य ४।१।६३

इस पर गङ्गा का निष्पत्ती है

उपचारतीत्यनेन लक्षणादीनसम्बन्ध प्रदर्शनम् ।<sup>३८</sup>

लक्षणा गङ्गा का मूल भी महाभाष्य में मिला जाता है और वह है महाभाष्य  
कार का 'लक्ष्यत', शब्द का प्रयोग — अथास्य सत्यपि लोके लक्ष्यत महामाष्य २।१।६६

मुख्य और गौण के आधार पर मुख्य वृत्ति और गौणी वृत्ति का गङ्गा वृत्ति  
के रूप में विचार प्रारम्भ हुआ। मुख्य के आधार पर मुख्य और जघन के आधार पर  
जघन्या वृत्ति की कल्पना बहुत पहले की जा चुकी थी। जघन्या गङ्गा का प्रचलन कम  
पड़ता गया और उपचार गङ्गा का ही प्रचार दान के क्षेत्र में अधिष्ठित रहा। धीरे धीरे  
गुण गङ्गा उपचार का स्थापित होता गया। प्रारम्भ में गुण-कल्पना और उपचार-कल्पना  
समानाधिकार थे। वाग्विदा वृत्ति में गुण-कल्पना का प्रयोग उपचार-कल्पना के रूप में  
हुआ है

द्विगु निमित्तको तर्हि गुणकल्पनया

—वाग्विदा वृत्ति ४।१।८८

यासकार ने यहाँ गुण कल्पना का उपचार कल्पना माना है

गुणनिमित्ता कल्पना गुणनिमित्तकल्पना । सा पुनरुपचारात्मिकव वेदितव्या

—यास ४।१।८८

किंतु बाद में गुण-कल्पना और उपचार कल्पना में थोड़ा भेद माना जान लगा। गुण  
कल्पना का संबंध विशेष्य से और उपचार कल्पना का संबंध विशेषण से होता है।  
गुणवृत्ति का अतभाव उपचारवृत्ति में नहीं होता किंतु उपचारवृत्ति का अतभाव गुण  
वृत्ति में हो जाता है।<sup>३९</sup> इसी तरह लक्षणा और उपचार गङ्गा के भी प्रयोग प्रारम्भ में  
समानाधिकार रूप में देखे जाते हैं।

जयादित्य और वामन ने लक्षणा और उपचार के समानाधिकार प्रयोग किए हैं  
यदा तु लक्षणया वत ते तदा पुन्येण समानाधिकरणम् भवति

वाग्विदा ४।२।२२

यासकार के अनुसार यहाँ लक्षणा का अर्थ उपचार है—लक्षणा उपचार —  
याम ५।२।२२ । यासकार ने अत्र भी लक्षणा का उपचार के रूप में लिया है।

लक्ष्यतेऽन्येति लक्षणा । सा पुनरिहोपचार एव ।

—याम ६।१।८८ पृ० ८८८

कुमारिल भट्ट ने लक्षणावृत्ति और गौणीवृत्ति में भेद माना है। अभिधेय से  
सम्बन्ध में प्रवृत्ति को लक्षणा कहा जाता है अभिधेय से लक्ष्य गुण के योग से गौणी  
वृत्ति होती है।

३८ महामाष्य प्रतीरोचन ४।१।६३

३९ तर्हि विशेष्यपु गुणकल्पना विशरणधूपचारक-नेति प्रदर्शन  
पुरस्तात् । न च गुणवृत्तिपरवृत्तावर्तमानेति अपिपुपचारवृत्ति  
गुणवृत्तौ गङ्गा प्रकाश, पृ० ३५८ मैथिल मन्तरण ।

अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिलक्षणेऽप्येते ।

लक्ष्यमाणगुणयोर्भावो यत्तेरिष्टा तु गौणता ॥<sup>४०</sup>

अभिधेयसम्बन्धित्वरूपापरित्यागप्रदर्शनायोऽविनाभूतगद्व

—यायसुधा, पृ० ४६५

अभिनवगुण न भी लक्षणा और गौणीवृत्ति म भेदमूचक वक्तव्य उद्धृत

किया है

यदाह गौणे शब्दप्रयोग, न लक्षणाया मिति ।<sup>४१</sup> कथं न भी गौणीवृत्ति का आशय लिया है (गौणीवृत्तिरुत्तरादस्याशययणीया—प्रदीप ४।४।६२) किंतु अधिकतर इनका एक मानवर विशेष विचार हुआ है। यायसूत्रकार ने लक्षणा को भी उपचार रूप म लिया है ।<sup>४२</sup>

व्याकरणदशन म अखण्ड वाक्याथ की महत्ता होने के कारण लक्षणा की स्वतंत्र सत्ता नहीं स्वीकार की गई है किंतु कल्पित पद पदाथ विचार के अवसर पर उसके स्वरूप के मक्त अवयव मिलत हैं जसा कि ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है। नागेन ने लक्षणा पर विस्तृत रूप म विचार किया है। किंतु वह साहित्यशास्त्र की छाया से सस्पष्ट है। भत हरि न मुख्यावृत्ति और गौणीवृत्ति का स्पष्ट उल्लेख किया है ।<sup>४३</sup>

भतृ हरि न नानात्व वाद के प्रसंग म प्रतीयमान शब्द और प्रतीयमान अथ का सकेत किया है। प्रतीयमान अथ ही आनन्दबधन का 'ध्वनि सिद्धान्त' है जिसके सहारे व्यजनावृत्ति पल्लवित हुई है। कुछ आचार्यों का मत था कि श्रूयमाण शब्द ही सदा प्रत्यायक नहीं होता अनुमीयमान शब्द भी प्रत्यायक होता है।

केचित्तु मयते नावश्य श्रूयमाण एव शब्द प्रत्यायक । किं तर्हि । नियमेना अनुमीयमानोऽपि श्रूयमाणवदेव प्रत्ययमुत्पादयति ।<sup>४४</sup>

अनुमीयमान शब्द का भाई प्रतीयमान शब्द है। किसी न विप्रतिपत्ति उठाई थी कि प्रतीयमान शब्द अथ का अभिधायक नहीं हो सकता ।<sup>४५</sup> इससे स्पष्ट है कि ध्वनिसिद्धान्त का बीज व्याकरणदशन म मिल जाता है। केवल प्रतीयमान अथ का ही नहीं आनन्दबधन के अविवक्षित वाच्य आदि वादा का भी मूल भतृ हरि के वचन है। भतृ हरि न प्रश्न उठाया है कि शब्द के प्रयोग होत हुए भी अथ अविवक्षित कैसे रह सकता है ? स्वयं उसका उत्तर घटप्रदीप याय के आधार पर दिया है। दीपक का उपयोग घट आदि द्रव्य वस्तु के लिए किया जाना है। दीपक घट के साथ साथ

४० तत्त्वार्थक, पृ० ३१८ काव्यप्रकाश से 'अभिधेयाविनाभूतप्रवृत्ति' पाठ मिलता है जो अशुद्ध है।

४१ ध्वनिलोकलोचन, पृ० १४३, चौखम्बा संस्करण

४२ यायसूत्र २।२।६३

४३ वात्परिच्छेपेऽग्य मुरयावृत्ति । पुरुषादिषु तु गौणी ।

—महाभाष्यनिपादा पृ० १३८ पूना संस्करण ।

४४ वक्ष्यपदीय २।३६५ हरिवृत्ति हरतलेख

४५ कथं प्रतीयमान स्याच्छब्दोऽर्थस्याभिधायक ।

—वक्ष्यपदीय २।३६३



गन्निहित तूण कोट आदि भी ध्यान कर देता है। प्रकाशन शक्ति केवल ईप्सित का ही अभिव्यक्ति नहीं है। किंतु सभी अभिव्यक्ति इष्ट नहीं भी हो सकती हैं। अविश्वित प्रथ का यही आधार है

तत्रेव विधायते । कथमभिधीयमानोऽयं गन्धवान् अविश्वित इति ।  
तस्मादिव प्रथम्यते । प्रदीपो हि प्रकाशनगत्या युक्त तमसि यस्य प्रकाशमि  
तस्यस्य घटादेरपलितसितस्य अथस्य दानायमुपादोयते । ततो सौ  
अर्थात्तरस्यापि सयोगिन समानदेगस्य तणपासुकीटसरीसपादे घटादिवदेव  
प्रकाशन करोति । न ह्यत्र प्रकाशनगतिरिष्टविषयमेव परिगृह्णाति ।<sup>४६</sup>

यह उल्लेखनीय है कि आनन्दवधन न भी वायु और प्रतीकमान के प्रसंग में दीपशिखा का उदाहरण दिया है ।<sup>४७</sup>

४६ वाक्यपदाय २।३०० हरिवृत्ति हस्तलेख

४७ आलोकार्थी यथा दीपशिखाया मनवान् जन ।

## पदार्थ-विचार

अपन देश क विचारको विनोपकर वयाकरणा की यह मायता रही है कि पदार्थ सत्ता के निर्देशक ह (न पदार्थ सत्ता व्यभिचरति—महाभाष्य ५।२।६४)। शब्द-प्रयोग सत्तापक्ष ही होता है। भूत हरि भी इस बात का मानत हैं कि सभी गदों की प्रवृत्ति में मूल कारण सत्ता है।<sup>१</sup> अतः शब्द के आधार पर भी अभिधेय का विवेचन किया जा सकता है। अभिधेय के रूप में सम्पूर्ण विश्व ही है। इसके विवेचन के लिये पदार्थों का वर्गीकरण किया जाता है। वयाकरणों में शब्द की प्रवृत्ति के आधार पर चार पदार्थों का उल्लेख किया है। जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य। और इसी के अनुसार शब्द प्रवृत्ति भी चार तरह की मान ली गई है जाति शब्द, गुण शब्द क्रिया शब्द और द्रव्य शब्द (यदच्छा शब्द)। ये चार भेद प्रायः स्वीकृत हैं। वस्तुतः शब्द प्रवृत्ति के वर्गीकरण के विषय में विवाद है और वह प्राचीनकाल से ही है। जिनब्रह्म के अनुसार, निरुक्तकार और शाकटायन त्रयीशब्द प्रवृत्ति को मानने वाले हैं। उनके मत में जाति शब्द, गुण शब्द और क्रिया शब्द हैं। यदच्छा शब्द नहीं है। कुछ लोग केवल क्रिया शब्द मानते हैं। जाति शब्द और गुण शब्द भी क्रिया शब्द से ही विनिर्मित हुए हैं। अतः शब्दों की प्रवृत्ति एक ही है और वह है क्रिया शब्द।

तदेव निरुक्तकारशाकटायनदशनेन त्रयीशब्दानां प्रवृत्तिः। जातिशब्दा गुणशब्दा क्रियाशब्दान्च। न सति यदच्छाशब्दा इति। अथवा जातिगुणशब्दानामपि क्रियाशब्दत्वमेव। धातुत्वात्। ततश्चक्रवशब्दानां प्रवृत्तिः क्रियाशब्दा इति। —याम ३।३।१, पृष्ठ ६७४

कुछ आचार्य केवल जाति शब्द ही मानते हैं। उनके मत में तथा कथित गुण शब्द क्रिया शब्द और यदच्छा शब्द भी जाति शब्द ही हैं। क्योंकि पय शब्द, बनाया शब्द में परमायत भिन्न रूप में स्थित शुक्ल गुण का शुक्ल रूप में जान शुक्लत्व के आधार पर होता है। गुड तण्डुल आदि की पाक क्रिया में भी पाकत्व सामान्य है। यदच्छा शब्द इत्य आदि में भी नित्यत्व है। शब्दों की दृष्टि से बाल वृद्ध, शुक्ल

१ प्रवृत्तिस्तु सर्वेषां शब्दानामवधारिकात्।

सर्वा सत्ता पदार्थो हि न कश्चिदनिवर्तते ॥

आदि क द्वारा विभिन्न रूप में उच्चरित शब्दों में अनुगताकार प्रत्यय इत्येव क गतारे ही सम्भव है। अथ की दृष्टि से भी उगम शिवाय बाल वृद्ध आदि अवस्था भेद से भेद हात हुए भी यह वही शिवाय है इस प्रकार के ज्ञान हानि के कारण गवय सम्भव है। अतएव सभी प्रकार के शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त जाति की ही मानना चाहिये। इस दृष्टि से महाभाष्य का अनुपपत्त्यो शब्दप्रवृत्ति वाला मन ठीक नहीं बैठता। अतः महाभाष्यकार के समय के वेदों जाति शब्दवादियों का उत्तर स्वरूप कहते हैं कि गुण शब्द विधानों आदि का ग्रहण जानिगाने के रूप में नहीं किया जा सकता। क्योंकि पद, शब्द, बलात् आदि का गुण गुण परमायत भिन्न भिन्न नहीं है। उनमें भिन्नता आश्रयभेद से जान पड़ती है जस एक ही गुण का प्रतिजिम्ब सङ्ग मुकुर आदि आश्रय भेद से भिन्न भिन्न जान पड़ता है। वस्तुतः गुण गुण एक ही है। गुण व्यक्ति के एक ही होने के कारण अनेक में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली जाति का लक्षण गुण शब्दों में घट ही नहीं सकता। इसी तरह क्रिया भी आश्रयभेद से भिन्न भिन्न जान पड़ती है। वस्तुतः वह भी एक ही है। इसलिये वेदों जाति शब्दों न मान कर भाष्योक्त मत स्वीकार करना चाहिए।

गुणविधायकशब्दानामपि जातिशब्दत्वाच्चतुष्टयो शब्दप्रवृत्तिनात्पद्यत।  
अत्रामिधोपस्ते-गुणविधाशब्दसन्निव्यक्तोनामेव तत्तदुपाधिनिबन्धनभेदजुषामेका  
कारतावगतिनिबन्धनत्व न तु जातेरिति भगवतो महाभाष्यकारस्यात्रामिममतः।

—मुकुलभट्ट अभिधावृत्तिमातका, पृष्ठ ५

पाणिनि चारा भेद मानते जान पड़ते हैं। जानि गुण और क्रियापरक तो उनका अनेक सूत्र है। यदच्छा शब्दों की मायता का आधार कैयट के मत में उनका अथ वदधातुरप्रत्यय प्रातिपदिकम् (१।२।४५) सूत्र है। पतालि ने इस सूत्र का प्रत्याख्यान किया है। परन्तु इस सूत्र की रचना से जान पड़ता है पाणिनि अयुत्पन्न यदच्छा शब्दों की सत्ता स्वीकार करते हैं—

अथवत सूत्रारम्भाच्च अयुत्प न्ना यदच्छा शब्दा सतीत्यवगम्यते।

—कयट प्रदीप महाभाष्य प्रत्याहारसूत्र अलक

यदच्छा शब्दों का ग्रहण शब्दावृत्ति के आधार पर होता है। शब्द की आवृत्ति का अर्थ में वह यह है (मोज्यम) के रूप में आरोप करते हैं। शब्दावृत्ति का ग्रहण कस होता है इस पर दो तरह के मत हैं। पहले मत के अनुसार एक शब्द में कई वण हात हैं। कम से उनका उच्चारण करता करता है। अन्त्यवण के उच्चारण के बाद एक विगिप्त सम्स्कार या ज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञान को अन्त्यवणावतम्बन जान कहते हैं। या तो पूर्व के वणों से भी कुछ न-कुछ सम्स्कार जाना ही है परन्तु वह सम्स्कार धुंधला होता है या अस्पष्ट होता है। अन्तिमवणजयज्ञान पूर्ववणजयज्ञान की सहायता से जाति का ग्रहण होता है। दूसरा मत अन्त्यवण जान को मुख्यता नहीं देता। उनमें अनुसार सभी वणजानों से जिसमें अन्त्यवण जान भी गृहीत है बुद्धि विगिप्त सम्स्कार वाली हो जाती है। अन्त्यवण के जान के बाद एक विगिप्त प्रकार का जान पदा होता है जो जाति का ग्रहण होता है (अत्रानेक दानम। केचित मायते अत्यवर्णाव

सम्बन्ध यजज्ञान तत् पूर्ववर्णज्ञानाहितसंस्कारसहाय जातेर्ग्राहकम् । अपरे मयते  
अत्यवर्णज्ञानसहित सर्वैरेवपूर्ववर्णज्ञान संस्कारारम्भ । अत्यवर्णज्ञानान्तरतुजाति  
ग्राहक ज्ञानमुत्पद्यते—वपभ वाक्यपदीय टीका १।२३, पृष्ठ ३३) य ग्राह्यता की मत्ता  
म प्रमाण यह है कि गुण ग्राह्यता, मनुष्य आदि द्वारा उच्चरित वपभ आदि विनोद ग्राह्य  
यह वही वपभ आदि ग्राह्य हैं इस ज्ञान को जगता है । इसी अनुगताकार प्रतीति या अभेद  
ज्ञान के आधार पर ग्राह्यता की मत्ता का अनुमान किया जाता है । (तस्यास्तु ग्राह्य  
कृतेरितित्व गुणग्राह्यतामनुष्यादिप्रवृत्तु यक्षादिग्राह्यव्यवितविनोदेषु स एवायमिति  
प्रत्ययाभेदादनुमीयते—वाक्यपदीय हरिवर्ति १।१५ पृष्ठ ३३) । जो जगता ग्राह्यता  
अथवा ग्राह्य के सहितमस्वरूप की मत्ता को मानते उनका मन म भी वक्तव्यदृष्टामति  
वर्णित सत्त्वनिव समुदाय रूप इति आदि ग्राह्य सत्ता के अभिधान म समय होत ही हैं  
(ययामपि च उकारादिवर्णव्यतिरिक्तसहितमस्वरूपामावान न इत्यादिग्राह्यस्वरूप  
सहितम सत्त्वनिवस्यत इति दग्धन तेषामपि वक्तव्यदृष्टामिव्यव्यमानग्राह्यभेदा  
नुसारेण काल्पनिकसमुदायरूपस्य इत्यादि शब्दस्य तत् तत् सत्ताभिधानाय प्रवर्तमा  
नत्वाद मदृच्छाशब्दत्व इत्यादीनामुपपद्यत एव—अभिधावनिमातका, पृष्ठ ४) ।

महाभाष्यकार ने त्रयी ग्राह्यप्रवर्तनवाल पक्ष का भी उल्लेख किया है और  
यदृष्टा ग्राह्यता की सत्ता नहीं भी स्वीकार की जा सकती है इसका उल्लेख भी किया  
है । कयट ने भाष्यकार का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रसम्भरूपा क्रिया  
और गुण के अन्वयारोप से त्रयीपक्ष मानने पर भी काम चल सकता है ।

## सम्बन्ध पदार्थ

कुछ लोग सम्बन्ध को भी पदाथ के रूप में मानते हैं । कुछ बौद्ध आचार्य द्रव्य  
ज्ञान के स्थान पर सम्बन्ध को मानते हैं

यापि जाति गुण क्रिया सम्बन्धभेदेन चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्ति साध्यनेनैव  
वस्तुधर्मभेदेन सगृहीता —वर्णकगामिन प्रमाणवार्तिक टीका पृष्ठ १४१) ।  
कयट ने स्वाथ के रूप में सम्बन्ध को स्वीकार किया है ।

स्वोऽथ स्वाथ । स चानेकप्रकारो जातिगुणक्रियासम्बन्धस्वरूपलक्षण

—कयट महाभाष्यप्रदीप ५।३।७४

## सादृश्य पदाथ

मीमांसका म प्रभाकर के अनुयायी सादृश्य को एक अनिरिक्त पदाथ के रूप में  
मानते हैं । व्याकरणो म नागश ने सादृश्य पदाथ की सत्ता व्याकरण की दृष्टि से भी  
मानी है । गम्भीरश्यामा दवदत्ता के भाष्य पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है

“सादृश्यमतिरिक्त पदाथ इति मतेनेदम् ।”

—महाभाष्य प्रदीपोद्योत, २।१।५५

मजूपा म भी नागेन ७ लिगा है

"सादृश्यं तु साधारणधर्मसम्बन्धप्रयोग्यं सादृशादिपदार्थवत्तत्त्वेन तत्त्वेन तत्त्वारणता-  
सिद्धम्, सादृश्याने साकारोद्बोधकत्वस्य सावसमत्तत्त्वेन तत्त्वेन तत्त्वारणता-  
वच्छेदकतया च सिद्धमपण्डमतिरिक्त पदार्थः ।"—मजूपा पृष्ठ ६३४ ६३५

नागेन वं मत म सादृश्यको अनिरिक्तपन्था मानत म गौनम यणागानि गुहीन  
पन्थों की सत्ता के साथ विरोध नहीं होगा क्योंकि गौनमोक्त प्रथम पन्था म उगता  
अन्तर्भाव हो जायगा ।

वाक्यप्रयोग म उपमा पर विचार करत हुए भी नागेन न सादृश्य पन्था की  
आवश्यकता स्वीकार की है

सादृश्यप्रयोजकसाधारणधर्मसम्बन्धो ह्युपमा, सादृश्य चातिरिक्त पदार्थ इति ।

इसी तरह पत्तिराज जगन्नाथ की—

अनृणालकारिकाणामपि सादृश्य पदार्थांतर न तु साधारणधर्म रूपमिति  
विज्ञायते

—रसगंगाधर, पृ० ४२३

इस उक्ति पर टीका करत हुए नागेन न कहा है कि आलंकारिका के साथ साथ वया  
करणा के मत म भी सादृश्य अतिरिक्त पदार्थ है

अपिना वयाकरणादिसमुच्चय । निरूपित चतत कुवलयानन्दव्याख्यायामञ्जु  
पायाऽच ।

—रसगंगाधर की ममप्रकाशिनी टीका पृ० ४२३

"नञिव्युक्तमयसदृशाधिकरण तथा ह्यथगति —इस परिभाषा की व्याख्या म  
नागेश वं गिष्य वचनाय न भी सादृश्य पदार्थ का सत्ता स्वीकार की है ।

## अभाव आदि पदार्थों का गुण में अन्तर्भाव

वैयाकरण अभाव का अतिरिक्त पदार्थ नहीं मानत । म उस गुण व अतगत  
मानते हैं । द्रव्य, जाति और क्रिया के अतिरिक्त अय सभी पदार्थ गुण के भीतर मान  
लिये गये हैं ।

एवमप्यभावस्य कथं गुणवहिर्भावः ? जातिक्रियाद्वयान्तिरिक्तस्य चतुष्टयो  
शब्दानां प्रवृत्तिरिति वदद्भिः वयाकरण तदनुसारमिदं च आलंकारिकगुणत्वा  
मीकारात्

—वचनाय कुवलयानन्द की चन्द्रिका टीका पृ० ४८

तत्त्ववाधिनीकार न भी द्रव्य, जाति और क्रियापदार्थ से अतिरिक्त पदार्थों को  
गुण माना है ।

सज्ञा जाति क्रिया गन्तान् हित्वाये गुणवाचिन । चतुष्टयो शब्दानां प्रवृत्ति  
रित्याकरप्रयत्निकर्पादिव निगम इति ।

—मिहान्त कीमुदी तत्त्वबोधिनी वक्तस्वर प्रस वम्बड, १६३६ पृ० १४८

चतुष्टयो शब्द प्रवृत्ति के आधार पर चार पदार्थ ही प्रमुख रूप म मान्य रह  
हैं । कालिदास न इसे या व्यक्त किया है

पुराणस्य कवेस्तस्य चतुर्मुखसमोरिता ।

प्रवृत्तिरासीच्छब्दानां चरितार्थां चतुष्टयी<sup>२</sup> ।

—कुमारसम्भव २।१७

## भर्तृहरि के अनुसार अष्ट पदाथ

भर्तृहरि के स्वतन्त्र दशन में पत्न्या एक ही है और वह है शक्ति । शक्ति का ही रूपांतर माधन, क्रिया दिक् काल आदि है

शक्तिरूपे पदाथनामत्यन्तमनवस्थिता ।

दिक् साधन क्रिया काल इतिवस्त्वभिधायिन ॥

—वाक्यपदीय ३, दिक् समुद्देश १

परन्तु व्याकरण का लौकिक दशन में सम्बन्ध हान के कारण उसके विवेचन के लिये भर्तृहरि ने अपनी स्वतन्त्र विचार परम्परा के अनुकूल अष्ट पदाथों की कल्पना की है और इन अष्ट पदाथों में व्याकरण का सम्बन्ध आ जाता है । वाक्यपदीय में अष्ट पदाथों का विवेचन है । अष्ट पदाथ इसके गरीर है

इह पदार्थाष्टकविचारपरत्वात् वाक्यपदीयस्य

—हेलाराज वाक्यपदीय ३।१

य अष्ट पदाथ निम्नलिखित है—

- (१) अपोद्धात पदाथ
- (२) स्थित लक्षण पदाथ
- (३) अवाच्य पदाथ
- (४) प्रतिपादक पदाथ
- (५) कायकारण भाव
- (६) योग्यभाव                      सर्वत्र पदाथ
- (७) धर्म
- (८) साधु असाधु ज्ञान (अथप्रतिपादन)              प्रयाजन पदाथ

इन पदाथों का उल्लेख भर्तृहरि ने स्वयं किया है ।<sup>३</sup>

वयम् ने भी इन अष्ट पदाथों का शास्त्र का गरीर माना है

तदेव शब्दाथसम्बन्धफलानां प्रत्येक द्विविध्याद् अष्टौ पदार्था भवन्ति ।<sup>४</sup>

२ भाष्यव्याख्याप्रणयकार ने ब्रह्मा के चार मुख के आधार पर चतुष्टयी शब्द प्रवृत्ति को मायना कहा है क्योंकि सम्बन्ध आदि भी शब्द प्रवृत्ति के भीतर आ जाते हैं । उसके मत से जिन मानुष का 'समय' (सवहार) ही शब्दप्रवृत्ति है—

तथा चोक्त ब्रह्मणश्चतुर्मुखो चतुष्टया शब्द प्रवृत्ति चरितार्थेति न नियमः । अन्ये हि सम्बन्धसम्बन्ध शब्दानां तत्त्वद्विकिरपि । अतः समये दिव्यमानुषैः शब्दप्रवृत्तिरिति ।

—पुराणोक्त परिभाषा वृत्ति ऐपेण्डिकम ३, पृ० १२७

३ वाक्यपदीय १।२४ २६

४ वाक्यपदीय १।२४, वयम् टीका पृष्ठ ३६

## अपोद्धारपदाथ

अपोद्धार विभाग को कहते हैं (अपोद्धारो विभागः) ५ । एक म अविभक्त रूप म ग्रथित वस्तु के अवयव को लेकर विचार करने की अथवा एक अखण्ड वाक्य क अलग अलग शब्दों पर विचार करने की पद्धति अपोद्धार नाम से प्रसिद्ध थी । परन्तु अपोद्धारपदाथ के ठीक ठीक अभिप्राय के विषय में टीकानारायण म भी मतभेद है । प्रसिद्ध टीकानारायण वचन को भी कुछ संशय था क्योंकि उसने उसके अथ कई प्रकार से किये हैं

अपोद्धयते इत्यपोद्धारा पदार्थाश्चिन्ति । अपोद्धताना वा पदार्थानामर्थः ।

अपोद्धारेण परिकल्पिता वा अर्था इति शाकपाथिवादि । अपोद्धारसम्बन्धिनो वेति पठोत्तमासः । ६

वचन के अनुसार यहाँ पदाथ शब्द म पद पारिभाषिक नहीं है । अपितु जिसस अथ जाना जाए उसक अर्थ म है । पद्यते नेनाथ इति पद न पारिभाषिकम् । तस्याय पदार्थाः । ७

भट्ट हरि के मत म अपोद्धार पदाथ उस अनुमानित अथवा कल्पित प्रक्रिया का नाम है जिसस किसी अत्यन्त ससप्त वस्तु के उसके सम्बन्धों के आधार पर विभाग किये जाते हैं । अत्यन्त अविभक्त वस्तु व्यवहारातीत होती है । परन्तु अपनी परम्परा अथवा अपने आगम के आधार पर लागू उत्प्रेक्षा स काम लेते हैं और भावना अभ्यास से व्यवहारातीत के भी व्यावहारिक रूप काल्पनिक ही मही दे दते हैं । "सी तरह शब्दों म जो अपने यथाथरूप म अविभक्त है काम चलाने क लिये कल्पना द्वारा विभक्त मान लिया जाता है । अवयव्यतिरेक के आधार पर समुदाय क भीतर से अलग अलग उसके रूपों की कल्पना की जाती है । ८

तत्रापोद्धारपदार्थो नामात्म्य तत्सप्त सप्तर्गादिनुमेयन परिकल्पितेन रूपेण प्रकृत प्रविवेक सन्नपोद्धयते । प्रविविक्तस्य हि तस्य वस्तुनो व्यवहारातीत रूपम् । तत् स्वप्रत्ययानुकारेण यथागम भावनाभ्यासवशादुत्प्रेक्षया प्रायेण व्यवस्थाप्यते । तथैव चाप्रविभागे शब्दात्मनि कार्यायमवयव्यतिरेकाभ्यां रूपसमनुगमकल्पनया समुदायादपोद्धतानां शब्दानामभिधेयत्वेनाश्रीयते । ९

हजारान्न न अपोद्धार पदाथ क विषय म वाक्यवाची और पञ्चाना दाना क मना का विवचन किया है । वाक्यशान्तियों क मन म वाक्य अग्रगण्य है । उसकी व्युत्पत्ति

५ वाक्यशान्त्यः, ११०४ वृत्तम टाका, पृष्ठ ३५

६ वही, पृष्ठ ३५

७ वही, पृष्ठ ३६

८ वृत्तम ने प्रविविक्त क ग्यान पर प्रविष्टान् पाठ रखा है । उसका अनुमान यहाँ ताराई का है कि प्रविभक्त पदाथों म प्रकृति ने कृत्रिम व्यवहार ममत्व नहीं है (उक्तमते पदाथे न प्रकृतिनिष्ठाः सञ्चला व्यङ्ग्याः) । परन्तु डॉ॰ अथ भट्ट हरि क मूल अभिप्राय म संत नहीं माना ।

९ वाक्यशान्त्यः हरिकृति ११०४ पृष्ठ ३६

के उपाय के रूप में उपोद्धार का आश्रय लिया जाता है और अपोद्धार अग्रण्ड वाक्य सन्तान की कल्पना-व्युत्पत्ति में अनग वर उसे पन्थाम देने का नाम है। इस मत में पन्थव्युत्पत्ति काल्पनिक है।

पदवाक्यों के मत में पद अग्रण्ड है। कल्पना द्वारा पद में प्रवृत्ति, प्रत्यय, आगम, आत्मा आदि की व्यवस्था की जाती है। पदवाक्यों के मत में वाक्य का अग्रण्ड मान कर पन्थव्युत्पत्ति करना इमनिय उपयुक्त नहीं है कि वाक्य अनन्त है और इमलिये उह आधार मान कर पद व्युत्पत्ति करना महज नहीं है। परन्तु सन्तान पद के द्वारा पन्थव्युत्पत्ति समझना अप्रत्याहत महज है।

परन्तु पदवादी और वाक्यवादी दोनों ही अपोद्धार को अग्रण्ड मानते हैं। यही इनमें समानता है। दोनों पन्थ में अपोद्धार के लिये अग्रण्ड-प्रतिरेक का आश्रय भी समान है। अपोद्धार के लिये अग्रण्ड-प्रतिरेक का उन्नेय वाक्यकार न भी सिद्ध 'त्वग्रण्ड-प्रतिरेकाम्याम' के रूप में किया है।

अपोद्धार का पन्थाय और वाक्याय की दृष्टि में विवेचन स्वयं भत हरि न भी किया है। उनके मत में कवन एक शब्द कहने में उसका अर्थ ही सत्ता या अमत्ता का परिणाम ठीक से नहीं होता। केवल वक्ष शब्द कहने में वक्ष है कि नहीं है या सदेह बना रह सकता है। ऐसे स्थला में हम अस्ति (है) या नास्ति (नहीं है) जैसे क्रिया पन्था का आक्षेप करते हैं और तब वही अर्थ स्पष्ट होता है (वर्षा के अनुसार वस्तुतः क्रियापद का आक्षेप नहीं होता अपितु क्रिया लक्षणरूप अर्थ का ही स्वाय के रूप में आक्षेप होता है। केवल 'स' पद में अभिधेय होने के कारण उस पद से क्रियापद का आक्षेप कहा जाता है अथवा आक्षेप फल होने के कारण वसा कहा जाता है)। वाक्य से ही ऐसे स्थलों में भी बोध होता है इसलिए वाक्याथरूप अपोद्धार उपयुक्त है। परन्तु प्राचीन आचार्यों ने पूर्वपन्थाय उत्तरपन्थाय प्रातिपदिकाय, धात्वर्थ प्रत्ययाय जस सन्तान का व्यवहार किया है और एक ही सन्तान की व्युत्पत्ति के लिये विभिन्न तरह की कल्पनाएँ की हैं इससे पन्थाय के रूप में भी अपोद्धार लक्षित होता है।<sup>११</sup>

अपोद्धारपन्थाय सन्तान अपोद्धार और अर्थ अपोद्धार दोनों रूप में गीत है। हलाराज के अनुसार अर्थ अपोद्धार ही अधिक उपयुक्त है क्योंकि वाक्य से उद्धृत पद का वाक्यार्थांतर के रूप में कल्पना की जाती है। अर्थ अपोद्धार ही पन्थ अपोद्धार का निमित्त है। यदि अर्थ अपोद्धार को पद अपोद्धार का निमित्त न माना जाय वण अपोद्धार भी होने लगेगा और उसकी व्युत्पत्ति की चिन्ता करनी पड़ेगी

अर्थोद्धार एव हि पदोद्धारस्य निमित्तम् । अनिमित्ते हि तस्मिन् वर्णा  
पोद्धारस्यापि प्रसमात्तेषामपि व्युत्पाद्यता स्यात्<sup>१२</sup>

१० हलाराज, त्रयपन्थीय ३, नासिसुदेश १

११ त्रयपन्थीय हरिवर्षा ११०४ १८ ३७

१२ हलाराज, वाक्यपन्थाय ३ नासिसुदेश १



## स्थितलक्षण पदार्थ

स्थित लक्षण पदार्थ उगका कहत है जिनका लक्षण (स्वरूप) स्थित रहता है जो अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता। यूपम के अनुसार मनभेद में स्थितलक्षण पदार्थ भी होता है और वाक्यार्थ भी। प्रकृति और प्रत्यय के अर्थ पदार्थ में तिराहित हो जाते हैं पर पदार्थ तिरान्ति नहीं होता। इसलिये पदार्थ स्थित लक्षण है। इसी तरह वाक्य वाक्या की दृष्टि में पदार्थ वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति में उपाय मात्र है, वाक्यार्थ के जान हो जाने पर वे विभिन्न रूप में पुनः-पुनः नहीं जान पड़ते उनका वाक्यार्थ में तिरा भाव हो जाता है जब कि वाक्यार्थ ज्या-का-ह्या रहता है। इस दृष्टि से वाक्यार्थ स्थित लक्षण है। हेलाराज ने वाक्यार्थ का स्थित लक्षण के रूप में ग्रहण किया है उस निरूपण माना है साथ ही उस त्रियास्वभाव से संपूर्ण कारकगरीरवाला भा माना है।

वाक्यार्थश्च स्थितलक्षण निरूपण कारकोत्कलित गरीरत्रिया स्वभावतः ।<sup>१३</sup>

भक्त हरि ने व्याकरणदर्शन में स्थित लक्षण को पदार्थ और वाक्यार्थ दोनों रूप में मानने का आधार सप्रहकार और महाभाष्यकार को माना है। सप्रहकार ने कहा है कि पदनाम की कोई निश्चित वस्तु नहीं है। पद का रूप और उसका अर्थ वाक्यार्थ से उत्पन्न होते हैं।

न हि किञ्चित्पद नामरूपेण नियतं क्वचित् ।

पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादिव जायते ॥<sup>१४</sup>

महाभाष्यकार ने भी न वा पदस्यार्थे प्रयोगात् (१।२।६४) और यदत्राधिक्यं वाक्यार्थस्य (महाभाष्य २।३।४९) कहा है जिससे पदार्थ और वाक्यार्थ दोनों के स्थितलक्षण होने की पुष्टि होती है।

परन्तु भक्त हरि का भुक्ताव स्थितलक्षण को वाक्यार्थ रूप में लने की ओर है। स्थितलक्षण का विवरण देते हुए भक्त हरि ने कहा है कि वह वाक्य रूप का उपग्रह अथवा उपग्राहक (वाचक) है। उसके उद्देश्य विभाग (वक्तृ आदि) कल्पित होते हैं। वह विनिष्ट (नियताश्रय) है। एक है। क्रिया उसकी आत्मा है। वह अविच्छिन्न निरन्तर उच्चरित गाना के अर्थग्रहण का उपाय है। अथवा विच्छिन्न (अपाद्वार पद्धति में उद्धत) पदा के अर्थ के ग्रहण का उपाय है। विच्छेद प्रतिपत्ति जैसे नमस्यति में नम तथा करोति के रूप में अलग अलग प्रतिपत्ति यद्यपि अर्थ कहने के लिए क्रिया और साधन भेद से जान पड़ती है परन्तु वस्तुतः वहाँ इस तरह का क्रिया साधन भेद नहीं है। विनोदकर प्रतिभा के उपसंहार काल में अर्थात् अर्थ के जान काल में अभिन्न एकाकार प्रतिभा के परिवोध में वाक्यार्थ स्थितलक्षण मिट्ट होता है। हेलाराज के अनुसार स्थितलक्षण और अपाद्वारपदार्थ में भेद यह है कि स्थितलक्षण में प्रक्रिया

<sup>१३</sup> हेलाराज वाक्यरत्नोद् ३, नात्रिममु १३

<sup>१४</sup> वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।०४, वृत्त ४० पर उद्धृत ।

भेद से भेद नहीं होता अपादार्थ माना है।

—वृत्ति समुद्देश २४८

## अन्वाख्येय पदार्थ

अन्वाख्येय पदार्थ भी दो रूप में स्वीकृत हैं। पद अधिक अन्वाख्यान और वाक्य अधिक अन्वाख्यान के रूप में। इस पर अथर्व विचार किया जा चुका है। पद के अन्वाख्येय पक्ष में ही प्रातिपदिक शब्दों की व्यवस्था का जाना है। उसी पक्ष में विशेषणविशेष्यभाव ठीक से बैठता है। नीलो पत्र शब्द में नील में विशेषणता और उत्पल शब्द में विशेष्यता है। यदि पद अन्वाख्यान पक्ष नहीं मानें तो इस स्थिति में विभाग की पहचान सम्भव नहीं होगी फलतः विशेषण विशेष्यभाव भी नहीं होगा। वाक्यसंस्कार पक्ष को मान कर वार्तिककार ने न वा सर्वेषां द्वन्द्वे बहुवचनत्वात् (महाभाष्य २।४।६२) कहा है। युगपदधिकरण विवक्षा में द्वन्द्व होता है।

चाहे पद अन्वाख्यान पक्ष हो अथवा वाक्य अन्वाख्यान पक्ष हो दोनों में अनियम देखा जाता है। पद में प्रवृत्ति प्रत्यय के विभाग में अनियम देखा जाता है जैसे मन्त्र इन्द्र एकागारिक्, गिरिणा आदि शब्दों में। मन्त्र शब्द में कुछ लोग मन्त्राज्य सन्नि इस अर्थ में तत्पदमन्त्रम्याम (महाभाष्य ५।२।१२३) से तप् प्रत्यय मानते हैं। कुछ लोग मन्त्रि दत्त इस अर्थ में प्रत्यय मानते हैं। इसी तरह गिरिणा शब्द गिरौ गत इस अर्थ में ड प्रत्यय से बनाया जाता है, गिरिश्चरति इस अर्थ में क प्रत्यय से बनाया जाता है। भन हरि न गिरौ गिरा एक ऐसा भी विग्रह गिरिणा शब्द के लिये किया है (वाक्य पदीय २।१७२ हरिवृत्ति)। वाक्य अन्वाख्यान पक्ष में भी कल्पितपदा द्वारा अर्थ निर्णीत होता है

अर्थात् पद साभिधेय पदात् वाक्यार्थनिर्णय ।

पदसंघातज वाक्य वचनसंघातज पदम् ॥<sup>१५</sup>

## कार्यकारणभावपदार्थ और योग्यभावपदार्थ

कार्यकारणभावपदार्थ और योग्यभावपदार्थ शब्दों के निमित्त रूप और उसका योग्यरूप पर आश्रित हैं। पक्षभेद से सम्बन्ध के शोधक है। कार्यकारणभाव सम्बन्ध और योग्यभाव सम्बन्ध दोनों ही व्याकरणदर्शन में मान्य हैं। अथाकार बुद्धि का वस्तु के साथ अध्यवसाय होने पर उस अर्थ के उद्बोधन में शब्द निमित्त होता है। इसी तरह अर्थ (वस्तु) के दर्शन में भी शब्द स्वरूप का उसके अर्थ में यह वही है (सोऽयम्) इस रूप में अध्यवसाय करते हैं। यहाँ शब्द से अभिव्यक्त पर वस्तुतः अन्तःकरण सन्निवेशी शब्द की प्रवृत्ति में अर्थ दर्शन ही कारण है। दूसरे शब्दों में, गा आदि वाक्य हैं और शब्द कारण है तथा शब्द वाक्य है और गो आदि कारण हैं। भनू हरि इस मत के पोषक है कि वाक ही गो आदि में परिणत हो जाती है अथवा गा आदि वस्तु ही

<sup>१५</sup> वाक्यपदीय १।२४ हरिवृत्ति में उद्धृत। वृषभ के अनुसार यह महाश्वकार का श्लोक है। परन्तु शौनक के बृहद्देवता २।११७ में भी है।



की साधु असाधु व्यवस्था मुनित्रय के मत पर बहुत दूर तक अवलम्बित है।

नियतकालाश्च स्मृतयो व्यवस्था हेतव इति मुनित्रयमतेन अद्यत्वे साध्वसाधु प्रविभाग —कैयट, महाभाष्य प्रदीप ५।१।२१

भेद अभेदपूर्वक होता है इस 'याय' के आधार पर हेलाराज ने असाधु (अपभ्रंश) की प्रकृति साधु शब्द को माना है। उनके मत में शब्द विद्या की भाँति है और अपभ्रंश अविद्या की भाँति। जस विद्यावस्था अभिन्नब्रह्मात्मिका होती है उसी तरह साधु-अदमयी विद्या भी। जसे विद्या के भेद मिथ्या अथवा काल्पनिक है उसी तरह शब्दविद्या के भेद भी अवास्तविक हैं। महाभाष्यकार ने जो अपभ्रंश और साधु शब्द दोनों में अर्थ बताने की शक्ति एकसी (समान) मानी है वह अविद्यादशा को सामन रख कर है।<sup>१६</sup> पुण्यराज ने शब्द के छ प्रकार माने हैं और असाधु शब्द को भी उनके भीतर ग्रहण किया है। उनके अनुसार शब्द दो तरह के होते हैं। साधु और असाधु। साधु शब्द शास्त्रीय और प्रायोगिक रूप में दो तरह के होते हैं। शास्त्रीय तीन तरह के होते हैं—प्रतिपाद्य, प्रतिपादक और उभयरूप। दाधर्ति आदि निपातन सिद्ध शब्द प्रतिपाद्य मान जाते हैं। प्रकृति प्रत्यय आदि प्रतिपादक माने जाते हैं। इतव्य जसे शब्द उभयरूप मान जाते हैं। इस तरह असाधु शब्द को लेकर शब्द छ प्रकार के होते हैं।<sup>१६अ</sup>

उपयुक्त आठ पदार्थों में 'याकरण' की दृष्टि से अपोद्धारपदार्थ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें पद अपाद्धारपदार्थ दो तरह का है। सिद्ध और साध्य रूप। इसी को नाम और आख्यात भी कहते हैं। सिद्ध रूप कारक से व्यक्त है और माध्यरूप क्रिया से। ये दो रूप अक्ष और अक्षी की कल्पना पर आश्रित हैं।

तत्र चाशागिकल्पनयाऽपोद्धारे कारकात्मा क्रियात्मा च प्रविभागाह इति सिद्धसाध्यलक्षणाद्वयविषय पदापोद्धारो द्विविधो नामाख्यातरूपः।<sup>१७</sup>

हेलाराज के अनुसार यद्यपि नामपदों में प्रत्ययाय की प्रधानता शब्द की दृष्टि से रहती है फिर भी अर्थ की दृष्टि से प्रातिपदिकाय रूप द्वय की प्रधानता मानी जाती है। सिद्ध रूप ही प्रधान है।

उपमग, निपात और कमप्रवचनीय का नाम और आख्यात में अन्तर्भाव हो सकता है। क्योंकि नाम सिद्ध अर्थ का व्यक्त करत है और उन सिद्ध अर्थों की विशेषता घोषित करने वाला निपात सहज ही नाम के भीतर गहीत हो सकता है। निपात चाह सिद्ध अर्थ का साक्षात् व्यक्त करना हो अथवा सिद्ध अर्थ की किसी विशेषता को बतलाता हो उसके नाम के भीतर लेने में कोई विरोध अडचन नहीं है। अव्यया में स्व आदि जस कुछ सत्वप्रधान (द्रव्य प्रधान) है इसलिये वे भी नामपद ही हैं और जा क्रिया प्रधान अर्थ हैं जस हिसक आदि उनका आख्यात में अन्तर्भाव हो जायगा क्योंकि केवल तिङन्त ही आख्यात नहीं है। आख्यात के भीतर वह सब कुछ गहीत है जो

१६ हेलाराज वाक्यपदीय ३ सम्बन्ध समुद्देश ३०

१६अ पुण्यराज, वाक्यपदीय २।८३

२० हेलाराज वाक्यपदीय ३ आनि समुद्देश १, पृष्ठ २

विधा प्रधान है। इसी दृष्टि से उपसर्ग और कमप्रवचनीय को भी आख्यातपद माना जा सकता है। क्योंकि उपसर्ग और कमप्रवचनीय साध्य अथ व द्योतक होते हैं।

कुछ लोग पञ्चपाद्वार का चार भाग में विभजन करते हैं। नाम, आख्यात उपसर्ग और निपात। यही सप्तम प्राचीन विभाग है। यास्क ने ऋग्वेद के चत्वारि वाच परिमिता पदानि<sup>२१</sup> की व्याख्या व्याकरण की दृष्टि से नाम आख्यात उपसर्ग और निपात के रूप में की है। महाभाष्यकार ने इसका समर्थन 'चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च'<sup>२२</sup> कह कर किया है। नाम आख्यात से उपसर्ग निपात इस दृष्टि से अलग मान जाते हैं कि नाम और आख्यात साक्षात् वाचक हैं जब कि उपसर्ग और निपात साक्षात् अथवान् नहीं हैं व विशेष अथ व द्योतक मात्र है।

उपसर्ग और निपात में परस्पर भेद यह है कि निपात सिद्ध (कारक) और साध्य (क्रिया) दोनों के अथ विशेष के द्योतक होते हैं जबकि उपसर्ग केवल साध्य के अथ विशेष के द्योतक होते हैं।

व्याकरण की दृष्टि से निपात को वाचक इसलिये नहीं माना जाता है कि च आदि निपातों का वाक्य के आरम्भ में प्रयोग नहीं होता उनका स्वतन्त्र प्रयोग भी नहीं होता जैसे इव आदि का उनके साथ पृष्ठी आदि विभक्तियों नहीं लगती लिंग और संख्या का योग भी उनके साथ नहीं होता।

व्याकरणहेतु हि प्राकप्रयोगस्वातन्त्र्यप्रयोगामावात पृष्ठयाद्यश्रवणा ल्लिगसंख्याविरहाच्च वाचकबलक्षणेन द्योतक निपाता इत्युद्धोष्यत एवेति।<sup>२३</sup>

निपात का प्रयोग पाद पूरण के लिये भी होता रहा है।

क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृतः।

सत्वाभिधायक नाम निपात पादपूरण ॥<sup>२४</sup>

गायत्री के अनुसार उपसर्ग स्वतन्त्र रूप में भी वाचक थे। उत्तर (उत्त+तर) उत्तम (उत्त+तम) निवृत्ति (नि+वृत्त) उद्धत (उत्त+वृत्त) आदि गण इस बात के द्योतक हैं कि कभी उपसर्ग भी स्वतन्त्र अथ रखते थे अथवा उनसे तर तम आदि प्रत्यय सम्भव नहीं थे। परन्तु शाकटायन यास्क के अनुसार उपसर्गों का नाम और आख्यात से अलग रूप में वाचक नहीं मानते थे। व्याकरण-सम्प्रदाय में उपसर्ग द्योतक रूप में ही ग्रहीत है।

कमप्रवचनीय भी क्रियाजनित सम्बन्ध विशेष के द्योतन के द्वारा क्रिया विशेष के प्रकाशक होते हैं इसलिए कुछ लोगों के अनुसार कमप्रवचनीय का उपसर्ग में अन्तर्भाव सम्भव है। फलतः पद चार प्रकार के माने जा सकते हैं।

कुछ आचार्य कमप्रवचनीय का चार प्रकार के अनिरिक्त पाचवौं पद मानते

२१ ऋग्वेद १।१६४।१५ यास्क निरुक्त १३।८ परिशिष्ट

२२ महाभाष्य भाग प्रथम, पृ० ३ कालिदास संस्करण

२३ धन्यालोक लोचन, पृष्ठ ३५४ (गोसुन्दा संस्करण)

२४ दुर्गाधर्य वृत्ति निरुक्त १।६

हैं। उनके मत में उपसर्ग और कमप्रवचनीय में मौलिक भेद है। कमप्रवचनीय अति शान्त क्रियागत सबध को द्योतित करते हैं जबकि उपसर्ग वर्तमान क्रियागत विशेषण को द्योतित करते हैं। यहाँ वर्तमान पद का तात्पर्य क्रियाविशेष के सम्बन्ध के द्योतन से है। क्रियागतविशेषद्योतनपूर्वक हि सम्बन्धावच्छेदमत्र वर्तमानम्—हैलाराज वाक्य पत्नीय ३, जातिममुद्देश १) महाभाष्यकार ने इसके निय संपत्ति शब्द का प्रयोग किया है। अतिकांत क्रिया का तात्पर्य अप्रयुज्यमान से है। भाव यह है कि सभी प्रकार के सम्बन्ध क्रिया-कारकपूर्वक होत है। कभी तो क्रिया सम्बन्ध को उत्पन्न कर विरत हो जाती है जैसे, राजपुरुष म। यह राजा का पुरुष है क्योंकि राजा इसका पालन-पोषण करता है इसलिए पालन रूप क्रिया आश्रयआश्रयीभावलक्षण सम्बन्ध का उत्पन्न कर अलग हो जाती है। कभी क्रियापद स्वयं श्रूयमाण होत हुए सम्बन्ध व्यक्त करता है जैसे मातु स्मरति में माता सम्बन्धी स्मरण के रूप में स्मृति क्रिया श्रूयमाण रूप में ही निमित्तनिमित्तभावलक्षण सम्बन्ध को उत्पन्न करती है।<sup>२५</sup>

क्रिया-पद जब सम्बन्ध का उत्पन्न कर निवृत्त हो जाता है उस दशा में सदेह हो सकता है कि वह सम्बन्ध क्रियाजनित है कि नहीं। ऐसी अवस्था में कमप्रवचनीय काम देता है। वह उस अश्रयमाण क्रिया के विशेष सम्बन्ध को द्योतित करता है

“तदयमश्रुतक्रियाविषयसम्बन्धे कमप्रवचनीयाना महिमा

—हैलाराज वाक्यपदीय ३ साधन शेष ३

क्रिया कृत विशेष सम्बन्ध के द्योतक होत के ही कारण इन्हें कमप्रवचनीय कहत है

अतएव कमप्रोक्तवन्त, क्रियाकृतविशेषसम्बन्ध द्योतयन्तीति कमप्रवचनीया उच्यन्ते।<sup>२६</sup>

अश्रूयमाण क्रिया का आक्षेपक कमप्रवचनीय नहीं माना जाता। जिस वाक्य में क्रिया का आक्षेप होता है वह कारक विभक्ति से जुड़ता है। जैसे प्रादेन विपरिलिखति' इस वाक्य में वि शब्द मान क्रिया का आक्षेप करता है क्योंकि इस वाक्य से प्रादश विमाय परिलिखति यह अर्थ भासित होता है। विमान क्रिया से प्रादेन रूप कम का आक्षेप हुआ है इसलिये उसके साथ द्वितीया का याग होता है। यदि कम प्रवचनीय के द्वारा अश्रूयमाण क्रियापद का आक्षेप होगा, उसके योग में भी कारक विभक्ति ही होगी फलत कमप्रवचनीय युक्ते द्वितीया २।३।८ इस मूल की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, वह व्यर्थ होता। पुन वाक्यस्य संहितामनु प्रावपत जसे स्थाना में आक्षेप सम्भव भी नहीं है। क्रिया कारक में ही परम्पर आक्षेप सम्भव है। जसे

२५ काशिकाकार और वाक्यपत्नीकार में, पुण्यराज के अनुसार मातु गुण स्मरणम् के विषय में विवाद था। काशिकाकार अधिगद्यदेशा कमणि (२।३।५२) में कमणि शब्द का प्रयोजन यह मानते हैं कि करण म न हो। उनके मत में गुण स्मरणम् यहाँ होता है न कि गुणाना स्मरणम्। मनु हरि ध अनुसार करण की शेष विवेचना में गुणाना स्मरणम् गुण स्मरणम् भी होता है।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।२००

२६ पुण्यराज, वाक्यपदीय २।२०१

प्रविण, पिण्डा आदि स्थला भ । गहटा म सा शपर्वीय विभक्ति है इगनित की भाषा गभय गरी है । इगनित त्रिगमयति त्रिधा व अत्रमुद्यमा हा हू भी गहटा और प्रयपण म हनुमुदभाय गम्बध धनु म आति हाता है ।

गु धति, जग शाना का जितम सम्बध त्रियामा शक्ति गरी है कमप्रवचनीय राजा उपगग और गति सता व त्रिपथ व निग की जाता है त्रिगम धनिम्नुनम् जग शाना म पत्र का निषेध हा जाता है । यही कमप्रवचनाय राजा स्यापनिरपण रूप म है—

यच्चितु प्रयसिनिमितामाये पि यचनसाम्बधिय सता प्रवर्तते । यथा गु पूजायामिति पत्वादिनियताये गत्युपसगसता वापनार्था ।

—कयट महामाष्य १।४।८३

पत्रन कमप्रवचनीय त्रिया का वाचन (घातर) नहा हाता । यति त्रिया का घातर हाता हा उगम कारकविभक्ति (द्वितीया) स्वभावत हा जाता वह सम्बध का भी वाचन नही हाता पट्टी व प्रपयाभूत द्वितीया स ही सम्बध उक्त हा जाता है इगनित सम्बध का भी वाचन कमप्रवचनीय नही माना जाता । वह त्रियापत्र का भाषेपत्र भी नहा माना जाता । जमाकि ऊपर व्यक्त किया जा चुका है । वह त्रियाविगय घातर भी पूण रूप स नही माना जा सकता क्वाकि 'अनु हरि सुरा जस वाक्या म त्रियापद का सानिध्य नही दया जाता । इसलिए कोई दूसरा उपाय न देखकर (पारिणोप्यात) कमप्रवचनीय ही त्रिया जनित सम्बध का भेत्क (विशेषण) अर्थात द्योतक मान लिया जाता है । भाव यह है कि कमप्रवचनीय व प्रयोग के साथ त्रियाजनित सम्बध की प्रतीति हाती है वह सम्बध किसी अथ पत्र द्वारा ठीक ठीक अभिव्यक्त नही किया जा सकता है क्वाकि उन पदों की शक्ति सीमित है और वे अपना स्वाभाविक अथ ही व्यक्त कर सकते है । अत सम्बध के द्योतक किसी अथ के न होने व कारण अन्तत कमप्रवचनीय ही त्रियाजनित उस सम्बध का द्योतक मान लिया जाता है । जहाँ अधिक अथ की अभि व्यक्ति होती है वहाँ उस अधिक अथ को वाक्याय भी माना जाता है । परन्तु शाक्यस्य सहितामनु प्रावपत म त्रियाजनित सम्बध को वाक्याथ नही माना जा सकता । क्वाकि अधिक रूपम वाक्याथ सदा उपात्त साधन का उपात्त साध्य के ससग के रूप म होता है अथवा उपात्त विशेषण का उपात्त विशेष्य व ससग के रूपम होता है । यहा तो अनुपात्त पदाथ का वाक्याथ स प्रतीति होती है । इसलिए अपदाथ रूप वाक्याथ के रूप म सम्बध का ग्रहण यहा सम्भव नही है । अनु की केवल पदचादभाव मात्र अथ म शक्ति मान कर त्रियाजनित सम्बध के अवच्छेत्क व रूप म उस स्वीकार करना उचित है । भत हरि के अनुसार सम्बध का निमित्तनियम शब्द से सदा गृहीत नही हाता । निमित्त विशेष के प्रहण के लिए ही माना कमप्रवचनीय है—

निमित्तनियम गदात सम्बधस्य न गृह्यते ।

कमप्रवचनीयस्तु स विनेत्यनुवृध्यते ॥

—वाक्यपदीय ३, शेष समुद्देश ३

क्रियाया द्योतको नाम सम्बन्धस्य न वाचकः ।

नापि क्रियापदाक्षेपी सम्बन्धस्य तु भेदकः ॥

—वाक्यपदीय २।२०६

कमप्रवचनीय के सम्बन्ध के भेदक के विषय में भी दो तरह के विचार हैं । एक तो यह कि कमप्रवचनीय के द्वारा सम्बन्धान्तर विलक्षण सम्बन्ध स्वरूपतः अवच्छेद्य होता है । दूसरा यह कि क्रियाविशेषजनितत्व के रूप में सम्बन्ध कमप्रवचनीय द्वारा अवच्छेद्य होता है । सम्बन्ध के स्वरूपतः अवच्छेद के पक्ष में विशेषक्रियाजनितत्व की प्रतीति सम्बन्ध विशेष के पर्यालोचन से हो जाएगी । जैसे, अधिब्रह्मदत्ते पञ्चाला इस वाक्य में स्वस्वामिभाव सम्बन्ध अधि से द्योतित हैं । यहाँ ब्रह्मदत्त का स्वामी (ईश्वर) है । पञ्चाल जनपद (स्व) है । दोनों का सम्बन्ध परिपालन करदान आदि क्रिया द्वारा ही प्रभावित है । इसी तरह अभिमयुरजुनत प्रति इस वाक्य में सादृश्य लक्षण सम्बन्ध प्रति द्वारा द्योतित है । फिर वह सम्बन्ध सप्रहरण आदि क्रिया कृत है यह पर्यालोचना से जान पड़ता है । शाक्यस्य सहिनामनु प्रावपत इस वाक्य में, स्वरूप पथ के अनुसार अनु स हेतुहेतुमदभाव सम्बन्ध द्योतित है । अधिक-से अधिक अनु का इतना ही व्यापार है । इसके आगे अनु की शक्ति नहीं है । सहिता के पाठ विशेष रूप में होने के कारण निगमन क्रिया की प्रतीति होती है । 'सहिता पाठ स वपा हुइ यह जान ही विशेष क्रिया से प्रभावित होना ध्वनित करता है ।

जो क्रियाजनितत्व पथ के पथपाती है उनके अनुसार अनु का व्यापार निशमन क्रिया की अभिव्यक्ति तक है । सहिता और प्रवर्णन में जो हेतुहेतुमदभाव संबन्ध है वह निगमयति क्रियाजनित है इतना अनु से द्योतित है । अधिब्रह्मदत्ते पञ्चाला में परिपालन क्रिया हेतुवाला स्वस्वामिभाव सम्बन्ध अधि से द्योतित है । इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिए । हेलाराज ने इसी मत का प्रश्रय दिया है । उनके अनुसार क्रियाफलरूप सम्बन्ध का द्योतन कमप्रवचनीय का कार्य है । उनके अनुसार भन हरि का भी यही पथ जान पड़ता है—

‘वस्तुतः क्रियाफलस्यैव सम्बन्धस्य प्रकाशनात् । यथा तु तत्रमवदमत हरे-स्तत्र तत्राभिप्रायो लक्ष्यते तथा निमित्तविशेषावच्छेद एव कमप्रवचनीयकृत इति राद्धात् ।’

—हेलाराज वाक्यपदीय ३।१ पृष्ठ ५

कमप्रवचनीय पर मग्नहृत्कार के मत का उल्लेख भट्ट हरिन अपनी वृत्ति में किया है । कमप्रवचनीय सम्बन्ध निर्धारण में हेतु मान जात हैं । मग्नहृत्कार के अनुसार दो प्रकार के सम्बन्ध हात हैं

निरोधन क्रियापद और अनिहित क्रियापद । निरोधन क्रियापद से अभिप्राय क्रियापद के अश्रूयमाण रूप से है । दो द्रव्यों के परस्पर सम्बन्ध में क्रिया स्वरूप को निरोधित हो जाने पर भी सम्बन्ध अभिव्यक्त रहता है । सम्बन्ध क्रिया के आधार



पर होता है। कारकशक्तिमा की अनभिष्यक्तत्वा मे भी क्रिया उनके सम्बन्ध की अभिव्यक्ति करा सकती है। जैसे राजपुरुष शब्दम राजा म क्त गति है वह पुरुष का कुछ बता है। पुरुष म सम्प्रदान शक्ति है, वह राजा से कुछ लेता है। 'राजपुरुष' म दोनों शक्तियों के तिरोहित हान पर भी ददाति क्रिया स्वस्वा मिभाव सम्बन्ध को प्रकट कर देती है। ज्ञान आदि क्रिया के अश्रुत होने के कारण यहाँ सम्बन्ध अभ्युपगम्य क्रियाविषय माना जाता है। सनिहित क्रियापद सम्बन्ध कहा होता है जहाँ कारकपद और क्रियापद म सम्बन्ध दिखाया जाता है। इसका उदाहरण मातु स्मरति वाच्य है। यहाँ क्रियापद अभ्युपगम्य है और क्रिया और द्रव्य म सम्बन्ध दिखाया गया है। वस्तु की अविवक्षा म स्मरण क प्रति मातु शब्द का विनियोग भाव प्रतिपादित होता है। क्रिया दो अर्थों की जाड़न वाली मानी जाती है। इसलिए किसी के मत म, मातु स्मरति म भी क्रिया और द्रव्य म उपलक्ष्य के लिए किसी क्रियान्वर का आधार होना चाहिए। दूसरे आचार्य मानते हैं कि क्रिया अर्थ अनिर्दिष्ट क्रिया की आवश्यकता नहीं होती। क्रिया सम्बन्ध क लिए क्रियान्वर की अपेक्षा नहीं रखता है। दो काष्ठों के सङ्गम म जल आदि द्रव्य तो आवश्यक हैं किन्तु जल और काष्ठ के संयोग म अर्थ की अपेक्षा नहीं होती। सग्रहकार का मूल उद्धरण निम्नलिखित है

कमप्रवचनीयविषयविभागप्रदर्शनाय सम्बन्धोपपत्त्या । द्विविधो हि सम्बन्ध सग्रहे पठ्यते । तिरोभूतक्रियापद, सनिहितक्रियापदश्च । एव ह्याह—  
'उपयुक्ताथ द्रव्य सम्बन्धेषु क्रियातासु नष्टरूपासु मिना धमतो विगुणेष्वेव सम्बन्धात्मा प्रकाशते । अभ्युपगम्यक्रियावद् द्रव्ययो सम्बन्ध विषयभूतत्वाद् क्रियाया' इति । —वाक्यपदीय २।१६६ हरिवर्ति हस्तनख भत हरि ने एक दूसरा उनाहरण भी दिया है जो सग्रहकार का जान पता है किन्तु स्पष्ट रूप म नाम का उल्लेख नहीं है

तथैव केचित् पक्षपञ्जातानि नामाख्यातोपसगनिपातकमप्रवचनीया इति पठति । तयामप्यथभेदेनोपसगनिपातेभ्य उत्कष्य क्रियते, अत आह—'क्रिया रूपनामे न तिरोभवती य सम्बन्धमुपजनयति तस्या निमित्तभूताया क्रियाया सहचारी वाक्यातरेषु विषेपदष्टसामर्थ्य कमप्रवचनीय क्रियाविशेषोपादानेन सम्बन्धमवच्छिनत्ति, निमित्तानुग्रहानुगममात्राया सम्बन्धरूप नियमयतीति ।

—वाक्यपदीय १२०१ हरिवर्ति हस्तनख

पाणिनि ने कमप्रवचनीय ग्यारह गिना लिए हैं—अनु उप अघ परि आड प्रति अभि अधि, सु अनि, अपि । और चतुर्ष्वान् अर्थ लिए हैं—अनुपगम्य मन्त्राद्य हीराणा आदिना ज्ञान मन्त्राद्यवचन लक्षण व्युत्पन्नज्ञान भाग विष्ठा प्रतिनिधि प्रतिदान आनधन्य पूजा अतिश्रमण, पन्था सम्भाषना अन्ववगम गन्ता समुच्चय स्वाम्य और अधिपार । इनम पन्था सम्भाषना और अन्ववगम अर्थच प्राधान्य प्राप्त मय क गन्त हैं जितना उन निना विनाप अर्थ होता था और पाणिनि ने १।४।८६ म उन्हें अर्थों म चतुर्ष्वान् प्रयोग किया है ।

## श्रीदुम्बरायण दर्शन

वाताय और श्रीदुम्बरायण नाम के आचार्यों ने नाम, आग्र्यात उपसर्ग और निपात रूप में पदविभाग का अनुपपन्न माना था। वे वाक्य को अग्रवृत्त मानते थे। उसका भी मप्रत्यय (पान) बुद्धि में समृष्ट रूप में रहता है। गत (वाक्य) वीद्ध है। अथ भी वीद्ध है। गत भी बुद्धि में समृष्ट रूप में रहता है अथ भी समृष्ट रूप में रहता है। बुद्धि से जो कुछ जाना जाता है वह सब समृष्ट रूप में रहता है अर्थात् बुद्धि भी समृष्टाप्रत्ययप्रयोजनमग्निनी है। समृष्ट का प्रविभाग अवास्तविक होता है। अतः चार पदनाता का कल्पना भी अवास्तविक है।

समृष्ट शब्द अथवा समृष्ट अथ के परिचय का एक कल्पित साधन है जिसे अपोद्धार कहा जाता है। अपोद्धार पद्धति के आधार पर लोक में और शास्त्र में भी व्यवहार के लिए वाक्य को पद में विभक्त किया जाता है। मूखम अवहित विप्रकृष्ट उपायांतर में जिग किसी तरह में नहीं समझा जा सकता, उन सब अर्थों के जानने का साधन गत है। व्याप्ति और वाच्य के आधार पर गत का आशय लिया जाता है गत व्याप्तिमान है क्योंकि वह मूल अमूल सत्ता स्था करता है। गत लघु है क्योंकि वह एक से अनेक का अर्थ में महान्ता अवबोधक है। एत एत गत अपने समानधर्मा अनन्त गता के प्रतीक है। अत्यन्त समृष्ट अथ का अथवा अत्यन्त जिविभक्त गत के परिचय के लिए अपोद्धार का कल्पना कर ली जाती है। परंपरा में जोर में और शास्त्र में भी पदव्यवहार प्रसिद्ध है। अपोद्धार रूप में पद की सत्ता मानकर नाम आग्र्यात निपात आदि के रूप में पद का विभाग उपपन्न होता है

एतस्माद् एव श्रीदुम्बरदशनात् तत्र चतुष्टय नोपपद्यत इत्युच्यते। यद्यपि तु व्याप्तिमत्त्वात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टैस्त्वर्थेषु बहुभिरपि प्रकारेण दशयितुम् शक्येषु लाघवात् शब्दव्यवहारो लोक प्रसिद्धि गत, एवमत्यन्तसमृष्टे त्वर्थात्मसु शब्दसु वा विभक्तेषु अपोद्धार कल्पितः। पदव्यवहारो व्याप्तिमत्त्वात् लघुत्वाच्च लोके शास्त्रे च रुद्धि प्रसिद्धो व्यवस्थित इति।

—वाक्यपनीय २।२४८ हरिदत्ति हम्ननेत्र

१ 'श्रीदुम्बरायण' पराशरवाक्यशास्त्र में इसका पुष्टि महाभाष्य का एक शब्दान नामगता प्रत्यय शिन् धारणा से भी होता है—

निभास फोक्त्तिन्नु भावः श्रीदुम्बरायणमतानुसारिण एवमाट् ।

महाभाष्य धारणा, हस्तलेख, पृ० २१ महाभाष्य श्रीगिरिदत्त मनुवाक्य लाघवेरी न० आ० ४४३ ।

भरतमित्र ने भी इसका पुष्टि का है—'ह कश्चित् दशयितुम् पदसमकारप्रत्यय निभासमानस्यन्तरत्वात्' हेतुना 'तद्वागमे हि दशय' इत्यनेन न्यायन प्रसिद्धमपि भगवद्दुम्बरायणाद्यदिशास्त्रमावधारय ।

—फोक्सिद्ध, पृ० १



## श्रीदुम्बरायण दर्शन

वाताय और श्रीदुम्बरायण नाम के आचार्यों ने नाम, आख्यात उपमग और निपान रूप में पदविभाग का अनुपपन्न माना था। वे वाक्य को अक्षण्ड मानते थे। उसका भी सप्रत्यय (नाम) वृद्धि में समृष्ट रूप में रहता है। शब्द (वाक्य) वृद्धि है। अथ भी वृद्धि है। शब्द भी वृद्धि में समृष्ट रूप में रहता है, अथ भी समृष्ट रूप में रहता है। वृद्धि से जो कुछ जाना जाता है वह सब समृष्ट रूप में रहता है इसलिए वृद्धि भी समृष्टाथप्रत्ययावर्णिनी है। समृष्ट का प्रविभाग अवास्तविक होता है। अतः चार पदनाता की कल्पना भी अवास्तविक है।

समृष्ट शब्द अथवा समृष्ट अथ के परिचय का एक कल्पित साधन है जिसे अपोद्धार कहा जाता है। अपोद्धार पद्धति का आधार पर लोके में और नाम्ना में भी व्यवहार के लिए वाक्य का पद में विभक्त किया जाता है। सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्ट उपायांतर से निम्न निम्न तरह से नहीं समझा जा सकता उन सब अर्थों का जानन का साधन शब्द है। शब्द और वाक्य के आधार पर शब्द का आशय लिया जाता है शब्द व्याप्तिमान है क्योंकि वह मूल अमूल सबका स्पष्ट करता है। शब्द शब्द है क्योंकि वह एक से अनन्त का अप से महान का अवबोधक है। एक एक शब्द अपने समानधर्मा अनन्त शब्दों का प्रतीक है। अतः समृष्ट अथ का अथवा अथान्त जविभक्त शब्द के परिचय के लिए अपोद्धार की कल्पना कर ली जाती है। परंपरा से लोके में और नाम्ना में भी पद-व्यवहार प्रसिद्ध है। अपोद्धार रूप में पद की सत्ता मानकर नाम आख्यात, नियात आदि के रूप में पद का विभाग उपपन्न होता है

एतस्माद एव श्रीदुम्बरदर्शनात् तत्र चतुष्टय नोपपद्यत इत्युच्यते। यद्यपि तु 'व्याप्तिमत्त्वात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टैस्त्वर्थेषु बहुनिरपि प्रकारेण दण्डिनुम् अन्वयेषु लाघवात् शब्द-व्यवहारो लोके प्रसिद्धि गत, एवमत्यन्तसमृष्टे प्वर्थात्मसु शब्देषु वा द्विसक्तेषु अपोद्धार कल्पित। पदव्यवहारो व्याप्तिमत्त्वात् लघुत्वाच्च लोके शास्त्रे च हृदि प्रसिद्धो व्यवस्थित इति।

—वासुपत्नीय २।१८८ हरित्ति हम्पनेख

१. श्रीदुम्बरायण पन्था-पन्थावादी थे जिनका पुष्टि महाभाष्य का एक ज्ञान नाम-नाम अन्वका गित था या से जा होना है—

निर्भास कावन्ति-तु भगवन् श्रीदुम्बरायणमज्ञानुमारिण एवमाहुः ।

महाभाष्य अथा, हम्पनेख, पृ० ११ मन्त्रास ओषिण्यत् मनुभ्रातृ लाद्वेरी

न० आर ४४२ ।

भरतमित्र में भी इसका पुष्टि का है—'द कश्चिद् दण्डितिरित्यादि पदः सकारणं यय निभासमानन-पन्तर-पदार्थं ह्युक्तं च 'तदास हि दृश्यते' इत्यनेन 'ययन प्रसिद्धमपि भगवन् श्रीदुम्बरायणाभ्यां टात्पन्थाभावमपि ।

—पन्थमिद, पृ० १



नेकायस्याक्षा पादा भाषा इत्यादावभिधानदग्नेष्वेवनेषमन्तरेणादग  
नाद यजेत इत्यादौ च कृतिकायद्योषु गपल्लिडाभिधीयमानयोरपि विगेषण  
विगेष्यभावस्य प्राभाकररम्भुपगमात्तद्वदेव विगिष्टाभिधान मयत् ।  
अस्माकमप्ययमेव पक्षः । —पञ्चमजरी २।३।१ पृष्ठ ४१८

चतुष्क प्रातिपदिकाय पक्ष की व्याख्या दो तरह से की जाती है । स्वाथ द्रव्य  
विग और कारण रूप म तथा स्वाथ द्रव्य विग और सत्त्वा रूप म । इसमें प्रथम  
चतुष्क सत्त्वा के छात्र पक्ष म घटित हो ग है (कथं महाभाष्यप्रदीप ४।१।१) ।

वस्तुतः व्याकरणशास्त्र म भाव्यदन्तानुसार कभी त्रिस पक्ष का और कभी  
चतुष्क और कभी पञ्च प्रातिपदिकाय पक्ष—य सभी माय रह हैं । नागेश के अनुसार  
भाष्यकार विभक्तिना को छात्र रूप म मानत हैं छोन पक्ष ही सिद्धान्त पक्ष है ।  
अस्माद भाष्यात् छोटस्त्वपक्ष एव सिद्धान्त इति मयत् । नागेश—महाभाष्य ४।१।१०

कथं क अनुसार प्रातिपदिकाय हो अनन्त गतिनाग के कारण कम आदि गद  
म वाच्य होता ह । जिस हम विभक्ति विपरिणाम कहत है वह भी वस्तुतः प्रातिपदिक  
का ही विपरिणाम है । विभक्ति का विपरिणाम कवल औपचारिक रूप म होना है

प्रातिपदिकाय एव हि नानाशक्तियोगात् कर्मादिगदवाच्य इति स एव विगिष्ट  
गतिपुक्तो विभक्त्यतवाच्य । अथवा तात्त्विकेऽपि भेद गदस्य सारण्यात्  
तत्त्वाध्यवसायाश्रयेण विभक्तिप्रत्ययतयागोपादानाम्भा प्रातिपदिकस्य  
विपरिणामयवहारोऽवसोपते । विभक्तेस्तूपचरितो विपरिणामप्रवहार । न  
हि प्रथमाया सप्तमीरूपेण विपरिणाम सम्भव ।

—कथं, महाभाष्यप्रदीप ५।३।६०

प्रातिपदिकाय स्वाथ अनन्त प्रकार का है स्वाथ गद म स्व गद आसीय का  
वाचक है और अथ गद अभिधेय का वाचक है । (स्वाथ स्वाथ) । वह स्वरूप जाति  
द्रव्य गुण क्रिया सम्बन्ध रूप म कई तरह का होना है । जब गी एमा गदस्वरूप  
म विशिष्ट जाति कही जाती है गदस्वरूप विगेषण होन के कारण स्वाथ है और  
जाति विगेष्य होन के कारण द्रव्य है (द्रव्य गद स यहा याकरण गत प्रसद्ध इद  
तत डम रूप म परामग योग्य वस्तु से अभिप्राय है) । पटस्थ गुलो गुण जस स्थला  
मे जाति मे विगिष्ट गुण का अभिधान होता है इसनिय विगेषण होन के कारण जाति  
यहा स्वाथ ह और गुण विगेष्य होन के कारण द्रव्य है । गुवन पट जसे शान्त म गुण  
विगिष्ट द्रव्य का उल्लेख होन के कारण विगेषणभूत गुण स्वाथ है और विगेष्यभूत पट  
द्रव्य है । कभी कभी द्रव्य भी द्रव्यान्तर का विगेषण होता है जस यष्टी  
प्रवाय कुतान प्रवाय जस वास्या म । ऐस स्थला म विगेषणभावापन यष्ट्यादिक  
द्रव्य तो स्वाथ है और विगेषणभावापन द्रव्यान्तर (पुष्पात्कि) द्रव्य ही हैं ।  
एन्ही विपाणी तम गद म जहा सम्बन्ध निमित्तक प्रत्यय होन हैं सम्बन्ध ही  
स्वाथ है । कभी क्रिया भी स्वाथ मानी जाती है जस पाचक पाठक आदि म ।  
इनम त्रियानिमित्तक प्रत्यय हुआ है । पाचक जस स्थला म कुछ नाग क्रियाकारक  
सम्बन्ध को स्वाथ मानत हैं । जस प्रवृत्तिनिमित्तलिंगमग्राधनिरिक्त विग और सत्त्वा  
का अभिधान होता ह कहा विग और सत्त्वा भी स्वाथ ह जस म नपुमकाऽभजत  
भावाविशति आदि स्थला म । इसी तरह वाक् भी तम वर्ण आदि के रूप म स्वाथ  
होता है । परन्तु जहाँ प्रवृत्तिनिमित्तव्यतिरिक्त विग और सत्त्वा असम्भव है—जस

स्त्री पुमान् एत, द्वौ बह्व्य आदि म- वही निगमना का अभिधान बना होता।

यद्यपि लार म पद के उच्चारण वस्तु ही पाँचा प्रातिपदिकाएँ लार साथ ही (पुणपत्त) प्रतीत हान है क्योंकि गण-व्यापार विरम विरम कर बना होता और न मय के साथ उगता सभी विद्या हाना है फिर भी गाम्भ्य म व्यवहार की गुणिधा के नियम का पन मयव्य स्थितिरा के द्वारा प्रम का आधय दिया जाता है। प्रातिपदिका मय प्रयोग के योग्य रहा हो। उनका मयवता भी कल्पित हा है फलन तपित पाय के बल पर उनम प्रम माना जाता है। गाम्भ्य म प्रम अनर प्रसार का माना जाता है जैसा श्रीप्रम अधप्रम पाठप्रम ताण्डप्रम प्रवतिप्रम प्रतिपतिप्रम प्रयागप्रम बुद्धिप्रम आदि। पुण्यगज न वास्तव्यम १५० की टीका म इनका व्याकरणगाम्भ्य के उच्चारणा द्वारा विधान दिया है। जहाँ तक प्रातिपदिकार्थों का सम्बन्ध है तब प्रति पतिप्रम हाना चाहिये। परन्तु नर हरि के अनुसार प्रतिपतिप्रम आता की दृष्टि म और वाता की दृष्टि स भी व्यवस्थित नर है (न हि गाम्भ्यममवता विरम्य विरम्य स्वाधीविषु वृत्ति सम्भवति। सतुदुस्तरणात्। अथेन च नित्यमवियोगात्। प्रति पतिप्रमोह्य धोतुरभिधानु वा न व्यवस्थित (वाक्यपनीय १।२६ हरिवृत्ति, पृष्ठ २१)। मध्यमा म जो प्रम है वह गाम्भ्य-व्यापार से नही होता अपितु वह एत तरह का कल्पित हाना है। सभी-वर्मा धोता या अभिधाना को प्रम ही प्रतिपति हानी है। नागहीनविशेषणा विनाय बुद्धि इस पाय के अनुसार पहले स्वाध या तत्र विनिष्ट लिग आदि की प्रतिपति हानी चाहिये। नर हरि के अनुसार प्रम ग्रहण के आधार निम्नलिखित पात्र है—

- (१) प्रत्यासत्ति
- (२) महाविषयता
- (३) अभिव्यक्तिनिमित्तोपव्यजनपक्ष
- (४) उपलिप्ता
- (५) बीजवत्तिनाशानुपुण्य

प्रत्यासत्ति के द्वारा प्रातिपदिकार्थों म प्रतिपति क्रम का निधारण दिया जाता है। प्रत्यासत्ति का अर्थ शासन अथवा समीपगत है। प्रत्यासत्ति उपरान्भाविता मानी जाती है। उच्चरित गद मे सभी प्रातिपदिकाएँ स्वाध द्रव्य लिग आदि मस्य रहते ह। इनम प्रतिपत्ता जिसको समीप ममभला है उसको पहले अवगत करता है। प्राति पदिकार्थों म आमान उपकारक जाति है। जातिस्वरूप के बिना द्रव्य का अवधारण दुष्कर है। अतः सबप्रथम प्रत्यासत्ति के आधार पर जाति का जान होता है। जाति द्रव्य के बिना अभिव्यक्त नही हो सकती और न व्यवहार के योग्य हा सकती है। लिग आदि भी आश्रय के बिना नही टिक सकते। अतएव जाति के बाद परन्तु लिग सम्पदा आदि के पन्ने द्रव्य का भाव हाना है। लिग तथा सम्पदा और कारक मे निग प्रत्यासन है। क्योंकि लिग द्रव्यान्तर अनुपपन्न होता है जबकि मस्या और कारक दूसरा वस्तुओं की अपन्ना गृह्यते है। दान्वीन आदि सत्याएँ गक वस्तु स अतिरिक्त वस्तु की अपेक्षा गृह्यता ही ह। एक सत्या भी द्वित्व आदि के व्यवच्छेदक के रूप म द्रव्यान्तर

अपत्ता ही मानी जायगी। फलतः बहिरंग सत्त्वा और कारक की अपत्ता अतएव निग की प्रतिपत्ति पहले मानी जाती है। सत्त्वा और कारक में सत्त्वा सजातीय पदार्थ की अपत्ता रहती है जबकि कारक विजातीय क्रिया की अपत्ता रहती है। अतः बहिरंग कारक की अपत्ता अतएव सत्त्वा का अवधान पहले होगा। अतः प्रत्यासत्ति के आधार पर प्रातिपत्तिकार्यों में जाति, द्रव्य, लिंग सत्त्वा और कारक इस तरह का क्रम होगा।

महाविषयता के द्वारा भी क्रम की प्रतिपत्ति होती है। जाति और द्रव्य में जाति का क्षेत्र अधिक व्यापक है क्योंकि जाति में सब व्यक्ति में अनुगत है। स्फुटतर परिच्छेद हान के कारण पहले जाति का ही ग्रन्थ होगा। द्रव्य और लिंग में द्रव्य महाविषय है क्योंकि द्रव्य सभी लिंगों के साथ है जबकि एक लिंग दूसरे लिंग से व्यापक है। अर्थात् स्त्रीलिंग पुल्लिंग आदि सबके साथ द्रव्य मिलेगा परन्तु जहाँ स्त्रीलिंग है वहाँ पुल्लिंग नहीं है। लिंग और सत्त्वा में लिंग महाविषय है क्योंकि लिंग सभी सत्त्वों में है जबकि एक सत्त्वा दूसरी सत्त्वा से भिन्न है। सत्त्वा और कारक में सत्त्वा महाविषयकारी है। सत्त्वा का सम्बन्ध प्रातिपदिक और आश्रय दोनों में है जबकि कारक का सम्बन्ध केवल प्रातिपदिक से है। अतः महाविषयता की दृष्टि से भा जाति, द्रव्य, लिंग आदि का क्रम संभव है।

अभिव्यक्तिनिमित्तापव्यजनप्रकरण भा प्रतिपत्ति क्रम में साधन है। अभिव्यक्ति के निमित्त में जितना ही अधिक उपव्यजन होगा उतना ही शीघ्र उमका ज्ञान होगा। जाति और द्रव्य में जाति के उपव्यजन अधिक हैं क्योंकि जाति में समाधारण हान के कारण अनेक व्यक्ति से व्यर्थ होती है। जबकि द्रव्य अपने अवयवों द्वारा व्यक्त क्रिया ज्ञान के कारण अपव्यजनवाला है। इसी तरह द्रव्य और लिंग में लिंग और सत्त्वा आदि में उपव्यजन कम अल्प होता गया है।

उपनिष्ठा के द्वारा भी क्रम का बोध होता है। सर्वप्रथम जिनकी उपलब्धि दृष्ट होती है प्रतिपत्ता का उमी का ज्ञान सर्वप्रथम होता है।

बीजवृत्तिलाभ अनुगुण्य के द्वारा भी क्रम का ज्ञान होता है। प्रत्यय (ज्ञान) उत्पत्ति में जो आन्तर कारण है उम बीज वृत्त है। उमके वृत्तिलाभ का तापय प्रबोध है। आनुगुण्य का अभिप्राय वाय के उत्पादन के अभिमुख होना है। जितने ज्ञान होते हैं वे पूर्व पूर्व आर्हित मन्त्रों के प्रबोध के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। जाति ज्ञान द्रव्य ज्ञान का बीजवृत्तिलाभानुगुण्य है। अर्थात् जाति के ज्ञान हान पर द्रव्य का ज्ञान होता है। इसीसे सर्वप्रथम जाति का ज्ञान होगा। इसी तरह व्यक्ति (द्रव्य) का ज्ञान आश्रय परलक्ष्ण लिंग आदि का ज्ञान का अनुगुण्य है। इसी तरह जाति व्यक्ति, लिंग आदि का क्रम बीजवृत्तिलाभानुगुण्य के सहारे भी भासित होता है।

उपयुक्त क्रम का उल्लेख महाभाष्यकार ने भी किया है प्रातिपदिक चाप्युपदिष्ट सामास्यभूते च वतते। सामास्ये वतमानस्य व्यक्तिरूपजायते। यत्तस्य सतो लिंगसत्त्वस्याभ्यामवितस्य बाह्ये नार्थेन योगो भवति—महाभाष्य १।१।५७। भाष्यकार ने उपयुक्त मन्त्रों लौकिक आधार पर व्यक्त किया है। व्यक्ति प्रातःकाल उठ कर पहन गीरे-काय करता है। तब मित्रों का तब सम्बन्धियों का वाप करता है। यही भाष-



प्राप्तप्रम प्रातिपत्तिराधो म नी नाम दत्त है ।

फिर भी वाचस्पतीयानुसार क मत म प्रम म अनियम लगा जाता है (पाह्यासु माध्यासु अनिमयेन बुद्धिप्रमो व्यवतिष्ठते—वाचस्पतीय हरिवर्ति १।२६ पृ० ४२ जाति प्राप्ति की प्रत्यासत्ति म व्यभिचार लगा जाता है उस द्वयम् एतस्य एतन् कम जस स्थिता म प्राप्ति क विना भी निग प्राप्ति द्वय ता व्यवहार माग्य बनान है । भवुहरि न अपन मत की पुष्टि क निर निम्नतिष्ठित कारिका उद्धृत की है

एको य प्राप्तिभेदेन भाषारमा प्रविभज्यत ।

बुद्धिव्यत्यनुकारेण बहुधा ज्ञानवादिभि ॥

यस्तुत भन हरि के दान म प्राप्तिमा और अयात्मा का रूप विभागातीत है (समीहित पौर्वापर्योऽर्थात्मा स्वरूपादप्रत्युतोपि मयो विभागातीत तस्य एव—वाचस्पतीय हरिवर्ति २।१३) । भन हरि न प्रतिपत्ति का उपपन्नमा और गुणप्रथमा इन दो रूपों म व्यवन चिया है । लघुप्रथमा ता वह है जिनक द्वारा सामान्यविशेष क विचार के साथ विभाग क द्वारा अविभक्त की प्रतिपत्ति की जाती है । गुणप्रथमा उस प्रतिपत्ति का नाम है जिनक द्वारा ससष्ट रूप का अविभक्त रूप म ही जान जाता है । कुशल प्रतिपत्ति बड़ी है जो भेद को अभेद क प्राप्ति क विना ही दपता है (वाचस्पतीय हरिवर्ति २।१३) ।

## प्रातिपदिकार्थ-जाति अथवा व्यक्ति

वाचस्पयन क मत म प्राप्ति का वाच्य जाति है । व्याडि के मत म प्राप्ति का वाच्य व्यक्ति है । पाणिनि के मत म आवश्यकतानुसार जाति और व्यक्ति दोनों है । भन हरि के अनुसार यदि आकृतिवाद पक्ष को माना जायगा, प्राप्ति म विप्रतिषेध बाध और शाब्दांतर प्राप्ति की उपपत्ति संभव नहीं है । यदि व्यक्तिवाद पक्ष माना जायगा उत्सर्ग और अपवाद प्रकार सिद्ध हान

‘पाणिने सवनाक्तर्भावात् सक्तयन विप्रतिषेधबाधन शब्दांतरप्राप्तिश्च नोपपद्यत । अथ द्वयमेव पदार्थ एवमपि सर्वासा व्यक्तोनां सर्वाभिश्चोदना भिरङ्गीकरणात् उत्सर्गपिवादौ न प्रकल्पेत ।’—महाभाष्य त्रिपानी पृष्ठ २३ ब्रह्मदत्तजी त्रिपानी का हस्तलग्न पृ० १८ पूना संस्करण

इसलिए पाणिनि न जाति और व्यक्ति दोनों का दृष्टि म रख कर सूत्र रचे है । लभ्यानुरोध म वही जाति का और वही व्यक्ति का आशय लिया जाता है । जाति पदार्थ पक्ष म जाति ही प्राप्ति का अभिधन है उसका आधारभूत व्यक्ति की प्रतीति नातरीयक रूप म मानी जाती है । इस पक्ष म जाति क स्थानित्व आदेगतव पक्ष, अप्रवर्तित्व प्राप्ति धम व्यक्ति क द्वारा प्राप्तिस्कार म उपयोगी होत है । इसलिय यरा अनुनासिकेनुनासिको वा ८।४।४४ जस लक्षण जातिमती व्यक्ति म ही प्रवर्त होत है । कण्ट के अनुसार स्वरूप प्राप्तिप्राप्ति १।१।६८ म रूप प्राप्ति का अर्थ सामान्य भी है और व्यक्ति भी है । दोनों प्रकार क अर्थ मानने पर भी पक्ष म कर्त्तृ भेद नहीं है । क्योंकि व्यक्ति सामान्य स युक्त रूप म ही सामान्य व्यक्ति क आशय स हा प्रतीकित होता है (महाभाष्यप्रदीप १।१।६८) । भन हरि भी इस बात को मानत हैं कि जाति

और व्यक्ति के विवाद में बवल प्रतिज्ञाभेद है न कि वस्तुभेद है। तात्पर्य कि अनुसार जाति और व्यक्ति में कोई कदा प्रधान और कही नान्तरीयक होता है (तात्पर्येण तु विवक्षामिद्यते)। किञ्चदत्र प्रधानम् किञ्चिन्नान्तरीयकमिति। तच्च प्रतिज्ञाभेदमात्रम्। जातिः शास्त्रे काययोगिनी सचिकीर्विता, व्यक्तिः शास्त्रे काययोगिनी सचिकीर्वितेति।

—वाचस्पतीय १।७० हरिवर्ति प ७३

व्यक्ति में अथत्रियाकारिता हात हुए भी व्यक्तिपक्ष में आनन्त्य और व्यभिचार दोष मान जात है और जमा कि मम्मट ने कहा है गौ शुक्ल चल डित्थ आदि में विषयविभाग भी न हा सरेगा। परन्तु व्यक्तिपक्ष का समर्थन करत हुए कौण्डभट्ट ने इन आक्षेपा को निराधार माना है क्योंकि जिस रूप में व्यक्तिग्रह हागा उसी रूप में पदार्थोपस्थिति भी हागी

यद्यपि काव्यप्रकाशकारेणाक्त गौ शुक्ल चलो डित्थ इत्यादीना जातिगुण त्रियासज्ञानादत्वेन विषयविभाग शुद्धव्यतिषाध्यत्वे न स्याद इति तच्चित्तपक्षे। येन रूपेणापस्थिते शक्तिग्रहस्तेन रूपेण पदार्थोपस्थितिः।

उक्त च भट्टपाद अरणाधिकरण आनन्त्येऽपि हि भावानामेक कृत्वोपलक्षणम्। न च सुकरसम्बन्धो न च व्यभिचरिष्यति॥

—श्लोक वातिक वयाकरण भूषण, पृष्ठ ११६ वज्र सञ्चुत भीरीज।

इस सम्बन्ध में भन हरि न जाति और व्यक्ति में व्यतिरेक लिखात हुए दृष्टाभिधानपक्ष और अदृष्टाभिधानपक्ष का उल्लेख किया है। कुछ आचार्य मानत है कि व्यक्ति के स्वरूप भेद निश्चित रूप में होत हैं। ऐसा नहीं होना कि व्यक्ति का स्वरूप असंवेद्य अव्यपदेश्य अथवा अविद्यमान हो। व्यक्ति ही गौ है आकृति नहीं। गुण ही नील है न कि गुण सामान्य नील व।

कुछ लोगों के मत में गौ जाति के रूप में ही स्वरूपवान होत हैं और जानि क द्वारा ही अव्यपदेश्यस्वरूप व्यक्ति के प्रोधक हात है। क्याकि देखा जाता है कि निमित्त और अनिमित्त वाले अथ में निमित्त वाल अथ का पहल जान होता है। निमित्त दृष्टाभिधानवाले और अदृष्टाभिधानवाले होत ह।

जिसके निमित्त का अभिधान दृष्ट है उसे अदृष्टाभिधान कहत है जस गोत्व आति। गौ गौ गौत्व की अभिधा ह (गौ गौदादयो हि तेषा अभिधा—वचन वाचस्पतीय १।७०)

जिसके निमित्त का अभिधान दृष्ट नहीं है उसे अदृष्टाभिधान कहत है। जस उत्पन्नगव आति। उत्पन्नगव गौ उस व्यक्त नहीं करता। क्याकि सम्बन्ध में अवच्छिन्न सम्बन्धी का अभिधान हाता है (न हि उत्पन्नगव शब्दस्तदाह। सम्बन्धावच्छिन्न सम्बन्ध्यभिधानात् (वही पृष्ठ ७२)

निमित्त कभी तो एक रंग के सारूप्य में और कभी अत्यन्त सादृश्य से गौ के जान में प्रवृत्त हात है। एक रंग के सारूप्य से जस ध्वनि अथवा कोई अंग अथवा चन्द्रा लखकर प्राणी गौ की प्रवृत्ति होती है। गौ गौ की प्रवृत्ति और उसका जान अधिक अवयव मन्त्रिवेग के सारूप्य में हाता है।

सुख धातु यह है कि दृष्ट्याभिधान म जाति धातु और प्रत्यय (जान) इन तीनों का अनुबन्धन होता है। दृष्ट्याभिधान म केवल जाति और बुद्धि इन दो का ही अनुबन्धन होता है।

तत्र दृष्ट्याभिधानेषु प्रथमनुवर्तते जाति नाम प्रत्यय इति। दृष्ट्याभिधानेषु द्वय जातिषु द्विचेति।

—वचन वाच्यपक्षेय टीका १। ०, पृष्ठ ७२

एक तरह जाति व्यक्ति म परस्पर अभिन्नाभाव रूप म वृत्ति है। इनम यदि भेद होता तो तात्पर्यवत्ता स है। जाति की वृत्ति ता म जाति प्रधान है और व्यक्ति का विवक्षा म व्यक्ति प्रधान है। यद्यपि नात्मगीयता है। अतः जाति और व्यक्ति एक दूसरे के सम्कारक है। यही पक्ष व्याकरण म प्रतीय म गृहीत है और यही पक्ष भक्त हरि का भी अभिमत है।

### कात्यायन के मत में जाति और व्यक्ति

जाति और व्यक्ति पर विचार कात्यायन न वाजप्यायन और शाङ्गि के आधार पर किया है। वाजप्यायन के अनुसार आहृति एक है। यत् स उगी का अभिधान जाता है। उसकी गन्ता और उसका एकत्व का ज्ञान बुद्धि की एकरूपता से जाता है। प्रत्याविशेषात् १।२।६४ ६। स्वतः कृष्ण आदि रंग म भेद हान हुआ भी प्रमाण जाति के भिन्न भिन्न हात हुए भी गौ व्यक्तिषाम गौ गौ रूप तरह का एकाकार प्रत्यय होता है। इस अनुगताकार प्रत्यय के आधार पर सामान्य का सदभाव और उसका एकत्व माना जाता है। यत् स जाति का अभिधान होता है इससे प्रमाण म वार्तिककार ने वार्तिक लिखा है—अप्यपवगगतिश्च १।२।६४ ३७। अप्यपवग का भाव है अभेद अविच्छेद या अविशेष उसकी प्रतीति का अप्यपवगगति कहत है। गौ वृत्ति से अपवग शुक्ल नील पीत आदि भेद का भान नहीं होता। यत् द्वारा जाति के अभिधान हान पर उसके आधार से व्यक्ति म वाहन दाहन आदि अपापर उत्पन्न हो जात है। जाति और साधन म अभेदापचार से गौ शुक्ल जस सामानाधिकरण्य व्यवहार भी उत्पन्न हो जाता है। प्रत्याविशेष स वार्तिककार ने प्रत्यभिन्नाप्रत्यय के आधार पर जाति के एकत्व का प्रतिपादन किया है क्योंकि अनभिधीयमान भी जाति मन्निधि मात्र से प्रत्याविशेष म निमित्त हो जाती है। अप्यपवगगति स भी यहाँ यान सिद्ध होती है। प्रत्याविशेष स जाति म प्रथम प्रमाण का सकेत किया है। नायत चकोषदिष्टाम १।२।६४ ३८ वार्तिक द्वारा अनुमान भी सहायक के रूप म अभिप्रेत है। देशभेद कालभेद अवस्थाभेद पिण्डभेद के हात हुआ भी अवाधित रूप म अनुगताकार प्रत्यभिन्नाप्रत्यय होता है। इसकी अर्थानुपपत्ति स सामान्य की गन्ता अनुमय है। धम्मशास्त्र म भी जातिवात् की पुष्टि होती है। ब्राह्मण न ह्यथा स ब्राह्मण मान का नहीं मारत है। ऐसा नहीं कि एक का न मारकर शेष के विषय म कामचारिता है। धम्मशास्त्र च यथा १।२।६४ ३९ वार्तिक स कथक के अनुसार यह भी अभिप्रेत है कि अत्र प्रत्यभिन्ना न ग्रहण की जाय। कभी कभी सादृश्य एकरूपतावृत्ति आदि के

निमित्त से भ्रान्त प्रत्यभिज्ञा हो जाती है। ऐसा न होने पावे इसके लिए घमशास्त्र वाला वार्तिक है। स्मृतिवार भी जानि के आश्रय से व्यवहार का विधान करते हैं। एक का अनेक अधिकरण अथवा अनेक उपलब्धि के लिए बाजप्यायन और उनके अनुमान का व्यायन न गन आदित्य और विभिन्न भागों में एक द्रव्य का दृष्टांत अपनाया है। यदि गन का अभिधेय द्रव्य माना जायगा आकृति का ज्ञान नहीं होगा एक शब्द अनेक अर्थ को नहीं व्यक्त कर सकेगा। श्रुति स्मृति व्यवहित व्यवहार विच्छिन्न ज्ञान लगेंगे।

व्यक्ति के पक्ष में कात्यायन का वार्तिक है—द्रव्याभिव्यक्ति व्याडि १।२।६४ ८६। आचार्य व्याप्ति के अनुसार गद का अभिधेय द्रव्य (व्यक्ति) है। इसी आधार पर लिंग और वचन की सिद्धि होती है। वद की आत्मा से भी द्रव्य ही अभिधेय जान पड़ता है। आकृति अभिधेय पक्ष में आलभन आदि काय असम्भव है। एक वस्तु अनकाधिकरणस्य नहीं हो सकती उसकी प्राप्ति गुणपन ही हो सकती। अथवा सबका प्रादुर्भाव और सबका नाश एक साथ होता। एक शब्द के निधन के बाद शब्द का नाम लाक में मिट जाता। अभिव्यक्ति के विनाश में जाति के विनष्ट हो जान के कारण उसी दग के पिण्डांतर का भान दुप्कर हो जाता। अथवा आश्रय के अपाय से आश्रित का अपाय (विनाश) अवयवों के अपाय से अवयवों का अपाय की भांति हो जाता। गो पिण्ड से गो जानि की यदि अभिव्यक्ति मानी जाएगी तो एक गापिण्ड का दग्धकर सभी गापिण्ड का प्रत्यक्ष हो जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त वरूप्य भी है—अस्ति च वरूप्यम् १।२।६४। एक तरह के गो को किसी को लण्ड और किसी का मुण्ड कहते हैं। एक ही वस्तु के भेद और अभेद दोनों विरुद्ध धर्म नहीं हो सकते। गश्च गोश्च जम विह्व भा सामाय के एकत्व पक्ष में युक्त नहीं हो सकते। क्योंकि समुच्चय भेदाश्रित होता है सामाय के एकत्व और अभिधेयत्व पक्ष में यह सम्भव नहीं है। इसलिए द्रव्य की ही सत्ता माननी चाहिए सामाय की नहीं।

वार्तिककार ने आकृति पक्ष पर जगाय गये दावा के निराकरण के लिए भी वार्तिक लिये हैं

लिंगवचनसिद्धिगुणस्यानित्यत्वात्—गुणवचनाद्वा १।२।६४ ८३, ८४ अर्थात्—आकृति पक्ष में लिंग और वचन की अनुपपत्ति का समाधान गुण को अनित्य मानकर गुणवचन शब्दों के आश्रयगत लिंगसत्त्वा के आधार पर किया है।

अधिकरण गति साहचर्यात् १।२।६४ ८५ के द्वारा वद आनाजय आलभन आदि का समाधान किया है। आकृति पक्ष में आकृति में आलभन आदि का अचरितायता देपकर आकृति सहचरित द्रव्य में आलभन आदि क्रियाएँ होगी।

अविनाशोन्नाशितत्वात् १।२।६४ ८७ वार्तिक द्वारा विनाश और प्रादुर्भाव वाला आशेष का उत्तर दिया है। द्रव्य के विनाश होने पर भी आकृति का विनाश नहीं होता। क्योंकि भाष्यकार की याख्या के अनुसार, आकृति और द्रव्य का शास्त्रात्मक अनेक है।

वरूप्यविग्रही द्रव्यभेदान १।२।६४ ८८ के द्वारा गा गो आदि वरूप्य

कारण द्रव्य का भेद माना है। अतः प्रत्यय भेद का उपचार मध्यम ही आहृति में समुचित विरुद्ध नहीं है।

व्यर्थेषु च सामान्यान् गिद्धम् १।२।६४ २६ वाक्य द्वारा अनन्तार्थता पर के आश्रय का समाधान किया है। विभिन्नार्थी में भी सामान्य माना में काम चल जाएगा। विभिन्न प्रियाओं में भेद होत हुआ भी अभिन्न प्रत्यय हुआ करता है उसका निमित्त सामान्य है और वही सामान्य द्रव्य में भी निमित्त है। जगत्पावन में आध्यात्मिकता भी सामान्य समस्तसमवाय का कारण द्रव्य में उपकार होता है। जगत्परिवर्तन जोहिय समुत्पन्न समवाय रूप होने पर भी जोहिय प्रकाश का ज्ञान करता है।

इस तरह वातिकार ने आहृति पक्ष का नाश का पराजय कर उसका प्रति अपना भवाव्योचित किया है। आहृति की दृष्टि व्यापकता का कारण ही आहृति दान सामान्य में भी सामान्य और अभाव में भी निरुपाध्यव सामान्य की कल्पना करता है। मुख्य उत्तरासीय बात यह है कि वाक्यायतन न बचन आहृति पक्ष और व्यक्ति पक्ष का विवरण ही नहीं किया है सूत्रकार के अन्तर्गत सूत्रों का दृष्टि धरातल पर लाकर उनका आवागमन किया है।

## महाभाष्यकार के मत में जाति

महाभाष्य में जाति की चार परिभाषाय मिलती है—

१ जननेन सा प्राप्यते सा जातिः —महाभाष्य ५।३।५५

२ आहृतिग्रहणा जातिलिङ्गानाञ्च न सवमाक ।

सकृदात्मजातनिर्वाह्या गोत्रञ्च चरण सह ॥ —महाभाष्य ४।१।६३

३ प्रादुर्भावाविनाशाय्या सत्त्वस्य युगपदगुण ।

असत्त्वलिङ्गा बह्व्या ता जाति कवयो विदुः ॥ —महाभाष्य ४।१।६३

४ यत्तद्विद्वद्विद्वत्त्वमिदं विद्वत्त्वमिदं

सामान्यभूतं स शब्दः । नेत्याह । आहृतिर्नाम सा ।

—महाभाष्य पृ० १ कीलहान मस्वरण

इसमें जाति का प्रथम लक्षण जाति शब्द की व्युत्पत्ति का आधार पर गठित है। यहाँ भाष्यकार ने जाति का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से जनन से जोड़ा है और उसमें अपक्व अवस्था प्रकट नहीं माना है। कथन का अनुसार भाष्यकार का अभिप्राय अत्यन्तलभ्यता लिखना मान्य है। अथवा परमाण आहृति नित्य पक्षों में जनन का अभाव से जातिव्यक्ति विरह होगा। अत्यन्तलभ्य अवस्था में जिसमें प्रकट अपक्व नहीं होता। यत्न से उपाद्य घट आहृति पक्षों में जाति नित्यता का आधार पर रहती है। गुण में आध्यात्मिकता में भेद लक्षा जाता है इसलिये उसमें प्रकट अपक्व आश्रयभेद का आधार पर व्यक्त किया जाता है किन्तु जाति में आश्रयभेद से भेद नहीं होता। अतः जाति में प्रकट अवस्था अपक्व नहीं होता।

तामस न जनन से प्राप्य जातिलक्षण को अद्वैतज्ञान का अनुकूल माना है।

घटवत्त्व के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ जय है। ब्रह्म में कोई धर्म नहीं है अतः उसमें जाति भी नहीं है। महाभाष्यप्रदीपोद्योत ५।३।५५ तथा मनुष्या पृ० ४६४। नागश ने सामान्य और जाति में भेद माना है। उनके मत में 'पाचकत्व' में सामान्य है किन्तु जाति नहीं है (मजूपा पृ० ४६४)।

जाति का दूसरा लक्षण आकृति से सम्बद्ध है। जाति वह है जिसका कोई आकृति के आधार पर होना है। अर्थात् जाति अवयवमन्निवेगविशेष से व्यक्त होती है। जैसे गावः। जाति उपदेश वाच्य लिङ्ग से भी व्यक्त होती है जैसे ब्राह्मणत्व। ब्राह्मणत्व जाति गावः की तरह अवयवसंस्थान पर निर्भर नहीं करती। किन्तु विशेष चिह्न द्वारा किसी के बनाए लक्षणा को देखकर ब्राह्मणत्व का परिचय जाना है। ब्राह्मणत्व जाति आरापित धर्म है। गोवः की तरह स्वाभाविक नहीं। अथवा जाति सब लिङ्ग का आश्रय न लेती है। यद्यपि तट शब्द मवलिङ्गी है फिर भी यहाँ जाति प्रतिपादन अप्राप्तप्रापण रूप में माना जाता है इसलिए जहाँ सब लिंग सम्भव है वहाँ भी जाति हो सकती है और जाति असर्वनिङ्गी है वहाँ भी जाति नहीं हो सकती। जैसे क्रमशः तट शब्द और दवदत्ता शब्द में। एक बार के कथन से ही पिण्डान्तर में भी जिसका वाद्य हो वह भी जाति का लक्षण है जैसे गौ शब्द मान कहने से दूसरा गावः प्रकृत में स्थित गोवः का भी वाद्य जाना है। चरण के साथ गावः भी जाति व्यक्त करता है। नागश के अनुसार कारिका में उल्लिखित सभी लक्षण शब्दपरक हैं

आकृतिग्रहणायक शब्द, सकृदाख्यातनिर्ग्राह्यासवल्लिङ्गायक शब्द, जाति-  
शब्द इति शब्दलक्षणमेतत्

—महाभाष्यप्रदीपाद्योत ४।१।२३

जाति का तीसरा लक्षण आविर्भाव से सम्बद्ध रहता है। वस्तु के आविर्भाव और विनाश से जिसका आविर्भाव और विनाश जाना है वह जाति है। जब तक द्रव्य है तब तक जाति है। निगुण द्रव्य की उपलब्धि नहीं होती। जातिरहित द्रव्य का भी उपलब्धि नहीं होती। जाति बहुत विषयों में व्याप्त रहती है और असर्वलिङ्गी है। दूसरे और तीसरे जातिलक्षण में भेद से व्याकरणप्रक्रिया में भेद उपस्थित होता है। आकृतिग्रहण वाल पक्ष में कुमारभाष्य शब्द बतता है आविर्भाववाले पक्ष में कुमारभाष्य रूप होगा। कथन के अनुसार आकृतिग्रहण वाल लक्षण भाष्यकार का इष्ट है पूर्वोक्तमेव लक्षण भाष्यकारस्याभिमतम्, अपर आहृत्यभिधानादाह।

—महाभाष्यप्रदीप ४।१।२०

चतुर्थ जातिलक्षण भिन्न में भी अभिन्न छिन्न में भी अछिन्न सामान्य रूप में जाति की प्रतिष्ठा करता है। यह लक्षण ब्राह्मणत्व घटवत्त्व आदि में साधारण है। भिन्न में भी अभिन्न में एकत्व लक्षित है। छिन्न में भी अछिन्न कहने से जाति का नित्यत्व अभिप्रेत है। पतञ्जलि ने यहाँ सामान्यभूत शब्द का प्रयोग किया है। भूत-हरि के अनुसार भूत शब्द उपमावाची है। (भूत शब्द उपमावाची-महाभाष्यदापिका पृ०)। इसका आधार पर कथन में भी भूत शब्द का उपमा के अर्थ में लिया है। पतञ्जल सामान्यभूत शब्द का अर्थ है सामान्य इव। सत्ताम्यमहामामा गौत्व आदि

उपमान है।<sup>१</sup> इस तरह भाष्यकार के इस वचन से जाति में एकत्व, तित्यत्व और अनवानुगतत्व उपपन्न हो जाता है। आकृति और जाति में कुछ भेद माना जाता है। आकृति का सम्बन्ध सदा अवयवसंस्थान से होता है। जाति अवयवसंस्थान निरपेक्ष भी हो सकती है। तितु भूत हरि के अनुसार भाष्यकार के उपयुक्त ज्ञानि लक्षण में आकृति शब्द जातिपूर्वक है।

आकृतिरिति न तत् संस्थानम् । किं तर्हि । जातिरेव । यथा आकृत्याभिधानं वाजप्यायन इति । आश्रियतेऽन्येति आकृतिः । आश्रियते इति सिद्धते पदार्था तरेभ्य इत्याकृतिः । आश्रियते बुद्धिशब्दावस्था इति आकृतिः ।

—महाभाष्यटीपिका प० ३

## भूतहरि दर्शन में जाति

भूत हरि की दृष्टि से जाति का स्थान बहुत ऊँचा है और हम पर उन्होंने बड़ा दृष्टिया से विचार किया है। अथ दर्शनात् जाति के सम्बन्ध में उस समय तक प्रचलित वादा का भी उन्होंने सफ़्त किया है। व्याकरण दर्शन में गृहीत जाति की कुछ चर्चा वात्स्यायन और पतञ्जलि के विचार में उपर का हो चुकी है। वाजप्यायन के जाति पदार्थदर्शनात् पक्ष में नामजाति आख्यातजाति कारक त्रियाजाति सख्याजाति गुणजाति आदि के रूप में मन्वन् जाति-व्यवस्था उपपन्न हो जाती है। इसका सफ़्त पहन किया जा चुका है और आगे भी उन उन प्रकरणों में प्रसंगवश किया गया है। जाति के त्रिपक्ष में व्याकरणदर्शन की दृष्टि से कुछ विशेष वाद हैं उनमें मुख्य हैं—गण जाति और सत्ता जाति। इन पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

## शब्द जाति

किसी आचार्य के मत में शब्द का वाच्य शब्द का स्वरूप है। स्वरूप की ही दर्शनभेद से स्वा जाति कहा जाता है। उसी को गणजाति शब्द से भी कहा जाता है। गो गण से वाच्य गो शब्द में रहने वाली गो गणत्व जाति है गोत्व नहीं। पहले गण अपने रूप को कहता है अथ बाद में सामने आता है। गणत्व में 'बुद्धि' गणत्वस्वरूप निम्नोक्त है वह गणने स्वरूप का प्रत्यायक है। इसी तरह अग्नि गण भी अपने स्वरूप का प्रत्यायक है। जब गण के स्वरूप की चर्चा की जाती है सत्ता और सत्ता का भूत के रूप में ग्रहण किया जाता है। एगी दर्शनात् दा गण मान जाति है। श्रूयमाण और प्रतिपाद्य। प्रतीयमान भी दा हात में सम्बन्ध प्राप्त करके वात और वायी। इसलिए अग्नि गण उच्चरित होकर अग्निगणत्वमय अथ सामने लाता है। अग्निगणत्वमय अथ स अग्नि गण अधवान् होता है। दाना में अभेद है। इसलिए अग्नि गण अग्निगणत्वमय अथ नो किसी दूसरे अग्नि गण का अभिव्यक्तवान् तु यथुति के आधार पर अग्निगण

१ शब्द नाशयण में प्रथमे सङ्गन नही है—यत्तु भूत शब्द उपमाधर्मात् सत्ताव्य मन्मामायात् । १० सामान्यारोपयोगमान निदिष्ट सामान्यभा । सामान्यभूतभिति । तत्र । सामान्यभूत म । १० म यवैयवेन प्रवृत्तय मकार कारणामागात्—मृत्तिरनाहर, एतलस ।

के सनाभाव का प्रतिपादन करता है। इस तरह सना-मनिसम्प्रदाय शक्तिभेद का आधार पर कल्पित शब्द भेदाश्रित होता है। प्रत्यायक शब्द का उच्चारण परायण होता है। जिसके लिए शब्द का उच्चारण किया जाता है वह उसे वायु में नियुक्त करता है। उच्चार्यमाण (शब्द) का यह स्वाभाविक धर्म है कि वह परतन्त्र होता है। इस आधार पर सभी प्रत्याय्य क्रिया के साधन मान जाते हैं। इसलिए जो शब्द शब्द के अभिधेय रूप में अवस्थित रहता है उसके उच्चारण में भी उसमें भिन्न अर्थ रूप की कल्पना करनी पड़ती है। यहाँ दो तरह के विकल्प हैं। कुछ लोग मानते हैं कि अभिधान का आवश्यकता होता है। वह अपने अभिधेय से च्युत नहीं होता है। वह प्रत्याय्य है। यदि पूछा जाय प्रत्याय्य कसा है तो किसी दूसरे शब्द द्वारा उसे बताया जाना है। उसी तरह शब्द का भी प्रत्यायन होता है। शब्द का वाचक शब्द के प्रतिनिधित्व का दूसरा नहीं होता इसलिये शब्द का ही आवश्यकता होता है। इसी दृष्टि में अनुकरण शब्द में और मन्त्र शब्द में भेद स्पष्ट होता है। उच्चार्यमाण शब्द में अनुकरण अभिधेय होता है। मन्त्र का अभिधेय प्रत्याय्य ही होता है उच्चार्यमाण नहीं। अभिधेय अभिव्येयस्वरूप का छोड़कर अभिधायक नहीं होता। सग्रहकार का भी कुछ ऐसा ही मत है। उन्होंने कहा है —

न हि स्वरूप शब्दानां गोपिण्डादिवत्करणे सन्निविष्टे । तत्तु नित्यमभिधेय  
मेवाभिधानमनिवेने सति तुल्यरूपत्वादसन्निविष्टमपि समुच्चार्यमाणवना  
वसीयते ।  
—वाक्यपनीय १।६६ हरिवृत्ति में उद्धृत

अर्थात् शब्द का स्वरूप सदा अभिधेय ही रहता है। जो जिसका अभिधायक होता है वह उसके कारण में सन्निविष्ट माना जाता है। शब्द का स्वरूप असन्निविष्ट है। किन्तु तुल्यरूप के कारण सन्निविष्ट सा जान पड़ता है।

इस दुरुह पाठिका पर भन हरि ने शब्द जाति की पतिष्ठा की है। शब्द के स्वरूप के विषय में भी वक्तिकारों में मतभेद था। कुछ के अनुसार शब्द का स्वरूप ग्राह्य होता है धान्य होता है प्रत्यायक होता है। उसने विपरीत दूसरे वृत्तिकारों ने माना है कि शब्द का स्वरूप ग्राह्य होता है श्रोत्र होता है प्रत्याय्य होता है —

इह केचित् वक्तिकारा पठन्ति—स्वरूप शब्दस्य ग्राह्य भवति श्रोत्र प्रत्याय्य  
वमिति । अपरे तु स्य रूप शब्दस्य ग्राह्य श्रोत्र प्रत्याय्यमिति ।

—वाक्यपनीय १।६६ हरिवृत्ति

जातिवादी आचार्यों के अनुसार शब्द जाति में ही अपने स्वरूप का पन्था है और उगा रूप में वह अग्रजन्म व्यक्ति का प्रत्यायक होता है। इसलिए सभी शब्द स्वप्रथम अपनी जाति स्वाजानि का अभिधान करते हैं। अपनी स्वजाति ही शब्द का अपना अध्यापण रूप है। वक्तिकारों में भी उगा शब्दपूजनार्थक मप्रथम<sup>१</sup> का कर शब्दपूजक अधपग्नान का समर्थन किया है।



अथवा प्राथम्य, हेनाराज के अनुसार, सम्बन्ध व्युत्पत्तिकाल की अपेक्षा से है। सम्बन्ध के व्युत्पत्तिकाल में अथ जाति से सम्बन्ध नहीं रहता गन्त जाति से रहता है। गन्त जाति का सर्वप्रथम ध्यान में रखकर विभक्ति आदि का विनियोग होता है। अतः शब्द सर्वप्रथम अपनी शब्दजाति का अभिधान करता है। यही गन्त जाति स्वरूप गन्त से और स्व जाति शब्द से शास्त्र में वर्णित है। शास्त्र में जिन शब्दों का स्वरूपपरक निर्देश है वही अपने स्वरूप के प्रत्यायक होते ही हैं जिनका अर्थपरक निर्देश है वही गन्त भी सर्वप्रथम अपने स्वरूप का ही सामने लाते हैं। हेनाराज के अनुसार जो गन्त व्युत्पन्न हैं वही भी गन्त में प्रविष्टा भाव से अवस्थित शब्द जाति के ही प्रत्यायक हैं। जिन गन्तों के उच्चारण से अथ अत्यन्त गीघ्र उपस्थित हो जाते हैं शब्द के स्वरूप के साथ ही जहाँ अर्थपरिचय होता है वहाँ भी कम रहता है और शब्दजाति का प्रथम उद्घोषण होता है अथजाति का वाद में होना है क्योंकि व्याकरणदर्शन में अथ शब्द के विवेक हैं। इसलिए शब्द और अर्थ में तात्त्विक भेद न होते हुए भी और शब्द और अर्थ के साथ साथ अवभास होते हुए भी उनमें एक तम है। शब्द अवभास पहले अर्थ अवभास बाद में होता है यद्यपि सूक्ष्म काल के कारण तम का अवधारण नहीं होता।

अथवा सम्बन्ध के व्युत्पत्तिकाल में गौ गन्त के उच्चारण से गौ अर्थ में अर्थ रूप में शब्द और अर्थ में अभेद का अध्यारोप किया जाता है। जैसे गौ वाहीक में किया जाता है। अथवा सामानाधिकरण्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यह अध्यारोप क्यों करता है? इसके उत्तर में हेनाराज की मायता है कि जिस वाच्यवाचक भाव अनादि हैं वही भी अध्यारोप भी अनादि है अपौरुषेय है। कहने की आवश्यकता नहीं कि दूसरे दासनिष्ठा ने विशेषकर धर्मकीर्ति ने इसका खण्डन किया है। व्याकरणों के कहने का अभिप्राय यह है कि अध्यारोप पुरुष की इच्छा पर नहीं होता। पुरुष की इच्छा से जिस किसी शब्द का जिस किसी अर्थ के साथ अध्यारोप मानने से लोक-व्यवहार अर्थवस्थित हो जायगा। इसलिए पुरुष की इच्छा न मानकर लोकानुगत इच्छा प्रत्येक दशा में माननी पड़ेगी। लोकानुगत इच्छा को ही, व्याकरणदर्शन में व्यवहारनित्यता माना जाता है। इसलिए व्यवहारनित्यता के आश्रय से गौ वाहीक आदि स्थलों में अध्यारोप पुरुष इच्छाकृत न होकर लोककृत है। दूसरे गन्त में वह व्यवहारनित्यत्व के आधार पर अवस्थित है। इस अर्थ में वह अपौरुषेय है।

गन्त जाति की अभिव्यक्ति कम होती है? शब्द वर्णसमूह है। प्रत्येक वर्ण में जाति की अभिव्यक्ति नहीं दोगी जाती। वर्ण भी असमयसमयभावी होते हैं उनकी अभिव्यक्ति में तम होता है इसलिए वर्णों द्वारा जाति अभिव्यक्ति संभव नहीं है। इसका उत्तर भट्ट हरि हेनाराज आदि नवशायिक दर्शन के तम के आधार पर दिया है। वर्णविक दान में उत्प्रेषण अवशेषण आदि तम हैं। उत्प्रेषण क्षण का भ्रमण क्षण से सात्त्विक भेद अवगत नहीं होता इसलिए उत्प्रेषण क्षण अकाल नियत जाति के अभिधान से अपने आपका असमय पाता है और दूसरे क्षण का अपेक्षा रखता है। उसमें भ्रमणक्षण से कोई विरोधता नहीं है क्योंकि आरम्भ में ही उत्प्रेषण किया

क कता का भावना प्रयत्न से जनित है। इसी तरह किसी में मन में 'गो' शब्द का उच्चारण रूप यह भावना जब प्रयत्न यद्यपि गान, गगन आदि के प्रयत्न में भिन्न है हनु भेद के कारण ग ग म भी भेद है फिर भी माहृश्य के कारण इस भेद का अवधारण कर्त्तव्य है। इसलिए वणध्वनि व्यञ्जक है किन्तु उसका ध्वजन अस्पष्ट है, उसका अवधारण ठीक में नहीं हो पाता आवतमान, दुहगाय जान पर भी सामान्य विशेष रूप में विग्रह अभावित नहीं कर पाती है। जब वह अवयवमन्तान क्रम से उपलब्ध होता है वह शब्द जानि कहलाती है और सब व्यवहार उससे परिचालित होते हैं। शब्द मूलतः उच्चारण में अथ अवभास उत्पन्न नहीं करता जितना बार-बार दुहराने पर करता है। इसी आधार पर स्फोटवादी वणस्फोट पदस्फोट आदि की कल्पना करते हैं वणपदवाक्यविषया प्रयत्नविशेषाध्या ध्वनयो वणपदवाक्याख्यान स्फोटान पुन पुनराविर्भावयतो बद्धिष्वध्यारोपयति

—वानप्रदीय १।८३ हरिवत्ति।

इसलिए प्रथम अक्षर में कवन जाति का अवभास मात्र होता है आग वाल वणों में स्फुट स्फुटतर रूप में जाति का निर्धारण होता जाता है और इस तरह मस्कार विशेष बन जाता है जिसके आधार पर अभिव्यक्ति विशेष उसी तरह से शीघ्र ग्राह्य हो जाती है जम रत्नपरीशक शीघ्र ही रत्नतत्त्व का समझ लेता है। वयाकरणा के लिए स्फोटितत्त्व रत्नतत्त्व है। शब्दतत्त्व अन्ततः निरवयव है और वह सबप्रथम स्वजाति का वाचक होता है। उसी का शब्दजाति कहा जाता है। जिस तरह रक्त गुण का सम्बन्ध में वस्त्र भी लाल कहा जाता है वस ही शब्दजाति अथ जाति का व्यपदेश के लिए होती है। रक्तगुण और वस्त्र की तरह से शब्दजाति और अयजाति में सम्बन्ध है। अवश्य ही यह सम्बन्ध यहाँ योग्यतालक्षण माना जाता है। सभी शब्द सभी अर्थों का माय योग्यतालक्षण सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं। जैसे गो शब्द नव भिन्न भिन्न अर्थों में व्यवहृत होता है किन्तु प्रकरण आदि के सहारे उसके अर्थ का अवच्छेद (निर्धारण) किया जाता है उसी तरह शब्दजाति से शब्दव्यक्ति अभेद रूप में उपस्थित होती है अयजाति के द्वारा उसके निर्धारण किया जाता है। यह क्रम है। किन्तु प्रत्यायन में अनभेद रहती है। शब्द से च्युरित आश्रय होना पर भी अर्थ के स्वरूप की हानि नहीं होती। उस प्रकार से आश्रय घट के स्वरूप का निराश्रय नहीं होता। शब्द स्वरूप से उपरक्त अर्थ के स्वरूप का लोप नहीं होता। शब्द और प्रकाश दोनों प्रकार के मात्र हैं। शब्दजाति अथजाति से एक होकर जाति काय का संपादन करती है यह वाजप्यायन का दर्शन है। शब्द में रहने वाली शब्द जाति की तरह शब्दजाति शब्द में भी रहने वाली शब्दजाति है। एक ही शब्दजाति प्रयासभेद में भिन्न होकर अभेदप्रत्यय का निमित्त होता है। फलतः उस में भी शब्द जाति मानी जाती है। इस तरह अग्रिम दर्शन के आधार पर शब्दजाति की व्याख्या होना चाहती है।

अन हस्ति न अध्याम का आश्रय न कर भी जाति पदार्थ की व्याख्या प्रस्तुत की है। शब्द के द्वारा विभुद अय जाति का अभिधान होता है। इस पक्ष

सभी प्राणि जाति व सभिप्राय होते हैं। जाति प्राणि भी जाति का ही वाचक होता है। व्याकरणशास्त्र में सामान्य भी सामान्य माना जाता है। बाल भीमाय प्राणि प्रत्यया भेद ग भेद सात्तर इत्ये प्राणि-व्यक्ति में भी जाति का वाचक की रत्न है। व्याकरण शास्त्र में जाति प्रविष्टा व्याकरणशास्त्र में भिन्न रूप में व्याख्या है। विद्याशास्त्र में अनुपपत्तिप्रथा को जाति माना गया है। अनुपपत्तिप्रथा का अर्थ यद्धि म प्रतिभागमान आचार प्रथा व रूप में माना जाता है। इत्ये धीरे विद्या म अध्याय व अध्याय म उमा का सामान्य कहा जाता है। प्राणि व रूप में भी जाति की व्याख्या भन इति न का है। एक ही प्राणि इत्यादि व मत्त म व्याख्या मत्त-विशेष व रूप में है। व्यवहार व निम्न जाति प्राणि व रूप में उमा का अध्याय किया जाता है। मत्त धीरे अध्याय भाष्य मयत्र है। जा मयत्र है व जाति है। जो अध्याय है व व्याख्या है (वाचस्पतीय २ जातिमुद्देश ३२)।

## सत्ताजातिवाद

सत्ता जाति है। इस बात का मूल महाभाष्य में भिन्न जाता है।

स सत्त बुद्ध्या नित्या सत्तामध्यव्यति

—महाभाष्य २। १२३

१ सत्ता पदार्थ व्यवहारित

—महाभाष्य २। १६४

प्राणि वाक्या में इस बात की भनक भिन्न जाती है। किन्तु इस पर अधिक प्रमाण भनक हरि ने होता है और यह बात प्राय उही व नाम से विख्यात है।

सत्ता भिन्न भिन्न पदार्थों में भिन्न होकर सम्पूर्ण भेद व आधार पर जाति कहा जाती है। अर्थ की सत्ता अस्त्व है। उससे अनिरिक्त अर्थ कोई वस्तु नहीं है। गो की गन्ना गत्व है। इस तरह डित्य की भी सत्ता डित्यत्व है। सभी प्राणि सत्ता मात्र के वाचक है। सत्ता जाति है। वही महासामान्य है। महासत्ता है। अभाव का भी बुद्धिविषय आकार से निरूपण होता है। सत्ता से उमा भी सम्बन्ध है। वही प्राणिपदिकार्य है। प्राणिपदिकार्य सत्ता उक्ति प्रसिद्ध है। वह नित्य है। महान आत्मा है। प्राणिनि न त्व और तल प्रत्यय से उसी का निर्माण किया है। य प्रत्यय भाव में होता है। गत्व के प्रवृत्ति निमित्त को भाव कहा जाता है। गत्व का भाव सत्ता व अनिरिक्त और क्या हो सकता है। पदभाष्य विचार की यानि भी वही है। प्रमाणाशक्ति, कालशक्ति सबका स्रोत वही सत्ता है (वाचस्पतीय ३ जाति समुद्देश ३३ ३६)। सत्तावाचक का विवेचन भनक हरि ने सारम प्रादि दशना को नष्टि में भी किया। भनक हरि की यह गली है कि एम प्रमाण पर दूसरे दशना की मायनामा का संकेत करते चलते हैं। हनराज न इस प्रमाण का साराण वा लिया है—सभी प्राणि का वाच्य सत्ता है। फलत जाति पदार्थ की यानि उपपन्न हो जाती है। यद्यपि भनक हरि न द्रव्यपदार्थ के विवेचन में बह्यद्रव्य को उपाधिभेद से भिन्न भिन्न कहा है फिर भी तात्पर्यभेद से अवस्थाभेद समझना चाहिए। जातिपदार्थ पक्ष में प्राणि रूप में

सर्वत्र ब्रह्म विवक्षित है, द्रव्यमदाय पञ्च म ब्रह्म परिनिष्ठित रूप म विवक्षित है—यह दानानि विवक्षित है। वस्तुन परमाय रूप म दाना पञ्चा म अनुगत एव ही तत्त्व है। वह सत्ता है।

## द्रव्य

व्याकरण दशन म वह सब कुछ द्रव्य माना जाता है जिस दद तत कहा जा सक। अथान इद तत मवनाम म वाच्य का नाम द्रव्य है। द्रव्य क इस रूप पर तथा गुणा धार द्रव्य के रूप म पतजलि आदि के मन का उल्लेख यथावसर आग रिया गया है। वाक्यपनीय म द्रव्य समुद्ग एव स्वतंत्र दशन के रूप म है जा मउमे मिला हुआ है, सबम भिन्न है। द्रव्य क दो भेद ह व्यावहारिक और पारमाथिक। पारमाथिक रूप का दशनभेद से निर्देन भत हरि त या किया है

आत्मा वस्तु स्वभावश्च गरीर तत्त्वमित्यपि।

द्रव्यमित्यस्य पर्यायस्तच्च नित्यामिति स्मृतम्॥

—वाक्यपनीय द्रव्य समुद्गे १।

आत्मा वस्तु स्वभाव गरीर तत्त्व न मत्र रूप म द्रव्य का उल्लेख उन त्तिना तर हा चुका था। भत हरि के अपन सिद्धान्त म मय वस्तु का अवधारण अमय वस्तुआ के द्वारा किया जाता है अमयोपाधिक शब्द से सत्य का निरूपण होता है। यह ससार का वचित्रय ह। उपलक्षण द्वारा सत्य का निभास सदा देखा गया ह। वाक शब्द दवदतके गह का पूण रूप स जता ाता है। अमयोपाधिक कुण्डल आदि क पीछे सत्य गुद्ध स्वण निहित है। जम नाडिका से काल का अवच्छेद होता है वम नी आकार म मव्याप्त गति का निर्धारण होता है। वस्तुन तत्त्व और अतत्त्व म भेद नही है। प्रविकल्पित तत्त्व विकल्प रूप म, अविभाज्य काव विभक्त रूप म प्रतीत होता आया है।

आकृति के विलान हो जान पर भी जो अवस्थित रहता ह उस ही सत्य कहा जाता ह। वही पारमाथिक मय है। व्याकरण दशन की पश्यतो वाक उमी का प्रतीक है

सवित च पश्यतीरुपा परावाक शब्दब्रह्ममयीति ब्रह्मतत्त्व शब्दात् पारमा थिकात् न भिद्यते—हेलाराज द्रव्यसमुद्गे १।

इम प्रमग के भत हरि के अनक वाक्य नागाजु न की गली पर है, जम न तवस्ति न तत्रास्ति न तदेक न तत पथक।

न ससष्ट विभक्त वा विकृत न च नायथा।

—द्रव्य समुद्गे १२।

अस्तु व्याकरण दशन म जसा नि कहा जा चुका है द्रव्य क पीछे भी किमी शाश्वत गति क दखन की चेष्टा की गई है। हेलाराज कयट आदि न उमे ब्रह्म नाम दिया है।

## आख्यात और आख्यातार्थ

आख्यात का स्वभाव साम कह जाय और अग्नि भागद्वारा है

भारद्वाजकमाख्यात भाग्य नाम भाष्यते ।

वाग्निष्ट उपसर्गानु निपात काश्यप स्मृत ॥<sup>१</sup>

अस्य यह बात पता है कि आख्यात का सवप्रथम प्रयोग पारिभाषिक रूप में भागद्वारा किया था । अतः सवप्रथम प्रयोग गोपथ ब्राह्मण में मिलता है

ओकार पच्छाम को धातु, कि प्रातिपदिकम् कि नामाख्यात, कि लिंग कि वचनम् का विभक्ति य प्रत्यय इति ।<sup>२</sup>

पाणिनि आख्यात शब्द का प्रयोग पारिभाषिक रूप में नहीं करते । अष्टाध्यायी में केवल आख्यातापदान (१।४।२६) और द्वयजद्ब्राह्मणक प्रथमाध्वर पुरश्चरणनामाख्याताष्टा (४।२।७२) में सूत्रों में आख्यात शब्द का प्रयोग हुआ है । परन्तु पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्य आख्यात शब्द का प्रयोग पारिभाषिक रूप में करते थे । वाग्विज्ञान सूत्रों में आख्यात शब्द पारिभाषिक रूप में मिलता है । जस—

धातु साधने दिशि पुरुष चिति तदाख्यातम् ।<sup>३</sup>

का वाचन न आख्यात साधनान्तरविशेषण वाक्यम् जस वातिका में और महाभाष्यकार न श्रियाप्रधानमाख्यातम् (१।३।६६) जस वाक्या में आख्यात शब्द का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया है । आख्यात शब्द का मूल अर्थ जो कहा जा चुका है ।

आख्यात शब्द की व्युत्पत्ति आख्यायतञ्जन इस रूप में की जानी है

आख्यायते नेन श्रिया प्रधानभूतेत्याख्यातस्तिङ्गत्, कृत्यलुटो बहुलम् इति करणत् स्वनिकायप्रसिद्धिरेषा । टुगाच्चाप न आख्यात की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या यों की है

१ वात्सनेयि प्रातिशाख्य, उ वटभाष्य, ८।५

२ गोपथ ब्राह्मण प्रथमप्रपादक, १।२४,

३ वपभ न वाचस्पत्य १।२ का टीका में उसे काशकृत्तन का सूत्र कह कर उद्धृत किया है । अभिनवगुप्त ने राक्षसप्रयत्ने । विवर्तिवर्मिणी, त्रितीयभाग, पृष्ठ २६५ पर इस सूत्र को उद्धृत किया है ।

आख्यायतेऽनेन गुणभावेन वतमाना अनेककारकप्रविम्वता स्फुरमाणेव प्रधानद्रव्यभावानिपक्त युमुखीभूता क्रिया तस्याद्वय प्राध्यायेन वतमानो भाव स्वात्मतामप्रधान इत्याख्यातम् ।

अथवा

आख्याते स्त्रीपुनपुसकानि क्रियागुणभावेन वतमानायनेन क्रिया च तेषामुपरि प्राध्यायेन वतमानेत्याख्यातम् ।<sup>४</sup>

चन्द्रकीर्ति क अनुसार भू आदि के रूप जिसमें व्यक्त है वह आख्यात है अथवा जो कर्ता के व्यापार को व्यक्त करे वह आख्यात है

आख्यायते कथ्यते अर्थात् निष्पाद्यते स्वादीना रूपाणि येन तदाख्यातम् ।

अथवा आख्याति आचक्षते क्तु वर्णपारमित्याख्याता ।<sup>५</sup>

नघुयामकार क अनुसार क्रिया का प्रधान रूप में अथवा मात्र अर्थ का व्यक्त करने वाली के रूप में होना आख्यात है

आख्यायतेऽनेन क्रिया प्रधानत्वेन साध्यर्थानिधायितया वेत्याख्यातम् ।<sup>६</sup>

भक्त हरि के पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा किये गये आख्यात के कुछ लक्षण निम्न लिखित हैं

भावप्रधानमाख्यातम् । पूर्वापरीभूत भावमाख्यातेनाचष्टे ।

—निरुक्त १।६, ११

तदाख्यात येन भाव सधातु ।—ऋक्संप्रतिशाख्य १।२।१६ ।

क्रियामु बहु वीष्वमिसश्चितो य पूर्वापरीभूत इहैक एव ।

क्रियामिनिव त्तिवशेन सिद्ध आख्यातगद्देन तमयमाह ॥

—बृहद् देवता १।४४ ।

आविष्टलिंग आख्यात क्रियावाचि —कौटिल्य अथशास्त्र २।१०।२८ ।

येषा तूत्पत्तावर्थे स्वे प्रयोगो न विद्यते तानि आख्यातानि ।

—मीमांसा सूत्र २।१।४ ।

क्रियाप्रधानम् आख्यातम् ।

महाभाष्य ५।३।६६ ।

उपयुक्त सभी लक्षणा में आख्यात का क्रियावाचकत्व समान है । वाक्यपनीय में भी जमाति क्रिया आख्यातपद निबन्धना (वाक्यपनीय १।१३ हरिवर्ति) आदि स्थला में आख्यात का क्रियाप्रधानरूप ही अधिक वर्णित है । क्रिया के स्वरूप पर आग विचार किया जायगा ।

आख्यात चार रूपा में रखा जाता है—कर्त्ता में भाव में कर्म में और कर्म-कर्त्ता में । पद्यति जैसे गाना में कर्त्ता में । भूयत पच्यते जम गाना में भावकर्म में ।

४ दुगाचार्य, निम्बल-टीका १।१।६

५ श्री चित्तेश्वरद्वयचन्द्र द्वारा टेक्निकल गैम एगज टेक्निक आफ मन्त्रन ग्रामर, प्रथमभाग, पृष्ठ ६६ पर उद्धृत

६ अहो, पृष्ठ ४८

## आख्यात और आख्यातार्थ

आख्यात व दवना साम कह जात ह और अपि भारद्वाज है

भारद्वाजकमार्यात भागव नाम भाष्यते ।

वाणिष्ठ उपसगस्तु निपात काव्यप स्मृत ॥<sup>१</sup>

इसमें यह बात पड़ता है कि आख्यात का सर्वप्रथम प्रयोग पारिभाषिक रूप में भारद्वाज ने किया था । इसका सर्वप्रथम प्रयोग गोपथ ब्राह्मण में मिलता है

ओकार पच्छाम को धातु, कि आतिपदिकम् कि नामाख्यात, कि निग, कि वचनम् का विभक्ति क प्रत्यय इति ।<sup>२</sup>

पाणिनि आख्यात शब्द का प्रयोग पारिभाषिक रूप में नहीं करत । अष्टाध्यायी में बसल आख्यातप्रयोग (१।४।२६) और द्वयजदब्राह्मणक प्रथमाध्वर पुरश्चरणना माख्याताट्टा (४।२।७२) इन सूत्रों में आख्यात शब्द का प्रयोग हुआ है । परन्तु पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्य आख्यात शब्द का प्रयोग पारिभाषिक रूप में करत थे । वाग्वृत्त्यन सूत्रों में आख्यात शब्द पारिभाषिक रूप में मिलता है । जैसे—

धातु साधने दिशि पुरुषे चिति तदाख्यातम् ।<sup>३</sup>

वाक्यायन ने आख्यात साध्यकारकविगणन दास्यम् जैसे वार्तिकों में और महा भाष्यकार ने सियाप्रधानमाख्यातम् (५।३।६६) जैसे वाक्यों में आख्यात शब्द का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया है । आख्यात शब्द का मूल अर्थ जो कहा जा चुका है ।

आख्यात शब्द की व्युत्पत्ति आख्यायतन्त्रन इति रूप में की जाती है

आख्यायते नेन सिया प्रधानभूत आख्यायतनितङ्गत्वं कृत्यतुष्टो बहुलम् इति करणत्वं स्वतिकायप्रसिद्धिरेषा । दुगाचार्य ने आख्यात की व्युत्पत्तिमान् आख्या या की है

१ वाचस्पतीय प्राविशाल्य, उ वभाष्य, ८।।

२ गोपथ ब्राह्मण प्रथमपाठक, १।२४,

३ उपरान्त वाचस्पतीय १।२ का २ वार्तिक में इस काशज्जन का मूल कह कर उद्धृत किया है । अभिनवगुप्त ने भाष्यपर प्रथम । चिन्तिवर्मशर्मा त्रितीयभाग, पृष्ठ २६५ पर इस मूल को उद्धृत किया है ।

ग्राह्यायतेऽनेन गुणभावेन वतमाना अनेककारकप्रविभक्ता स्फुरमाणेव प्रधानद्रव्यभावामिव्यक्त यु-मुखीभूता त्रिया तस्याश्च प्राध्यायेन वतमानो भाव स्वात्मलानप्रधान इत्याद्यातम ।

अथवा

आद्याते स्त्रीपुनपु सकानि क्रियागुणभावेन वतमाना-यनेन क्रिया च तेषामुपरि प्राध्यायेन वतमानेत्याद्यातम ।<sup>४</sup>

चन्द्रनीति के अनुसार भू आदि के रूप जिमसे व्यक्त हो वह ग्राम्यात है अथवा जो कृता के व्यापार को व्यक्त कर वह ग्राम्यात है

आद्याय-ते कथ्यते अर्थात् निष्पाद्यते स्वादोना रूपाणि येन तदाद्यातम । अथवा आद्याति आचक्षते कतु-व्यापारमित्याद्याता ।<sup>५</sup>

नष्टायामकार क अनुसार क्रिया का प्रधान रूप म अथवा मा-य अथ को व्यक्त करन बानी के रूप म होना ग्राम्यात है

ग्राह्यायतेऽनेन क्रिया प्रधानत्वेन साध्यर्थाभिधायितया वेत्याद्यातम ।<sup>६</sup>

भत हरि के पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा त्रिय गये ग्राम्यात क कुछ लक्षण निम्न लिखित हैं

भावप्रधानमाद्यातम । पूर्वापरीभूत भावमाद्यातेनाचष्टे ।

—निरुक्त ११६, ११

तदाद्यात येन भाव सधातु ।—श्रुवप्रातिशाह्य १।२।१६ ।

क्रियासु बहु वीप्वभिसश्रितो य पूर्वापरीभूत इहैक एव ।

क्रियामिनिव त्विशेन सिद्ध आद्यातशब्देन तमयमाह ॥

—बृहद देवता १।४४ ।

आदिष्टलिङ्ग आद्यात क्रियावाचि

—कौटिल्य अथशास्त्र २।१०।२८ ।

येषा तूत्पत्तावयै स्वे प्रयोगो न विद्यते तानि आद्यातानि ।

—मीमांसा सूत्र २।१।४ ।

क्रियाप्रधानम आद्यातम ।

महाभाष्य ५।३।६६ ।

उपयुक्त सभी लक्षणा म ग्राम्यात का क्रियावाचकत्व समान है । वाक्यपनीय म भी 'ज-माति क्रिया ग्राम्यातपत् त्रिधना (वाक्यपनीय १।१३ हरिवर्णि) आदि स्थला म ग्राम्यात का क्रियाप्रधानरूप ही अधिक वर्णित है । क्रिया के स्वरूप पर आगे विचार किया जायगा ।

ग्राम्यात चार रूपा म द्वा जाता है—कर्त्ता म भाव म, रम म और रम-कर्त्ता म । पचति जसे गन्ता म कर्त्ता म । भूयत पच्यते जैम गन्ता म भावमम म ।

४ दुर्गाचार्थ, निम्न-श्लोका १।१।६

५ श्री त्रिशाराङ्ग चर्क्या तारा टेकनिकल र्म्म एण्ड टेकनिक आध मन्दृत ग्रामर, प्रथमभाग, पृष्ठ ६६ पर उद्धृत

६ बहो, पृ ८८



घोर पक्ष्याः स्वयमेव जगन्मयानां मन्मथता म । इति भाष्ये व्यास उक्तं च प्रथमं विवक्षितं तां मन्मथ प्रवृत्तां तां है विद्या ही प्रवृत्ता तां है । उक्तं विद्या को कथा हुआ घोर स्वयं उक्तं विद्या मन्मथमान तां तथा व्यास आख्यात का मन्मथ तां है ।

## आख्यात के अर्थ

वर्तित जगन्मयात् च उच्चारण मन्मथं शक्तो को प्रवृत्ति तां है । तां व्यास विद्या को प्रवृत्ति तां है । व्यास आदि कथा को प्रवृत्ति तां है । प्रथम मन्मथ आदि पुष्प को प्रवृत्ति तां है । वर्तित मन्मथ पुष्प का वर्तित मन्मथ की घोर पक्ष्या मन्मथ की । कन्मथानिपत्तानिपत्त तां मन्मथ को प्रवृत्ति तां है । पक्ष्या मन्मथ आदि व्यासनाथ च उच्चारण मन्मथानिपत्त का प्रवृत्ति तां है । घोर वर्तित वर्तित आदि पक्ष्या मन्मथ प्रवृत्ति मन्मथानिपत्त की प्रवृत्ति तां है । व्यास की भी प्रवृत्ति तां है । वर्तित मन्मथ पक्ष्या मन्मथ की । मन्मथ भा प्रवृत्ति तां है । वर्तित मन्मथ पक्ष्या मन्मथ वर्तित मन्मथ आदि । मन्मथ विद्या काल पुष्प उपग्रह माधन घोर मन्मथ च व्यास मन्मथ प्रथम मान जात है । फलत इह तां व्याकरणान्त मन्मथानाथ कथा जाता है ।

विद्या काल पुष्प उपग्रह माधन घोर मन्मथ च मन्मथ व्यास च प्रथम है इमं कोर्द विद्या नहीं है । सभी व्याकरण मन्मथ मत का मानत है । व्यासानुक्तं यत् २।१।६७ सूत्र च भाष्य मन्मथानिपत्त न विद्या है

तिष्ठमिहितं भावेन कालपुरुषोपग्रहा अभिव्यक्त्यन्ते तिष्ठमिहितो भावो वर्त्ता समुपपद्यते ।

प्रथमाया रूप २।१।६६ च भाष्यविवरण मन्मथ न भी व्यास च विद्या काल उपग्रह आदि अर्थ मान है

कालसहस्राक्षानुपग्रहामिधानेप्याख्यातस्य क्रियाप्रधानत्वावगमः ।

स्वी तरह महाभाष्य के व पुनर्निर्णय पर विष्णुणी करत हुय कथन न लिखा है नि काल साधन, मन्मथ पुष्प, विद्या और उपग्रह य तिष्ठ हैं । (कालसाधनसहस्रा पुष्प क्रियोपग्रहपस्तिडय —महाभाष्यप्रदीप २।२।१८) ।

भत हरि न भी विद्या काल पुष्प आदि ता ग्रहण व्यासनाथ के रूप म विद्या है

प्रवृत्तिज मादि विद्या व्याख्यातपदनिबन्धना । तस्या प्रवृत्तिरिति समाख्याता यास्तत्त्व साध्यं च साधनाकाक्षता कमरूपोपग्रहकालाभिव्यक्तिहेतुत्वम् ।

—वाक्यपदीय, हरिवर्ति १।१३ ।

क्रियासाधनकालादयोर्जपि कश्चित् कथञ्चिदभिधेयत्वेन प्रविभक्तता ।

—वाक्यपदीय, हरिवर्ति १।२६ ।

इन उपाहरणा म स्पष्ट है कि वाक्यपदीयकार के मत म व्याख्यात के उपपुस्त हो अर्थ है । विद्या काल, पुष्प आदि का व्यासनाथ के रूप म ग्रहण व्यासकारिक भी

वरत हैं। अभिनवगुप्त ने स्पष्ट ही लिखा है

तिङ्-तपदानुप्रविष्टस्यापि अथकालपस्य कारककालसंस्थोपग्रहपस्य मध्यऽ-  
वयव्यतिरेकाम्या सूक्ष्मदशा भागगतमपि व्यजकत्व विचायम् ।<sup>७</sup>

साधन काल आदि का आख्याता के रूप में सब प्रथम संकेत का शकृत्सूत्र में मिलता है। एक सूत्र का रूप है—धातु साधन दिशि पुष्पे चिति च तदाख्यातम्। लिङ् निमित्ति विभक्तौ एतन्नाम'। इस सूत्र के काशकृत्सूत्र व्याकरण के होने में वषभ दव और अभिनवगुप्त के प्रमाण ऊपर दिये जा चुके हैं। यह सूत्र अत्यन्त प्राचीन है। इसमें प्रमाण यह भी है कि इस सूत्र में मर्या के अर्थ में चिति शब्द का प्रयोग हुआ है। दिक् का अर्थ क्रिया और काल है (दिक् शब्द न क्रियाकालश्चाच्यत वषभ (पृष्ठ ४१)। आख्यात 'ग' का प्रयोग और आख्यात के अर्थ रूप में क्रिया, काल साधन पुष्प मर्या आदि का उल्लेख भी एक साथ हो गया है।

अप्युक्त आख्यातार्थों का व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से विवरण अगले अध्याय में वाक्यपदीय के आधार पर किया जाएगा।

## क्रिया विचार

आख्यातार्थों में क्रिया की प्रधानता

क्रिया आख्यातगम्य है यह सूत्र के अध्याय में सिद्ध किया जा चुका है। आख्यातार्थों में क्रिया ही प्रधान मानी जाती है। महाभाष्यकार ने क्रिया प्रधानमाख्यात भवति<sup>१</sup> कहा है। 'यामकार' ने भी क्रिया और साधन दाता का आख्यात का वाच्य मानते हुए क्रिया का ही उसका प्रधान अर्थ माना है

आख्यातस्य यद्यपि क्रियासाधनञ्चोभय वाच्य, तथापि तस्य क्रियैव प्रधान मयः ।<sup>२</sup>

यथाकिं जय पूछा जाता है 'वेदन्त क्या कर रहा है' तो ऐसे प्रश्न का उत्तर क्रिया द्वारा ही दिया जाना है जम वह पका रहा है (पचति)। एक पद उपात्त कारक की अपेक्षा भी क्रिया की प्रधानता दृष्टी जाती है (एकपदोपात्ताथ पेक्ष च क्रियाप्रधानत्वमभिधीयते महाभाष्य प्रदीप १३।६६)। ग्रीहीन अवहति जस वाक्या में ग्रीहि द्रव्य के संस्कारक होने के कारण अवघात की अप्रधानता है। अथवा यद्यपि अथ (द्रव्य) की दृष्टि से ग्रीहि की प्रधानता है फिर भी क्रिया के साध्य हान के कारण शब्द की दृष्टि से उसी की प्रधानता है न कि ग्रीहि की। भूत की अपेक्षा भविष्यकाल में हान दाता (भाव्य) ही

७ ध्वन्यालोक लोचन २।१६ पृष्ठ १८  
(चौदन्वा मत्करण)।

१ मन्नाय, ५।१।६६

२ काशिका त्रिवर्णपत्रिका ५।३।, पृ० ४७

[illegible]

त्रिया का प्रयक्ष नहीं होता । वह अनुमय मानी जाती है । यदि त्रिया न होती द्रय हा द्रय होता तो फलजनकता का रूप समझाया नही जा सकता । यदि पाक और पाठ में कोई भेद न हो उनके फल में भी भेद होना कठिन है । इसलिए कारक व अतिरिक्त किंतु कारक व अनित नमस्वरूपवादी भिन्नलक्षण बाद वस्तु है ऐसा अनुमान करना पड़ता है । वही त्रिया है । महाभाष्य में भूवादया शतव १।३।१ सूत्र की याख्या में इस सवाद पद्धति से या यक्त किया गया है

क्रिया किस कहत है ?

क्रिया इहा का कहत है ।

इहा किस कहत है ?

इहा चेष्टा का कहत है ।

चेष्टा किस कहत है ?

चेष्टा व्यापार का कहत है ।

आप तो केवल एक शब्द के अन्तर्गत दूसरे शब्द कहत चल जा रहें हैं । यदि अथ स्वरूप मामल नहीं लात जिससे जात हो कि क्रिया क्या है ।

क्रिया एक एभी वस्तु है जो अत्यन्त अपरिच्छिन्न (अपरिच्छिन्न) है उसका प्रयत्न नहीं होता । परमाणुआ व पिण्ड की तरफ क्रिया का पिण्डाभूत कोई रूप नहीं होता । कुतस्थ गम की तरह क्रिया अप्रयत्न होती है अथवा जैम कुम्भि से बाहर आयत्त गम का प्रयत्न होता है वस क्रिया का प्रत्यक्ष नहीं होता । वह अनुमान से जानी जाती है । सभी साधना के रहत हुए कभी पचति का व्यवहार जाता है और कभी नहीं जाता । जिस साधन के रहत हुए पचति का व्यवहार होता है और जिसके न रहत से नहीं होता है वह अवश्य क्रिया है । अथवा तेजान्तरप्राप्तिक्षण काय से क्रिया रूप कारण का अनुमान होता है । स्वप्न यहा या कुछ समय बाद पात्रिपुत्र में दिखाई देता है । उसके स्थानान्तर होत से अवश्य कोई न कोई व्यापार कारण है । यही क्रिया है । अतः क्रिया अनुमान से जानी जाती है ।

क्रिया के अनुमान से कुछ कठिनाइयाँ हैं । पहला प्रयत्न के आधार पर सम्बन्ध ग्रहण हो तो अनुमान ही संभवता है । फल और व्यापार में जयजनक भाव के प्रत्यक्ष ज्ञान के बाद ही कार्यकारण भाव का अनुमान संभव होगा । यहा तब प्रयत्न की प्रवृत्ति ही नहीं है क्रिया विषयक अनुमान भी संभव नहीं है । हम आपने का उत्तर यह है कि एक एक क्षण का प्रयत्न होता है । धातुवाच्य समूह का युगल मतिधान संभव नहीं है । मतिग उसका प्रत्यक्ष भी नहीं होगा कि तु एक एक क्षण का (अधि श्रयण स्थान्युपस्थापन आदि का) प्रत्यक्ष होता है । बुद्धि के सहारे उन सभी क्षणों का एकत्र सकलन कर पचति का प्रयोग किया जाता है । तब एक ही क्षण के लिए (कवच अधिश्रयण आदि के लिए) पचति का प्रयोग किया जाता है एक ही क्षण से समूह का आराध कर दिखा जाता है । यह शक्ति के स्वभाव के कारण एक क्षण धातुवाच्य नहीं माना जाता । कुछ लोग कहेंगे कि मति में अधिप्राण आदि भी एक श्रयणजनक नहीं होते । उनसे भी तब का पसारना पात्र का आदान चुलती मयाजन आदि अवयव होता है इसलिए केवल अधिश्रयण भी समूह रूप होता है । उसका भी जो अवयव परमाणु रूप होगा वह शक्ति के स्वभाव के कारण नहीं माना जायता है और न उसका प्रयत्न होता है । अतः मति के वन पर सम्बन्ध का ग्रहण कर क्रिया विषयक अनुमान होता है ।

कुछ लोग मानते हैं कि पचति यह प्रपञ्चा (बुद्धि) निरात्म्य होती है । निरात्म्य होने के कारण भाव नहीं होता । भाव होने के कारण अनुमान नहीं हो सकती ।

फलन क्रिया का अनुमेय मानना ठीक नहीं है। यदि पक्षि की प्रस्था सालम्बना मानी जाय तो क्रिया का प्रत्यय मानना ही उचित है (ननु पक्षीति प्रस्थाया निरालम्बनत्वन भ्रान्त्यादनुमापकत्वमयुक्तं स्यात् । सालम्बनत्वं तु प्रत्ययैव क्रिया प्रख्याविशेषविषयत्वान्)।<sup>३</sup> इसका उत्तर यह कहना जाता है कि व्याकरणशास्त्र में वस्तुरूप अथ अर्थ नहीं है अपितु शब्द का अर्थ अर्थ है। अर्थ-प्रतिरेक के आधार पर धातु भाग का जो अर्थ निश्चित किया जाता है उसकी उपलब्धि साक्षान् सम्भव नहीं है। द्रव्य स्वभाव मिथ्य होता है। यद्यपि क्रियन जस वाक्या म जिनम साध्यावस्था भी व्यक्त है द्रव्यस्य समानाकारावलम्बन प्रत्यय सत्तान्नान् उत्पन्न करत हैं। किन्तु घट क्रियते म घट की जो भाव्यमानावस्था है जो शिवक स्तूपन आदि अवस्थाओं से भ्रमण अभि-  
 यक्त होती है उसकी प्रतीति घट शब्द से नहीं होती। उसकी प्रतीति तो क्रियत जस क्रिया पद के प्रयोग से ही सम्भव है। किसी शब्द का वही अर्थ होगा जो पदांतर निर-  
 पेश रूप में अवयव व्यतिरेक के द्वारा सिद्ध होता हो। इस आधार पर घट से केवल सत्ता आकारक बोध होता है। इसीलिए सत्ता को प्रातिपदिकाथ माना जाता है। क्रियापद के प्रयोग से (जग क्रियत शब्द से) आश्रितकर्मण्य अर्थ को साध्यावस्था की प्रतीति होती है। इसलिये तिङन्त का अर्थ भाव्यमान रूप में गहीत होता है। तात्पर्य यह है कि शब्दार्थ अभिधेय के रूप में नित्य माने जाते हैं। जहां भूत या भविष्यत्काल का उल्लेख होता है जस घट अभूत घट भविष्यति आदि एव स्यना म भी अर्थ अभिवय के रूप में नियत मान जाते हैं क्योंकि उन स्थला म भी सत् आकारक ज्ञान होता ही है। इसलिये शब्द रूप में भाव्यमाना क्रिया होती है। अस्मीति ध्वनति जस शब्द म क्रियात्व माना जाता है। फलन अवयवव्यतिरेक के आधार पर द्रव्य म क्रिया का अनुमान होता है (तदेवमवयवव्यतिरेकाभ्यां द्रव्यादनुमिता क्रिया हेताराज घटी)। अनुमान का प्रकार नागेन निम्नलिखित रूप में प्रकट किया है—

अनुमान त्वेवम उत्तरदेशसयोगादिकल कारणजय कायत्वादिति । तच्च कारण प्रतिष्ठातिरेके इतरबाधकबलात् क्रियारूपमेव प्रतिष्यतीति भाष्यता त्वयम् ।—महाभाष्यप्रतीषोद्योत १।३।१

भत हरि न क्रिया विषयक अनुमान या स्पष्ट वर्णन न किए कई प्रकार के ता-  
 मामन रत हैं। यदि क्रिया का सम्बन्ध मन वस्तु में ही होता है। क्रिया तज भ्रमण म-  
 गत रूप जान है समूह रूप में जान है अस्मीति इन्द्रियमतिक्रमज्ञान के विषय व-  
 र्णक में नहीं आ सकते। जहां क्रिया का एक ही क्षण है वहां भा समूह का पौत्राय-  
 रूप में अध्यास होता है पौत्रायण्य म ही क्रियात्व जाना है। अस्मीति क्रिया-  
 इन्द्रियविषय रहा है। फिर भी उनका ज्ञान होता है और वह अनुमय ही कहा जायगा।  
 गो अत्र आदि वण ममुनाय जिम तरह मस्वारक्रम में परिणाकप्राप्त अन्यत्रि-  
 निराह्य जान हैं उमी तरह क्षणममात्रागमिका क्रिया ममुनायण्य म फलानुमय माना

३ हलायज बाधक ३, त्रिभुवनपुरे १९०८, त्रिभुवन म महाजन म राज क-  
 मरकरण में दत्त का पत्र ४ म २ म है।

जाती है। उसमें वतमानक्षणगत इन्द्रियसम्बन्ध के आधार पर प्रत्यक्षत्व आरोपित रहता है और उसमें एकत्व का भान भी आपाततः होता है। भन हरि ने इसके स्पष्टीकरण में अलातचक्र का उदाहरण दिया है। जिस तरह तजी से घूमते हुए अलातचक्र में भ्रान्ति से चक्राकार का अध्वाराप होता है उसी तरह क्रियाश्रयण में भी एकत्व की परिकल्पना और प्रत्यक्ष का अभिमान होता है। जिस तरह से पक्षि के अधिश्रयण आदि भाग है उसी तरह अधिश्रयण आदि का भी स्वसंस्कारक अवयव है। अतः पौवापय उन अवयवों में भी ज्ञान के कारण वे प्रत्यक्ष से परे की वस्तु हैं। जो पक्षि-वर्ती निरग क्षणमात्र है उसके लिए क्रिया शब्द का प्रयोग नहीं होता। तात्पर्य यह है कि व्याकरणशास्त्र में वास्तविक भेद का विचार नहीं है। जहां तक शब्द का सम्बन्ध है शब्द से क्रिया समूहात्मा रूप में ही भासित होती है यद्यपि वह क्षणमात्रस्वभावमयी है और विप्रकीर्ण अवयव वाली है। अतः क्रिया का सत्त्व होना और अतीन्द्रिय होना माना सिद्ध होता है। और यदि कभी निरग क्षणमात्र (अपवयवपय से अनुप्राप्त) के लिए क्रिया शब्द का प्रयोग हुआ भी तो वहां भी पूर्वोक्त भाग की कल्पना से पौवापय नाम अध्वयवसित होना है। फलतः वह भी आख्यातवाच्य है। इसी आशय से निष्कर्षकार ने भी पूर्वापरीभूत भाव का आख्यातवाच्य माना है (वाक्यपदीय ३, क्रियाममुद्देश ६ १०)।

कुछ लोग मानते हैं कि क्रिया अनित्य है। जिस तरह व्यक्ति में आकृति अभिव्यक्त होती है उसी तरह अधिश्रयण उदकासेचन तण्डुलावपन आदि में क्रिया अभिव्यक्त होती है।

कुछ अन्य आचार्य मानते हैं कि क्रिया उत्पन्न होती है अभिव्यक्त नहीं होती। जब दीप से घट की अभिव्यक्ति होती है घट की सत्ता पूर्व सिद्ध होती है। क्रिया के लिए अभिव्यक्त पक्ष स्वीकार करने में अधिश्रयणादि में पूर्व क्रिया की सत्ता माननी पड़ेगी।

कुछ आचार्य मानते हैं कि जिस व्यापार के अनन्तर फल की निष्पत्ति होती है वही क्रिया है। पक्षि में वस्तुतः क्रिया विचटन (तण्डुल के अवयवों का फूट जाना) विविलित्ति रूप व्यापार है। क्याही विचटन का बाद ही आग्निरूप फल की निष्पत्ति होती है। अधिश्रयण आदि विचटन के पूर्व के व्यापार आदन की निष्पत्ति में साक्षात् उपकारक नहीं होता। इसलिए उन्हें यथाय रूप में कारक (माधन) नहीं कहा जा सकता। अधिश्रयण आदि के लिए पक्षि का प्रयोग प्रधान विचटन क्रिया का अधिश्रयण में अध्यास से होता है। अथवा यो कह सकते हैं कि अधिश्रयण आदि विचटन क्रिया के सहायक है। अतः उनमें क्रियात्वं उपचरित है वास्तविक नहीं। उनमें क्रियात्वं तादर्थ्य के आधार पर माना जाता है। जिस तरह से तादर्थ्य के कारण म्यूणा में इन्द्र का आरोप करते हैं उसी तरह से अन्य अवयवों में क्रिया रूप का आरोप करते हैं। महाभाष्य का अर्थ है कि पक्षि प्रधानोऽयं यासौ तण्डुलानां विविलित्तिरिति यह वाक्य भी इस मत का पापक है। इसी मत के आधार पर क्रिया और व्यापार में भेद नहीं किया जाता है। जिससे फल की निष्पत्ति होती है। उस अन्त्य भाग में

मात्र म है न ति पातुताप्रत्य म । जिस कारक की जा प्रवृत्ति है वही क्रिया है । पात्र क्रिया भा घात कारका म सम्बद्ध होने क कारण घनत हैं । घातु म कवल कुछ का ही अभिधान होता है कभी वगमन क रूप म जैसे पच्यत और कभी कतु गत क रूप म जैसे पचति । घनत्व घना और कम म ही तारक का सम्बन्ध होता है उहा क व्यापार का ही घातु स अभिधान होता है ।

कुछ व्याख्याता प्रवृत्तिविशेष म विशेष पद पर जात दन ह । प्रवृत्तिया क विशेष को व प्रवृत्तिविशेष मानत हैं । कभी कारका स अय विवृति आति रूप भूति (भवत) क्रिया है क्याकि कारक की प्रवृत्ति का फल वही है ।

कुछ लोगो के अनुसार यहा कारक स अभिप्राय प्रधानकारक-वर्तमान है अत्र धान कारण आति म नही । कारकाणा पद म बहुवचन इस बात का धानक है कि क्रिया भेद से कत भेद होता है और अनेक क्रिया क अनेक वन है । अनेक वनत्व को दष्टि म रख कर कारक शब्द म बहुवचन का प्रयोग हुआ है । कोई कह सकता है कि तब कारकाणा क स्थान पर वन पद का ही प्रयोग क्या नही किया । इसका समाधान यह है कि कम म भी तकार दिया जाना है उसका निराकरण न हो इसलिए कत के वन्ते कारक शब्द का व्यवहार उस लक्षणवाक्य म किया गया है । जहाँ कम की सम्भावना है वहाँ कम का व्यापार भी क्रिया है । विशेष बात यह है कि कम का विषय उतना व्यापक नही है जितना व्यापक कता का है इसलिए व्यापक होने क कारण कर्ता ही यहा विवृति है । इसम प्रमाण—अथवा च कारकाणि गुप्त्वोत्तन प्रवृत्त ते अथवा च मासौत्तने—(महाभाष्य १।३।१) यह वाक्य है । कर्ता मूखे ओदन की ओर मद रूप म प्रवृत्त होता है पर मास युक्त ओदन की ओर उसकी प्रवृत्ति वगमयी होती है । मदप्रयत्न या सरम्भमय प्रस्थान स यह स्पष्ट हो जाता है कि यहा कारक मद मे कता ही अभिप्रेत है । उमी की प्रवृत्ति देखी जाती है । वही चेतन भी ह अतः प्रवृत्ति उसी मे सम्भव भी है । भाष्यकार ने क्रिया को मद प्रवृत्ति अथवा वगमयी प्रवृत्ति क रूप म स्वयं व्यवहृत किया है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि कर्ता की विशेष प्रवृत्ति ही क्रिया है । इस मत म कुछ लोग त्रुटि दिखात हुए कहत है कि यदि क्रिया को प्रवृत्तिविशेष रूप म मानगे तो चेतन कर्ता तो गहीत हाग परन्तु अचेतन कर्ता गहीत न हा सकग । अचेतन होने के कारण उनम प्रवृत्ति सम्भव नही है । इसक अतिरिक्त मासौत्तन म कारण आदि का भी हाथ हो सकता है । इसलिए कारक शब्द स कवल कर्ता ही निदिष्ट है ऐसा मानना युक्तिसंगत नही जान पडता । इस आशेष का उत्तर यह है कि सरम्भ सामान्य का कर्ता म ही होना सम्भव है । थाली अथवा अय अधिकरण आदि कारक स्वयं ओदन की ओर मद रूप म अथवा वेगरूप म प्रवृत्त नही हाते । कर्ता कम का सामान्य रूप म ग्रहण होने क कारण अचेतन प्रवृत्ति उनम भी सम्भव है । वार्तिककार ने न का तुल्यकारणत्वाद इच्छाया हि प्रवृत्तित उपलब्धि (महाभाष्य ३।१।७) कहा है चेतन और अचेतन म इच्छा की प्रवृत्ति देन कर ही । इच्छा चेतन दमदत्त मे जस है वस ही अचेतन कूल म भी है । इसीलिए कून पिपतिपति प्रयोग किया जाता है । भाष्यकार ने इस स्पष्ट करत हुए

कहा है कि प्रवृत्ति स इच्छा जानी जाती है। दबल जब चटाई बनाना चाहता है चि ला चिन्ना कर नहीं कहता कि मैं चटाई बनाऊंगा अपितु उसके हाथ म रज्जु कांनक पून आदि को दब कर उसकी चटाई बनाने की इच्छा का पता चल जाता है। इसी तरह कूल की प्रवृत्ति म उसकी इच्छा जानी जा सकती है। कूल जग गिरन को हाना है लोप्ट विगीण हाकर गिरन लगत है दरार पड जाती है और कूल एक स्थान से दूसरे स्थान पर गिर कर चला जाता है (कूलस्यापि पिपितिपतो लोप्टा गीयते भिदोपजायते, देशाददेशा तरमुपसक्रामति महाभाष्य ३।१।७)। सबस्य वा चतनत्वान् वातिक महाभाष्य ३।१।७ म उन्निगित दशन के अनुमार अचतन म भी चतनता सम्भव है। पदार्था की उपलब्धि विचित्ररूप म हाने क कारण सबत्र चतय उपलब्ध नहीं हाना (विचित्रयेण च पदाथानामुपलम्भान् सबचेतनधमप्रमग सबत्रनोभावनीय — महाभाष्यप्रतीप ३।१।७)। दूसरी बात यह है कि भाष्यकार न आदान या माम आदान की ओर मद या वगवनी प्रवृत्तिको दिखा कर प्रवृत्तिविशेष की ओर सकेत किया है। इसका तात्पर्य यह है कि कता की विशिष्ट प्रवृत्तिको क्रिया कहते हैं। प्रवृत्तिविशेष का भाव प्रवृत्ति का ही विशेष (प्रवृत्तरव विगप) है। कारक क स्थान पर खल वत प नहो कहा इसलिए कि कम का भी यथा स्थान ग्रहण हो सके कम का भी व्यापार निया क रूप म प्रतीत हाता है जसा कि ऊपर कहा जा चुका है। इस मत म एक कठिनाई और है। भाष्यकार न एक स्थान पर कहा पच का प्रधान अथ क्या है? तण्डुला की जो विक्लित्ति है वही प्रधान अथ है (अथ क पचे प्रधानोय — यासो तण्डुलाना विक्लित्तिरिति—महाभाष्य ३।१।२६)। अब यदि कत व्यापार का ही क्रिया माना जायगा और वही धातुवाच्य हागी महाभाष्यकार क उपयुक्त कथन के साथ विरोध हागा। क्योंकि विक्लित्ति कता का व्यापार नहीं है कता का व्यापार अधिक से अधिक विक्लित्ति है। विक्लित्ति ता पन है व्यापार नहीं। पर म आशेष का समाधान सरल है। वस्तुन विरोध नहीं है। महाभाष्यकार न विक्लित्ति का पच का प्रधान अथ वस्तु अथ की दृष्टि से कहा है न कि शब्द की दृष्टि स। अथ की दृष्टि स विक्लित्ति ही प्रधान है और शब्द की दृष्टि स विक्लित्ति सहित विक्लित्ति अथ प्रधान है। कम म लकार मानने पर विक्लित्ति अथवा विक्लित्ति सहित (उपसजन रूप म) विक्लित्ति अथ प्रमाण है ऐसा कुछ लाग कहते हैं। अस्तु इस मत के अनुसार कर्ता और कम के व्यापार ही क्रिया है और क्रिया ही धातु है। मप्रदान अपादान आदि क व्यापार धातु वाच्य नहीं है इसम कारण न शक्ति स्वभाव है। परंतु कयट क अनुसार मप्रदान अपादान आदि म भी व्यापार है। जैसे मप्रदान का अनुमनन अपादान का अवधि रूप म अवस्थान आदि। प्रतीयमान व्यापार भी कारक के व्यपदेश म निमित्त हाता है—

शब्दशक्तिस्वाभाव्याच्च अपादानसंप्रदानव्यापारे धातुन वतते। वस्तुतस्तु अपादानस्य अवधि भावेनावस्थान व्यापारोस्ति। संप्रदानस्यापि अनुमनना दितक्षण। प्रतीयमानोऽपि व्यापार कारक्यपदेशनिबधनम्। यथा प्रविश





अते या वा क्रिया भागे जाति सव क्रिया स्मृता ।

सा ध्यक्तेरनुनिष्पादे जायमानेव गम्यते ॥

—वाक्यपदीय ३ क्रिया समुद्देश २०, २१

जानिक्रियावाद क व्यापार पत्रजलि के क्रियामामायात सिद्धम (महाभाष्य १।२।६४)  
और सामान्यभूता क्रियावतते (महाभाष्य १।४।२३) जैसे कथन माने जा सकत है ।

## सत्ता क्रियावाद

सत्ता क्रियावाद जातिक्रियावाद का ही एक रूप है । सत्तावादी जाति का सत्ता ही मानत है । हम दशन के अनुसार प्रति पदार्थ का एक सत्य रूप है और एक असत्य रूप है । जो सत्य रूप है वह जाति है जो असत्य रूप है वह व्यक्ति है । वह सत्य रूप सत्ता है । उसे ही परमसत्ता अपरसामान्य महामत्ता आदि नाम से व्यक्त करत है । सत्ता के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं है । विचित्र व्यक्ति योग क वन में वह सत्ता स्वयं भाक्ता भोग्य साधना आदि के रूप में व्यवहार का कारण होती है । भाग्य भाक्ता आदि में सामान ही सविद रूप में सत्य है । नानात्व कल्पित है । गोत्वादि जाति उसी महामत्ता का विवर्त रूप है । सर्वार्थभेद से वही सत्ता भाव आति भिन्न भिन्न रूप में जाति रूप में आभासित होती है । सभी प्रकार के सत्ता रूप जाति में व्यवस्थित हैं । उसी का प्रातिपदिकार्थ उसी का धात्वर्थ कहत हैं । वह नियत है । महान आत्मा है त्व तल आदि प्रत्यय उसी के व्यञ्जक हैं । यहा तक कि अभाव भी सत्ता विहीन नहीं है । उसकी भी बौद्धिक सत्ता (अभावस्यापि बुद्ध धाकारेण निरूपणात्) । साधन के परिस्पन्द के कारण वही सत्ता नमरूप को प्राप्त होकर क्रिया के रूप में अभिव्यक्त होती है । अतः साक्षात् सत्ताक्रिया ही सभी धातुआ का विषय है । (वाक्यपदीय ३ जातिममुद्देश ३२ ३५) ।

महासामान्यरूप महामत्ता क्रिया है । उसका क्रियाजानिब सन्धना के व्यापार में भी सिद्ध है । क्याकि कता कम आदि साधना के क्रियाभेद में सत्ता ही समवायिनी होती है । इमनिय कर्ता कम क व्यापार से अवच्छिन्न सत्ता क्रियाजानि है । अथवा या भी कह सकत है कि व्यापार में समवाय रूप से रहने वाली सत्ता आश्रय भेद से भेद भयी होकर क्रिया कहलाती है ।

पहले कहा जा चुका है कि कुछ लोग जिसे व्यापार के वाट पत्र निष्पन्न माना है उसे ही क्रिया मानत है । उसी आधार पर सत्तावाद्या में भी कुछ अत्यव्यापारभाग की सत्ता को क्रिया मानत है (अये वात्मनि या सत्ता सा क्रिया कश्चिदिष्यते—वाक्यपदीय क्रियासमुद्देश २३) ।

## बुद्धिसत्ता क्रियावाद

जो लोग बुद्धि का पदार्थ मानत हैं उनके मन में बुद्धिसत्ता ही क्रिया है । इस मन के अनुसार दृश्य और विकल्प में अभेद होना है उसी आधार पर बुद्धि का भाव में अर्ध्या-

रोप कर लिया जाता है। भाव व सत्ता बुद्धिब्रिया म माधन की आकाशा और साध्य भामिन हान हैं।

## भावसत्ता क्रियावाद

कुछ लोग सत्ता को भाव रूप म न्ता है और उमा का क्रिया मानत है (सत्त व भाव गद्दवाच्या मुरय क्रियेति मयते—हेताराज याक्यपदीय ३ क्रियासमुद्देश २३)। आकाश वाप्यायणि न पदभावविकार का निर्णय किया था। (यह भावविकार भवतीति वाप्यायणि) ६। म्ग आधार पर भी भन हरि ने क्रिया का विवेचन किया है। भावविकार व विषय म व्याप्याकारा व वर्द्ध प्रसार व मन हैं। कुछ लोग मानत हैं कि भाव का अर्थ क्रिया है। द्रव्य म विकार दन कर उसका भाव स्वल्प का अनुमान किया जाता है। क्याकि द्रव्य स्वयं अपन आप म विकार नहीं पन्ता कर सकता अपन आप म क्रिया नहीं हाती। (स्यामनि क्रियाविराघात) और क्रिया भ्रमन वस्तु स विकारवन्ता नहीं आ सकती। ऐसा भगभव है। विकार शब्द यद्यपि प्रवृत्तिविकार भाव आदि म कायवचन व रूप म दया जाता है फिर भी यहा उस प्रकार-वचन व रूप म मानना चाहिए। क्याकि क्रिया व प्रति क्रिया का कारणत्व नहीं होता कम कमसाध्य नहीं त्या जाना। इसलिए भावविकार का भाव है क्रिया प्रकार क्रियाभेद और व छ हान है।

कुछ विद्वान मानत है कि भाव शब्द पदार्थ का पर्याय है। कस्यचित् भावस्या चिरव्यासा स्तम्भकुम्भादयाभावा इत्यादि प्रयोगा म भाव शब्द पदार्थपदार्थ व रूप म देखा जाता है। इसलिए वाप्यायणि व सूत्र म भाव का अर्थ पदार्थ है। यद्यपि वह एक ही है फिर भी उसके छ भेद ससगिभन्त स होत हैं जस स्पष्टिक म समगवाली वस्तु के धर्म (गुण) स भन्त आ जाता है। कुछ अर्थ आकाश मानते हैं कि भाव शब्द का भाव शब्द है। इसीलिए यद्वा सर्वे भावा स्वन् भावेन भवति स तपा भाव व भाव शब्द के लिए शब्द शब्द का प्रयोग पतजलि ने किया है—यद्वा सर्वे शब्दा स्वे नार्थेन भवति स तपा मथ १० शब्द यहा अथवान और वाक्यभूत रूप म गहीत है। क्याकि जब तक क्रिया पद का प्रयोग नहा होता प्रवृत्ति या निवृत्ति मत्य या भूत का पता नहीं चलता। केवल अकुर शब्द कहने स अथवा केवल बद्ध्यामुत कहने स ठीक से अर्थ बाध नहीं होता। जब इनके साथ किसी क्रिया पद का प्रयोग करत है जस अस्ति नास्ति आदि का तभी ठीक स बोध हाता है। अत भावभन्त का तात्पर्य इस मत व अनुसार वाक्यभूत शब्द भेद म है।

किन्तु भन हरि भाव शब्द व सत्ता अर्थ वाल पद का अधिक महत्त्व दन है। वाप्यायणि व भाव शब्द का अर्थ सत्ता महासामा य है। इसी सत्ता को कुछ लोग

६ निरुक्त १। ८, महाभाष्य १।३।१

७ पाणिनिस्त्र ५।१।११ पर काययनच तव

८, महाभाष्य ५।१।११

परमात्मा अथवा परमब्रह्म के रूप में स्वीकार करते हैं। वही भूत। परा प्रकृति भी है। वह सबविकारा की अनुयायिनी है। वही मृत्यु है। इसकी पुष्टि के लिए भक्त हरि ने निम्नलिखित अंग उद्धृत किया है—

पथिवीधातौ किं सत्य विकल्प विकल्पे किं सत्य विज्ञान, विज्ञाने किं सत्य  
ऊ अथ तद ब्रह्म इति ।

—महाभाष्यत्रिपादी, मेनुस्मृति, पृष्ठ २४ (श्री ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु का हस्तलेख) ।<sup>६</sup>

अतः भावविकार से ता पथ महासामान्यात्मक सत्ता के जन्मादि विकार से है। वह विकार दशभेद से परिणामरूप में अथवा विवतरूप में होता है और उत्तरात्तर विकार प्राप्त कर जायत अस्ति विपरिणमन वपने अपथीयत और विनश्यति एन रूपा में व्यक्त किया जाता है।

## पटुभाव विकारों का विश्लेषण

छ प्रकार के भावविकारों में पहली अवस्था जायत गत से अभिव्यक्त की जाती है। याम्ब के अनुसार 'जायत' से पूर्वभाव का आदि व्यक्त होता है।<sup>७</sup> भक्त हरि के अनुसार जायत में उत्पन्न होने की प्रक्रिया मात्र की अभिव्यक्ति होती है। जन्म का हो जाना नहीं अपितु जन्म का हात रहने वाला रूप जायत से व्यक्त किया जाता है। अमम अथवा मा पूर्व अवस्था को पूर्ण रूप में अभी छोड़ता नहीं है और उत्तर अवस्था का केवल मस्पर्शमात्र करता है। दूसरे गत में, जायत अस्ति का पूर्वभाव है और अस्ति जायत का उत्तरभाव है। पूर्वभाव को छोड़ने और उत्तर भाव में मग्न होने के पूर्व तक जो अंतरांतर अवस्था है उसे जन्म गत में कहते हैं। अम भक्त हरि ने यह व्यक्त किया है—

पूर्वावस्थामजहृत सस्पृशन धममुत्तरम ।

समुच्छिन्न इवार्थात्मा जायमानोभिधीयते ।<sup>८</sup>

यहां प्रश्न यह है कि जायत की प्रक्रिया में कत त्व प्रकृति का है अथवा स्वयं भावविकार का। हलाराज के अनुसार दोनों का है। पूर्व अवस्था (कारण अवस्था) का पूर्ण रूप में न छोड़ने में प्रकृति के कत त्व की संभावना है और उत्तर अवस्था के प्राप्त करने के प्रयत्न में विकार का भी कत त्व है। प्रकृति और विकार दोनों के सामानाधिकरण्य होने में दोनों में कत त्व मानना उचित है। अतः जायत में उस दशा का समझना चाहिए जो पूर्व और अपर दाना अवस्थाओं की उपाधियों में अवच्छिन्न है, जो पूर्व अवस्था में सर्वथा विच्छिन्न नहीं है पर उत्तर अवस्था के प्राप्त करने में उन्मुख है, और जो प्रचीयमान है। मत्वायवाद के अनुसार जायत का अभिप्राय अभिव्यक्ति है और अमत्वायवाद के अनुसार उसका अभिप्राय जन्म है। जायत

६ हलाराज ने भी अम अश का जति समुद्देश ३० का टीका में उद्धृत किया है।

१० निरुक्त गीता है

११ वासयदाय साधनमुद्देश ११६ द्रष्टव्य नियममुद्देश २८ और जति समुद्देश ३६



चौथी अवस्था वधत ग द स व्यक्त की जाती है। कोई भी वस्तु मुहूर्त भर भी अपने आप में ज्या क ल्यो अवस्थित नहीं रहती। वह या तो बढ़ती रहती है अथवा घटती रहती है। बढ़ती हुई दशा को चौथा भाव विकार माना गया है।

पाचवी अवस्था अपशीयत ग द स द्योतिन की जाती है। वधत के विपरीत अपशीयत का व्यापार है।

अनिम अवस्था विनश्यति म यकन की जाती है। इसमें सबथा नाश का व्यापार रहता है। म कायवाणी इस नाश में कह कर तिराधान या तिरोभाव कहते हैं।

कुछ लोग मूल भाव विकार तीन ही मानते हैं जायत अग्नि और विनश्यति। इन में ही तेष तीन का अन्तभाव हो जाता है। ज म में अक्षय की वृद्धि अन्तभूत रहती है। अतः वधत का जायत में अन्तभाव हो जायगा। इसी तरह परिणमत का भी अन्तभाव जायने में हो जायगा, क्योंकि परिणाम घर्मांतर आविभाव का व्यक्त करता है जो जायत के व्यापार में भी है। अरशीयत का अन्तभाव नश्यति में सहज ही हो जायगा।<sup>१३</sup>

वाक्यपदीयकार ने पञ्चभावों की समीक्षा करत हुए मूलभाव दो ही माने हैं और वे भी औपचारिक रूप में। वस्तुतः उनके मन में एक ही भाव है और वह सत्ता लक्षण है। पर व्यवहार की दृष्टि में आविभाव और तिराभाव अथवा जम और नाश की कल्पना करना ही जाना है। मन्त्रालक्षण भाव नियत है उसमें अन्य और ध्वम सम्भव नहीं है। मदा एक स्वरूप ज्ञान के कारण उसमें आविभाव और तिराभाव भी सम्भव नहीं है। इसलिए वे कल्पित ज्ञान में और कल्पित रूप में क्रियाव्यवहार के विषय होते हैं। इन्हीं के भीतर गण भाव विकार किसी न किसी रूप में आ जाते हैं। अन्त भाव विकारों में एक सत्ता ही रह जाती है (अतो मावविकारेषु सत्तया ध्यवतिष्ठत)। वह नियत ज्ञानी हुए भी कम भाव प्राप्त कर मा ध्वभाव क्रिया के रूप में व्यक्त होती है।

## विवतवाद के अनुसार क्रिया

वाक्यपदीय में विवतवाद के आधार पर भी क्रिया का लक्षण समझाया गया है। भन हरि के मत में मूल तत्त्व एक है। वह अक्षय रूप में त्रिधा पड़ सकता है पर इस विप्रिया में उसका मूल रूप में कोई भेद नहीं पड़ता। वह ज्या का त्या रहता है। समार में अक्षय पण्य किसी दूसरे पण्य के समक में अपने स्वरूप को खाते हुए जान पड़ते हैं स्थितिकान्त रग के समक में तात्पर्य रूप में त्रिधा रहता है। पर वह मूल तत्त्व कभी भी अपने स्वरूप में व्युत्पन्न नहीं होता। किन्तु भेद के अवस्थान के कारण



प्राणाग को भिन्न मानत = १<sup>१</sup>

## विमर्श-क्रियावाद

गवागम के अनुसार क्रिया विमर्श स्वभावा है। विमर्श रूप हान के कारण क्रिया का मूल रूप सवेत्त है। प्रकाश का स्वात्मविश्रांतिक्षण परा वाक का रूप विमर्श क्रिया है। पश्यन्ती म अहम एतम की महीण भावना (विमर्श) रहती है। उमम प्रराह नहीं रहता। किन्तु इदमभाव अहमभाव म अस्त रहता है। इदमभाव का सूचक पश्यन्ती की क्रिया है। मध्यमा इदमाव का अन् म खीचती है—म इसको जानता हूँ मैं इसे करता हूँ आदि। एसी रूप म दूसरा स कहने की भावना जत्र प्राण म परिस्फुट हाती है वह बखरी कही जाती है और गरीर म स्पन्दन रूप क्रिया हाती है। यहाँ तक सबत्र विमर्श रूप क्रिया स्व म अनुगत है। मैं चरता हूँ मिर हिलाना हूँ जम विमर्श हान पर ही शरीर आर उसका अगा म चप्पा दबो जानी है। एसी क्रियाएँ जिनम परिस्पन्द ऋटिगोचर नहीं होना नम ठहरना गड़े रहना आदि म उनम भी खड़े रहने वाला म (वर्त्ता म) नमिक परमागमयी (मैं गड़ा हूँ एम रूप म) क्रिया है। इसी कारण वह (खड़े रहने की क्रिया) जन् गिता आदि म स्थिर रहने की क्रिया से विलक्षण है। जड पदार्थगत क्रिया भा विमर्श रूप है। ययाकि जड पन्थ स्वय आत्मनिष्ठ नहीं हो सकता। उनम जा स्वात्मनिष्ठा ह वह वस्तुन प्रमाता की सक्ति म परिनिष्ठित होने के कारण। जान गक्ति के मूल म अह के माय इह भी जुडा है। इद (वस्तु) म गतिशीलता अन् के विमर्श म युक्त है। अत सभी क्रियाएँ विमर्श रूप हैं।<sup>१५</sup>

क्रियाभेद म आभास और परामर्श भिन्न होत हुए भी एक परामर्श म व्यवहृत हात हैं

क्रिया भेदेन च आभासपरामर्शो भिन्नावपि एकपरामर्शप्रतिष्ठितो भवन् निपीयमान सधु मदयति, कुम्भकारोऽयं क्रियते इति।<sup>१६</sup>

## भावना-क्रियावाद

मीमांसका के अनुसार भावक पुरुष का भाव्य स्वय के लिए यज शानु करणक आग्न्यात प्रययवाच्य व्यापार भावना क्रिया है।

१७ वहाँ, त्रियाममुद्देश २१ ३८, साधन समुद्र श २० ४, हेलागत न अटुमार यह मन २२ मा सामका वा है अथवा सागय दर्शना का है। (साधनाशक्ति प्रवृत्ति सानुगा क्रियाऽपेक्षान् वहतान् क विचिन्तरमासासकानामागम। एते लक्षण वा प्रवृत्ति नि या स भावध्वनययिनी चकाधिसुखममथा वायाणि नयनाति साग्यनय। साधनसमुद्देश २० पृ १६७।

१८ इश्वरप्रय भद्राचिन्तनविभाशनी प्रथम भाग, पृष्ठ १०१।

१९ वहाँ त्रितीयभाग, पृष्ठ २१०



उपयुक्त सभी लक्षणों पर प्रवादों में क्रिया का पूरापरीभूत प्रमित रूप और सा यस्वरूप साधारण है। आश्रयान में क्रिया की प्रतीति होती है यह निश्चित है। भाव का निश्चितपद में वाच्य रूप साध्य है और कृत्तव्य में वाच्य रूप निश्चित है।

## निश्चितभाव और कृत्तव्यभाव में भेद

निश्चित में निश्चितिक्रिया के अनुसंधान से पूरापरीभूत भाव का वाच्य होता है जस पचति से। कृत्तव्यभाव का निश्चित रूप में वाच्य होता है जस पाक में। कृत्तव्यभाव में भी धातुभाग से साम्यमान अवस्था वाली क्रिया का ही वाच्य होता है। अतएव यह है कि आश्रयान में उसका वाच्य प्रधान रूप में होता है जबकि कृत्तव्य में वह प्रपञ्च में गुणीभूत रहती है।

महाभाष्यकार के अनुसार निश्चितभाव का क्रिया के साथ समवाय नहीं होता पचति परन्ति ऐसा प्रयोग नहीं देखा जाता। वस्तुतः यह नियम करण आदि भाव का दृष्टि में रक्षित है। कत कमभावे से क्रिया आख्यात वाच्य क्रिया के साथ सम्प्रदाय प्राप्त करती है जस भवति पचति पश्य मगा धावति आदि में। इसीलिए भाष्यकार ने पचादि क्रिया का भवति क्रिया का कता माना है (पचादय क्रिया भवति क्रियाया कर्त्तृर्भावति)<sup>२८</sup> अथवा उनमें साध्यसाधनभाव होता है न कि सामा-य-विशेष भाव। यद्यपि क्रिया स्वयं साध्य है अतः किसी दूसरी क्रिया के प्रति उसका स्वयं कता या कम होना सहज नहीं है फिर भी विषयभेद से एक ही वस्तु का अपन आप में साधनसाध्य सम्प्रदाय देखा जाता है। जस पश्य मगो धावति में आख्यात कता भी है कम भाव है—करण क्रिया धावति की दृष्टि में साध्य है और लान की दृष्टि में साधन है। भावों में इच्छति जस वाक्या में दो क्रियाओं का सम्बन्ध स्पष्ट है। भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है कि क्रिया भी क्रिया में वसित होती है सम्प्रदाय क्रिया में प्राथमिक क्रिया में और अध्यवस्यिक क्रिया में—

क्रियापि क्रियेऽपि सततमा भवति । कथा क्रियया । सपश्यति क्रियया प्राथम्येति क्रियया अध्यवस्यति क्रियया वा । इह य एव मनुष्य प्रेक्षापूर्वकारी भवति स बुद्ध या तावत् कचिदय सपश्यति सद्दष्टे प्रायना प्राथिते, अध्यवसाय, अध्यवसाये आरम्भ आरम्भे निवसति निवसति फलावाप्ति । एव क्रियापि कृत्रिम कम ।<sup>२९</sup>

कृत्तव्यभाव का लिंग में याग होता है जस पचति पचन पाक । निश्चितभाव का लिंग में याग नहीं होता। लिंग में वधम है। आश्रयान अन्तर्भूत है। जिस तरह आश्रयान से सख्या आदि की अभिव्यक्ति होती है उसी तरह आश्रयान से लिंग का अभिव्यक्ति क्या नहीं होती इसका ठीक ठीक समाधान मस्मृत के व्याकरणों में नहीं

क्रिया ह । क्यट न इस भावशक्ति का वचित्र य माना है—

आख्यातस्य शक्तयाश्रयद्वयसंस्था प्रतिपादने सामर्थ्य न तु लिङप्रतिपादने,  
विचित्रत्वादभावशक्तीनाम् ।

—महाभाष्य प्रतीन १।२।८७ पृष्ठ ७२

कृदभिहितभाव म भी घञादि अभिहित भाव स ही लिङ याग हाता ह अथयकृद-  
भिहित स नही होना । क्याकि अव्ययकृदभिहितभाव सायम्बभाव सा ही जान पड़ता  
ह न कि सिद्धस्वभाव सा । उस क्रिया की तरह माना जाता ह द्रव्य की तरह नही ।  
अतः उसने साथ लिङ सम्बन्धा आदि का योग नही हाता । क्रियावत मान जाने के कारण  
ही उससे कृत्वसुच जस प्रत्यय देख जात है जबकि घञादि अभिहितभाव से कृत्वसुच्  
प्रयय नही होत । शायिनण्यम भवता त्रि भुक्त्वा दक्त्वेन द्वि भुक्त्वा गन् जम  
प्रयोग देख जात है परतु द्वि पाक् जम प्रयोग नहा होत । महाभाष्यकार पञ्चकृत्व  
पचति इम वाक्य का तो उचित समझत ह परतु पञ्चकृत्व पाक् इसका प्रयोग  
पसद नहा करत है । कुछ लोग घञान्त आदि के प्रयोग क साथ भी कृत्वसुच् प्रत्यय का  
प्रयोग उचित समझत है । स्वय पाणिनि ने द्विवचनञ्चि १।१।१६। म द्विवचन ण द का  
प्रयोग किया ह । द्विरावति द्वि प्रयोगाद्विवचनम जैस प्रयोग दखे ही जात हैं ।

कृदभिहितभाव का मर्या के साथ सम्बन्ध होता है तिङभिहितभाव का सरथा  
म याग नही माना जाता । यद्यपि मर्या आख्याताथ ह फिर भी क्रिया नि सग्य मानी  
जाती है । पचति, पचन पचति आदि म जो मर्या की प्रतीति हाती ह वह साधन  
गतसम्या की होती है पचति अथात पाक् क्रिया का क्ता एक है आदि । अतः क्रिया  
नि सग्य होने क कारण एक मानी जाती है । आख्यात वाच्य क्रिया सवत्र भेद रहित  
ही प्रतीत हाती है । भवदभि आस्थनाम जस वाक्या म क्त भेद से क्तु स्थिति क  
कारण भेद होत हुए भा तित्त से भट की प्रतीति नहा हाती । एक क्रिया की भी  
जय आवति की जाती है उसम आवति निवन्धन भेद मर्या स सम्पन्न हाता है उस  
मर्या का अनुभव हाता है । इसी कारण कृत्वसुच आदि आवति छातक प्रयया की  
उपति भी उससे हाती है । प्लाराज क अनुसार अत्यन्तभेद अथवा अत्यन्त अभेद मे  
आवति सम्भव नहा है । जहाँ भेद और अभेद दाना हा वही आवति हाती है ।<sup>२०</sup>  
फिर भी क्रिया म स्वतः मर्या याग नही हाता । क्यट क अनुसार भी प्रकप (जम  
पचति तराम) और अभ्यावति (जम द्वि पचति) क्रिया के एकत्व क वाधन नही  
होत । क्याकि वे आश्रय क प्रकप अथवा अभ्यावति क भेद क निमित्त होत है ।

प्रकर्षाम्यावत्यादयस्तु भेदनिवन्धना आश्रयप्रकर्षाम्यावत्यादिभेदनिमित्ता  
नकत्व क्रियाया विधन्ति त ।<sup>२१</sup>

जहाँ क्रियापथकत्व है वहा भी क्रिया म मर्या नही हाता । पञ्चधा गच्छति  
म एक ही गमन क्रिया का पाँच प्रकार स हाता निश्चित है । म सम्बन्ध म पाणिनि

२० वाक्यपथीय ३, क्रियासमु १।६१ टीका पृ० ४०। त्र म सम्करण ।

२३ मर्यानायप्रदाय १।२।६४ १७ ११३

पठता है उन्ना मन भ त्रियाद्यो म उपमानोपमेय भाव सम्भव ५ । जग य वाच्य नीजिय--

इय नु रग्ग ग ता या एव पात्तो निष्पाति

यह वच पठचंगी तत्र इग तरह ग पर डाल रही है (अर्थात् विनाम्ब क कारण न पहुच सकगी) -म वाच्य म भविष्यत्सामा य क अथ म अनद्यतनसामा य का प्रयोग हुआ ह । धातिवत्कार के मत म यहां उपमानोपमेयभाव है वातप्रत्यय क आधार पर अर्थात् व गता एव गन्ता क रूप म हमरी व्याख्या करत हैं । महाभाष्यकार क अनुसार तिङ्गु त क साथ उपमान सम्भव नहीं है अन् व अनद्यतन इव अनद्यतन क अर्थ पर इस समझात है । गमन म दीपकाल क जलन का सम्भावना मान कर भविष्यत् सामा य क अक्सर पर अनद्यतन का प्रयोग हुआ ह । यहां भविष्यत्काल अनद्यतनकाल क सदा है यह तात्पर्य ह । महाभाष्यकार क अनुसरण पर भन् हरि भी त्रियाद्यो म उपमानोपमेय भाव नये मानत ।<sup>२६</sup>

## पूर्वकालिक क्रिया

यद्यपि पूर्वकाल क अर्थ म वर्तमान धातु म भाव म वर्तवा प्रत्यय का विधान हाथा है फिर भी धातु सम्बन्ध क बल स वाक्याथ क अनुप्राणन क रूप म वर्तवान्नाथ की पतीति होती है । उदाहरण क लिए--

(१) पूर्व आसव पिबति ततो गायति

(२) आसव पीत्वा गायति

इन दो वाक्या म पूर्व क वाक्य म जमा पीवापय भलकता है ठीक वसा ही दूसर वाक्य से नहीं भलकता । अपितु दूसर वाक्य म पीवा गन्त क बल से आसवपान प्रधान वाक्याथ के अनुप्राणन क रूप म सामन आता है । स्नात्वा भवन्वा पीवा व्रजति जस वाक्यो म भी व्रज क्रिया के प्रति स्नान भोजन आदि क्रियाया की पीवकालिक सत्ता है । साथ ही आरशात वाच्य क्रिया के विरोध्य होने क कारण व्रज क्रिया के प्रति स्नानादि क्रियाए विशषण है फलत उनम परस्पर असम्बन्ध है जसा कि 'याय है गुणानाम्च पराधत्वा असम्बन्ध सम्भवात् । अथात प्रधानक्रिया म अवय यदि सम्भव है गुणमत क्रिया म अवय करना उचित नहीं है । क्वा प्रत्यय से पीवकाल्य के द्योत्य हाा क कारण मुग्ग व्यादाय स्वपिति इस वाक्य म यादाय गन्त का प्रयोग कहा तक उचित माना जायगा । यद्यपि मुख का खलना सोने की क्रिया क बाद म हाता है वह पूर्वकालिक व्यापार गहा है । वार्तिककार का ध्यान हम पर गया था और उहाने 'सकी निद्रि उपमग्यान क बन्ध पर करती चाही । परन्तु उहाने स्वय यह भी मुभाव दिया कि क्षणभर भी मुख खोल कर मन्त्रि कोई सोता है तो सोने की क्रिया के पूर्व ही मुख मोलने की क्रिया धत्ति हाती ह । अतः यहां भी पूर्वकाल्यता है । कयट क मत म यद्यपि स्वप्नगण

पहन है और मुख्यतः कछ बाट म घोटो हाता है फिर भी दूसरा स्वप्न त्रिया म  
(प्रथमस्वप्नपणा क बाट जो गात्री ॥११ की त्रिया हाती है) पहन हाता है (यद्यपि  
स्वप्नपणानां दशाशनात् पूर्वज्ञासता तथापि व्याशततरावित्यन्ताक्रियारक्ष व्यादास्य  
पूर्वज्ञात्वमस्ति) ।<sup>११</sup>

पतनवा घातन भुवन त्वनता

पतनवा घातन भुग्यत दशत्तन

इन ज्ञाना बाधया म पतनवा प्रत्यय द्वारा कना और कम क अनभिधान ज्ञान पर भी  
द्वितीया और तनाया विभक्तिया पाव की प्रप ता म गयी हाती । यथार्थ घातन  
वा य त्रिया त्रिपत्य ज्ञान क कारण प्रधान हाती है । विगणभूतत्रिया अप्रधान हाती  
है । इसी आधार पर उन त्रियाया क साधक शक्तिया म भी गुण प्रधानभाव जाता है ।  
प्रधान शक्ति क अनिधान म गुणत्रियागति अभिहित क रूप म प्रकट हाती है । प्रधान  
का मुख्याभी गुण हाता है उमक विरुद्ध नहा चन मरता ।<sup>१२</sup> परन्तु हरन्त त अनु  
सार एक बार ही गुण जान जान का एक ही माय ता त मायमध्य नहा हा पतता ।  
तमलिण प्रधान क माय तात घाय और घाय क माय घाय प्रकय मान जाता ताहिण  
(पद्मजरी ३।६।२८ पृष्ठ ७०८) । परन्तु नागन न हरन्त की उक्ति का मुनिमगत  
नही माना है । हरन्त क मन क मान नेन पर आमाय गनु इच्छति प्रयाग नभय त  
हो सकया । ग्राम म चतुर्थी न हा सकगी । परन्तु महाभाष्यकार न स्वय त्रिया प्रयाग  
मन् सूत्रम्य भाष्य म किया है (महाभाष्यप्रत्यापाद्यान २।६।२६ पृष्ठ ३१०) । नागन  
न कयत के शुध प्रतिहन्तु शक्यम इम प्रयाग की भी आलाचना की है । यहा यह जान  
लना चाहिय कि भाष्यकार न शक्य चानने श्रुत प्रतिहन्तु वाक्य का प्रयाग त्रिया  
है । सामान्यतौर पर श्रुत क स्त्रीलिंग ज्ञान क कारण शक्य का प्रयोग जाना चाहिय ।  
कयट न निम्नलिखित तीना तरह क प्रयाग का उपपत्ति समझाई है—

- (१) शक्य चानेन क्षुन प्रतिहन्तुम्
- (२) शक्या चानेन क्षुन प्रतिहन्तुम्
- (३) शक्य चानेन क्षुध प्रतिह तुम ।

—महाभाष्यप्रतीप पस्पशाह्निक पष्ठ ५७, गुप्प्रसाद शास्त्री सम्पादित ।

१७ महाभाष्यप्रत्या २।६।२१ पृष्ठ ३०६, गुप्प्रसाद शास्त्री द्वारा संपादित ।

१८ इस सन्ध्या म पाद्य क वैवाकरणां म दिवाद् था । उपर्युक्त मत कयत का है ७ शब्द, शीघ्र का  
निम्नलिखित कारिकाया पर आधारित है—

प्रधानेतरयो यत्र द्रव्यस्य श्रियः पृथक् ।

शक्ति गुणादयस्तत्र प्रधानमनुव्रज्यते ॥

प्रधानविषया शक्ति प्रयत्नामिवायते ।

यत्ता गुणे तत्ता तद्वन्तुधत्तापि प्रतायते ।

## तत्स्थानक्रिया

पहले कहा जा चुका है कि अपारिस्पन्दसाधनसाध्य धात्वर्थ का भाव कहते हैं और सपरिस्पन्दसाधनसाध्य को क्रिया कहते हैं। परन्तु इस भेद का ध्यान में न रखकर सामान्यरूप से तत्स्थान क्रिया का विचार किया जाता है। स्वयं पाणिनि ने लगण हटवा क्रियाया (२।२।१२६) और यस्य च भावनभावलभणम् (२।३।३७) नाम सूत्रों में क्रिया और भाव में अभेद माना है। तत्स्थान क्रिया बड़ा हाना है जहाँ क्रियावृत्तविशेष कभी कत्ता में और कभी कम में दिखाई देता है। इस आधार पर क्रिया भी कभी कत्तस्था और कभी कमस्था हानी है। यद्यपि ऐसी कोई क्रिया नहीं होती जिससे कत्तगन विशेषता कुछ न कुछ लभित न हो फिर भी प्राधायक कारण व्यपदेश हाना है। इस उक्ति का आधार पर कत्तस्था और कमस्था क्रिया कहते हैं। गच्छति धावति हसति आति में क्रियावृत्त विशेष कत्ता में दिखाई देता है। चलना, दौड़ना हसना ये सब व्यापार उसी में दिखाई पड़ते हैं। गाम अवस्थादि कत्त करोति जैसे वाक्यों में क्रिया कमस्था है क्योंकि क्रियावृत्तविगपताए गाय और कत्त में लब्ध पड़ती है। नागेश के अनुसार जिस वातु के द्वारा कत्त कमसाधारण फल गत्त से प्रतिपादित होता है वह कत्त स्थभावक है। जैसे पश्यति गच्छति आति में। पश्यति में विषयता और समवाय के आधार पर ज्ञान उभयनिष्ठ है। गच्छति में भी समीप उभयनिष्ठ है। जहाँ वातु से कत्ता में न रहने वाला धर्मरूपफल शब्द द्वारा प्रतिपादित होता है वहाँ क्रिया कमस्थभावक है। जैसे भित्ति आदि में।<sup>१८</sup> कभी कभी क्रिया कत्तस्था और कमस्था दोनों जान पड़ती है। चत्ताय रोचत मोक्क' इस वाक्य में मोक्क प्रीणयिता है और चत्त अभिलाषवान् हान के कारण कम है। अतः क्रिया का यहाँ कमस्था ही कहना चाहिए। परन्तु रोचत क्रिया अपने विषयक अभिलाष उसमें पड़ा करती है। इसलिए विषयविषयभाव सम्बन्ध के आधार पर रुचित के अभिलाष ही प्राधायक रूप में प्रकट होता है। रोचत क्रिया अपने कत्ता को अप्रधान सा करती है और अपने प्रयाजक व्यापार को भी गौण रूप देती है कत्तन यहाँ सप्रधान सज्ञा हानी है। सम्बन्ध सम्बन्धि भाव की दृष्टि से भी चत्त अभिलाषा करने में कत्ता है इसलिए क्रिया कत्तस्था भी है। हलाराज के अनुसार तस्यै स्वयमेव प्रयोग नहा हाना चाहिए। व क्रिया व्यवस्था का गत्त के आधार पर विचार करने वाले पक्ष का समर्थन करते हुए जान पड़ते हैं। कत्तन विगपदगन के आधार पर यत्त क्रिया व्यवस्था की जायगी तो कुछ कठिनाई पड़ सकती है। पक्ष जैसी क्रियाएँ कमस्थभावक हैं। परन्तु पदान की क्रिया में कत्ता में भी परिश्रम आति दत्त जान है, व भी क्रियावृत्तविशेष किसी-न किसी रूप में ही। अतः शब्द के द्वारा विगप का उपनिधि का स्वीकार कर क्रिया व्यवस्था करनी चाहिए। गत्त प्रमाणका के लिए गत्त का आशय ही उपयुक्त है। सम्बुद्ध जमा कि ऊपर लिखा जा चुका है प्राधायन व्यपदेशा भवति के आधार पर

क्रिया विनोप दशन के आधार पर तत्स्या क्रिया की व्यवस्था की जा सकती है। भट्ट-हरि न दोना पथा का निर्देश कर दिया है—

विनोपदशन यत्र क्रिया तत्र व्यवस्थिता ।

क्रिया-व्यवस्था त्वयेषां गन्दरेव प्रकाश्यते ॥

—वाक्यपदीय, ३ साधन समुद्देश ६६ ।

## क्रिया का सकर्मक-अकर्मक रूप

क्रिया का सकर्मक और अकर्मक रूप भी क्रिया के स्वरूप से प्रभावित है और दशन भेद स यहा भी विभिन्न प्रकार के विचार हैं। तत्स्या क्रिया के विचार के समय स्पष्ट किया जा चुका है कि क्रिया स क्रियाकृतविशेष का आभास होता है। एक तरह से प्रत्येक क्रिया किसी न किसी ईप्सा का द्योतक है उससे किसी-न किसी भाव का अवगमन होता है। हम दृष्टि में सभी क्रियाएँ सकर्मक ही होनी चाहियें। फिर भी व्याकरण शास्त्र में सकर्मक अकर्मक का विवेचन है। क्या-कि क्रिया की ईप्सा होने पर भी प्रत्येक क्रिया स बाह्य विषय की सम्भावना नहीं व्यक्त होती। कुछ क्रियाएँ कर्ता में ही विश्रान्त देखी जाती हैं व किसी बाह्यभाव की अपेक्षा नहीं रखती। जैसे, आसन्न गेह आदि। शयन पूरा रूप से कर्तृ विश्रान्तलक्षण है। शयन करता है इस अर्थ में सोने की भावना का पप्रवसान देखा जाता है शयन की भावना का 'भाव्य' शयन ही है। इसलिए किम (क्या) जस प्रश्न नहीं पूछे जाने जो वस्तुतः बाह्यभाव विषयक हैं। कुछ ऐसी क्रियाएँ होती हैं जो बाह्यभावा की अपेक्षा रखती हैं जिनमें बाह्य निष्ठ भावना होती है। जैसे, पचति आदि। इस तरह की क्रियाया का उत्तर बाह्यभावविषयक प्रश्न किम (क्या) से मिल जाना है। जस क्या पका रहा है प्रश्न का उत्तर ओन्न है जो बाह्यभाव है। इन दो तरह की क्रियाया में बाह्यभाव की अपेक्षा न रखने वाली क्रिया अकर्मक और बाह्यभाव की अपेक्षा रखने वाली क्रिया सकर्मक मानी जाती है।

वाकरण दशन में भावना और क्रिया में कुछ भेद माना जाता है और वह यह है कि भावना सदा सकर्मक ही होती है जब कि क्रिया सकर्मक भी होती है और अकर्मक भी होती है। फिर भी साध्य रूप दोनों में समान है और साधारण तौर पर भावना और क्रिया गन्द पथाय क रूप में प्रायः प्रयुक्त हातें हैं

भावना सकर्मिकव अकर्मिकापि क्रियेति सत्यपि भेदे साध्यत्वाविशेषाद अभेद एवानयो । यथा धात्वर्थभूता क्रिया साध्यरूपव तथा भावनापीति कथम वातरभेदाद भेदोऽनयो भवत ।

—पुण्यराज वाक्यपदीय २।१

हलाराज ने भी भावना और क्रिया में जरा सा भेद माना है—

यद्यपीह दशने भावना धात्वर्थ एव तथापि फलपयतासौ क्त व्यापाररूपा दीघतरावयवक्रियामात्रात् पृथग व्यवहारसज्ञा ।

—साधन समुद्देश ८६, पृष्ठ २३४ ।

परन्तु यहाँ भावना और क्रिया में अन्तर्भाव मान कर ही सक्रमक अक्रमक का विचार किया जा रहा है।

महाभाष्यकार ने कम की व्याख्या क्रियाकृतविशेष के आधार पर की थी (यत्र कश्चित् क्रियाकृतो विनाप उपजायते नानाथ्यं वर्मते)। इस में प्राकृतकर्म (स्वाभाविक) कम समझने थे। परन्तु स्वाभाविक कम को क्रियाकृतविशेष के रूप में लन पर आन्तित्य पश्यति हिमवान् शृणोति जैसे वाक्यों में कम की सत्ता सिद्ध करना कठिन होगा। क्योंकि सूय को दखने आदि की क्रिया में कोई क्रियाकृतविशेष सूय में नहीं लिखाई देता है। प्रयत्न या अनुमान के द्वारा हम सूय में दशनक्रिया के कारण कोई विकार नहीं समझ पाते हैं। कुछ लोग आदित्य का दशन क्रिया का ईप्सिततम होना ही क्रियाकृतविशेष यहाँ मानते हैं और आन्तित्य का कम समझने हैं और क्रियाकृतविशेष के आधार पर सक्रमक अक्रमक का विभाग किया जा सकता है ऐसा स्वीकार करते हैं।

महाभाष्यकार का यह भी भावना जान पड़ती है कि काल, भाव आदि की सक्रम सत्ता होने के कारण कोई भा धातु अक्रमक नहीं है, काल आदि के कारण सभी सक्रमक हैं। परन्तु स्त्रीवार करने में भी सक्रमक अक्रमक का विभाग अनुपपन्न हो जाता है। कुछ लोग मानते हैं कि अविवक्षा के आधार पर अक्रमक धातु माने जा सकते हैं। जब उनका व्यवहार कम की विवक्षा किय बिना ही होगा वे अक्रमक माने जायेंगे। परन्तु अविवक्षा के आधार पर तो पच आदि भी अक्रमक कह जा सकते हैं। इसलिए, कयट के अनुसार जिस धातु के कम कभी सम्भव ही न हो अक्रमक पद में उन्हीं का ग्रहण होना चाहिए। पाणिनि ने गतिबुद्धि १।४।५२ सूत्र में अक्रमक शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। अक्रमक शब्द से अय पदार्थ प्रधान केवल पर धातु का ग्रहण होना चाहिए न कि धातु के अर्थ का। अर्थ का आश्रय लेने पर कम की अविवक्षा होने पर अर्थ का नाम भी अक्रमक पड़न लगता। धातु को अक्रमक मानने पर पच् आदि अक्रमक नहीं कहे जा सकते। क्योंकि एक बार भी जो धातु कम के सहित देखा गया रहेगा उस प्रत्यभिन्ना अथवा सादृश्य प्रतिपत्ति के आधार पर अविवक्षा दशा में भी सक्रमक कहा जा सकेगा। अर्थ तो कारकभेद में भिन्न भिन्न होता है इसलिए सक्रमक अय और अक्रमक अय हाग। यदि अर्थ में भी स्वतन्त्र भेद नहीं होता इस सिद्धान्त को माना जायगा तब अर्थ में अय पदार्थ के रूप में बोध समझना चाहिए।

अर्थास्तु कारकभेदाद भिन्ना एवेत्यये सक्रमका अय एवाक्रमका इति न्याय  
व्यपदेशः। यत् त्वयस्यापि नास्ति स्वतो भेद इति दानं तदायैत्वप्ययपदा  
यैवदोषः।

—महाभाष्यप्रतीप १।४।२ पृष्ठ ४०१

कुछ लोग यह अनुमान अक्रमक क्रिया उस वर्ग जहाँ पच और व्यापार एक निष्ठ हो जाता है। जहाँ पच और व्यापार एवनिष्ठ न होकर अलग अलग आधार बान हो कहा क्रिया को सक्रमक समझना चाहिए। व्याकरणभूषणकार का यहाँ मत है। इन मत में भी कुछ कठिनाइयाँ हैं। ग्रामान जानानि नम वाक्य में जानानि

क्रिया का फल और व्यापार एकरिण्ड है, फलतः इसे अकर्मक होना चाहिए परन्तु यह सकर्मक है। कुछ लोग इसका समाधान महाभाष्यकार के दो आत्मा वाले कथन के आधार पर करते हैं। महाभाष्य में एक स्थान पर लिखा है आत्मा दा हैं। अन्तरात्मा और शरीरात्मा। अन्तरात्मा के क्रिया कलाप से शरीरात्मा सुख-दुःख का अनुभव करती है और शरीर की क्रियाओं से अन्तरात्मा सुख-दुःख का अनुभव करती है।<sup>३०</sup> आत्मान जानाति म फल और व्यापार के आधार दो आत्माओं के अलग अलग हो जान से सकर्मकत्व अक्षुण्ण रहेगा।

कुछ लोगों के अनुसार जब घात्वथ साप्तात और अव्यभिचरित रूप में कम का भागी होता है उस घातु को सकर्मक कहते हैं। यदि साप्तात न हाकर परम्परया कम का भागी होता है वह क्रिया अकर्मक होती है। इस मत में अयो-याश्रय दोष-सा आ जाता है। कम के निरूपण के बाद ही सकर्मक का विचार होगा और सकर्मक होने पर ही कम का निरूपण होगा। यही अयो-याश्रय है।

कुछ लोग मानते हैं कि जिस क्रिया के उच्चारण में कम की आकाशा हाती है वह सकर्मक है जहाँ आकाशा नहीं हाती वह अकर्मक है। परन्तु यह मत भी निर्दोष नहीं माना जाता है। आता है (गच्छति), गिरता है (पतति) जसी क्रियाओं में कम की आकाशा नहीं देखी जाती फिर भी ये क्रियाएँ सकर्मक हैं। पतति क्रिया के सकर्मक होने में प्रमाण पतित शब्द के साथ द्वितीया तत्पुरुष समास का विधान ही है जो द्वितीयाश्रितातीतपतित० २।१।४ सूत्र से सिद्ध है।

नागेन न सकर्मक अकर्मक को साथक शब्द माना है। उनके अनुसार व्याकरण शास्त्र से संपादित कम सत्ता में युक्त घातु सकर्मक है और उससे रहित अकर्मक है। इस आधार पर ही अध्यासिता भूमय जमे प्रयोग संभव हो पाते हैं।<sup>३१</sup>

वस्तुतः सकर्मक अकर्मक सापक्ष गद्वे हैं और एक दूसरे के स्वरूप धारण करते रहते हैं। बाह्यकर्म के सदभाव हात हुए भी क्रिया अकर्मक हो सकती है और किसी कम के न रहने पर भी क्रिया सकर्मक कही जा सकती है।

भट्ट हरि न बाह्यकर्म के सदभाव हात हुए भी क्रिया के अकर्मक कहे जान के निम्नलिखित चार कारण बताये हैं—

- (१) घातु के प्रसिद्ध अर्थ के अतिरिक्त अर्थ अर्थ का अभिधान
- (२) घात्वथक्रिया में कम का अन्तर्भाव,
- (३) प्रसिद्धि
- (४) अविवक्षा।

३० महाभाष्य ३।१।८७ पृष्ठ १५६

३१ वैयाकरणभूषणम्बर की टीका काशिका में उद्धृत पृष्ठ ३२४



जब धातु अपने प्रसिद्ध अर्थ के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ में व्यवहृत होता है, सक्रमक होता हुआ भी कभी कभी अक्रमक हो जाता है। जैसे 'भाग वहति' इस वाक्य में वहति (ढोता है) सक्रमक है। परन्तु वहने के अर्थ में वह अक्रमक हो जाता है जैसे नदी वहति। वहन में जो जल का प्रवाह प्रतीत होता है वह नद्यात्मक जल से भिन्न नहीं है।

धातु के अर्थ बदलने में उपसर्ग आदि भी कारण होते हैं। फलतः सक्रमक क्रिया अक्रमक होती रहती है। चरति क्रिया देशान्तरगमन अर्थ में सक्रमक है परन्तु उत्त उपसर्ग के साथ ऊपर उठने के अर्थ में वह अक्रमक मानी जाती है जैसे वायु उच्चरति, धूम उच्चरति। यहाँ उच्चरति अक्रमक है।

कभी-कभी आत्मनपद के प्रयोग से भी सक्रमक क्रिया की अक्रमक के रूप में अभिव्यक्ति होती है। जैसे तपति सक्रमक है परन्तु उत्तपत अक्रमक है। उत्तपत का अर्थ भासित होना है। भावः भुक्तमुपतिष्ठत, सर्पिषो जायते जैसे वाक्यों में आत्मनपद का प्रयोग क्रिया के अक्रमकत्व का सूचक है।

कभी-कभी वाक्य के सामर्थ्य से अक्रमकत्व की अभिव्यक्ति होती है। जैसे वायुवहति में। इसमें वायुलक्षणशून्य विशेष के सामर्थ्य से वहने की क्रिया में अक्रमकत्व भासित होता है।

पच्यत आदि स्वयमव, भाष्यत वत्स स्वयमेव जैसे स्थला में कर्म के कर्ता के रूप में व्यवहृत होने के कारण अक्रमकत्व की प्रतीति होती है।

धातुव्यक्रिया में जब कर्म का अन्तर्भाव हो गया रहता है तब क्रिया अक्रमक मानी जाती है। जीवति क्रिया में प्राणधारणरूप कर्म अन्तर्हित है इसलिए वह अक्रमक है। इसी तरह म्रियत में प्राणत्यागरूप कर्म छिपा है। अस्ति में आत्मधारणरूप कर्म का अन्तर्भाव है। कर्म का अन्तर्भाव वहाँ दर्शा जाता है जहाँ स्वशब्द से उसका निर्णय संभव न हो। पच और भिद जसी क्रियाओं में कर्म का अन्तर्भाव संभव नहीं है। क्योंकि इनके कर्म का स्वशब्द से उल्लेख संभव है। जैसे पचति पाक्यम भिनत्ति भेद्यम। जहाँ अन्तर्भाव हाथा स्वशब्द से निर्णय संभव नहीं होगा तब जीवति जीवति जैसे प्रयोग नहीं दिये जाते।

कभी-कभी व्याकरण सम्बन्धी अवास्थान व्यवस्था के कारण उनका भी अन्तर्भाव मान लिया जाता है। जीव स्वस्व निर्धारमाण हान है, उस पुत्रायति में पुत्र कर्म का अन्तर्भाव है। वस्तुतः यहाँ पुत्र कर्म क्रिया के भीतर अन्तर्हित है। कर्म प्रक्रिया निश्चित के लिए पुत्र इच्छति इस तरह का विग्रह किया जाना है। ऐसे स्थलों में भी कभी-कभी पुत्र उपमा के रूप में सामान आता है। इसलिए उसका अन्तर्भाव नहीं माना जाता। फलतः क्रिया सक्रमक ही होती है। जैसे पुत्रायति छात्रम्।

कभी-कभी सामान्य कर्म के अन्तर्भाव होने हुए भी विशेषकर्म के द्वारा अन्तर्भाव अप्रमाण बना रहता है। जैसे मृष्यति माणवकर्म। मिथ्ययति निताम् आदि। कभी-कभी विशेषकर्म अन्तर्भाव रहता है। जैसे धूमायत रामायत आदि में।

व सक्रमक क्रियाएँ भी अक्रमक के रूप में प्रयोज्य होती हैं। जितना कर्म संपन्न

अव्यभिचरित रूप में उनके साथ दृष्टिगोचर होता है। जस, वपति। वपण की क्रिया में देव की कर्ता के रूप में और जल की कम के रूप में प्रतीति स्वभावतः हा जाती है। इसलिए कम यहा अन्तर्हित-सा है। फलतः वपति अकमक है। अकमक मान कर ही वपटा देव जैसे प्रयोग निष्पन्न होते हैं यहा कर्ता के अर्थ में कन प्रत्यय अकमकत्व के आशय से हुआ है। परन्तु जब कम प्रसिद्ध नहीं होता वपति क्रिया सकमक मानी जाती है जस स्थिर वपति लाजान वपति आदि। उत्पल वपट म कम म कन प्रत्यय हुआ है।

प्रसिद्धि के कारण सकमक क्रिया के जो अकमक रूप हात हैं उनमें भी देव, काल आदि के भेद से अन्तर भेद पाये जाते हैं। जैसे दण्डिनाथ में यदि दापहर के के पहने पच्यताम् कहा जाता था तो इसका तात्पर्य यवागू हाता था। परन्तु यदि दापहर के दाट पच्यताम् कहा जाता था तो उसका अभिप्राय आदन होता था। यवागू और आदन रूपी कम दश और काल के आधार पर समझ लिये जाते थे।

क्रिया के स्वरूपसामर्थ्य के बल से कभी प्रसिद्ध कम प्रतीत होता है नस केवल वपति से जल रूप कम की प्रतीति हा जाती है। कभी कभी कता के स्वरूपसामर्थ्य के कारण भी कम की भनक मिल जाती है जैसे सज्जन करोति इस वाक्य में सज्जन शब्द के बल से उपकार रूपी कम की व्यजना हो जाती है। इस तरह प्रसिद्धि के बल से सकमक के रूप में अभिव्यक्ति के अपरिमित रूप संभव हैं।

कम के रहत हुए भी यदि क्रिया मात्र के प्रतिगान्ध में तात्पर्य हा कम की वित्कुल ही विवक्षा न हा वहा भी अकमकत्व देखा जाता है। न्दति पचति जुहोति क्रिया सकमक है परन्तु यदि ऐसा कहा जाय दीभितो न ददाति न पचति न जुहोति यहा कम की विवक्षा न होने से इनका प्रयोग अकमक रूप में माना जाता है। क्योंकि दीभित व्यक्ति न देता है न पकाता है न हवन करता है यह कहने समय कवन विशेष क्रियाया के निषेध के प्रति संकेत है न कि किसी कम के प्रति।

अविवक्षा का उद्देश्य भी कभी-कभी कम के सादृश्य मात्र के प्रतिपादन से रहता है जस, अनुदने कठ कलापस्थ इस वाक्य में कठ और कलाप का भाषण-सादृश्य प्रतिपाद्य है कम की विवक्षा नहीं है। इसी तरह यदि पूछा जाय देवदत्त क्या कर रहा है और यदि इसका उत्तर हा देवदत्त पका रहा है (पचति) अथवा पढ़ रहा है (पठति) तो ऐसे स्थला में भी विशेष कम (कममन्वय) अविवक्षित ही रहता है। इसी तरह पचति एव ददाति एव जस स्थला में क्रियाप्रबंध का अखण्डरूप ही अभिप्रेत रहता है—वह सदा पकता ही है देता ही है कहने में कर्ता का अभिप्राय कम में न होकर क्रिया के बराबर धन्ति हात वाले स्वरूप से रहता है। अतः ऐसे स्थला में भी कम की अविवक्षा होने में क्रिया अकमक मान ली जाती है।

एसी तरह अकमक क्रियाएँ भी उपसर्गयोग अर्थात्तरवृत्ति आदि कारणों से सकमक रूप में परिणत हो जाती हैं। भवति क्रिया अकमक है परन्तु अनुभवति सकमक है। उपसर्ग के योग से वह सकमक हो गई है।

मयतिरवमवमव । अवमवमवमव य धातव सोपमगां सवमवमव  
भवति ।—

—महाभाष्य ३।१।१०३

महा भयति त्रिया प्रातिक् मय म सवमव है—

मयतिरवमव । प्राप्प्रमव सवमवमवति ।

—महाभाष्यप्रतीक ३।१।१०३

पात प्रातिक् धाधातु पर मभी त्रियाण् स्वरमव की जा सकता है । मयात् ऊपर उक्तम त्रिया जा चरा है ।

## त्रिया और उपसग

त्रिया और उपसग का क्या धाता सम्बन्ध है । एक तरह म उपसग नाम त्रिया म मधुता हान पर हा पक्ता है । एक मा यह भी है कि उपसग त्रिया म धातिरित मला नही रगा । उपसग मति पा धातु का रूप है उस ही धातु का स्वल्प मममना चाति । धातु म जो उपसगों का विधान है वह धातुवा पद्धति पर है धीर व्याकरण क नियमों क निर्वाह क तिा है जम धातु द्वियान धाति क । तन् तन् धाति लवाग म धातु धातु क पूर परतु उपसग क धातु दम जात है । मति उपसग मति धातु का धातु माना जायगा धातु धाति उपसग क पूर मगने नगैक । मन् पास्त्र म प्रत्रिया निर्वाह क त्रिय उपसग क धातु स पथर हाने का कपता का जानी है । वस्तुत उपसग मति धातु नी धातु है । मीतिा मसप्रामयत म उपसग क पूर धातु लगा है और मित मगमियत म उपसग मति पा द्वित्व हुआ है ।<sup>३३</sup>

सोपमग धातु क मानन स हा धातुपसग क धाधय स हात वाल मुध धादि अतरग मान जात है । उपसग युक्त हातर हा त्रिया कारक के साथ सम्बन्ध प्राप्त करती है । अतएव धनुभूयने म वम क अय म लकार हाता है । अतएव धनुभूयस्यया

३३ महाभाष्यकार क अनुसार सग्राम म सम् उपसग है । ऐसा कि उक्त 'अवर सग्रामयत् सोपमगनुपसगवन्वा' (महाभाष्य ३।१।१२) इस वाक्य मे पट है । भा हरि धातु कय का भी कहा जा है । परन्तु पासा सग्राम क सम का उपसग ना माना—यद्यपि सग्राम शब्द सशब्दो सोपमगान्धापि सापसगादियय सापसगसम् ताक सन्निधौ बाध्य । परन्तु कैयट क अनुसार ग्राम गच्छ ही युक्त करने क अध म है सम् शब्द कवल चोक्त है । जैसे इक् मरणे इड अ यने म गवि धोक्त है । यत्ति सग्राम' को शब्द माना जायगा यहाँ वा पालाय पा४ २६ से परसव्य विकल्प से हा हा सकगा । महाभाषका ने सग्राम शब्द को नियमार्थक माना है अथान् सग्राम यह नियम करना है कि यदि सापसग धातु स अट् धाति हा तो सग्रामयत् से ही हा अय सोपसग धातु से न हा । इसलिये अय सोपसग धातुओं से उपसग क बाद परतु धातु से पूर अट् धाति हात है ।

वस्तुत कवत इसा एक (अमधामयत्) उदाहरण क बल पर स माय नियम बताना उचित नहा है । या तो इसे अपवाक मा लेना चाहिए, अथवा ऐसा कि नागेश ने माना है, सग्राम क सम् का उपसग नहा मानना चाहिए ।

यदि इस सूत्र की आवश्यकता नही मानी जानी। नामेन ने इस सूत्र को इसीलिए अनाप माना है। (एवञ्चाङ्गम्यासव्यवायेपीत्यनाप सूत्रपाठ — महाभाष्यप्रदीपो-द्योः ६।१।१३५)। इसी आधार पर कहा जाता है कि धातु पहले उपसर्ग से जुड़ता है बाद में साधन(कारक) से अविन होता है। (पूर्व धातुसंज्ञेन युज्यत पश्चात् साधन-न)।<sup>३३</sup> कारका की विशेष प्रवृत्ति का ही क्रिया कहते हैं। उपसर्गयुक्त विशिष्ट क्रिया ही साधन से साथ अथ लाभ के लिये जुड़ती है। विशिष्ट क्रिया साधन(कारक) से साध्य होती है न कि साधन द्वारा लब्ध स्वरूप क्रिया किसी अथ से विशेषता प्राप्त करती है। यह ठीक है कि साधन से सम्बन्ध के पूर्व क्रिया का विनोपसर्ग निष्पन्न नहीं होता फिर भी धातु—उपसर्ग के सम्बन्ध का अन्त्यतर मान कर धातु का साधन से सम्बन्ध होता है। वह बुद्धि निरूपित होना है और भावि साधन का मान कर होता है। इसलिए धातु उपसर्ग समुदाय से ही विशिष्ट क्रिया की अभिव्यक्ति होती है। फलतः 'पूर्व धातु उपसर्गेन युज्यत' इस पक्ष का अधिन महत्त्व देना चाहिए। यदि यह माना जायगा कि धातु का सम्बन्ध पटन साधन से होता है धातु में उपसर्ग से होता है तो उसके लिए इस समझना कठिन हो जायगा कि क्या आस्यत गुरुणा में क्रिया अव्यय है परन्तु आस्यत गुरु में सम्भव है।

जो लोग धातु का सम्बन्ध पटन साधन से मानते हैं और धातु में उपसर्ग से मानते हैं उनका तर्क यह है कि साधन से सम्बद्ध होकर क्रिया साध्य स्वरूपवाली बनी जाती है। साधन ही क्रिया का निवर्तक है। जब तक साधन से याग नहीं होगा क्रिया अनिष्पन्न रहेगी फलतः किसी विनोपसर्ग की भी आकांक्षा उभरती है। अतः धातु पटन साधन से सम्बन्ध प्राप्त करता है बाद में उपसर्ग से जुड़ता है —

इह प्रसिद्ध विशेष्यमनेकप्रकार समवे सति दष्टप्रयोगेण शब्देनाभिधीयमान विशेषणविशेष्यभाव परिपश्यते। साध्यत्वाच्चक्रियाया साधनसम्बन्ध निवृत्तिः। तस्मात् प्राक् साधनसम्बन्धोऽनुपजाता क्रिया निरात्मिका द्योतकेनापसर्गेण सह विनोपसर्गविशेष्यसम्बन्धोऽसहते प्रतिपत्तुम्। पूर्व धातु साधनन युज्यते इत्येकं वा दशनम्।

—वाक्यपदीय हरिवर्ति २।१८४ लाहौर संस्करण

## क्रिया के साथ उपसर्ग की प्रवृत्तियाँ

क्रिया और उपसर्ग में विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध माना जाता है और वह अथद्वारक माना जाता है

अथद्वारकश्च तेषां सम्बन्धो विशेषणविशेष्यभावलक्षणः। स चोपसर्गैरेव पर्यादिभिः सम्भवति नाप्य।

— वाक्य १।१।१८

क्रिया के साथ उपसर्ग के सम्बन्ध होने पर प्रायः अथपरिवर्तन देना जाता है —

उपसर्गेण धात्वर्थो यत्तादयत्र नीयते ।

गगानतिलमाप्य सागरेण यथात्मसा ॥<sup>१४</sup>

फिर भी उपसर्ग की कई प्रकार की अवा नर प्रवर्तियाँ भी पाई जाती हैं । कुछ का उत्पत्ति नीचे किया जा रहा है ।

## असदेहाय उपसर्ग

कभी-कभी असदेहाय उपसर्ग का आशय लिया जाता है । महाभाष्यकार ने लिखा है कि मनायते के स्थान पर सुमनायत दमनिए कहा जाता है कि श्रोता को सदह न हा । केवल मनायत कहने से यह नहा पता चलना कि उसका मन गुप्त रूप में हा रहा है अथवा दुःखी हो रहा है

तत्र मनायत इत्युक्ते सदेह स्यात् अभिसक्तौ सुभवतो उदभवतो, दुभव ताविति । तत्रासदेहायमुपसर्ग प्रयुज्यते ।

(यहा यह ध्यान देने की बात है कि अभिमनस सुमनस उमनस दुमनस आदि का उपसर्ग सहित ही पाठ मिलता है । ये उपसर्ग सहित ही प्रवृत्ति माने गये हैं । इस विषय का लेकर व्याकरण में प्रत्ययविशेषणपक्ष और प्रकृत्यविशेषणपक्ष रूप में विवाद है । मन शब्द का मु उत दुर, अभि आदि उपसर्गों के साथ यदि समास नही माना जायगा तो वे उपसर्ग प्रत्यय के विशेषण होंगे । मन शब्द यहाँ तद्धान — मनस्वी अर्थ में है । अतः सुमनस का अभिप्राय प्रत्ययविशेषण पक्ष में मनस्वी अच्छा (सुष्ठु) होता है अर्थ होता है । जब सु अभि आदि का मन शब्द के साथ बहुव्रीहि समास माना जायगा, वे उपसर्ग प्रकृत्य के विशेषण होंगे ।)

## उपसर्ग क्रिया का अर्थान्तर व्यवस्त करता है

उपसर्ग धात्वर्थ के बाधक रूप में भी प्रसिद्ध हैं । तिष्ठति का अर्थ ठहरना है परन्तु प्रतिष्ठते का अर्थ प्रस्थान करना है । उपसर्ग की इस शक्ति के कारण सस्कृत भाषा की क्रियाया का क्षेत्र विस्तृत हो गया है । धातुपाठ में सीमित धातुओं का उत्पत्ति होने हुए भी उपसर्ग के बल से अर्थान्तर व्यक्त करने की क्षमता आ जान के कारण उनके रूप का विस्तार हो गया है । कभी-कभी उपसर्गों के द्वारा बिल्कुल विरुद्ध अर्थ व्यक्त किया जाता है जस,

पतति (गिरता है)

ददति (देता है)

उत्पतति (उठता है)

आन्ददति (स्वीकार करता है)

मलीमसीमाददति न पद्वतिम्

(शुभवश १।४६)

मृजति (रचना करता है)

उत्मृजति (छोड़ता है)

उत्मृष्टसकलव्यापारतया

(कादम्बरी पृ० २४०)

सीदति (हुसी हाता है)

प्रसीदति (प्रसन होता है)।

## उपसर्ग धात्वर्थ का अनुगामी होता है

कभी-कभी उपसर्ग धात्वर्थ का अनुवर्तन करता है। जैसे मृत, प्रमृत। अया गच्छति पर्यागच्छति म अधि और परि उपसर्ग अनर्थक से हैं। इनका प्रयोग केवल स्पष्टायक है। अयति अधीते जैसी क्रियाओं में यह धातु का सहायी है। कुछ लोग इट और इक् धातु को निरर्थक मानते हैं, उपसर्ग के कारण वे साधक मान जाते हैं। महाभाष्यकार के अनुसार अधीन म अधि का अर्थ उपरिभाव है अर्थात् अधीन का अर्थ विशिष्टाय युक्त गन्ता का अध्ययन है (ततश्चाधीत इत्यस्य विनिष्ठाद्युक्ताना गन्ताना पठन विधिपूर्वक करानीत्यर्थ — महाभाष्यप्रतीप १।२।१)।

## उपसर्ग की ससाधनक्रियावाचकता

बहुत से प्रत्यय उपसर्गों से क्रिये जाते हैं। ऐसे स्थानों में उपसर्ग साधनसहित क्रिया की अभिव्यक्ति करते हैं—

त एते उपसर्गोभ्यो विधीयमाना ससाधनाया क्रियाया भविष्यति—महाभाष्य १।२।२८ विगाल, विगट गन्त विउपसर्ग से शालच और शकटच प्रत्यय लगा कर बनाये जाते हैं। विशाल का अर्थ है बड़ी मींग वाला बल। सकट, प्रकट उत्कट आदि शब्द भी उपसर्ग से बनाये गये हैं। इन सब स्थानों पर उपसर्ग साधनक्रियवचन माने जाते हैं।<sup>२६</sup>

## उपसर्ग का क्रिया द्योतकत्व

कुछ आचार्य उपसर्ग को द्योतक मानते हैं। इसका उल्लेख पदार्थ विचार के अवसर पर किया जा चुका है। धातु को अनेकाथ मान कर उपसर्ग का द्योतकत्व प्रकट किया जाता है। निष्ठाति का अर्थ गमन भी है प्र उपसर्ग इस गमन का द्योतकमान है। भत-हरि के अनुसार उपसर्ग का द्योतकत्व दो तरह के अनुमान से सिद्ध होता है। सामान्यतो दृष्ट से और विशेषतो दृष्ट से। प्रपचति म प्र गन्त आदि कर्म का द्योतक दया गया है। इस सामान्य दृष्ट के आधार पर सभी प्रशन्त आदि कर्म के द्योतक है प्र उपसर्ग है अतः सभी उपसर्ग द्योतक हैं।

इसी विशेषतो दृष्ट अनुमान से भी द्योतकता निश्चित की जाती है। प्र शन्त के समानधमा सभी प्राप्ति हैं। प्र गन्त म द्योतकत्व है। अतः सभी उपसर्गों में द्योतकत्व है। इसी तरह धातु भी सामान्यतो दृष्ट और विशेषतो दृष्ट द्विविध अनुमान

<sup>२६</sup> कैयट के अनुसार ये सब गुण शब्द हैं बल उत्पत्ति मात्र उपयुक्त प्रकार से की जाती है—  
‘‘उपसर्गानुसारं च दधुष्यन्त। गुणशब्दास्तु विशालात्थ। साधुत्वारयानाय तु कचिदुपायमा-  
श्रित्य शुपति क्रियते। यथा प्रतिबोमोनुलोम इति।—महाभाष्य दाप ५।२। ८, पृष्ठ ३६८.

के बल से आकाश है ।<sup>३७</sup>

भक्त हरि के अनुसार द्योतकत्व भी दो तरह का होता है

(१) अनाविभूताविभाजन और

(२) सहाभिधान

द्योतनमपि द्विविधम् । अनाविभूताविभाजनम् । अद्युदासप्रसंगे वा प्रकाश-  
नरद्युदासेन यस्यस्त्रिविधधारणम् । तदयथा प्रतिष्ठते उत्पुच्छयते अभिमनयत  
इति । तदपि प्रसिद्धाप्रसिद्धाविपुलप्रयोगाणाम् । उपास्ते प्रपद्यति अघोत  
अध्येतोति यथा । सहाभिधानं वा । यावत् गोपायिता ब्रह्मणाधीनं जगुः सत  
इति ।

—वाक्यपदीय हरिवर्ति २।१६५ १६६ लाहौर संस्करण  
सप्रकार के अनुसार भी उपसर्ग द्योतक होता है—‘गद्वा’तरोपग्रहम् तरेण  
समवि सन् अस्त्यनियमो यां भस्तेह द्योतका नियमन वाचकतामति  
धामताति सप्रकार आह ।—

—वाक्यपदीय २ १८६ हरिवर्ति हस्तलग

## उपसर्ग का वाचकत्व

उपसर्ग के सयोग से निया क जा अवा तर अथ जान पड़ते है उनक वाचक कुछ  
आचार्यों ने अनुसार उपसर्ग ह । निष्ठति कहने में स्थिर रहने की अभिव्यक्ति होती  
ह परन्तु प्रतिष्ठत कहने से चनेन का जो अर्थ भासित होता है वह प्र उपसर्ग के कारण  
अतः प्र का विषय अर्थ का वाचक मान लेना चाहिए । भक्त हरि ने उपसर्ग के वाचकत्व  
का निर्णय म वाचना विज्ञापणाम् कह कर किया है । यद्यपि वाच के वधाकरण  
उपसर्ग का द्योतक ही मानते है परन्तु भाषा की दृष्टि से यह अच्छी तरह सिद्ध किया  
जा सजना है कि उपसर्गों में कभी स्वतन्त्र अर्थ थ । और उनमें सावक मानने का  
अर्थ ही है उनमें वाचकत्व स्वीकार करना । महाभाष्यकार ने स्वयं कई उपसर्गों के  
अर्थों का उल्लेख किया है जो प्रायः निश्चित में दिय हुए अर्थों से मिल खाते है । आ-  
धाभिमुख्ये वनेत प्र गद आदि कमणि निरय बहिभाव वनेत जसी उक्तिषा  
उपसर्गों के साथक होने का संकेत करती हैं । वाद में उनके प्रवहार प्रतीक के रूप में  
होने लगा था । सम उपसर्ग समता सतुत्तन का प्रतीक था । अभि नामने अथवा प्रयत्न  
का प्रतीक था और अभिनव अर्थ में भी प्रयुक्त होता था । अम्यका गान (व गाय या  
वन जिने पर पदचान न निग नय चिह्न नग हो) में अभि गान अभिनव अर्थ में प्रयुक्त  
है (अभिगानाभिनिवाये वनेते—यास २।१।१६) ।

३७ वाक्यपदीय २।१७ १ तथा २।१८ पर पुण्यरात्र का टीका । भक्त हरि ने उपसर्ग में वाचकत्व, द्योतकत्व  
और सहाभिधान के अर्थ माने हैं—‘सदकव दानकव सहाभिधानकत्वमियुक्तमपि विविधा प्रति  
पत्तिराज्ञापणाम् । तत्रानभेदतायाम् वारायवने वाचक इति प्रतिज्ञायत । तन्निबन्धनमनभि वनेत-  
नभे वनेत स तन्म द्युदासप्रसंगे । स्वभावा आ तन्निबन्धनमनमानमावने ग्वाधिकवत् सहा  
भिधाना वनेत यावत्—वाक्यपदीय २।११० हरिवर्ति हस्तलग

भत हरि न वत्ति के विषय म उपसर्गों की साथकता कण्ठ खोल कर स्वीकार की है और उह सत्त्वाभिधायी कहा है—

क्रियाया साधने द्र ये प्रादयो ये व्यवस्थिता ।

तेभ्य सत्त्वाभिधायीभ्यो वति स्वार्थे विधीयते ॥

—वाक्यपदीय, वत्तिसमुद्देश ५८३

उद्धत ( उत + वत ) निवत ( नि + वत ) इसके स्पष्ट प्रमाण हैं कि उपसर्ग यहा साथक है । जयादित्य ने भी प्रादयो हि वत्तिविषय ससाधना क्रियामाहु — (वागिका ६।२।१६२) कह कर उपयुक्त मायना की पुष्टि की ह ।

बहुत से एम प्रत्यय ह जो उपसर्गों से स्वाथ म हुये है । यह तभी सभव है जब कि उपसर्गों के स्वतंत्र अथ हा । उदाहरण के लिये पाणिनि का यह सूत्र लाजिये अनुकाभिकामीक कर्मिता ५ २।७४

इसम अनुक् (अनु + क) अभिक (अभि + क) और अभीक (अभि + इ + क) उपसर्गों से कन प्रत्यय लगा कर बनाय गय है ।

उत्तर उत्तम का उल्लेख पहन किया जा चुका है । भाष्यकार ने इस अयुत्पन्न शब्द होने का संकेत किया ह और कयट ने भी स्पष्ट ही कहा है कि उत शब्दात् तमवेव, नास्ति, अव्युत्पन्न एवतूत्तमशब्द स्वभावात् त्रिप्रभतीनामत्यमाह (महाभाष्यप्रदीप ४।१।७८) । परंतु कोई भी भाषाविज्ञान का विद्यार्थी कयट के मत से सहमत नहा हो सकता । जसा कि उद्धा उद्धती म उन से प्रत्यय हुए है वस ही उत म तर और तम प्रत्यय हुए है । कयट न स्वयं उद्धा म उत को साथक माना ह (उदगतमस्यास्तीति ससाधनक्रियावचनात् उपसर्गान् प्रत्यय — महाभाष्यप्रदीप ४।२।१०८)

यह मायता कि उपसर्ग असम्बद्ध रूप म स्वतंत्र रूप म अथ व्यक्त नहीं करत पूण रूप से ठीक नहीं है । कविया न स्वतंत्र रूप म भी इनक साथक प्रयोग किय हैं जस—रेखामायमपिक्षुष्णाद आ मनो वत्सन परम (रघुश १।१७) इसम आ का स्वतंत्र रूप म प्रयोग हुआ है । जसा कि मल्लिनाथ ने कहा है आ और मनु यहा दा गत है (आ मनो । मनुमारम्यइत्यनिविधि । पदद्वय चतत । समासस्य-विभाषितत्वात्) । कुछ गत ता पूण रूप से उपसर्ग म ही बन है और आ न स्वतंत्र गत से जान पडत हैं । जस अणु गत । यास्क के अनुसार अनु उपसर्ग ही अणु गत बन गया है ।<sup>१६</sup> अथ आतर और मन्त शब्द का उपसर्गों क भीतर समावेश भी उपसर्गों के वाचकत्व का परिचायक है । कभी-कभी उपसर्ग तद्धित प्रत्यय के अथ म भी व्यवहृत जान दस गय है । दुर्गाचाय ने प्रसंग द (कुमीनी की मतान) गत म प्र का अपत्यायक माना है ।<sup>१६</sup> प्रस्वण्व म भी प्र शब्द अपत्यायक है । अभिरूपायक्यायेया का भाव अभिरूपतमाय कया त्या है अथवा अभि का प्रयोग यहा तमप अथ म हुआ है ।



## धातु और उपसर्ग के सघात में वाचकत्व

कुछ विचारका की यह धारणा है कि उपसर्ग और धातु दोनों मिलकर सघात रूप में अर्थ के वाचक होते हैं। उपसर्गों का अलग निवरण अर्थात् की व्यवस्था के लिए है—  
परमाथत धातूपसर्गसघात एव नियावाची ल्यगुपदेगस्तु धातूपसर्गयोरङ्ग  
दियवस्याथ ।<sup>४</sup>

## क्रिया और अव्यय

अव्यय में कुछ विभक्तयथप्रधान होते हैं और कुछ क्रिया प्रधान होते हैं। जस हिरण्य पृथक् य नियाप्रधान अव्यय है। क्रिया विशेषण हान व कारण यह क्रिया प्रधान माना जाता है। पृथक् दन्त जसे प्रयोग अवश्य देय जाते हैं इसमें कोई क्रियापद नहीं है फिर भी इस प्रयोग स्थिति आदि नियापद व आक्षेप की आकाशा रखते हैं। क्रियाप्रधान हान व कारण तथा अव्यय हान के कारण इनका साथ निग और सस्या का योग नहीं होता। क्रिया में तो एकत्व सरया मानी भी जाती है और पचतिरूपम जस प्रयोगा में नपुसक लिंग भी देखा जाता है परन्तु क्रिया प्रधान अव्यय व साथ लिंग और सस्या नहीं जुड़ते।

## क्रिया और रुढ़ि शब्द

रुढ़ि शब्द उस शब्द को कहते हैं जिसके विग्रह वाक्य में अव्यय अव्यय प्रतीत होता है और वक्ति में अव्यय।  
'येषां तु वाक्यप्रप्रमोऽय एवाथ क्रिया सम्बन्धी वक्तिकमोऽय एव तेषां रुढ़िगदत्वम्।

—वाक्यपदीय हरिवक्ति २।३७ लाहौर संस्करण

विग्रह वाक्य और वक्ति में सादृश्य की कल्पना की जाती है। फिर भी किसी शब्द व विग्रह वाक्य में मवथा अव्यय प्रकट होने लगता है इस ही शब्दों को रुढ़ि शब्द कहते हैं। जम तलपायिका। इस शब्द का विग्रह तल पिवति (तेल पीता है) व रूप में किया जाता है और इसमें यही अव्यय भवता है परन्तु वस्तुतः तलपायिका रुढ़ि शब्द है। तल पीन सत्सका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए रुढ़ि शब्दों में क्रिया का आशय बचल युपत्ति के लिए किया जाता है। गौ

शब्दों की व्युत्पत्ति गच्छतीति व द्वारा समझाई जाती है। परन्तु यह युपत्ति मात्र है वास्तविकता में इसका हट सम्बन्ध का नहीं है। अतः जा गमन नहीं करती है

उस गाय को भी गौ कहते हैं और गमन करने वाली गाड़ी आदि को गौ नहीं कहते हैं ।

क्रिया का जो सम्बन्ध रूढिशब्दों के साथ है वही ताच्छीलिक शब्दों के साथ है । ताच्छीलिक भी एक तरह के रूढि शब्द ही हैं । रूढि शब्द में और ताच्छीलिक में केवल यही अंतर है कि रूढि शब्दों में किसी का गति से सम्बन्ध नहीं होता जबकि ताच्छीलिकों में कुछ का गति से सम्बन्ध होता है और कुछ का गति से सम्बन्ध नहीं होता । ताच्छीलिक शब्द भी क्रिया विषयक ताच्छीलिक के आश्रय से प्रयुक्त होते हैं यद्यपि उनमें क्रिया का आवेश नहीं रहता । उनमें कुछ गति से जुड़ते हैं जैसे आगामुक, प्रवपुक । कुछ नहीं जुड़ते । जैसे कामुक । प्रकामुक नहीं होता । व्याघ्र जैसे शब्द उपसर्ग सहित ही रूढि शब्द माने जाते हैं, इनके साथ किसी दूसरे गति की आवश्यकता नहीं है ।

## क्रियाम्भावृत्ति

एकवचन तुल्यजातीय क्रियाओं का बार बार घटित होता अम्भावृत्ति कहलाता है । अम्भावृत्ति क्रिया में ही सम्भव है द्रव्य और गुण में नहीं । क्यानि शब्द से प्रतिपाद्य द्रव्य और गुण स्वभाव सिद्ध होने हैं अम्भावृत्ति साध्यस्वभाववाली क्रिया में होती है । कभी-कभी पुन पुन दण्डी 'पुन पुन स्थूल' जैसे स्थला में द्रव्य और गुण की भी अम्भावृत्ति देखी जाती है परन्तु ऐसे स्थला में भी वस्तुतः सामान्यवर्ग क्रिया की ही अम्भावृत्ति होती है । पुन-पुन दण्डी भवति पुन पुन स्थूलो भवति इस रूप में क्रियापद का आश्रय ऐसे शब्दों में समझना चाहिए ।

महाभाष्यकार ने कहा है कि आवृत्ति अम्भावृत्ति नहीं है अपितु अभिमुखी प्रवृत्ति को अम्भावृत्ति कहते हैं ।<sup>४१</sup>

अम्भावृत्ति भिन्न काल की क्रियाओं में होती है (अम्भावृत्तिर्हि भिन्न-कालानां क्रियाणां भवति ।— वास २।४।१७)

## नित्य, आभीक्ष्ण्य और क्रियासमभिहार—

क्रियाम्भावृत्ति की तरह नित्य और आभीक्ष्ण्य भी क्रिया में सम्बद्ध हैं । बार बार क्रिया की प्रवृत्ति का आभीक्ष्ण्य कहते हैं । आभीक्ष्ण्य साधारण रूप में ही सम्भव है द्रव्य में नहीं । द्रव्य के निम्नरूप होने में उगम पुन-पुन प्रवृत्ति नहीं होती । नित्य भी आभीक्ष्ण्य का अर्थ रखता है । पाणिनि ने नित्यवीर्ययो ८।१।८ में नित्य शब्द का व्यवहार आभीक्ष्ण्य के अर्थ में किया है । जिस क्रिया को कर्ता प्रधानरूप से लगातार करता है उसे नित्य वृत्त<sup>४२</sup> है । आभीक्ष्ण्य और नित्य में थोड़ा सा अंतर है । आभीक्ष्ण्य में क्रिया की आवृत्ति प्रतीत होती है जब कि नित्यता में क्रिया का

अविच्छेद जान पड़ता है। जैसे भुक्तवा भुक्त्वा प्रजति' इमं काय म त्रिया कश्चिद्' होने पर भी बार-बार माता है और बार बार जाता है इमं रूप म त्रिया का सावति प्रतीत होती है। अतः यह स्याभी स्य है। जीवति जीवति रहने म त्रिया का अविच्छेद प्रतीत होता है वह जीता हा है यह अथ भागित हाता है। उगम बहु जोकर मरता है अथवा मर कर जीता है इमं रूप म सावति नहीं जान पड़ती। व्यक्ति का क्षणकाल तत्र अविच्छिन्न रूप म जीवित हाता हा ध्याता होता है।

त्रियामभिहार तत्र त्रिया क बार बार जान का अथवा उगम सावन तीव्र स्वरूप का व्यक्त करता है। त्रियामभिहार का रूप प्रायः यन्त्र म चित्रित हाता है—

पीन पुत्र भगवो वा क्रियासमिहार ।—वागिका ३।१।२२

## त्रिया की प्रत्येक परिसमाप्ति—

कुछ विशेष त्रियाधा की त्वर भत हरि १ त्रिया के सम्बन्ध म यह भी त्रिवार त्रिया है कि त्रिया का वाक्य म प्रत्येक परिसमाप्ति माना जाय अथवा समुदाय परिसमाप्ति अथवा उभयपरिसमाप्ति। वाक्यपदीय म तीनों तरह क मत उल्लिखित है उनका विवरण समग्र म यहाँ किया जा रहा है।

एक मत यह है कि वाक्यायुक्त त्रिया का अवस्थान प्रत्येक से सम्बद्ध है। उस अवस्थान का सामर्थ्यलक्षण तत्र स यस्त त्रिया जाता है। सध एत त्रिय द्वन्द्व म त्रिया का प्रत्येक म परिसमाप्ति देखी जाती है। उदाहरण के लिए भोजन की त्रिया (भजि त्रिया) को लीजिए। जब कहा जाता है कि ब्राह्मण अथवा एक ब्राह्मण अथवा देवन्त यन्त्र विष्णुमित्र भाजन कर तो इम वाक्य म ब्राह्मण कत क भाजन त्रिया का प्रत्येक म सम्बन्ध होता है। क्योंकि भोजन त्रिया का फल तप्ति है और वह प्रत्येक भोजना म अलग अलग होती है। भोजन के व्यापार भी जैसे पाद प्रक्षालन आसन पर बैठना दूसरे द्वारा परोसे जाना आदि—प्रत्येक भावता के अलग अलग क्रिय जाते हैं। अथवा प्रत्येक भोक्ता स्वयं इन व्यापारों को करता है। इसलिए फल की दृष्टि से और स्वरूप की दृष्टि म भी भाजन त्रिया की परिसमाप्ति प्रत्येक म होती है।

भुजित्रिया नाट्यत्रिया की तरह नहीं है। नाट्यत्रिया अनेक साधन से साध्य है और सब साधनों के सहयोग से फलवती होती है। भोजन त्रिया बली नहीं है। वह तो प्रत्येक कारक (यहा भाक्ता) से निवृत्त है। यह भेद वस्तुगति की दृष्टि से है। वस्तुगति नियत होती है [नियत स्वरूपा हि वस्तुगमयो बध्यत]।<sup>४०</sup> वस्तु-स्वभाव के कारण हा दीपक की प्रकाश त्रिया एक अधिकरण [आधार] पाकर भी चारा आर प्रकाश फल देता है। परंतु भोजन त्रिया विभक्त रूप म ही प्रत्येक म तप्ति फल उत्पन्न करती है।

इस मत का समर्थन शास्त्र में भी किया जा सकता है। व्याकरण का परिभाषिक वृद्धि 'न' आ 'औ' इनमें म प्रत्यय में परिणमाम्पत्ति माना जाता है अर्थात् प्रत्यय वृद्धि संभव कहा जाता है।<sup>४३</sup>

## क्रिया की समुदायपरिसमाप्ति

एक मत यह भी है कि क्रिया की परिणमाम्पत्ति समुदाय में होती है। यदि यह कहा जाय 'दवत्त, यमदन और विष्णुभिन्न दग्' ता दक्षन की क्रिया दानीय वस्तु में समुदाय में परिसमाप्ति होती है। और दानक्रिया का फल भी युगपत् ही होता है।

जिस क्रिया में भिन्न भिन्न व्यापार विभिन्न कारणों के देय जाते हैं उसकी परिणमाम्पत्ति समुदाय में सम्मिलितरूप में (संभूय) माननी चाहिए। जम, दवत्त बाण्ड स्याल्यामोन्न पचति इस वाक्य में वाक्यान्त परान की क्रिया में दवत्त, बाण्ड स्याली आदि विभिन्न कारणों का व्यापार भिन्न भिन्न है। कर्ता व भी सदान, प्रायना अध्यवसाय आदि कई व्यापार हैं। उपयुक्त सभी व्यापार स्वयं रूप में पाक क्रिया में साधक मान जाते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि क्रिया चाह कत स्था हो या कमस्था पचिक्रिया कम में ही समवेत होती है। कुछ लोग मानते हैं कि पचिक्रिया के कम में समवन होने पर भी उसमें अधिश्रयण, उपसजन, विविलित्ति आदि कई व्यापार भी उसके अर्थ के भीतर हैं उन सबके द्वारा पचि क्रिया निष्पन्न होती है अतः उसकी समुदाय में ही परिणमाम्पत्ति माननी चाहिए।

गंगा गत दण्डयन्ताम् जम वाक्यों से सी व दण्ड की परिणमाम्पत्ति समुदाय में ही दम्बी जाती है। यहाँ प्रत्यय गग का सी का दण्ड यन्ता अभिप्रेत नहीं है। यदि यहाँ प्रत्यय में दण्ड की परिणमाम्पत्ति मानी जायगी तो शत के स्थान पर गगानि सख्या का आश्रय लेना पड़ेगा जिससे वाक्य में विरोध होगा प्रधानकर्म का स्वरूप भ्रम होगा और वाप्ता की भी प्राप्ति नहीं होगी। अतः गगसध पर ही शत दण्ड समझा जाता है।

शास्त्र में भी वाक्यपदान्वाच्यान—दान के अपनाने पर समुदायपरिसमाप्ति पथ देखा जाता है। समास सज्ञा और अभ्यस्त सज्ञा समुदाय की ही होती है।<sup>४४</sup>

<sup>४३</sup> वाक्यपदीय २।२७६ ३८४ आ, पे, औ प्रत्यय वृद्धिसङ्गक है इनमें प्रमाण पाणिनि का संकेत है। प्रत्ये वृद्धमकस्यादीनाम् ६।२।८७ सूत्र प्रत्य उत्तरपद रहते पूर्वपद उदात्त करता है कर्क्यादि और वद्ध' को छोट कर, मालादाना च ६।२।८८ यह सूत्र भा प्रत्य उत्तरपद रहते पूर्वपद को आदि उदात्त करता है। वद्ध' यहाँ परिभाषिक है ना वद्धिपश्चाच्चाभादिस्तन्वद्धम् १।१।७३ के अनुसार होता है। अब आ, पे, आदि को प्रत्येक का वृद्धि सज्ञा तब होगी तभी मानादि उपयुक्त सूत्र (१।१।७३) से वद्ध कहे जा सकेंगे—

—पुण्यरत्न वाक्यपदीय २। ८४

<sup>४४</sup> वाक्यपदीय २।३८२, २८३, २८४, ३६४।

## उभयपरिसमाप्ति

कुछ क्रियाप्राप्त म ऐसा देखा जाता है कि उनकी परिसमाप्ति प्रत्येक म भी और समुदाय म भी एक साथ ही देखी जाती है। जैसे यह कहा जाता है कि वपल को इस मन्दिर म आना मना है ता यहा नियधस्त्रिया का सबध वपल स एकाकीरूप म भी हाता है और वपलमघ के साथ भी होता है। शास्त्र म भी णत्व करने म अट कवग पवग आड नुम आदि का यवधान प्रत्येक रूप म और सामूहिकरूप म भी माना जाता है। ५५

वस्तुतः वाक्याथक्रिया की परिसमाप्ति कही प्रत्येक म होती है और कही समुदाय म होती है। ऐसा कोई नियम नहीं है कि केवल प्रत्येक म ही हो अथवा वाक्य म ही हा -

प्रत्येक वाक्यपरिसमाप्ति समुदाय वाक्यपरिसमाप्तिरित्येतत् न राजा  
ज्ञावगान यवस्थाप्यते ।—पुण्यराज वाक्यपदीय २।३८५

## क्रिया एक अथवा अनेक

क्रियाओं के सम्बन्ध म भक्त हरि ने उनके एकत्व और नानात्व पर भी विचार किया है। भुजि क्रिया एक है अथवा अनेक। एक भी है और अनेक भी है। भोक्ता की तृप्ति की दृष्टि स भोजन क्रिया का समाप्ति होता है उहा वह एक ही मानी जायगी। क्याकि तृप्तिपल समान है। परन्तु देशभक्त कालभद आदि के कारण एक होने हुए भी अनेक जान पड़ती है। इसक विपरीत कुछ लोग मानत हैं कि भोजनभक्त स पलभक्त होता है। इसलिए भोजन क्रिया म भी स्वभावतः भद माना जायगा। उसम यदि भद की प्रतीति होती है तो इसलिए होती है कि भोजन यापार के पात्र आदि प्राय एन स भासित हात है। पात्र के भद स उसम एकत्व और स्वभावतः अनेकत्व है। पल की दृष्टि स भी क्रिया म भद जान पड़ता है। कोई स्वग क लिए यजन करता है काद पुत्र क लिए कोई धन के लिए। एन पत्र भद स तृप्तिवत् यता म भी भक्त आ जाता है और इस कारण क्रिया म अनेकत्व भक्तता है। परन्तु वस्तुतः क्रिया एन है। (एकहि क्रिया महाभाष्य १।२।६४)। आख्यात वाक्य क्रिया सवत्र भक्त निवर्तनी हाती है यही सिद्धांत है। पत्र और साधनभक्त स यजन—क्रिया म भक्त अथ का तृप्ति स भक्त ही अग्नत हा। तत्र की तृप्ति स वह सग सामान्यरूप म एन है। प्रत्यय या आवृत्ति क कारण क्रिया का एनत्व विघटित नहा हाता। क्रिया क एकत्व की रक्षा क लिए भक्त हरि न क्रिया म व्यक्तिभाग और जातिभाग की कल्पना की है -

व्यक्ति क्रिया व्यक्तिभागरूपकारे प्रवर्तते।  
सामान्यभाग एवास्या वचिन्वस्य साधक ॥ ५५

त्रिया का एक व्यक्तिभाग है और एक उसका सामान्यरूप जातिभाग है। समीहित सिद्धि के लिए कभी व्यक्तिरूप में त्रिया प्रवृत्त होती है और कभी जातिरूप में। बाधा विकल्प, समुच्चय, अतिगण, प्रगमा<sup>४७</sup> आदि में त्रिया व्यक्तिभाग के रूप में प्रवृत्त होती है क्योंकि त्रिया के सामान्यरूप से प्रवृत्ति मानने पर समुच्चय विकल्प आदि की उपपत्ति नहीं हो सकती। अतएव त्रियाग्राहक अध्याहार का समुच्चयवृत्त है। तुल्य बनवानी अविराधी त्रियाग्राहक अध्याहार भी समुच्चय है। जैसे—देवदत्त भोजय सवर्णेन सर्पिषा शाकेन च, अथवा—

अहरहनयमानो गामश्च पुरुष पशुम् ।

यद्यस्वतो न तृप्यति मुराया इव दुमद ॥

इसमें एक ही नयति त्रिया में गौ अश्व पुरुष आदि का समुच्चय है। ऐसा स्थला में त्रिया का जातिस्वरूप प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि जाति में समुच्चय सम्भव नहीं है। विकल्प भी तुल्यबल के विरोध में होता है। जैसे कौण्डिन्य को दधि और तक्र दिया जाय में विकल्प है। यहाँ भी त्रिया व्यक्तिभाग के द्वारा उपकारक है। इसी तरह अतिगण आदि स्थाना में समझना चाहिए। परन्तु लोक-व्यवहार की सिद्धि के लिये त्रिया जाति रूप में भी प्रवृत्त होती है जैसे पचति, यजत आदि में त्रिया का सामान्य रूप ही वाक्यार्थ में अधिक उपयोगी होता है। कालभेद अथवा साधनभेद से क्रिया-भेद की प्रतीति त्रिया का जातिरूप का विघातक नहीं होती।

जहाँ त्रिया विजातीय और विभिन्नपदवाच्य है परन्तु साधन एक ही है वहाँ भी कालभेद से साधन में भेद मानकर त्रिया की प्रत्यक्ष के साथ परिसमाप्ति सिद्ध होती है जैसे अथा भक्ष्यता भक्ष्यता दीव्यन्ताम में अथा साधन एक शब्दापात्त है और त्रिया भिन्न जाति वाली और भिन्न शब्दापात्त है फिर प्रतिपत्ति बला में अथा शब्द से बहने गाड़ी की घूरी और जूब की प्रतिपत्ति होने से विभिन्न क्रियाग्राहक इन विभिन्न साधना में पृथक् पृथक् सम्बन्ध हो जायगा। क्योंकि विभीतक का ही भक्षण होना है न कि शकटाक्ष अथवा त्वनाक्ष का। इसी तरह शकटाक्ष का ही भक्षण होता है न कि विभीतक अथवा दवनाक्ष का। इसीलिये त्रिया का योगपद्य अवस्था में भी क्रमवाली माना जाता है—

त्रिया तु योगपद्येऽपि क्रमरूपावुपातिनो<sup>४८</sup> ।

वस्तुतः क्रम और योगपद्य शब्द की शक्तिविशेष हैं जिन्हें क्रम भेदशक्ति और ससग-शक्ति कह सकते हैं। ये शब्द के व्यापार हैं जो शब्द से भिन्न से जान पड़ते हैं।

४७ त्रिप्रकारा हि प्रशसाशब्दाः । केचित् जानि शब्दा परार्थे प्रयुज्यमाना प्रशसामाचक्षते यथा मिहादे दत्त इति । कचिद् गुणशब्दाः । गुणगुणिसम्बन्धन प्रशसा वचना भवन्ति यथा रमणीयो ग्राम शोभन पाचक इति । कचिद् रुतिशब्दाः मनल्लिकादयः । तेषां प्रशसैव पदार्थः —  
याम २।१।६६

४८ वाक्यपदीय २।४७१

## आख्यातशब्द वाक्यम्

वाक्य का मुख्य क्रिया पर अवलम्बित है। भूक्तिः । क्रिया का विचार वाक्य की दृष्टि में भी किया है। वाक्य १२ क्रियावाक्य व आख्यात म वाक्य सम्बन्धी भाषा तरह व विस्तृत उक्ति है। उक्त म पठता आख्यात शब्द है। कुछ क्रियावाक्य अनुसार क्रियावाक्य वाक्य है। कभी कभी एक ही क्रियावाक्य से कर्ता और क्रम व क्रय सहित वाक्य दिया जाता है। जग वपति म। वपति क्रिया म दय कर्ता का और जन क्रम का वाक्य हो जाता है। पवन वपति वाक्य है।<sup>१६</sup>

वाक्यवाचक वाक्यम्। यहाँ आख्यात पठ म एक क्रियावाक्य का प्रयोग होता है। मुख्य वाक्य विगणन सन्नि आख्यात वाक्य है। मुख्य सहित जस उक्त पठति। कारकगृहीत जस आन्त पचति। क्रियाविगणनसहित जग मुष्टु पचति। य मत्र प्रत्यक्ष और समुच्चिन्म म भी गृहीत होत है। मुख्य यद्यपि कारक और विगणन भी होता है फिर भी प्रपञ्च उसका ग्रहण यहाँ किया गया है। आख्यात सविशेषण प्रत्यक्ष ही लक्षण पर्याप्त है। आख्यात पठ म यहाँ क्रिया की प्रधानता लीति है इमन्निध द्वे दत्तेन गणितव्यम् भी वाक्य है। यह वाक्य का शास्त्रीय लक्षण है। कयट व अनुसार वाक्य का लौकिक लक्षण अर्थवत्त्वात्क वाक्य साक्षात् चद विभाग स्यात् ५ है अर्थात् साक्षात् एकाग्र पद समूह को वाक्य कहत है। यह भीमासका का मत है जिम कयट न लौकिक माना है। यह वाक्यलक्षण व्याकरण-ज्ञान म मान्य नहीं है। क्रय दण्णे हरानेन (यह लाठी है इससे गाया का ल जाओ) आन्त पच तव भविष्यति (भोजन बनाओ तुम्हारा अथवा तुम्हारे स्वामी का होगा) जस वाक्य वस्तुतः दो वाक्य माने जाते हैं। कयानि इनम दो आख्यातपठ है। इह दो वाक्य मान कर ही वातिककार ने ऐसे स्थाना म निघात आदि के निषेध के लिए समानवाक्ये निघातपुष्पदत्तमदादेना ८ अनुसार उपयुक्त वाक्यो म एक वाक्य होने से निघात आदि की प्राप्ति होने लगती। अत वातिककार का ही वाक्यलक्षण अधिक उपयुक्त है।

वातिककार व इस वाक्यलक्षण व अनुसार ही व्रजानि देवत्त जसे वाक्य म पाणिनिसूत्र ८।१।१६ से निघात सिद्ध होता है। कयानि यहाँ जान की क्रिया सवोध्य देवदत्त व जाने की क्रिया से अथवा यज्ञत्तविषयक जाने की क्रिया से पृथक् होने के कारण विगणित मानी जानी है फलतः देवदत्त क्रियाविशेषण होने व कारण वाक्य की परिभाषा के भीतर आ जाता है। क्रिया का विगणन सामानाधिकरण्य और वयधि करण्य दाना रूपा म देखा जाता है। शोभन करोति मुष्टु करोति जस वाक्या म क्रिया की मुष्टु आदि विशेषण युक्त रूप म ही प्रतीति होती है। इसलिय करोति क्रिया

४६ वाक्यपदीय २।३२७

० भीमासासुत्र २।१।४६ महाभाष्यप्रदीप ८।१।१६

१ पाणिनि सूत्र ८।१।१८ पर वातिक

का सुष्ठु शोभन के साथ सामानाधिकरण्य है। असत्त्वभूतक्रिया के विशेषण होन के कारण ही क्रियाविशेषण सदा नपु सक लिंग वाले ही होते हैं। क्रिया के निवृत्य होने के कारण क्रियाविशेषण में कर्मत्व भी स्वाभाविक ही है। ब्रजानि देवदत्त में वयधि-करण्य के रूप में विशेषण है। यहाँ देवदत्त और जाने की क्रिया का सामानाधिकरण्य नहीं है। देवदत्त को आमन्त्रण करके जान में केवल बिना आमन्त्रण के जाने की अपेक्षा आमन्त्रणपूर्वक जान वाली क्रिया विलक्षण हो गई है इसलिये आख्यात इस वाक्य में सविशेषण है। नागेश के अनुसार सविशेषण का अर्थ साक्षात् अथवा परम्परा विशेषण सहित है अतः 'नद्यान्तिष्ठति कूले' में समान वाक्यत्व सिद्ध होता है।

भट्ट हरि न वार्तिककार के दूसरे वाक्यलक्षण पर भी विचार किया है और वह है 'एकतिङ् वाक्यम्'। वार्तिककार के प्रथम वाक्य लक्षण में आख्यात शब्द में एकत्व की अविवक्षा की शका किसी को न हाने पावे इसलिये ही वार्तिककार ने 'एक तिङ् वाक्यम्' पुनः कहा है अर्थात् दो आख्यात वाले वाक्य एक वाक्य न मान जाय यह उनका अभिप्राय है। परन्तु पाणिनि ने तिङ्तिट् ८।१।२८ सूत्र में अतिङ् ग्रहण किया है। इससे जान पड़ता है कि उनके मत में अनक तिङ्-तपद के रहते हुए भी यदि अर्थ साक्षात् है तो एक वाक्य ही मानना चाहिये।

कुछ लोग मानते हैं कि वार्तिककार और सूत्रकार में यहाँ मतभेद नहीं है। वार्तिककार का एकतिङ् त्व प्रधानतिङ्-त की अपेक्षा प्रतिपाद्यमान है अतः सूत्रकार के मत के अनुकूल ही वार्तिककार का भी मत है। परन्तु कुछ लोग इस व्याख्या को स्वीकार नहीं करते और दोनों मुनियों में वाक्यविषयक मतभेद मानते हैं।<sup>५२</sup> कुछ लोग अनेक क्रियापत्ता वाले वाक्यों में भेदाभेद सिद्धांत को अपनाते हैं। पश्य भृगो याति इस वाक्य में दो तिङ्-तपद हाने के कारण यहाँ वाक्यभेद है साथ ही मृग पद का याति पद से और उसका पश्य से योग हाने के कारण एक ही वाक्य है अभेद है—

तिङ् ता तरयुक्तेषु युक्तयुक्तेषु वा पुनः ।

मृग पश्यत यातीति भेदाभेदो न (च) तिष्ठत ॥<sup>५३</sup>

## क्रियावाक्यार्थवाद

वाक्यपदीय में वाक्याथ छ प्रकार के विवक्षित हैं—सत्तय, प्रयोजन, समृद्धि, निराकाशपदाथ, प्रतिभा और क्रिया। इनमें क्रियावाला पञ्च क्रिया वाक्यार्थवाद का नाम से प्रसिद्ध है। इसके भी पञ्चवाक्यार्थवाद और कमवाक्यार्थवाद नाम के अन्तर्भेद होते हैं। जो लोग आख्यातपद का वाक्य मानते हैं उनके मत में क्रिया ही वाक्यार्थ है। क्रिया के अनुपग से ही पदाथ की प्रतीति हान्ती है। बिना क्रिया के किसी वस्तु का अस्तित्व अथवा नास्तित्व का पता नहीं चलता। जहाँ एक ही पद निराकाश सत्ता का प्रतिपादक होता है वहाँ भी है था नहीं हुआ आदि रूप में अनुभूति हाने पर ही वाक्य की परिसमाप्ति दायी जाती है। अतः एमे स्थला में भी किसी न किसी रूप में क्रियापत्ता का सम्बन्ध अनिवार्य है। क्रिया वाक्यार्थ हाने का कारण ही एक



## आख्यातशब्द वाक्यम्

वाक्य का गमन क्रिया पर प्रयत्नधिया है। भूतकृति क्रिया का विचार वाक्य की दृष्टि से भी किया है। वाक्यपरीय श्रुतीयत्वात् क आरम्भ में वाक्य सम्बन्धा भाट तरह क विरल उल्लिखित है। उनमें से पन्ना आख्यात गम है। कुछ विचारणा क अनुसार क्रियागत वाक्य हैं। कभी कभी एत ही क्रियागत से कर्ता और कम क प्रय सहित बोध दया जाता है। जग वपति स। वपति क्रिया ग दव कर्ता का और जन वम का बोध हा जाता है। पत्तन वपति वाक्य है।<sup>४६</sup>

वाक्यपरारखविपण वाक्यम्। यग आख्यात पत्त एत क्रियापत्त का प्रहण होता ह। अर्थय कारर विपण सहित आख्यात वाक्य ह। अव्यय सहित जस उच्च पत्ति। व सव अलग वारक गहित जस अर्थन पति। क्रियाविपणगहित जग गुप्टु पचति। य सव अलग अलग और समुच्चिरूप म भी गहीन होत हैं। अव्यय यद्यपि वारक और विपण भी हाता ह फिर भी प्रपचाय उसरा प्रहण यहा किया गया ह। अख्यात सविपण पत्तना ही लक्षण पर्याप्त ह। अख्यात पत्त से यहा क्रिया की प्रधानता सति ह इमलिय दव दत्तेन गमितव्यम् भी वाक्य ह। यह वाक्य का शास्त्रीय लक्षण ह। कयत् क अनुसार वाक्य का लौकिक लक्षण अर्थकत्वादक वाक्य साकाश चद् विभाग स्यात् ५ है अर्थान साकाश एकाय पद समूह को वाक्य कहत है। यह भीमासका का मत है जिस कयत् न लौकिक माना है। यह वाक्यलक्षण व्याकरण भाग म माय नहीं है। अय दण्डा हरानन (यह लाठी है इससे गाया को ले जाया) ओदन पच तव भविष्यति (भोजन बनाया तुम्हारा अथवा तुम्हारे स्वामी का होगा) जस वाक्य वस्तुत दो वाक्य माने जाते हैं। क्याकि इनमें दो आख्यातपत्त है। इहें दो वाक्य मान कर ही वाक्यकार ने ऐसे स्थाना म निघात आदि के निपथ क लिए समानवाक्य निघातयुग्मदस्मदादेना<sup>४७</sup> इस वाक्य म समानवाक्य सत् रत्ता है। लौकिक अथवा भीमासक वाक्यलक्षण के अनुसार उपयुक्त वाक्या म एक वाक्य होने से निघात आदि की प्राप्ति होन लगगी। अत वाक्यकार का ही वाक्यलक्षण अधिक उपयुक्त है।

वाक्यकार क इस वाक्यलक्षण के अनुसार ही ब्रजानि देवन्त जसे वाक्य म पाणिनिसून ८।१।१६ से निघात सिद्ध होता है। क्योंकि यहा जाने की क्रिया सवोध्य देवदत्त के जाने की क्रिया से अथवा यज्ञन्तविषयक जान की क्रिया से पृथक् होन क कारण विशिष्ट मानी जानी है फलत देवदत्त क्रियाविशेषण हान के कारण वाक्य की परिभाषा क भीतर आ जाता है। क्रिया का विपण सामानाधिकरण्य और वयधि करण्य दाना रूपा म देखा जाता है। शोभन करोति सुष्ठ करोति जसे वाक्या म क्रिया की सुष्ठ आदि विशेषण युक्त रूप म ही प्रतीति होती है। इसलिय करोति क्रिया

४६ वाक्यपदाय २।३२७

४७ भीमासक २।१।४६ मटाभाष्यप्रदीप ८।१।१६

४८ पाणिनि सूत्र ८।१।१८ पर वाक्यिक

का सुष्ठु, शोभन के साथ सामानाधिकरण्य है। असत्त्वभूतक्रिया के विशेषण होने के कारण ही क्रियाविशेषण सदा नपुंसक लिंग वाले ही होते हैं। क्रिया के निवृत्त्य होने के कारण क्रियाविशेषण में कर्मत्व भी स्वाभाविक ही है। प्रजापति देवदत्त में वयधिक्षरण्य के रूप में विशेषण है। यहाँ देवदत्त और जाने की क्रिया का सामानाधिकरण्य नहीं है। देवदत्त को आमन्त्रण करके जान में केवल बिना आमन्त्रण के जान की अप्रत्या आमन्त्रणपूर्वक जान वाली क्रिया विनश्यत हो गई है इसलिये आख्यात इस वाक्य में सविशेषण है। नानेश के अनुसार सविशेषण का अर्थ साक्षान् अथवा परम्परा विशेषण सहित है अतः नद्यान्तिष्ठति कूलं में समान वाक्यत्व सिद्ध होता है।

भट्ट हरि ने वातिककार के दूसरे वाक्यलक्षण पर भी विचार किया है और वह है एकतिङ् वाक्यम्। वातिककार के प्रथम वाक्य लक्षण में आख्यात शब्द में एकत्व की अविवक्षा की शका किसी का न होने पावे इसलिये ही वातिककार ने 'एकतिङ् वाक्यम्' पुनः कहा है अर्थात् दो आख्यात वाले वाक्य एक वाक्य न माने जाय यह उनका अभिप्राय है। परन्तु पाणिनि ने तिङ्तिङ् ८।१।२८ सूत्र में अतिङ् ग्रहण किया है। इससे जान पड़ता है कि उनके मन में अनेक तिङ्-तपद के रहते हुए भी यदि अर्थ साक्षात् है तो एक वाक्य ही मानना चाहिये।

कुछ लोग मानते हैं कि वातिककार और सूत्रकार में यहाँ मतभेद नहीं है। वातिककार का एकतिङ् त्व प्रधानतिङन्त की अपेक्षा प्रतिपाद्यमान है अतः सूत्रकार के मत के अनुकूल ही वातिककार का भी मत है। परन्तु कुछ लोग इस व्याख्या को स्वीकार नहीं करते और दोनों मुनियों में वाक्यविषयक मतभेद मानते हैं।<sup>५२</sup> कुछ लोग अनेक क्रियापद वाले वाक्य में भेदाभेद सिद्धांत को अपनाते हैं। पश्य मृगो याति इस वाक्य में दो तिङ्-तपद होने के कारण यहाँ वाक्यभेद है साथ ही मृग पद का याति पद से और उमका पश्य से योग होने के कारण एक ही वाक्य है अभेद है—

तिङ् ता तस्युक्तेषु युक्तयुक्तेषु वा पुनः।

मृग पश्यत यातीति भेदाभेदो न (च) तिष्ठत ॥<sup>५३</sup>

## क्रियावाक्यार्थवाद

वाक्यपदीय में वाक्याथ छ प्रकार के विवक्षित हैं—सत्तम प्रयोजन मसृष्टि निराकाशपदाथ, प्रतिभा और क्रिया। इनमें क्रियावाना पश्य क्रिया वाक्याथवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इसका भी पञ्चवाक्याथवाद और कमवाक्याथवाद नाम के अन्तरभेद होते हैं। जो लोग आख्यातपद का वाक्य मानते हैं उनका मत में क्रिया ही वाक्याथ है। क्रिया के अनुपगम ही पद्याथ की प्रतीति होती है। बिना क्रिया के किसी वस्तु का अस्तित्व अथवा नास्तित्व का पता नहीं चलता। जहाँ एक ही पद निराकाश सत्ता का प्रतिपादक होता है वहाँ भी है या नहीं हुआ आदि रूप में अनुभूति होने पर ही वाक्य की परिममाप्ति देखी जाती है। अतः ऐसे स्थलों में भी किसी न किसी रूप में क्रियापद का सम्बन्ध अनिवार्य है। क्रिया वाक्याथ होने के कारण ही एक

क्रिया दूसरी क्रिया से विनिष्ट होती है, फलतः भिन्न होती है। क्रिया के अपार  
और साधन नियत होते हैं इसी से क्रिया में वसिष्ठ्य आता है। यात्रा में निरापणा  
(साधन) के प्रयोग क्रिया के मुख्य रूप के उद्वाचन में महापात होता है।<sup>५४</sup>  
जब फल पर अधिक दृष्टि रहती है तब क्रिया का प्रयोजन फल होता है। फल  
तब क्रिया फल का जगभूत हो जाती है। एक स्थला में ही फलवाक्याथवा का  
सिद्धान्त अपनाया जाता है। इस भन्व हरि ने साध्यप्रयुक्ततायङ्गानि फल तस्या  
प्रयोजक (वाक्यपदीय २।४३४) के रूप में व्यक्त किया है।  
कमवाक्याथवा में भी क्रिया कम के लिए होती है। इस दृष्टि से कम क्रिया  
से प्रधान उद्हरता है —

पचिक्रिया करोमीति कमत्वेनाभिधीयते  
पचित् करणरूप तु साध्यत्वेनप्रतीयते ॥५५॥

फलवाक्याथवा कमवाक्याथवा और क्रियावाक्याथवा एक ही के विभिन्न  
पहलू हैं। क्रिया मुख्य है। कम क्रिया से ही निष्पन्न होता है और फल तो फल है।  
क्रिया के बिना फलकी सत्ता नहीं है। इसीलिये भन्व हरि ने क्रियावाक्याथवा को  
महत्त्व दिया है।

वस्तुतः भन्व हरि के अनुसार प्रतिभा वाक्याथ है। प्रतिभा पर भाग विचार  
क्रिया जायगा। परन्तु वाक्याथरूप प्रतिभा भी क्रियात्रित ही है। पुण्यराज ने इसकी  
पुष्टि में निम्नलिखित वाक्यपत्नीय का श्लोक उद्धृत किया है यद्यपि यह श्लोक छप  
वाक्यपत्नीय में नहीं मिलता —  
प्रतिभा यत् प्रभूतार्थ (प्रभूत्यर्था) यामनुष्ठानमाश्रितम् ।  
फल प्रसूयेत यत् सा क्रिया वाक्यगोचर ॥

—वाक्यपदीय २।१ की टीका में पुण्यराज द्वारा उद्धृत ।

## कालविचार

शक्त्यात्मदेवतापक्षे मितं कालस्य दशनम

—वाक्यपदीय ३ कान्तमुद्देश ६२ ।

आग्यातार्यों में क्रिया व वाद प्रमुख स्थान काल का है। भन हरि न काल पर विचार एक दार्शनिक की भांति किया है। इनके काल सत्र धी अपने स्वतंत्र विचार हैं जो व्याकरण मन्त्राय में प्रसिद्ध नहीं रहे हैं। आगे हम दर्शेंगे कि इनका काल-दशन कश्मीर शैवागम की मायनाग्रा में मेल खाता है। परन्तु अपने स्वभाव के अनुसार भन हरि न काल सम्बन्धी उन दार्शनिकवादा का भी वाक्यपदीय में संकेत किया है जो उनके समय तक प्रसिद्धि पा चुके थे।

अपने दश में काल सम्बन्धी विचार वैदिक काल में ही प्रारम्भ हो गये थे। यह बात स्पष्ट हो चुकी थी कि ममार परिवर्तनशील है। रात बीतती है। दिन आता है। गरद, हेमन्त आदि वारी वारी से आत जात रहते हैं। ग्रह और नक्षत्र अनवरत गतिशील हैं। कोई भी वस्तु अपने आप में क्षण भर स्थिर नहीं रहती। वह या तो बढ़ती रहती है अथवा घटती रहती है। इस परिवर्तन की अवस्था विज्ञेय के बोध के लिये और अवस्थाग्रा के पूवापरसंबन्ध ज्ञान के लिये किसी न किसी उपाय का आश्रय लेना पड़ेगा। वह उपाय काल है। वह दिक् ऋषिया ने ऋत नाम की एक शक्ति का कल्पना की थी जो माव भौम नियम के रूप में थी।<sup>१</sup> ऋतावा (वरुण) यह दखन था कि सूर्य और चन्द्र, नटिया तथा सभी जन यथास्थान यथावसर अपने अपने व्यापार करते हैं। वरुण कालन था। वे बारह महीना की और उनसे उत्पन्न हान वाले मास (मलमास) का जानते थे —

वेद मासो घतव्रतो द्वादश प्रजावत ।

वेदा य उपजायते ।।<sup>२</sup>

१ अतः शब्द का सम्बन्ध अवेगता के अश शब्द से है। अवेगता में अश क क रूप मिलता है। अश, अशी एश और परत। ऐत वैदिक अत शब्द का ही रूपांतर है। यह निश्चित सा है कि आयकाल में, जबकि भारतीय आय और इरानी आय अलग नहीं हुए थे अतः का काल पुराण रूप में फैल चुका था। अवेगता के परत और वेद के अत दोनों का अर्थ अपरिवर्तनीय शाश्वत नियम है।

२ अकम्हिता १।२५।८

वत्सर परिवत्सर आदि शब्द तथा भूत भव्य इत्यादि काल भेद छातरा गण  
ऋग्वेद में मिलते हैं। काल दशन व चीज भी ऋग्वेद में हैं। यह कहा गया है कि  
दश काल आग्नि पुरुष के ही विचार हैं। सूर्य और चन्द्र पुरुष से ही प्रसूत हैं वसन्त  
ग्रीष्म शरत् पुरुष की त्रिया है (वसन्तो अस्याग्नीदास्य ग्रीष्म इधम शरद् हवि) ।<sup>३</sup>  
काल भी पुरुष ही है

पुरुष एवेद सव यः भूत यच्च मध्यमः ।<sup>४</sup>  
अथववत् स वात परमदेवता के रूप में स्थित है। काल ही स्रष्टा है। काल  
ही भर्ता है। काल में सत्र कुछ प्रतिष्ठित है। काल से विश्व का विनाम हुआ है —  
काले भूतिमसजत काले तपति सूर्य ।  
कालो ह विश्वा भूतानि काले चक्षुः विपश्यति ॥<sup>५</sup>

कालादाय समभवन कालाद ब्रह्म तरो दिग् ।  
कालेनोदेति सूर्य काले निविगते पुन ॥<sup>६</sup>  
काल व स्वरूप का विचार उपनिषद् में मिलता है। सभी भाव किसी देव  
और किसी काल में उत्पन्न होते हैं। अतः काल रचना प्रपञ्च का कारण हो सकता है  
कि नहीं इसका विचार विमला उपनिषद् में मिलता है —  
काल स्वभावो नियति यदच्छा  
भूतस्य योनि पुरुष इति चिन्त्या ।<sup>७</sup>

पुराणा में काल के देवता स्वरूप का ही अधिक विवरण है। महाभारत में  
काल पचति भूतानि काल सहरत प्रजा आग्नि के रूप में अथर्ववेदोक्त काल के  
अलौकिक महिमा का विवरण पाया जाता है। भगवद् हरि न इन सब मतों का सकत  
गक्या मदेवतापक्ष भिन्न कालस्य दशनम् इस वाक्य से किया है और ये सब विचार  
आगे व काल दशन के विवरण में पीछिका रूप से उपयोगी है।  
काल गण की पु पत्ति जटिल नहीं है फिर भी प्रकारभेद दिया जाता है।  
यास्क के अनुसार काल शब्द गत्ययक कालय से निष्पन्न हुआ है—काल कालयते  
गति कमण ।<sup>८</sup> पाणिनीय धातुपाठ में कल शब्दस्थानयो कल उपे कल गती सम्बन्ध  
च इस रूप में कल धातु के कई अर्थ उल्लिखित हैं। क्षीरस्वामी ने कलपत्यायु काल  
ऐसा कहा है।<sup>९</sup> फिर भी स कला कालयन सर्वा कालाख्य लभत विभु ।<sup>१०</sup> कालो

३ ऋक्संहिता, पुरुषसूक्त १०।६०

४ ब्राह्म १०।६०।२

५ अथर्व संहिता १६।५२।६

६ बृहती १६।५४।१

७ श्वेताश्वतरोपनिषद् १।२

८ निरुक्त २।२५।१

९ अमरकोश १।१।५६

१० वाजयस्येय ३ कालसमुद्देश १५

५य कलनामक <sup>११</sup> 'काल कलयनामह' <sup>१२</sup> इत्यादि वाक्या म इसका प्रयोग गति और सग्यान अथ म ही बहुधा दखा जाता है। इसलिये काल शब्द का व्युत्पत्ति लब्ध अथ गति और सग्यान है। काल के विचार मे व्युत्पत्तिलब्ध अथ का भी घाड़ा सा प्रभाव है।

## न्याय-वैशेषिक के मत में काल

कानसमुद्देश की प्रथम कारिका म भत हरि ने काल के सम्प्रध म याय-वैशेषिक दशा के मत का उल्लेख किया है। न्यायिक और वैशेषिक काल की बाह्य सत्ता मानते हैं। उनके मत म काल द्रव्य है। काल की सत्ता अनुमान स सिद्ध होती है। पर अपर चिर भिन्न आदि लिगा क द्वारा काल की सत्ता का अनुमान हाना है

काल परापरव्यतिकरयोगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्यर्थात्मक । तेषा विषयेषु पूव प्रत्ययविलक्षणानामुत्पत्तौ अयनिमित्ताभावात् यदत्र निमित्त स काल ।<sup>१३</sup>

पर अपर चिर भिन्न आदि का काल आदित्य के परिस्पन्द क द्वारा जाना जाना है। केवल आदित्यपरिस्पन्द का ही काल इसलिए नहीं कह सकते कि काल युगपदादि काल स भी अनुमय होता है। केवल आदित्य परिवर्तन म युगपदादि काल स का सम्भव नहीं है। वैशेषिक के मत म काल सभी कार्यों का हतु है। नित्य है। विभु है। एक है।

न्यायिका म रघुनाथशिरामणि काल की पृथक् सत्ता अंगीकार नहीं करते। उनके मत म दिक् और काल ईश्वर के अनिरिक्त नहीं है उनका ईश्वर म ही अन्तर्भाव सम्भव है

दिवकालौ नेश्वरादनिरिच्छते मानाभावात् । तत्र तत् निमित्तविशेषसमवधा नयनाद् ईश्वरादत्र तत् तत् कार्यविशेषाणामुत्पत्ते ।<sup>१४</sup>

कि तुरघुनाथ निरोमणि ने सक्का वष पूव भतृ हरि ने इस मत का प्रतिपादन भी वाक्यपदीय म किया था जो निम्नलिखित कारिकाओं स स्पष्ट है—

चतयवत् स्थिता लोके दिवकालपरिकल्पना ।

प्रकृति प्राणिना ता हि कोऽयथा स्यापयिष्यति ॥<sup>१५</sup>

कालविच्छेदरूपेण तदेवकमवस्थितम् ।

स ह्यपूर्वापरौ भाग पररूपेण लभ्यते ॥<sup>१६</sup>

११ मूयसिद्धान्त १।१०

१२ भगवद्गीता १०।३०

१३ प्रशान्तशास्त्रभाष्य, पृष्ठ ३३२

१४ पञ्चाथ तत्त्व निरूपण, पृष्ठ १०

१५ वाक्यपदीय ३, दिक् समुद्देश १८

१६ वद्वि स्यान् समुद्देश ४२

## सार्व-दर्शन के अनुसार काल

सार्वदर्शन में गान्धर्वीय क अनुसार जो काल का विवरण है वह वर्तमान समय में उपलब्ध गान्धर्व के विभाजन में नहीं मिलता। हम उसका उद्देश्य जान भू विचार के अन्तर्गत कर सकते हैं। कुछ आचार्यों के अनुसार सार्वदर्शन में काल का वर्णन नहीं है। इस विषय में भी हमें यह मानना पड़ेगा है। उनका मत है गान्धर्व के आचार्यों का मत है कि काल का निर्णय हमें नहीं मिलता है कि कि उस विषय के आधार पर जान भू किया जाता है। यही उपायों का उपयोग करना कर सकते हैं—

कालेष धनेष्विष्टाभिमतं एको न घनागतादि व्यपहार मेह प्रकाशितमृत्ति ।  
तत्तमाद्य यत्पाधिभदरनागतादि मेह प्रविपद्यते, तत्तु त एवापाद्य यत्ना  
गतादिष्वप्यहर्तय हृतमन्तगहना कातेनति साध्याचार्य ।<sup>१७</sup>

सार्वधर्मिक मत का भी वर्णन भी हमें मिलता है। व्याकरण की मुद्रिका के लिए किया गया काल का उपाधि रूप में मान लिया जाता है। अभिप्राय यह है कि काल का सम्भव नहीं है। काल में उपाधिपूर्ण होता है। यही उपाधि ही मुख्य है। काल नाम की बिना यन्त्र की वास्तविकता नहीं है। और यदि उसका वर्णन रूप की आवश्यकता होगी भी तो भी उसका स्वरूप बौद्धिक ही होगा। काल का मत ही हमें मत के अनुसार बुद्ध अनुसंहारक है। बुद्धि के द्वारा फिर फिर काल किया गया का जो सफलतात्मक कालान्वित रूप है यही काल है। उसका वास्तविकता नहीं है—

एतामि पद्यधर्माणि प्रविमक्त स्वभावतः ।

केचिद् बुद्धयनुसंहारसंक्षेप त प्रवक्षते ॥<sup>१८</sup>

परन्तु बाद के गान्धर्वीयों ने काल का आकार की तत्मा का परिणाम मान लिया है जसा कि दिक्कालावाक्यान्वित्य इस सांख्य सूत्र में स्पष्ट है।

## योग-दर्शन में काल

उपयुक्त सार्व दर्शन की साधना के अनुरूप ही योग दर्शन के भी काल सम्बन्धी विचार हैं। एक परमाणु पूरा देह का छोड़ कर उत्तर देह के साथ जब तक संयोग प्राप्त करता है उस काल को क्षण कहते हैं। क्षण के तुरन्त प्रवाह को यम कहते हैं। क्षण और उसके क्रम का समाहार सम्भव नहीं है क्योंकि क्षण अयुक्त होता है। इसलिए बौद्धिक समाहार माना जाता है। वही बौद्धिक समाहार मुक्त महाराज आदि के रूप में जान पड़ता है। काल वस्तुतः (अवास्तविक) है। वह बुद्धिनिर्मित है। गान्धर्वीयानुपाती है और भावितव्य वस्तु रूप में प्रतिभासित होता है।<sup>१९</sup> भट्ट हरि

१७ तत्त्वकीमुनी, सांख्यकारिका ३३

१८ वाचस्पतीय ३, कालसमुद्देश ५७

१९ वाचस्पतीय ३, काल समुद्देश ६६





## ज्योतिष में काल

ज्योतिष-ग्रन्थप्रसिद्ध ग्रहा की गति पर अवलम्बित काल-स्वल्प का निर्देश भट्ट हरि ने निम्नलिखित कारिका में किया है—

आदित्यग्रहक्षत्रपरिस्थानमयापर ।

भिन्नमासतिभेदेन कालकालविदो विदुः ॥<sup>२४</sup>

## व्याकरण-दर्शन में काल

पाणिनि ने काल सम्बन्धी नियम अतिव्यक्त माने थे । काल का ज्ञान तोर से मन्त्र ही हो जाना न कारण काल विशेष ज्ञानक अवयवन आदि शब्दों की परिभाषा करने की कोई आवश्यकता नहीं थी । फलतः पाणिनि का व्याकरण अकालक कहा जाता था (पाणि-युपज्ञमकालक व्याकरणम कारिका २।४।२१) । परन्तु महाभाष्यकार आदि ने काल पर एक व्यापक की भाँति विचार किया है । महाभाष्य में काल सम्बन्धी कई तरह के वक्तव्य हैं ।

कुछ व्याकरण मानते हैं कि क्रिया ही काल है । क्रिया में काल का वाद्य होता है अतः क्रिया को ही काल मानना चाहिये (नाचरेण क्रिया भूतमविध्यत वक्तमानकाला व्यज्यत—महाभाष्य १।१।७०) । इस मन के पावन कथन है । उनका मत में उस प्रसिद्ध परिमाणवाली क्रिया को काल कहते हैं जो अप्रसिद्ध परिमाणवाला दूसरी किसी क्रिया की परिच्छिन्ना है —

कालो हि प्रसिद्धपरिमाणक्रिया अप्रसिद्धपरिमाणस्य क्रियांतरस्य परिच्छेदिका—महाभाष्यप्रदीप १।१।७०

कथन में क्रिया के प्रसिद्ध परिमाण की सूर्यादिकत का माना है । निरसमधीने इस वाक्य में दिवस का से सूर्य की गति क्रिया अभिप्रेत है जो उत्पन्न होकर अन्त काल तक व्याप्त है । वह निम्न (आदित्य क्रिया प्रवृत्ति) अवयवन क्रिया का परिच्छेदक है अतः उस का काल कहते हैं

प्रसिद्धपरिमाणक्रिया सूर्यादिकत का अप्रसिद्धपरिमाणवा क्रियाया परिच्छेदोपात्ता अहोरादिध्यपदेश्या काल इत्याहुः ।

—महाभाष्यपटीप ३।२।८४

इस मन की पुष्टि महाभाष्यकार के भी कुछ वक्तव्यों में हाती है । एक स्थान पर उन्होंने कहा है—वाह्यश्च पुन आत्मात काल अर्थात् काल मुख्यतः वाह्य है । यह उक्ति क्रिया का काल मान कर हा सभर है (क्रियव कालो नातिरिक्तमते इदम्)<sup>२५</sup> । प्रसिद्ध परिमाण वाली क्रिया वाह्य क्रियान्तर का परिच्छेदक होती है । उस वाह्यत्व के आधार पर उस क्रिया को वाह्य काल कहा गया है । गार्दोहमास्त — गाय के दोहन

२४ बड़ा कालसमुद्देश ७२

२५ महाभाष्यमहापदीप, अ इ उ ग

काल तक ठहरता है—इस वाक्य में गोदोह क्रियाविशेष है। उसके काल की इयत्ता अच्छी तरह नात होने के कारण वह क्रिया प्रसिद्ध परिमाण वाली है। इसलिये वह दबदबत क ठहरने की क्रिया का परिच्छेदक है। फलतः वह काल है। जहाँ पर बाह्य-क्रिया नहीं है, जहाँ मूल्य संचार अथवा नालिकास्रुति [काल नापने का यंत्र] आदि प्रसिद्ध परिमाण बतानेवाले साधन नहीं हैं वहाँ बुद्धिनिवेशिनी क्रिया ही क्रियातर का परिच्छेदक हो जाती है। प्राणप्रवाह के आधार पर काल की गणना संभव है। प्राण प्रवाह के आधार पर अधिक बुद्धि के उदय से चिरकाल का और अल्प बुद्धि के उदय से शिप्रकाल का परिणाम हो जायगा।

यदि क्रिया से अनिरिक्त काल की सत्ता नहीं है तो 'भूता सत्ता' जिस वस्तु में कर्म सम्भव है क्याकि क्रिया स्वयं सत्ता रूप है उसका किसी सत्ता रूप क्रिया से याग संभव नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर स्वयं भगवद्गुरु ने दिया है। जिस तरह से 'भूता घट' इस वाक्य में सत्तात्म्य क्रिया की ही भूतता मानी जाती है वैसे ही 'भूता सत्ता' इस वाक्य में भी सत्तात्म्य क्रिया की ही सत्ता भूत रूप में मानी जाती है। भाव यह है कि भूता घट में भूतता घट की संभव नहीं है। घट द्रव्य है। द्रव्य का काल से सीधा सम्बन्ध नहीं होता। साध्य स्वभाववाली क्रिया का करणभूत काल के साथ सम्बन्ध होता है। निष्ठा प्रत्यय के द्वारा धातु वाच्य सत्तात्म्य क्रिया की भूतता अभिव्यक्त होती है। वह सत्तात्म्य क्रिया यहाँ घट में है। इसलिये काल का क्रिया के सम्बन्ध में घट से भी परस्परसा सम्बन्ध हो जाता है और घट की भूतता जान पड़ती है यहाँ द्रव्य और काल का सीधा सम्बन्ध नहीं है। वही तरह 'भूता सत्ता' इस वाक्य में भी धातु वाच्य क्रिया रूप सत्ता अर्थ है और प्रातिपदिक पद [सत्ता गन्] वाच्य द्रव्यमय अर्थ है। यहाँ भी धातुवाच्य सत्ता की भूतता के द्वारा ही द्रव्यायमाण सत्ता के भूतत्व की प्रतीति होती है। इसलिये क्रिया का काल मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं है। सत्ता नित्य है। फिर भी आश्रय भेद से उसमें भेद मान कर भूत वतमान आदि त्रिकालभेद की व्यवस्था भी सम्भव है।

कुछ व्याकरण काल का क्रिया से भिन्न मानते हैं और काल का क्रिया का परिच्छेदक मानते हैं। क्रिया अन्तर्गण का समाहाररूप है। क्षण युग्मत नहीं होते। क्रम से होते हैं। इसलिये क्रिया संचरमा होती है। क्रम काल का धर्म है। अतः संचरमा क्रिया काल गति में अनुगृहीत होती है। दो क्रियायाँ का उदय और अन्त समान होते हुये भी एक चिर से सम्पन्न होती दसरी जाती है और दूसरी शिप्र सम्पन्न होत नहीं जाती है। यह त्रिकाल परिच्छेद क्रिया की उपाधिगत सम्बन्धी व सम्भव रहा है। क्रिया में आश्रयभेद से भेद होता है। अतः एक क्रिया चिरता और शिप्रता की प्रतीति का कारण नहीं हो सकती। आश्रयभेद से भेद होने के कारण उसमें भेद की अनुवृत्ति हो जायगी। जिसमें भेद की अनुवृत्ति होती है वह अभिन्न व्यपत्ति का हनु नहीं हो सकता। इसी आधार पर वायु द्रव्य भी यहाँ निमित्त नहीं हो सकता। उसमें भी भेद होता है। कारण भी निमित्त नहीं हो सकता। उनमें भी भेद की अनुवृत्ति होती है। अतः यहाँ त्रिकाल परिच्छेद का जो निमित्त है वह काल है। जिस तरह से तुला

एक रजत रत्न घाति द्रव्य की गुणों को वह घाति के रूप में परिचिन्तित करता है उसी तरह वात भी घाति पतित वा घाति में निवासमाना का फिर घटित रूप में परिचिन्तित करता है।

त्रिया भूत के परिचिन्तित होने के कारण ही वात हाया [संस्कार] कहा जाता है। हाया का अर्थ है त्रिया का हाया (जहानि किया इति हाया)। हाया घाति का भी कहा है क्योंकि घाति भी मत्त अवस्थित उत्पन्न का छाप होता है। हाया के अन्तर्गत जायन्त (कुरु जायन्त)<sup>२४</sup> रूप के भाव का हाया कहा है (जायन्तदेवोदमया बन्धिद घोह्यो हाया हायाट्ट - पदमञ्जरी ३।१।१४८)। सभी रचित गणानि न भी हाया घातिमानया २।१।१४ - सूत्र के द्वारा हाया भाव की निहित घाति घोर मान दाता अर्थ में अभिप्राय की है।<sup>२५</sup> त्रिग मत्त में मत्त अवस्थित जन ग घाति का उत्पन्न होता है उसी तरह मत्तागी त्रियाया में कान भाव का उत्पन्न करता है।

विशेषण मूर्ति त्रिया के भीतर आ जाता है। त्रिया विभक्त करने त्रिया जा चुका है। त्रिया मूर्ति के परिचिन्तित प्रमाण परमाण उत्पन्न घाति। त्रिभिन्ति विभक्ति घाति पर त्रिग विभाग के अन्तर्गत में वस्तु के परिचिन्तित होता है। मत्त प्रमाण वस्तु है। प्रत्येक भाग आद्य घाति आगे घोर परिणाम के द्वारा घाय घाति के परिचिन्तित होता है। इह परमाण कहते हैं। निम्न पत्र घाति सुवर्ण घाति के गुणत्व के परिचिन्तित होता है। यह उमान कहते हैं। य सब मूर्तिभूत के नियमान जाते हैं। परन्तु काल त्रिया का परिचिन्तित है। यह त्रिया के भूत के लिये है (त्रिया भेदाय वाचस्तु)।<sup>२६</sup> सूत्र घाति घटा की सगार त्रिया वात से मापी जाती है। उस माप को मास सवत्सर घाति के द्वारा व्यक्त करते हैं। परिचिन्तित की दृष्टि से सग्या और काल में यह भेद है कि काल वस्तु त्रिया का परिचिन्तित होता है जब कि सग्या मूल प्रभूत सब की परिचिन्तित है। जस दू घटौ। बहुव आत्मान। द्वे त्रिय। एका विनस्ति। द्वौ हन्तौ। तत्रार प्रस्था। पञ्च पलानि। सग्या सग्या की भी परिचिन्तित है जस दा बीस (द्वि विंशती) पाँच पचास (पञ्च पञ्चाशत)।

सभी पदार्थों की उत्पत्ति स्थिति और उनके विनाश देखे जाते हैं। पदार्थों की उत्पत्ति स्थिति आदि का अलग अलग रूप वात के आधार पर ही सम्भव है। पदार्थ किसी न किसी काल में उत्पन्न होता है। उसी न किसी काल में स्थित होता है और किसी न किसी काल में विनष्ट होता है। इसलिये ज घाति अवस्था वाले पदार्थों का निमित्तकारण काल है। फलतः ज मादि त्रिया का परिचिन्तित है। यद्यपि वह एक है फिर भी उपाधिभेद से भेद प्राप्त करता है और अस्मिन् त्रियाया में भेद करने में

२४ अ बुक्तागल चतुष्टय पृथक् (वनमान पित्रोवा) के दक्षिण पश्चिम में था। आज कल का हम्बियाना बुक्तागल है। हासी, हिसार, फतहाबाद, सिरसा आदि इसी में हैं।

२५ काशिकाकार ने काल के अर्थ में हायन शब्द की उत्पत्ति निराने से की है—जिहीने भावान् इति। इसका यात्वा हरदत्त ने दा को है—भावा पदार्था तान निहीने गच्छति परिच्छेदकत्वा यातात्यथ—पदमञ्जरी ३।१।१४८

२६ वाचस्पदीय कावसमुद्देश २

समय हाता है। मास आदि भेद व्यवहार और भूत आदि व्यपदेश ससर्गिसूयादि क्रिया के भेद से हाता है।<sup>२८</sup>

जिस तरह से द्रव्य न ता गुण है और न कृष्ण है फिर भी ससर्गि गुण के कारण गुण और कृष्ण आदि रूप में व्यक्त हाता है उसी तरह काल भी भेद अभेद से अनिवाच्य है। उत्पत्ति आदि क्रिया के सम्बन्ध के कारण काल का उत्पत्तिकाल स्थितिकाल विनाशकाल जिस भेद धारण करने में व्यवहृत करते हैं। वस्तुतः भूत हरि के अनुसार भेद अभेद, एकत्व अनैकत्व आदि किसी के भी स्वाभाविक नहीं हाता। इसीलिये कहा है—'न हि गो स्वरूपेण गो नाप्यगो गोत्वामिसम्बन्धात्तु गो' इति।<sup>२९</sup>

महाभाष्यकार ने काल की एक परिभाषा या नी है—

येन मूर्तीनाम उपचयाश्चापचयाश्च लक्ष्यन्ते त कालमित्याहुः।<sup>३०</sup> तत्र तण लता आदि का कभी उपचय नया जाता है और कभी अपचय। पदार्थों के इस वृद्धि-ह्रास से काल का अनुमान हाता है। उपचय और अपचय काल कृत हैं।<sup>३१</sup> उसी काल का किसी क्रिया से सम्बन्ध हाता पर दिन और राति आदि नाम पडता है। वह क्रिया भाष्यकार के अनुसार आन्तियगति है। यद्यपि आन्त्यात से क्रिया की अभिव्यक्ति सदा निवृत्तभेद रूप में ही हाती है और इसलिये क्रिया एक मानी जाती है फिर भी आदित्य आदि साधन भेद से क्रिया भिन्न भिन्न ही होती है। काल का उपयुक्त स्वरूप भी काल क्रिया का भेदक है इस पक्ष की परिपुष्टि करता है।

पर तु नागना इस मत से सहमत नहीं है। उनके मत में काल को क्रिया का भेदक मानने पर क्रिया में क्षण—उपाधि सम्भव नहीं है। उत्तरदेश-संयोगावच्छिन्न क्रिया को मानने पर भी क्रिया के विगोपण विगोप्य और सम्बन्ध रूप में होने के कारण नाता के स्थिर रहने के कारण उसके लिये क्षण का व्यवहार सम्भव है। नागना ने क्रिया ही काल है इस पक्ष में भी यह आप दिवाया है। साथ ही प्रसिद्धपरिणामा क्रिया का काल मानने में नागना के अनुसार अनवस्था भी है। यदि क्रिया से काल को अतिरिक्त माना जाय तब भी काल को अवगणन मान कर उस क्षण पदार्थ के रूप में मानना चाहिये। क्षण के प्रचय से मृन्त आदि व्यवहार की उपपत्ति हा जायगा।

आद्यपक्षे क्षणोपाधे निवक्तुमशक्यत्वम्। उत्तरदेशसंयोगावच्छिन्नक्रियेति चेत् तस्या विगोप्यविगोपणसम्बन्धरूपत्वे त्रयाणामपि स्थिरत्वात् क्षणव्यवहारनिर्या

८ वाक्यपदीय ३ कालसमुद्देश ३

२८ माम के अनुसार यह वाक्य वाक्यपदीय का है। परन्तु अब तक का प्रकाशित वृत्ति में यह वाक्य नहीं है। इसे कहा न कहा होना चाहिये। हम वाक्य का उल्लेख हेतुना ने सम्बन्ध समुद्देश ४० को टीका में किया है।

३० महाभाष्य २।२।५

३१ इस मत को भी हरि ने निम्नलिखित कारिका में व्यक्त किया है—

मूर्तीना तत्र भिन्नानामावयवतया पृथक्।

लक्ष्यन्त परिणामेन सत्त्वानां भेदयोगिना ॥ कालसमुद्देश १३

महाभारतम् । अतिरिक्तमे गिडो निरिक्तमगस्त्यम् इति तत्र प्रथमरेख  
कलागुणनिर्दिष्टाशोचनी निमग्नदेव तेन ।

विषय प्रगित्यपरिमाणगुणितरमगता तस्या अति विद्यमानस्य  
निरिक्तदेवता अगस्त्यगतिरिति विदितम् ।<sup>११</sup>

तान् । । तान् देवता का हा कान् माता है और अनाधीन मान् प्राणियों  
का ८ अगस्त्य का परिमाण माता का भी गणना किया है

प्रकृत परिणामस्य विषयस्य चातिमहत्सुखस्य विमोक्षणस्य धाराया काम  
स्यात् । मत्ता गह्वरमात्रपरिणाम एव दिश्यते काम ।<sup>१२</sup>

इत्यादि तान् देवता का हा और मान् माता का माता प्रमाणित है । उन्नी  
कान् गन्ध भी मायया स्पर्शरूपमग्न्याय म प्रगित्य मायया का विदित है । अगस्त्य मा  
का अगुण उन्नी भाग्य का कलाया का तादृशता कर स्थ किया है । तान् का  
उपगुण गभी ता ही गान् गीत है । कपति तान् ता शान् का गमा कान् म माता सी  
है । यस्तु शान् भी त्रिया गान् का भीतर है । अगा ति उपर स्पष्ट किया जा चुका  
है त्रिया भू का विषय कान् की गगनता अतिवाय है । स्पर्शरूप की दृष्टि म अति  
अभूत, भविष्यति ता त्रिया कान् को विता कान् का प्राप्ति का समझाया ही लगे जा  
गयता ।

## भतृहरि का काल-दशन

### काल स्वातन्त्र्य-शक्ति है

भतृहरि का मत म काल शक्तिविशेष है ।

स्वातन्त्र्य शक्ति को काल कहते हैं ।

स्वातन्त्र्य रूप काल शक्ति के आश्रय से जन्मादि पदभावविकार विश्व के  
विकास म सहायक हात हैं । काल शक्ति लोकयत्र का सूत्रधार है । कान् विश्वात्मा  
है—काल एव हि विश्वात्मा व्यापार इति कथ्यते ।<sup>१३</sup> भतृहरि के अनुसार सत्य भाव  
परमब्रह्म है । उसम नानाशक्ति योग समाविष्ट है । उस शक्ति योग द्वारा भावा की  
कला का वह विवेकता है (कालशक्ति) इसलिये उस काल कहते हैं । अपनी कति शक्ति  
के कारण कान् शक्ति का स्वातन्त्र्यशक्ति कहते हैं ।<sup>१४</sup> हेलाशज ने भतृहरि के काल  
विचार का निष्कर्ष दो बार स्वातन्त्र्यशक्ति का रूप म व्यक्त किया है —

१२ महाभाष्य दापोद्योत ३।२।८४ और मजूरा, पृष्ठ ८४७

१३ मजूरा पृष्ठ ८२६, ८४०

१४ वाचस्पदाय ३, कालसमुद्देश १२

१५ वही, १४

अतएव स्वातन्त्र्यशक्ति काल इति वाक्यपदीये सिद्धातितम् ।<sup>१</sup>

तथा

कालाख्या स्वातन्त्र्यशक्तिवह्मण इति तत्रमवदमत हरेरभिप्राय ।<sup>२</sup>

भत हरि न स्वयं भी काल का स्वातन्त्र्यशक्ति के रूप में उल्लेख किया है —

कालाख्येन हि स्वातन्त्र्येण सर्वा परतन्त्रा जन्मवत्य शक्तय समाविष्टा काल शक्तिवत्तिमनुपतति । ततश्च प्रतिभाव वश्वरूपस्य प्रतिबन्धाम्यनुज्ञाभ्या शक्तयवच्छेदेन क्रमवानिवावभासोपगमो लक्ष्यते । सर्वेषां हि विकाराणां कारणातरेष्वप्यपेक्षावता प्रतिबन्धजननामाभ्यनुज्ञयासहकारिवारणकाल ।

—वाक्यपदीय १।३ हरिउत्त लाहौर सम्भरण

भत हरि के अनुसार कालशक्ति की सहकारिणी कई अवान्तर शक्तियाँ हैं । वाक्यपदीय में प्रतिबन्धशक्ति, अभ्यनुज्ञाशक्ति, क्रमशक्ति, समवायशक्ति और जराख्या शक्ति का उल्लेख है । इनमें प्रथम दो महत्वपूर्ण हैं ।

## प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा शक्ति

किसी क्रिया के साधनशक्तियों के व्यापार का विघात प्रतिबन्ध है और इसके विपरीत अभ्यनुज्ञा है । कोई शक्ति प्रतिबन्ध करती है और कोई प्रतिबन्ध का हारी है । ये व्यापार सबत्र होते हैं । जैसे किसी एक वक्ष में पहल किमलय की अभ्यनुज्ञा और पल्लव का प्रतिबन्ध होता है । पुन किमलय का प्रतिबन्ध और पल्लवकी अभ्यनुज्ञा होती है । भावा का स्थगन और उमज्जन जन्म और नाश इन दो शक्तियों से परिचालित है । पौर्वापय का ज्ञान इही शक्तियों की क्रिया है । काल प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा के द्वारा विश्व को विभक्त करता है ।

भत हरिके अनुसार यदि प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा अपने व्यापार न करें तो भावा की युगपत उत्पत्ति होने लगे बीज अकुर नाल, काण्ड आदि में पौर्वापय क्रम विच्छिन्न हो जाय और सबत्र साक्य छा जाय ।<sup>३</sup> सग, स्थिति और प्रलय भी कान कृत प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा के वग से होते हैं ।

अतीत और अनागत भी क्रमशः प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा के ही पयाय हैं ।

प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा में विराध नहीं है । दोनों एक ही शक्ति से परिचालित हैं । वाक्यपदीयकार ने इसे स्पष्ट करने के लिये शकुन्तल-तनु का उदाहरण दिया है । पहले कभी ऐसा होता था कि बहलिये किसी छोटे पक्षी को सूत्र में बाध दत्त थे । यथा वसर उह उडातं थे फिर सूत्र खीच नेतं थे । पक्षी उतनी ही दूर तक उड़ सकते थे जितनी सूत की नन्वाई होनी थी । उनका उड़ना और उनका पुन वापस आना सूत

३६ हेलारान वही

३७ हेलारान वाक्यपदीय कालसमुद्देश ६२

३८ वाक्यपदीय ३, कालसमुद्देश ६

क विनाश और मरान पर लिख था । अन्तिम यह था । का पमान क विम दम  
तरह क ब्यापार कर । थ । मून क विनाश को तरह धम्ममुखा बलि है । और मून के  
मरान को तरह प्रतिद्वन्द्व बलि है । आना का विर ता बान है । इमय म जो माया  
बलि का कुत्ति करता है यहा यम त म उ । उभूत भी करता है । बान मून म  
यध हण मभी पालय मरान विनाश उगलि और बान का धुमन करता है । बान  
आ प्रमउव (पारे) क भातर ममून दिव पदा हुआ है । क उमम उगता है विव  
मिन् हाता है और विनाश भी हाता है ।

### जहास्यमाश्रयित

जगन्माया शक्ति प्रत्यक्ष शक्ति का ही स्वरूप है। भट्ट हरि ने सात में दस विभाग  
 दीये हैं। परमेश्वर सब के मोक्ष का कृष्टित करने वाला जरा शक्ति  
 विद्यालय मानी जाती है और शक्ति विद्या भी दूसरे जगज्जय दास का कारण  
 होती है—

जरास्था काल गवितर्था गतय तर विरोधिनी ।

सा शक्तिः प्रतीयन्नाति जायन्ते च विरोधिनः ॥ ६

स्थिति भाग [ तम र वा वा नी दूसरी घण्ट्या ] व हनु जग गभिन व  
आगमन म ह्यन लगन है और भावा म वायवार्तिता गभिन प्रधीण हान लगती  
६ ।

**क्रम शक्ति**

प्रमाणों का गति उस गति का कहत हैं जिनका आधार से उपसृत वस्तु अपने अवयवों में फिर से अभिवर्तन होती है। भगवद् हरि न क्रमगति का उल्लेख गान्धर्व की अभिव्यक्ति का प्रक्रिया के प्रसंग में भी किया है। अन्तःकरणस्थ गान्धर्व में उसका विभाग प्रत्यस्तमित रहत ह लीन रहत है। विवर्तन होने पर उस अन्तःकरण में पद वाक्य आदि के विवर्तन रूप में प्रत्येक अवयवों का विकास होता है परन्तु वह क्रम से ही होता है। अवयवों का क्रम से अवभास होना ही क्रमाशया शक्ति का काम है। क्रम से उदय और क्रम से प्रत्यस्त होना दोनों ही उसकी क्रिया है। वस्तुन क्रम क्रिया का धन है—

क्रमस्य शक्तिम् । यतस्तेऽवयवा क्रमेणावभासमपगच्छन्ति ।

तेषामवयवाणां यः क्रमेणोदयप्रत्यस्तमप्रयवभासः सवास्तवः क्रिया ।

भट्ट हरि न इस क्रमशक्ति को काल की मायासा में भी अपनाया है। काल विवर्त्तात्मा है। उसमें विश्व का विकास होता है। वह विकास भी क्रमशक्ति क

आधार पर होता है। काल की गति वृत्ति प्रतिबन्ध और अभ्यनुता से लक्षित होती है। काल वृत्ति में विश्व अभ्यनुता में विभक्त होता है। वह विभाग शक्ति होता है। शक्ति मुख्यतः क्रिया का धर्म है पर क्रिया भी काल के सम्बन्ध में ही अपना स्वरूप पाती है। इसलिए काल में भी शक्ति है। भाव सतत परिणामी है। उनमें सदा परिवर्तन होता रहता है। उम परिवर्तन का आधार भी शक्ति ही है। काल ही शक्ति का रूप धारण कर लेता है—

प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां वृत्तिर्या तस्य गतिर्यती ।

तथा विभज्यमानोऽसौ भजते शक्तिरूपताम् ॥<sup>४१</sup>

अदृष्टवत्ता से परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है। परमाणुओं के परस्पर मिलन से द्वणुः आदि बनते हैं और उनके द्वारा सभी पदार्थ स्वरूप प्राप्त करते हैं। इन सभी व्यापारों में क्रमागत काल शक्ति का हाथ रहता है— “अत्र च सर्वत्र क्रमाद्या कालशक्तिः स व्यापारे यन्मनुज्ञेयम् ॥”<sup>४२</sup> कुछ लोग मानते हैं कि विश्व अपने मूल रूप में शक्ति है। वह ब्रह्म का विवर्तन है। काल ब्रह्म की शक्ति है। वह अविद्या का सहकारी है। अविद्या के कारण शक्ति क्रमवान् मा होन लगता है। शक्ति के अध्यास में ही कालभेद का ज्ञान होता है। फलतः शक्ति को ही काल कहते हैं। निमग्न आदि भी सूक्ष्म शक्ति रूप काल में परिच्छिन्न है। अतः सभी भावों में क्रमागत कालशक्ति सूक्ष्म रूप में अनुभूत है। सभी प्रकार के संचित शक्ति से अनुप्रमाणित रहते हैं। पश्यन्ती स्वरूप संचित शक्ति का आश्रय लेकर ही अभिव्यक्त होता है—

अत्रमा हि पश्यन्ती रूपा संचित प्राणवृत्तिमुपाहृत्वा कालात्मना परिगृहीतक्रमेव चकास्तीति कृतनिर्णय वाक्यपदीये शब्दप्रमायामस्माभिः ।

—हेलाराज कालसमुद्देश ६२

## समवाय शक्ति

काल के प्रसंग में समवाय शक्ति जन्मादि क्रिया के विश्लेषण में व्यवहृत हुई है। समवाय शक्ति वह शक्ति है जो कारण और कार्य के भेद का तिराहित करती है। इस शक्ति के माह्वय से कारण और कार्य अभिन्न से लगने लगते हैं। भट्ट हरि के अनुसार विशिष्ट काल के सम्बन्ध से परिष्कारप्राप्त शक्तियाँ में नित्य क्रिया अभिव्यक्त होती है। सामान्यभूत प्रवृत्ति क्रिया है। परमाणुओं में कार्यजनक शक्ति के अभिमुख होने में परस्पर सन्नेप होता है अथवा मूल तत्त्व में प्रेरणामय कम विरोध अभिव्यक्त होता है। उनमें किसी अन्तर्भूत शक्ति के द्वारा फल की अभिव्यक्ति होती है। फल व्यक्ति (कार्य) और उसके कारण में एकत्व की सी बुद्धि समवाय शक्ति से होती है—

<sup>४१</sup> वाक्यपदीय ३ कालसमुद्देश २०

<sup>४२</sup> हेलाराज, वाक्यपदीय कालसमुद्देश २०



ततस्तु समययायाया गतिर्भवेत्ययं बाधिका ।

एवमयमिह तां शब्दनीरापादयति कारण ॥११॥

इतः गत्यव्यापारः स जन्म की अभिव्यक्ति होती है और जन्म भी बात का ही व्यापार है । इसी तरह न स्थिति भी बात परतन्त्र है । य सब बात की ध्वन्यनुता शक्ति व भीतर धा जात है ।

उपयुक्त सभी गतिरूप स्वान्वयगति रूप बात की ही सामाये हैं ।

## स्वातन्त्र्यशक्ति और कर्तृ शक्ति

अतः हरि न स्वातन्त्र्य शक्ति और कर्तृ शक्ति न कोई भेद नहीं माना है । प्रत्यक्ष की वस्तु शक्ति प्रथम रूप पाकर बात शक्ति व रूप में व्यक्ता होती है—

अध्याहितकरी (अध्याहृता कृता) यस्य कालशक्तिमुपाधिता ।

तस्य प्रथमवदभि मात्रारूप कर्तृशक्ति प्रथिमन्वयमात्रा विकारमात्रागत भेदरूप तत्राध्यारोपयति ।

—वाचस्पतीय १३ हरिवृत्ति

वपम न भी स्वातन्त्र्य को कर्तृ शक्ति व रूप में ग्रहण किया है —

(स्वातन्त्र्य कर्तृ शक्ति । पदार्थनिष्पादनोपसहकारयोग्या कर्तृ शक्ति) ।<sup>१४</sup>

## नतृहरि का कालदर्शन और कश्मीर शंवागम में काल

अतः हरि की काल शक्ति की कल्पना कश्मीर शंवागम में गहीत काल स्वरूप से बहुत दूर तक भेद राती है । अतः हरि जिस तरह से काल का द्रव्य नहीं मानते उसी तरह शंवागम में भी काल द्रव्य नहीं है । अतः हरि जिस तरह प्रथम का काल का प्रथम मानते हैं उसी तरह शंवागम में भी प्रथम को त्रिया का भवस्व फलतः काल का आधार माना गया है । प्रथम को आभासित करने वाली भगवान की शक्ति काल शक्ति है । वपाकरणों की तरह कश्मीर शंवागम में भी सूर्यादिमन्त्रारूप प्रसिद्ध परिणाम वाला त्रिया को अन्य अप्रसिद्ध त्रियाओं का परिच्छेदक माना गया है और भावा के अवच्छेदक हान के कारण उसे काल माना गया है । इस मत में अनवस्था दोष, जसा कि नागार्जुन बताया है, बताना ठीक नहीं है । अभिनव गुप्त ने अनवस्था दोष का परिहार कर्तक प्रतिवर्तक के दृष्टान्त से किया है । प्रतिवर्तक (सोने को नापने के लिए सोने की ही मासे जसा वस्तु) से सोना नापा जाता है । एव मासे स्वर्ण का जो परिच्छिन्न रूप है वह स्वर्ण के रूप से भिन्न नहीं है । मासे (प्रतिवर्तक) में जो स्वर्ण है वह उपलक्षण मात्र है न कि प्रतिवर्तकगत स्वर्ण परिच्छिन्न स्वर्ण में जाकर मिलता है अथवा आघात होता है । इसी तरह सूर्यादिमन्त्रारूप की त्रिया उपलक्षण रूप में है । वस्तुतः काल में प्रथम के दर्शन करके, मुकुल पिक प्वर आदि विविध परिवर्तना में हो सकते हैं । सूर्य की गति तो उपलक्षण मात्र है । फलतः अर्थात्माश्रय और अनवस्था जन्म दोष प्रसिद्ध

या नियत परिणाम वाली क्रिया के पक्ष में नहीं सम्भव है (अनवस्थादि च कनक-प्रतिवतकवृत्तातेन कृतसमाधानमेव)।<sup>४५</sup> सूर्याग्निगत जो नियत स्वभाव भेद है वह कम है और वही काल है। अभिनवगुप्त के अनुसार सभी दशना के कालस्वरूप का अन्तर्भाव क्रम-दशन में हो जाता है। वैशेषिका का द्रव्य रूप काल परत्वं अपरत्वं आदि के द्वारा क्रम मय है। मात्स्य दान में काल रज स्वभाव है और रजोगुण प्रवतक के रूप में कम मय ही है। वैयाकरण का काल स्वरूप नित्य अनाश्रित ? (आश्रित) प्रवृत्ति स्वभाव है और प्रवृत्ति क्रमाश्रित होती है। बौद्ध का भी सन्तान प्रवाहमय काल क्रम से सवधा रहित नहीं है—

तेन सूयसचारादिभि यो-यो लक्ष्यते प्रवहण धर्मा चिरशीघ्रताद्यसकीण  
भावस्वभावोत्थापको वैशेषिकाणा द्रव्यरूप, कापिलाना रज स्वभाव प्रवतना  
त्मकत्वात्, वैयाकरणाना नित्यानाश्रितप्रवृत्तिस्वभाव, सौगताना सतयमान  
भावकपरमाथ, सोऽपि वस्तुतः क्रमरूपता न अतिक्रामतीति क्रम एव नाम बहि  
काल इति व्यवहृत्यते।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवर्तिविमर्शिनी, तृतीयभाग पृ ५

भत हरि की स्वातन्त्र्य शक्ति और कश्मीर शवागम में गृहीत स्वातन्त्र्य शक्ति भी समान है। दोनों दशना में वह काल का दूसरा नाम है। एक में वह ब्रह्म की शक्ति है और दूसरे में परमेश्वर की।

शवागम में भगवान की इच्छाशक्ति का नाम स्वातन्त्र्य शक्ति है। (स्वतन्त्र इति तस्येच्छा शक्ति स्वातन्त्र्यमसिन्ता)<sup>४६</sup>। प्रकाश और विमल भी स्वतन्त्र के रूप में गृहीत होते हैं। शवागम में प्रकाश ज्ञान का और विमल क्रिया का प्रतीक है। स्वातन्त्र्य शक्ति भगवान की कृत शक्ति है। भगवान में जब अपने आपको अधवा अपन अन्तर्भवस्थित विमान रूप भाव जगत् का अवभासित करने की इच्छा होती है भगवान की कृत शक्ति निमाणकरन वाली माया शक्ति के सम्बन्ध में काल-क्रम के रूप में अवभासित होने लगती है। अपने आप को इस तरह से प्रकाशित करने की परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति कालोत्थापक होने के कारण उसको काल शक्ति कहा जाती है। वही स्वातन्त्र्य शक्ति प्रमातृ प्रमेय आदि रूप में क्रिया के आधार से विस्तार पाता है। क्रिया प्रधान रूप से प्रतिभासित होती हुई भी काल शक्ति से अनुविद्ध होती है। सवधा काल शक्ति स्वातन्त्र्य शक्ति का ही रूप है

यस्या परमेश्वरस्वातन्त्र्यशक्ते, सा कालोत्थापकत्वात् भगवत् कालशक्ति  
रिति उच्यते, अ याहृतकला यस्य कालशक्तिमुपाश्रिता इत्यादौ।<sup>४७</sup>

अभिनवगुप्त ने यहाँ स्वातन्त्र्य शक्ति के सम्बन्ध में अपने वक्तव्य की पुष्टि के लिये काव्यपदीय की कारिका उद्धृत की है। यह दस श्लोक का प्रमाण है कि दोनों दशना

<sup>४५</sup> ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवर्तिविमर्शिनी, तृतीय भाग, पृ ५

<sup>४६</sup> अभिनवगुप्त, भाष्यविमर्श कालिका ८७

<sup>४७</sup> ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवर्तिविमर्शिनी, तृतीय भाग, पृ ५

म वात का स्वरूप एक सा है और स्वातन्त्र्य गति भी एक ही है।

भत हरि क स्वातन्त्र्यगति म और शवागमगृहीत स्वातन्त्र्य गति म यदि अन्तर है ता यह कि शवागम म स्वातन्त्र्यगति कई विभिन्न रूप म उपचरित है जे कि भत हरि न इस पर त्रिप चर्चा नहा का है और उसी स्वरूप भी प्रपञ्चा कृत सीमित है। दूसरा अन्तर यह है कि शवागम म स्वातन्त्र्यगति का सम्बन्ध परावाक स ह—

चिन्ति प्रत्यक्षमर्मात्मा परावाक स्वरसोदिता

स्वातन्त्र्यमतमुख्य तद्वय परमात्मन ॥<sup>४८</sup>

जब नि भत हरि परावाक का मत्ता स्वीकार नहा करत। यदि वाक स स्वातन्त्र्यगति रूप वात का सम्बन्ध जाय भी जाय ता प य 'क' काय जाइता उचित हागा जैसा कि हलाराज ने किया है

अत्रमा हि पश्यतीहपा सवित प्राणवत्तिमुपाहृता कालात्मना परिगृहीतयमव चकास्ति ।<sup>४९</sup>

स्वातन्त्र्य गति का मूल स्रोत क्या ह / महाभाष्य म स्वातन्त्र्य गति जसा किसी गति का सन्दर्भ नहीं ह। शवागम क जितन लखक सप्रति पात ह व सत्र भत हरि क वाक हुए ह। पर तु यह कल्पना किसी न किसी आगम की हा जान पवती है। बहुत सभर है शवागम का परम्परा का इतिहास बहुत प्राचीन हा। भत हरि आगमा से अधिक प्रभावित ये और व्याकरणदशन को भी आगम मानत थ।

कुछ लोग स्वातन्त्र्यगति का मूल उद्भावक पाणिनि का मानते हैं।<sup>५०</sup> उनके मत क का आधार पाणिनि का स्वतन्त्र कर्ता १४५६ यह सूत्र है। स्वतन्त्र गति से अपने आपका प्राधाय अभिव्यक्त होता है (स्व आत्मा तत्र प्रधान अन्य स स्वतन्त्र उच्यते। महाभाष्यप्रतीक १।४।५४)। स्वातन्त्र्य गति म भी अपनी इच्छा का अविघात और आत्म प्राधाय है। फिर भी व्याकरण संप्रदाय म कर्ता क स्वातन्त्र्य का न ता गति क रूप म ग्रहण किया गया ह और न उसका सम्बन्ध काल म जोड़ा गया है। स्वयं भत हरि न भी स्वतन्त्र कर्ता का प्रारम्भ म स्वातन्त्र्यगति का सन्दर्भ नहा किया है। स्वयं पाणिनि ने स्वातन्त्र्य को प्रयोजन हेतु के अर्थ म भी लिया है और कतकरणयान्त लाया २।३।१८ जस सूत्र म उस मायन क रूप म भी व्यवहृत किया है।

## काल एक, नित्य और विभु

काल व्यापक है। पर अपर, चिन्ति निप्र आदि का ज्ञान मत्र को सब दंग म समान हाता

४८ बह पृष्ठ १८७

४९ वास्यदीप काव्यमुद्रेश ६२ का टीका

५० डा० फ० स० पण्डित, एन हिस्टारिकल एण्ड फिलामफीकल स्टडी आफ अभिव्यक्त, पृष्ठ २०३-२०४

है इससे काल की व्यापनता स्पष्ट है। काल अमूर्त है। अवृत्त है। अन नित्य है। वह एक है। उमम भेद कल्पित है।

महाभाष्यकार ने काल को नित्य माना है (नित्ये हि कालनक्षत्रे—महामाष्य ४।२।३)। काल को नित्य और एक मानने में एक कठिनाई सामन रखी गई थी। पाणिनि ने ऊक्तानाञ्जह्रस्वनीषप्लुत १।२।२७ इस सूत्र में कालभेद का सूक्त किया है। महाभाष्यकार ने भी द्रुता मध्यमा और त्रिन्मित्ता वक्तिया के सम्बन्ध में काल भेद का उल्लेख किया है।<sup>५१</sup> ह्रस्व के उच्चारण में नालिनायत्र से जलविन्दु अल्पमात्रा में चूत हैं दीर्घ के उच्चारण में उममे अधिक और प्लुत के उच्चारण में उमस भी अधिक चूत हैं। इनमें ८ १२ १६ पानीयपल का आनुपातिक सम्बन्ध माना जाता है। अब यदि काल के काल्पनिक भेद के आधार पर ह्रस्व आदि में भेद की कल्पना की जाय तो यह उचित नहीं है। क्योंकि सलिल मृत्ति का यथाय सत्ता है एक कल्पित वस्तु का यथाय वस्तु न अवयव सम्भव नहीं है। भाव यह है कि कल्पना के आधार पर ह्रस्व आदि में काल्पनिक भेद मानने पर जल मृत्ति के प्रकृति को एक की अपेक्षा दूसरे में अधिक पानीयपल के चूत का—सममाना कठिन हो जायगा। जो लाग शब्द का नित्य मानते हैं वे ह्रस्व आदि में काल्पनिक भेद ही स्वीकार करते हैं। जिस तरह यह गीष्म किया “यह देर में किया इन दोनों जान के समानकाल वाले होने पर भी विषयगत विस्तार अथवा अविस्तार के आधार पर काल भेद प्रतिभामित होता है उसी तरह में शब्द के नित्य होने के कारण समानकाल होने पर ह्रस्व आदि में कालभेद उपचरित होता है। अब कालभेद उपचरित मानने पर ह्रस्व आदि के उच्चारण समय जो पानीयपल में अंतर देखा जाता है वह नहीं होना चाहिये। पर होता है। इससे जान पड़ता है कि ह्रस्व आदि स्वभावतः भिन्न भिन्न काल वाले हैं। फलतः शब्द की नित्यता में व्याघात पहुँचता है। इस कठिनाई का समाधान भनहरि ने किया है। उनके अनुसार शब्द का तत्त्व अभिन्न है वह प्रचित या अपचित नहीं होता। अभिषक्त के निमित्त ध्वनिवृत्त कालभेद उसमें आभामित होता है। प्राकृत ध्वनिया स्वगत कालभेद को शब्द में भी प्रतिबिम्बित करता हैं। अर्थात् व्यञ्जक का धर्म व्यग्य में जान पड़ता है। फलतः कालभेद स सलिलमृत्ति में भी अपचय अपचय का जान भेद जान पड़ेगा ही। इससे शब्द की नित्यता में बाधा नहीं पड़ती। वृत्तध्वनि जनित भेद शब्द का भेदक नहीं होता। ह्रस्व दीर्घ आदि शब्दधर्म सवथा व्यञ्जकाधीन है—

वृत्तध्वनिजनितस्तु वक्तिभेदो न भेदक इति निर्णतिमेव पूर्वकाण्डे। वक्ष्यते चाग्रे “सवच्च ह्रस्वदीर्घानुनासिकत्वादि धमन्नात शब्दात्मनि व्यञ्जकाधीन” इति।<sup>५२</sup>

सवथा काल भेद औपाधिक है। नालिका यंत्र की जल मृत्ति ही काल नहीं

५१ किं पुः कारणं न सि यति। कालभेदान्—महामाष्य १।१।७०

५२ इलाराज द्वारा, कालसमुद्देश ६५ की टीका में भनू हरि के वाक्य के रूप में उद्धृत।



याय से पटन किया जा चुका है। मूय गति के अतिरिक्त किया की इयत्ता के परिचायक निमेष व्यापार प्राणप्रवाह बुद्धिगण आदि है। मूर्त्यादि सचार भी लोक म दिन रात के रूप म निश्चित परिमाण के रूप म प्रतिष्ठ हैं।

भन हरि न स्पष्ट रूप म काल को नित्य माना है—

न नित्य परमात्रामि कालो भेदमिहाहति

—वाक्यपदीय, २।२४

भनू हरि के अनुसार काल नित्य प्रतिबन्ध और अभ्यनुता के आधार पर पर-अपर की पञ्चान कराती है (कालात्मा हि क्षत शक्ति फार्येव प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां पौर्वाप्य प्रकल्पयति—वाक्यपदीय २।२२ हरिवृत्ति)। यदि काल नित्य है तो उसम पौर्वाप्य सम्भव कम है? इसके उत्तर म भन हरि का कहना है कि वह काल शक्ति की महिमा है कि एक हात हुए भी क्रम के रूप म प्रतिभासित होती है। यहा भन हरि न बौद्ध दशन और वज्र तदशन की क्रम भीमामा का उल्लेख किया है। बौद्ध दशन म बुद्धिलक्षण अक्रम है। उसम मय का विरुद्ध रूप भी अविरुद्ध रूप म प्रतिभासित होता है क्रम एकत्व का अनिक्रमण नहीं करता। वेदांत की दृष्टि स विन्वात्मा एक है नम का अवभास उसके एकत्व का याधातक नहीं हाता—

क्रमप्रत्यवभासत्तम एवद्वानतिक्रमेण अक्रमे बुद्धिलक्षण क्षणिकवादिन सवस्य विरुद्धरूपमिवाविरुद्ध भवति। न्यतविदां तु विद्वत्तमयेकत्वानतिक्रमेण क्रमप्रत्यवभासत्व भवति।

—वाक्यपदीय २।२२ हरिवृत्ति लाहौर सस्वरण

भन हरि ने इस प्रसंग म एक ऐसे दशन का भी उल्लेख किया है जिसके अनुसार माना भेद के आधार पर कान भेद सम्भव नहा है क्योंकि मात्राया की सत्ता उदय अस्तमयी है व स्वय अमत् सी है और उनके अभाव मानने पर क्रम भी जो मात्राया के परिणाम पर निर्भर करता है सम्भव नहीं है। इस दशन के अनुसार विद्व की मात्रा, परिणाम ज यभेद अनित्य है पूव का अपर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। सब कुछ एक दूसरे से असस्पृष्ट है। पूव और अपर भी निरुपाय्य है। इनम सम्बन्ध अहंकार द्वारा होता है जा पूव और अपर का परामश सा करता है। सूक्ष्म (अपञ्चपयन्त) अभेद और परिमाणभेदरहित हात हुए भी पूवापर का सम्बन्ध मिथ्या अभ्यासवश अनुध यक्ति को दीध सा जान पडता है। इस दशन के अनुसार सभी व्यवहार एक धम स आप्रद्ध एक धम म प्रतिष्ठित और अभिन्न काल काल हात ह। मात्राभेद असत है। असत का अमन से अथवा असत् का सत स सम्बन्ध म कोई क्रम नहीं हाता। खरहे की साग का ऊँट की सींग के साथ म अथवा हिमालय के साथ म कोई क्रम नहीं होता

तदेतस्मिन् पक्ष एकधर्मावबद्धेषु एकधमप्रतिष्ठितेषु अभिन्नकालेषु  
सब प्रवहारेषु कीदृश सनामत्यतासता च मात्राभेदानाक्रम । न हि

शाविषाणस्योद्भविषाणन हिमवता वा कश्चिदपि क्रमो विद्यते ।

—हरिवृत्ति वाक्यपदीय २।२४

इस द्वात के अनुसार किसी एक अथवा समानकालिक अथवा भिन्न कालिक व्यापार के साथ भी क्रम सम्बन्ध नहीं होता । क्रम की स्थापना न देखकर और कोई दूसरा उपाय न पाकर एक व्यावहारिक क्रम मान लिया जाता है । मूर्तियाँ का जो परिमाण भेद है वही भेद है । उनमें अतिरिक्त कोई कल्पित परिमाण भेद नहीं है । इस मत के अनुसार सह उत्पन्न सभी भाव काल में प्रत्यक्ष अथवा क्षण जैसे कल्पित कालांतर अवस्थाओं में आत्म तत्त्व का अतिरिक्त नहीं करने और न किसी आगतुक अथवा अनागतुक भेद से स्पष्ट हात है । उन भावों के अतिरिक्त क्षण काल में वरत नाम अभी कोई वस्तु ही नहीं है जिसका आधार पर उह कालांतर अवस्थायी नित्य अथवा क्षणिक कहा जा सके (हरिवृत्ति वही) ।

यदि यह कहा जाय कि परिमाण भेद की वास्तविक प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति बुद्धि के आधार पर कर लिया जायगा काल की वास्तविक आवश्यकता नहीं तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि बुद्धि एक है । इसलिए बुद्धि प्रत्यक्ष भी भाग रहित ही होगी । भूत हरि ने इन सब के समाधान के लिए समाख्या शक्ति का आश्रय लिया है । उस शक्ति के सामर्थ्य से मात्राओं में क्रम का आभास होता है—

भेदभावानुगतबुद्धीनामेकत्वेन यवहरताम अनादिना मिथ्याभ्यासेन विहित समवायानाम एकस्यां बुद्धौ अत्यतिरिक्ततामु अनपायापायिनीषु मवमानासु क्रमात्प्राया शक्ते सामर्थ्यमविद्यमान प्रकल्प्यते क्रम प्रसिद्धये ।

—हरिवृत्ति वाक्यपदीय २।२७

भूत काल में क्रमभेद संभव होता है । काल औपाधिक भेद से भिन्न है । स्वतः अभिन्न है । नित्य है ।

## काल का प्रत्यक्ष अथवा अनुमान

किसी के मत से काल प्रत्यक्षगम्य है और किसी के मत से वह अनुमय है । महाभाष्यकार के मत में काल अनुमान गम्य है । जैसे किया का पिप्पीभूत दान सम्भव नहीं है वस हा काल का भी । वत मान लें ३।२।१२३ के भाष्य में स्पष्ट ही सूत्रों में हि भावानुमितन गम्य कह कर काल को अनुमय माना है । वाक्यपदीय में भी अनुमान पक्ष का समर्थन किया गया है । भूत हरि के अनुसार दो विभिन्न आश्रयवाली क्रियाओं में उनके उदय और अस्त समान होने पर भी उनके शीघ्र या दूर में मिद्ध होने का पान बिना किसी सम्बन्धी परिच्छेद के सम्भव नहीं है । काल के अनुमान में यह भी एक हेतु है

क्रियारूपवर्णिषीर्नानावसमवेतयो ।

सम्बन्धिता विनकन परिच्छेद कथं भवेत् ॥५६

मून आदियों का उपचय और अपचय भी काल के अनुमान में सहायक हैं।

कुछ लोग काल का अतीन्द्रिय मानते हैं और दिक् के विपरीत परत्व अपरत्व के आधार पर काल का अनुमान करते हैं।

नागेश 'इस समय दस रहा हूँ, 'इस समय मूघ रहा हूँ' जैसे अनुभवों के आधार पर काल का पट इन्द्रिय वक्ष्य मानते हैं (क्षणसमूहस्य च म पटिन्द्रियवेष - मनुष्या पण्ड ८४६)। मीमांसकों का भी यही मत है (स च काल पटिन्द्रियग्राह्य)।<sup>१७</sup> कुछ लोग काल का प्रत्यक्षत्व स्वीकार करते हैं। काल में रूप न होना काल के प्रत्यक्ष होने में बाधक नहीं है क्योंकि इन्द्रियग्राह्यता का नाम प्रत्यक्ष है और वह काल में है।

वशेषित प्रसिद्ध काल गुणा का उल्लेख महाभाष्य में मिलता है जम—

कालपरिमाण	(महाभाष्य २।२।५)
कालपथकत्व	(महाभाष्य २।१।२६)
कालविभाग	(महाभाष्य ३।२।३२)
काल सयाग	( , ३।१।२६)

इसके अतिरिक्त तत्रभव ४।३।३ सूत्र के भाष्य में कालाभिसम्बन्ध का और तत्परम्पत्कालस्य १।१। ० सूत्र के भाष्य में 'कालसहचरित' शब्द का उल्लेख है।

## कालभेदविचार

काल का स्वरूप चाह जो हो गान्त व्यवहार में वह भिन्न रूप में ही देख पड़ता है। व्याकरणज्ञान का सम्बन्ध मुख्यरूप में गान्त-व्यवहार वाले काल के स्वरूप से है। अस्ति अभूत भविष्यति आदि क्रिया भेद की विवचना उस करनी ही पड़गी।

नास्माभिव्यक्तानविवेक प्रारब्ध किन्तु गान्ते व्यवहारे यदङ्ग तत् परीक्ष्यम्। अस्ति च भिन्नकाल गान्ते व्यवहारोऽभूत अस्ति भविष्यतीति। तत्र यथा यागमविचारितरमणीय कालोऽभ्युपगम्यते।<sup>१८</sup>

फलतः व्याकरणज्ञान काल का वक्त मान भूत और भविष्यत इन तीन रूपों में विभक्ता कर देता है। पर तुल्य विभाग के पीछे भी कुछ दार्शनिक प्रवाद हैं जिनका उक्त मत हरि न किया है।

## काल की तीन शक्तियाँ

कुछ लोग मानते हैं कि काल तो एक है किन्तु उसकी तीन शक्तियाँ हैं। काय क भेद में कारण भेद का अनुमान आता है। शक्तिभेद से ही कायभेद सम्भव है। इस आधार पर काल की शक्तियाँ स्वीकार की जाती हैं। इन शक्तियों के आधार पर भाषा का

<sup>१७</sup> नाशायणभट्ट मानसमयदय पृष्ठ १७, भाष्य मयकरण

<sup>१८</sup> हेकारात्र, वाक्यमयी कालसमुद्देश ५८





‘नाभावो विद्यते सत’ वाले सिद्धान्त के आधार पर यह मानते हैं कि जो तिरोभूत है वही वत मान होता है। सभी भाव मानो किसी प्रमेय (वस्तु) के भीतर रहते हैं वही से अपने आपका व्यक्त करत हैं और पुन उसी में लीन हो जाते हैं। हलाराज के अनुसार पञ्चाधिरणदशनस्थ मारयो का यह दगा है।<sup>५६</sup> यह विचार धर्मों और धर्म में कुछ भेद मानकर है। धर्मों स्थायी सदा रहता है और उसके धर्म तीन अ वा काल (‘यवान’) अतीत वत मान और अनागत के रूप में प्रकट होते हैं।

जा लाग धर्म को धर्मों से अतिरिक्त नहीं मानते उनके मत में भी धर्मों का एकसाथ ही अतीत वत मान आदि ‘यपदेश’ धर्म के द्वारा सम्भव है। वत मान के समय में भी अतीत के कुछ धर्म स अतीत, और अनागत के कुछ धर्म होने से अनागत कहा जा सकता है। अब धर्मों सदा वतमान होता हुआ भी धर्म के तीन तरह के हान के कारण तीन अवावाना अथवा तीन काल वाला कहा जाता है। हेतु के आधार पर जब कोई क्रिया-विलाप प्रत्यक्ष होने लगता है उसे वत मान कहते हैं। जब हेतु व्यापार वगैरे हो जाते हैं उन्हें कुछ करने का नहीं रहता तब भावा का अदशन होता है उसे अतीत कहते हैं। जब हेतु अथक्रिया के लिए चपटा नहीं करत उसे अनागत कहते हैं। इस तरह एक के ही उपाधि भेद से भिन्न भिन्न नाम हो जाते हैं। इसमें मात्रादाय नहीं है। कयोनि वनि दक्षिण है। आविर्भाव और निराभाव नम रूप से घटित होते हैं। दशन और अदशन यही वक्तव्या का व्यापार है और वह विलक्षण है। वत मान शक्ति से दशन और अतीत अनागत शक्ति से अज्ञान यह एक दूसरे को बाधा न देने घटित होता है। इसलिये सब सम्भव नहीं है। दृष्ट और अदृष्ट अवस्था में भी धर्मों एक हैं। मत्त्व से असत्त्व का भेद नहीं है। मत्त्व तिरोभूत होकर असत्त्व कहा जाता है। इसलिये भावा स शक्ति के अनिरिक्त न होत हुए भी और सत्ता एक साथ रहते हुए भी सम्भव नहीं होता। हलाराज के अनुसार यह महाभाष्यकार का मत है

धर्मधर्मिणोरप्यतिरेक भाविकमाश्रित्य धर्मिणो युगपदपि ‘यपदेश’त्रय धर्मद्वारक प्रवर्तते इति महाभाष्यमतम्।<sup>५७</sup>

हलाराज के अनुसार ब्रह्मज्ञान ? के अनुसार भी शक्ति रूप काल के तीन गुणामय परिणाम सम्भव है। जीवात्मा में ज्ञान क्रिया और शक्ति (चञ्चा ?) के रूप में तीनों गुण रहते हैं—‘त्रिगुणपरिणामादच ब्रह्मदशनेऽपि कालस्योपपन्नमेव शक्ति रूपस्यापि। ज्ञानक्रियाशक्तिमि जीवात्मनि गुणत्रयम्।’<sup>५८</sup>

क्रिया के आधार पर भी कालभेद की मीमांसा की जाती है। व्याकरणज्ञान इसी मत का प्रथम दगा है

५६ हेताराज, वाक्यपदीय, कालस्मृदेश ५३

५७ वही ५४, यह मत बहुत प्राचीन सूत्र का है। प्राचीन टीकाकार व्यासभाष्य की पाठ्य मानते थे। इस आधार पर हेताराज ने उपयुक्त वक्तव्य संग्रह का मत है।

५८ वही ५३ त्रिगुणपरिणामादच ब्रह्मदशनेऽपि कालस्योपपन्नमेव शक्ति रूपस्यापि। ज्ञानक्रियाशक्तिमि जीवात्मनि गुणत्रयम्। यह ‘वद’ काही वाले संस्करण में है। उसी से यहाँ उद्धृत किया गया है।

तस्याभिनस्य कालस्य व्यवहारे क्रियाकृता ।

भेदा इव प्रथम सिद्धा मांलोको गतिवन्तः ॥<sup>६२</sup>

भूत, भविष्य और वतमान क्रियापाधिक <sup>६१</sup> । जय क्रिया उत्पन्न होकर ध्वस्त हो जाती है उनका उपाधि-काल का भूत कहते हैं । जय क्रिया के माधन अनिहित रहते हैं और उनका आरम्भ समीप रहता है उसने उपाधि काल से भविष्यत कहते हैं । जब क्रिया प्रारम्भ हो गई रहती है परन्तु अभी समाप्त नहीं हुई रहती उसने उपाधि-काल को वतमान कहते हैं ।

क्रिया जो बीत गई है जा अब वतमान नहीं है वह काल में भूतकाल में क्या जाती है ? इसी तरह जो क्रिया अभी हुई नहीं है वह काल में भविष्यत का स्वरूप क्या दिखाती है ? इसमें उत्तर में भक्त हरि का कहना है कि जो क्रिया बीत जाती है वह काल में अपना सम्भार छोड़ जाती है । बुद्धि या स्मृति के द्वारा उस सम्भार का ग्रहण कर काल में भूतकाल का व्यवस्था किया जाता है । इसी तरह अभी सम्पन्न होत वाली क्रिया का भी प्रतिरिम्ब काल में पता है । उस होने वाली क्रिया के प्रतिरिम्ब का ज्ञान में अध्यापक कर काल का भविष्यत काल कहते हैं । भक्त हरि के अनुमान काल एक स्वच्छ आदर्श की तरह है

काल निधाय स्व रूप प्रजया यतिगृह्यते ।

भावास्ततो निवर्तन्ते तत्र सङ्गान्तगत्वतः ॥

भाविना च यद रूप तस्य च प्रतिविम्बकम्

सुनिर्मित इवादर्श काल एवोपपद्यते ॥<sup>६३</sup>

## वतमान काल

वाक्यपदीय में वतमानकाल पर विचार महाभाष्य की पद्धति पर है । वनजलि के पूर्व ही वतमानकाल के विषय में कुछ विप्रतिपत्तियाँ सामने आ गई थी जिन्हें सुलभान का प्रयत्न कात्यायन ने किया था । वनजलि ने भी अपनी पद्धति से उन्हें सुलभया और अथ दण्डना में भी जसा कि वात्स्यायनभाष्य से ज्ञान पता है उन पर विचार होना रहा ।

वतमान काल के सूचक लट की प्राचीन मना भवती थी । कात्यायन ने इसे अधीमह इह वसाम जस वाक्या में वतमान के होने में उस आधार पर आ १५ लगव्या था नि अध्ययन करन और रहने के बीच में दूसरी भी क्रियाएँ होती रहती हैं । अन्य अध्ययन आनि क्रियाएँ विच्छिन्न हो जाती हैं । वतमान काल से हम उम्मी क्रिया की अभिव्यक्ति करग जा आरम्भ तो कर दी गई है परन्तु जिसका उपरम अभी नहीं हुआ है । बीच में मण्डित होनी हुई क्रिया का वतमान रूप नहीं देगा ।

यसका समाधान बड़े तरह से कर दिया गया था । वतमान काल उसकी माना जायगा जहाँ क्रिया का आरम्भ समाप्त न हुआ हो (एष नाम याम्यो वतमान काल

यत्रारम्भोऽनपेक्षत महा—भाष्य ३।२।१२३) । अतः अध्ययन जब तक समाप्त नहीं होगा हम उसे वतमान काल में व्यवहन कर सकते हैं । बीच बीच में जो भोजन आदि की क्रिया व्यवधानरूप में जान पड़ती हैं वे नान्तरीयक हैं । अतः वे व्यवधायिका नहीं हो सकती । 'दयदत्त भोजन कर रहा है' इस वाक्य में भोजन की क्रिया का वतमान काल में बिना किसी हिचक अथवा गर्शय के व्यवहन करत है । परन्तु भोजन के व्यापार में भी बीच बीच में चालना टसना पानी पीना आदि व्यापार हान ही रहता हैं । जिस तरह से इन व्यापारों के होते हुए भी 'भुक्ते' में वतमान काल की अनुपपत्ति नहीं मानी जाती उसी तरह 'इह अधीमह' जैसे स्थला में भी अवांतर क्रियाओं के होते हुये भी कोई अनुपपत्ति नहीं होगी ।

अतः हरि के अनुसार ऐसी कोई क्रिया नहीं है जो किसी न किसी अथ क्रिया से सकीर्ण सी न जान पड़नी हो और नहीं तो निमेष क्रिया स्वास क्रिया जसी क्रियाएँ सभी व्यापारों के साथ रहेंगी ही । अतः अंतरालवर्ती क्रियाओं से मुख्य का व्यवधान नहीं मानना चाहिये । अंतरालवर्ती क्रियाओं को मुख्य क्रिया का अवयव मान लेना चाहिये । इस तरह भोजन के बीच में हमने आदि के व्यापार भोजन क्रिया के अवयव हैं अतः व्यवधायक नहीं हो सकते । भोजन की प्रवृत्ति हो जाने पर भी ऊपर से दक्षिण कर आदि का बाद में परोम जाना जैसे भोजन क्रिया का अंग ही माना जाता है वैसे ही मित्रों का परस्पर वानचीत करते, हसत बोलत भोजन करना भोजन क्रिया का अंग ही है ।

अथवा हम फल की दृष्टि से क्रिया मतान की व्याख्या करेंगे । भोजन की क्रिया का फल तृप्ति है । अध्ययन की क्रिया का फल ज्ञान है । जब तक इन फलों के लिये प्रयत्न जारी है बीच में अन्य व्यापारों के हान हुए भी वे अविच्छिन्न माने जायेंगे इसलिये अन्य व्यापारों के करत हुए भी अधीमहे कहा जा सकता है ।

अथवा भौतिक व्यापार के उपरत होने पर भी मानसिक व्यापारों के द्वारा क्रिया मतान का एकत्व जहा बना रहगा हम उसे वतमान काल में व्यक्त कर सकते हैं । पहले क्रिया विचार के अन्वयात्त में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि किस तरह क्रिया में सद्गान प्राथना आदि अध्यवसाय होते हैं । जानाति दृच्छति तत्ता यतते—मनुष्य पहले जानता है तत्र इच्छा करता है और तत्र उस इच्छा की पूर्ति के लिये प्रयत्नशील होता है यह सब तरह के व्यापारों का मनोवैज्ञानिक पहलू है । अतः मानस व्यापारों जब तक विरत न हो तब तक क्रिया भी उपरत नहीं मानी जायगी

सदशनादिफलपय त क्षणसमूह क्रिया । तत्र च भौतिक व्यापारोपरमे  
त्यन्तरा सद्गानप्राथनादे मानस व्यापारस्य यावत्  
फलाधिगम तावदविराम एव ।<sup>६४</sup>

तात्पर्य यह है कि प्रत्यवयव क्रियासमाप्ति न मान कर फलपयानक्रिया समूह के आश्रय से क्रियासमतान का निवचन करना चाहिये ।

वर्तमान काल के सम्बन्ध में दूसरी समस्या यह थी कि जो नित्यप्रवृत्त भाव है जिनका कभी बीच में विच्छेद नहीं होता उन्हें हम वर्तमान काल से किस व्यक्त कर रहे हैं। क्योंकि वर्तमानकाल भूत और भविष्यत् काल का प्रतियोगी है। नित्य प्रवृत्त वस्तुओं में भूत और भविष्यत् संभव नहीं है। अतः वर्तमान भी संभव नहीं है। यह कहता ठीक नहीं होगा कि अविच्छिन्नरूप में सदा प्रवृत्त भावों में भूत, भविष्यत् तथा संभव नहीं है परन्तु उनका सदा वर्तमान होने के कारण उनका साथ वर्तमान काल का सम्बन्ध सत्ता बना रहगा ही। क्योंकि यहाँ काल का सम्बन्ध उही भाव से होता है जो नियत अवधि वाले होता है। साधन के सन्निहित होते हुये जिनकी उत्पत्ति आसन्न होती है उनका सम्बन्ध हम भविष्यत् काल से जोड़ते हैं साधन के बल पर जन्म प्राप्त कर जब तक ठहरे रहते हैं उन्हें हम वर्तमान काल से प्रकट करते हैं और जो नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं जिनके शरीर विलुप्त हो जाते हैं उन्हें हम भूत काल से व्यक्त करते हैं। इसलिये वर्तमान की सत्ता भूत और भविष्यत् के बीच में होती है। फलतः जहाँ भूत और भविष्यत् की संभावना नहीं है वहाँ वर्तमान भी संभव नहीं है। दूसरी बात यह है कि काल तो क्रियोपाधिक है। नित्यप्रवृत्त भावों में किसी क्रम के न होने के कारण समाश्रित साध्यस्वभाववाली क्रिया ही संभव नहीं है इसलिये वहाँ काल विभाग ही संभव नहीं है।

इसके उत्तर में व्याकरण मप्रदाय के अनुसार भक्त हरि का कहना है कि किसी के स्वरूप में आत्मा में भेद नहीं होता। भेद परत होता है। सभी भावजात वस्तु उपाधिसमय से भेद प्राप्त करती हैं। अतः नित्य प्रवृत्त वस्तुओं में भी कालभेद संभव है और जब कालविभाग संभव है तो वर्तमान काल भी संभव है। अस्तु पवन ही नदियाँ बहती हैं जिस नित्यप्रवृत्ति के दानक बाधों में भी तब तब कालीन राजाओं की क्रिया के आधार पर काल विभाग किया जा सकता है। राजाओं की क्रियाओं में कालत्व अभिव्यक्ति और साध्यमानता है। अतः उनका साहचर्य से पवता आदि के साथ अकार्य संभव है। पवन तथा पवन हाग ऐसे प्रयाग इसी आधार पर हाग जहाँ भूत भविष्यत् संभव होंगे वर्तमान की उपपत्ति भी उनका साथ हागों ही (वाचस्पतीय कालसमुद्देश ८०)।

अथवा एक विरुपाक्षयव क्रिया होती है और एक सत्पावयवक्रिया होती है। पवन के स्थितिरूप व्यापार में सत्पावयव क्रिया है। आत्मकरणरूप क्रियावयव एक दूसरे के सदृश है। साध्य के कारण उनमें भेद की अभिव्यक्ति उत्पत्ती करने वाला है जिनकी क्रिया पवन आदि के व्यापार में विरुपाक्षयव क्रिया होती है। राजाओं की क्रिया विरुपाक्षयव है। अतः उनमें विभाग संभव है। वे प्रगल्भपरिमाणवाना हैं। प्रगल्भ परिमाणवाली क्रिया ही किसी दूसरी क्रिया के परिच्छेदक हाकर काल कहलाती है। स्थिति भूत आदि के रूप में राजाओं की क्रिया भिन्न भिन्न हाकर पवन की स्थिति आदि का भेद हाकर कालगणन में व्यवहृत होती है। अतः नित्यप्रवृत्त भावों में ना क्रिया और जाना काल के योग उत्पन्न है। राजाओं का मूलमन्त्र आदि का वर्णन मानना चाहिये। नित्य पदार्थों में भी अपने आपसे प्रतिपन्न कारण उत्पन्न

की क्रिया में क्रियात्मक है। गत व्यवहार में शब्द का अर्थ ही अर्थ रूप में गहीत होता है। निष्ठति आदि क्रियापदा में अम की अभिव्यक्ति होती है। अतः क्रिया-भाग नित्य पदार्थों के साथ भी गत गति के कारण है। साहचर्य से काल व्यपदेशक उत्पत्ति होता है। कलापी उस काल का कहने हैं जिस समय मयूर कलापी हान ह (यस्मिन् काले मयूरा कलापिनो भवन्ति स कलापी—कानिका ४।३।४६)। महाभाष्यकार ने माना है कि यहा साहचर्य से काल व्यपदेशक है (कलापिसहचरित काल कलापी काल—महाभाष्य ४।३।४६)। इसी तरह अन्वत्य और यवयुस भी काल वाचक गत ह जा साहचर्य के आधार पर गन्ति हुए ह।

### वर्तमानकाल की सत्ता पर आक्षेप

कुछ लोग मानते ह कि यदि काल विभाग है तो वह दो ही है भूत और भविष्यत। वर्तमान काल नाम का कोई तीसरा विभाग संभव नहीं है। कोई भी वस्तु या तो मत होती है अथवा असत् होती है। बाद तीसरी कोटि नहीं है। जा क्षण बीत गया वह सिद्ध स्वभाव का हा गया। फलतः क्रिया भी अतीत कहलविणी। जो क्षण अभी आया नहीं है वह भावी है। इसलिये उसकी छातक क्रिया भविष्यत् से सम्भव जाड़ेगी। बीच में कोई तीसरा क्षण जा सत् भी हो और असत् भी हो नहीं है। अतः वर्तमान काल भी नहीं है। पतनि में पतनक्रिया की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती। क्याकि पात क्रिया का जो अनागत रूप है वह असत्त्व है उसे पतति गत से नहीं कहा जा सकता। और जो पातक्रिया का अतीत रूप है वह भी अतिनात होने के कारण अमर्त्व है, इस लिये उसमें जिये भी पतति का प्रयाग नहीं हा सकता और इस दशा में भी कोई पतति का प्रयाग कर तो उसके लिये हिमवान अपि चलति—हिमालय भी हिलता डोलता है—कहना मरत है।

दूसरी बात यह है कि वस्तु या तो सत् रूप है या असत् रूप है। इन दोनों रूपा में अम संभव नहीं है। जो सत् है वह विद्यमान होने के कारण अनिवर्त्य है उसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है और इसीलिये उसे अम के आश्रय लेने की भी आवश्यकता नहीं है। जो असत् है वह भी असत् अवस्था में है सिद्ध क्रिये जान की कोटि में नहीं है इसलिये उममें भी अम संभव नहीं है। इन दोनों अवस्थाओं में निवर्त्यमान क्रिया क्रिया रूप के अभाव ज्ञान के कारण वर्तमानता संभव नहीं है।

तीसरी बात यह है कि सदा एक ही क्षण की उपपत्ति होती है। एक में कोई भेद नहीं होता। भेद न होने से उममें कोई अम भी संभव नहीं है। एक ही क्षण में गमन आदि क्रिया का संभार संभव नहीं है इसलिये गच्छति—जाता ह—जसे वर्तमान कालिक वक्तव्य अनुपपन्न है

एक एव क्षण उपलभ्यते, नातीतो नापि अनागतो न चकस्य क्षणस्य गमनादिक्रियावेग संभवति—महाभाष्यप्रदीप ३।२।१२३

### इसका समाधान

उपयुक्त आशेष के उत्तर में यह कहा जाता है कि देवदत्त के एक स्थान में

वर्तमान काल के सम्बन्ध में दूसरी समस्या यह थी कि जा नित्यप्रवृत्त भाव है, जिसका अभी बीज में विच्छेद नहीं होता उत हम वर्तमान काल में नग व्यक्त करण । क्योंकि वर्तमानकाल भूत और भविष्यत् काल का प्रतिपादनी है । नित्य प्रवृत्त वस्तुओं में भूत और भविष्यत् सम्भव नहीं है । अतः वर्तमान भी सम्भव नहीं है । यह कहना ठीक नहीं होगा कि अविच्छिन्नरूप में सदा प्रवृत्त भावा में भूत भविष्यत् तो सम्भव नहीं है परन्तु उनका सदा वर्तमान होना के कारण उनका साथ वर्तमान काल का सम्बन्ध सदा बना रहना ही । क्योंकि यहाँ काल का सम्बन्ध उदा भावा में होता है जो नियत अवधि वाला होता है । साधन के सन्निहित होने द्वारा जिसकी उत्पत्ति आसन्न होती है उनका सम्बन्ध हम भविष्यत् काल से जोड़ते हैं साधना के बल पर जन्म प्राप्त कर जब तक ठहरे रहते हैं उत हम वर्तमान काल में प्रवृत्त करते हैं और जो नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं, जिनके शरीर विनष्ट हो जाते हैं उत हम भूत काल में व्यक्त करते हैं । इसलिये वर्तमान की सत्ता भूत और भविष्यत् के बीच में होती है । फलतः जहाँ भूत और भविष्यत् की सम्भावना नहीं है वहाँ वर्तमान भी सम्भव नहीं है । दूसरी बात यह है कि काल तो त्रयोभिध है । नित्यप्रवृत्त भावा में किसी क्रम के न होने के कारण प्रमाश्रित साध्यस्वभाववाला क्रिया ही सम्भव नहीं है इसलिये वहाँ काल विभाग ही सम्भव नहीं है ।

इसके उत्तर में व्याख्यान सप्रणाय के अनुसार भक्त हरि का कहना है कि किसी के स्वरूप में, आत्मा में भेद नहीं होता । भेद परत होता है । सभी भावजात वस्तु उपाधिसमय में भेद प्राप्त करती हैं । अतः नित्य प्रवृत्त वस्तुओं में भी कालभेद सम्भव है और जब कालविभाग सम्भव है तो वर्तमान काल भी सम्भव है । अस्तु पवत है तदियाँ बहती हैं जस नित्यप्रवृत्ति के चोला वाक्या में नी तत तत् कालीन राजाओं की क्रिया के आधार पर काल विभाग किया जा सकता है । राजाओं की क्रियाओं में प्रकल्प भूमिका और साध्यमानता है । अतः उनके साहचर्य से पवता आदि के साथ प्रवृत्त सम्भव है । पवत से पवत हागे ऐसे प्रयाग इसी आधार पर नाम जब भूत भविष्यत् सम्भव होगा, वर्तमान का उपपत्ति भी उनके साथ होगी ही (वाक्यपदीय कालसमुद्देश ८०) ।

अथवा एक विरूपावयव क्रिया होती है और एक सत्पावयवक्रिया होती है । पवत के स्थितिरूप व्यापार में सत्पावयव क्रिया है । आत्मभरणरूप क्रियावयव एक दूसरे के सदृश है । सादृश्य के कारण उनमें भेद की अभिव्यक्ति उतनी सरल नहीं है जितनी कि पकने आदि के व्यापार में विरूपावयव क्रियाएँ होती हैं । राजाओं की क्रिया विरूपावयव है । अतः उनमें विभाग सम्भव है । वे प्रसिद्धपरिमाणवाली हैं । प्रसिद्ध परिमाणवाली क्रिया ही किसी दूसरी क्रिया के परिच्छिन्न होकर काल कहलाती है । स्थिति भूत आदि के रूप में राजाओं की क्रिया भिन्नभिन्न होकर पवत की स्थिति आदि का भेद होकर कालगणना से व्यवहृत होती है । अतः नित्यप्रवृत्त भावा में भी क्रिया और तीनों काल के योग उपपन्न हैं । राजक्रिया को सूय-संचार आदि का उपकरण मानना चाहिये । नियमनार्थों में भी अपने आपको प्रतिक्षण धारण करने

का त्रिषा म क्रियाव है। गन् यत्रहार म शब्द का अर्थ ही अर्थ रूप म गहीत होता है। निष्पत्ति आदि क्रियापन्ना से क्रम की अभिव्यक्ति होती है। शत क्रिया-योग नित्य पदार्थों के माय भा शब्द शक्ति के कारण है। साहचर्य से काल व्यपदेशक उदाहरण बहुत म हैं। कलापी उम काल का कहन ह जिस समय मयूर कलापी हात है (यस्मिन् काले मयूरा कलापिनो भवति स कलापी—काणिका ४।३।४६)। महाभाष्यकार ने माना है कि यहा साहचर्य स काल व्यपदेश है (कलापिसहचरित काल कलापी काल—महाभाष्य ४।३।४८)। इसी तरह अस्वत्थ और यववुस भी काल वाचक गन् ह जो साहचर्य के आधार पर गठित हुए हैं।

### वर्तमानकाल की सत्ता पर आक्षेप

कुछ लोग मानते ह कि यदि काल विभाग है तो वह दो ही हैं भूत और भविष्यत। वर्तमान काल नाम का कोई तीसरा विभाग संभव नहीं है। कोई भी वस्तु या तो सत् होती है अथवा असत् होती है। कोई तीसरी कोटि नहीं है। जा क्षण बीत गया वह सिद्ध स्वभाव का हो गया। फलतः क्रिया भी अतीत कहनावनी। जो क्षण अभी आया नहीं है वह भावी है। इसलिये उसकी चोतक क्रिया भविष्यत से सम्बन्ध जाड़ेगी। बीच म कोई तीसरा क्षण जो सत् भी हो और असत् भी हो नहीं है। अतः वर्तमान काल भी नहीं है। पतति म पतनक्रिया की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती। क्याकि पतनक्रिया का जो अनागत रूप है वह असत् है उसे पतति शब्द से नहीं कहा जा सकता। और जो पतनक्रिया का अतीत रूप है वह भी अतीत होने के कारण असत्त्व है इसलिये उसका लिय भी पतति का प्रयोग नहीं हो सकता और दशम म भी कोई पतति का प्रयोग कर तो उसके लिय हिमवान् अपि चलति—हिमालय भी द्रिचता डोलता है—कहना मरल है।

दूसरी बात यह है कि वस्तु या तो सत् रूप है या असत् रूप है। इन दोनों रूपों म क्रम संभव नहीं है। जो सत् है वह विद्यमान होने के कारण अनिवार्य है उसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है और इसीलिये उसे नम के आश्रय लेने की भी आवश्यकता नहीं है। जो असत् है वह भी असत् अवस्था में है सिद्ध किया जान की लागि म नहीं है इसलिये उमम भी क्रम संभव नहीं है। इन दोनों अवस्थाओं म निवर्तमान क्रिया क्रियारूप के अभाव होने के कारण वर्तमानता संभव नहीं है।

तीसरी बात यह है कि सत्ता एक ही क्षण की उपनधि होती ह। एक म कोई भूत नहीं होता। भेद न होने स उमम का क्रम भी संभव नहीं ह। एक ही क्षण म गमन आदि क्रिया का संभार संभव नहीं है इसलिये मञ्छति—जाता है—जैस वर्तमान कालिक वस्तुव्य अनुपपन्न है

एव एव क्षण उपनश्यते, नातीतो नापि अनागतो न चकस्य क्षणस्य गमनादिक्रियावेन संभवति—महाभाष्यप्रदीप ३।२।१२३

### इसका समाधान

उपयुक्त आशेष के उत्तर में यह कहा जाता है कि देवन्त के एक स्थान में





एक ही अवसर के लिए प्रयुक्त होते हैं।

आशसा के अर्थ में भी वतमान काल का प्रयोग वकल्पिक रूप में देखा जाता है। अप्राप्त प्रिय अर्थ के प्राप्त करने की इच्छा को आशसा कहते हैं। यद्यपि प्राथना अथवा इच्छा का सम्बन्ध वतमान से है परन्तु आशसा का विषय भविष्यत् काल होता है। इस आधार पर महाभाष्य में इस भविष्यत् काल का माना है (आशसा नाम भविष्यत्काला—महाभाष्य ३।३।१३२)। भविष्यत् काल से सम्बन्ध होते हुए भी उसके साथ भूतकाल (भूत सामान्य) के से प्रलय होते हैं। फलतः वतमान भूत और भविष्यत् तीनों काल आशसा की अभिव्यक्ति में प्रयुक्त होते हैं। कुछ लोग आशसा और सभावना को समानार्थक मानते हैं। कुछ लोग सभावना की आशसा का अवयव मानते हैं। कुछ लोग दोनों में कुछ भेद मानते हैं। भेद की दृष्टि से इनमें अन्तर यह है कि आशसा में इप्सित अर्थ की प्राप्ति साधन बल से शक्य और अशक्य दोनों होती है जब कि सभावना में उसकी प्राप्ति शक्य होती है—

आशसा नाम प्रधारितोर्थोऽस्मिनीतश्चानस्मिनीतश्च । सभावना नाम प्रधारितोऽर्थोऽस्मिनीत एव ।—महाभाष्य ३।३।१३२

वस्तुतः आशसा प्रयाक्तधर्म है। वह शब्दाद्य नहीं है। फिर भी आशसा शब्दसंस्कार में निमित्त होती है। पुरुषधर्म में भी शास्त्र की प्रवृत्ति होती है यह वाक्यपदीयकार का मत है (पुरुषधर्मोऽपि शास्त्रमधिकृतमिति विचारितं वाक्यपदीये—हेलाराज, कालसमुद्देश १०५)।

कभी कभी भूत अर्थ में भी वतमान काल का प्रयोग होता है जैसे कस और बलि की घटना को बीत मैकड़ा वर्ष हो जाने पर भी कस घातयान बलि वध यति एस वतमानकालिक प्रयोग देखे जाते हैं। भाष्यकार के अनुसार इन वाक्यों में वतमान काल के प्रयोग का आधार वतमान काल में रगमच पर दिखाय जाने वाले कस वध और बलि वधन के व्यापार हैं। शोभिक (नटा के आचार्य) और ग्रन्थिक (कथक) उन व्यापारों का प्रत्यक्ष से दिखाते हैं। कथकग्रन्थिक के मत में उन व्यापारों की बुद्धिविषयकसत्ता रहती है इसलिए वे उन्हें प्रत्यक्ष में व्यक्त करने में समर्थ होते हैं—

शब्दोपहितरूपाश्च (रूपास्तु) बुद्धेर्विषयता गतान् ।

प्रत्यक्षमिव कसादीन् साधनत्वेन गच्छते ॥

—वाक्यपदीय ४ साधनसमुद्देश ५ ।

केवल वतमान का ही नहीं भूत और भविष्य का भी ऐसा अवसरों पर प्रयोग देखा जाता है। उस एक ही घटना के तीनों कालों में इस तरह प्रयोग देखा जाता है—

जाओ देखो कस मारा जा रहा है (गच्छ ह्यने कस) । जाओ दखा कस मारा जायगा (गच्छ धानिष्यते कस) । अब जाने से क्या लाभ कस मार डाला गया (किं गतेन हत कस) ।

कभी कभी मुख्य वन मान के क्षेत्र म, प्रारंभ अपरिसमाप्त की अवस्था म भूतकाल का व्यवहार दसा जाता है । कोई पाटलिपुत्र क लिए चल पडा । एउ तिन बीत जाने पर रास्त म ठहर गया । अभी वट पाटलिपुत्र पहुँचा नहीं है और जब तक नहीं पहुँचेगा उसकी गमन त्रिया अपरिसमाप्त मानी जायगी । फिर भी रास्त म एक दिन के बाद ठहर जाने पर भी “आज इतना रास्ता बीत गया (इदमद्य गतम्)” एसा भूतकालिक प्रयोग करते हैं । गमन त्रिया के समाप्त न हान पर भी जितना गम समाप्त हो चुका है उसी का मान कर समाप्ति सूचक भूतकाल का प्रयोग किया जाता है । वस्तुतः त्रिया क कई अवयव होत हैं । शब्द क आधार पर समूह रूप त्रिया का जिस अवयव के साथ सम्बन्ध होना है उसी म उसकी समाप्ति भी हानी है । अवयव का तीना काल से सम्बन्ध हाने के कारण त्रिया का भी तीना काल स याग उपपन्न है

शब्देन प्रत्याप्यमाना येन येनावयवेन संबध्यते समूह रूपा क्रिया तस्मिन्नेवावयवे समाप्यते । तत्र अवयवानां कालत्रययोगात् त्रियाया अपि कालत्रययोग  
—कयट महाभाष्यप्रदीप ३।२।१०२

## भूतकाल

जिसकी अपनी सत्ता समाप्त हो जाती है वह भूत शब्द से व्यक्त किया जाता है (यस्य स्थ सत्ता व्यपवक्ता तत्सव भूत शब्देनोच्यते—महाभाष्यप्रदीप २।२।८४) । कभी-कभी अल्प सत्ता की परिसमाप्ति पर भी भूतकाल माना जाता है (एष च व्याप्यो भूतकालो यत्र किञ्चिदपवृक्त दश्यते—महाभाष्य ३।२।१०२) । उत्पन्न होकर ध्वस्त हुई त्रिया की उपाधि के रूप म भूतकाल का प्रयोग किया जाता है । भत हरि के अनुसार भूतकाल पाच तरह का होता है । हेताराज के अनुसार य पाच प्रकार निम्नलिखित हैं—

- (१) सामान्य भूत,
- (२) अद्यतनभूत
- (३) अनद्यतनभूत
- (४) अद्यतनानद्यतनभूत
- (५) भविष्यत के स्थान पर आरोपितभूत

## सामान्यभूत

भूत विशेष का आशय न लेकर केवल सामान्यभूत के अर्थ मे त्रिया का प्रयोग देखा जाता है । पाणिनि ने लुङ लकार से ऐसे ही भूत सामान्य को द्योतित किया है । विशेष मे भी सामान्य होता है और इस आधार पर कभी-कभी विशेषभूत के अर्थ म सामान्यभूत का व्यवहार देखा जाता है । जैसे अगमाम घोषान अपाम पय जस

वाक्यो म विशेषभूत की सम्भावना होते हुए भी उसकी अविवक्षा से सामान्यभूत का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः विवक्षासूचक अथ ही शब्द प्रयोग का निमित्त होता है। विशेष-भूत की विवक्षा होने पर उपयुक्त वाक्या म विशेषभूत के द्योतक लङ आदि लकारों के प्रयोग हो सकते हैं।

ननु शब्द के साथ प्रश्न के उत्तर देने पर सामान्यभूत के अर्थ में वर्तमानकाल का प्रयोग होता है जैसे— अकार्षीं कट देवदत्त ननु करोमि भो (देवदत्त तुमने चटाई बीन ली जी, अवश्य मैंने चटाई बीन ली)। नु शब्द के साथ प्रत्युत्तर देने में भी सामान्यभूत के अर्थ में वर्तमानकाल व्यवहृत होता है परन्तु विकल्प से। जस, अकार्षीं कट देवदत्त, नु करोमि भो। अथवा, नाकापम।

## अद्यतनभूत

अद्यतन की परिभाषा दो तरह की व्याकरण संप्रदाय में प्रसिद्ध है। 'यासकार, कयट, हरदत्त आदि के अनुसार पूरा दिन बीती हुई रात का अंतिम (चौथा) पहर और आने वाली रात का पहला पहर अद्यतनकाल है

दिवस सकल अतिक्रान्ताया रात्रेश्चतुर्थो याम आगामि-याश्च प्रथमो याम इत्येषोऽद्यतन कालः।

न्याय ३।२।११०

भट्टोजि दीक्षित के अनुसार बीती हुई पिछली आधी रात से लेकर आगे आने वाली आधी रात तक का समय अद्यतन है

अतीताया रात्रे पश्चाद्धेन आगामि-या पूर्वाद्धेन च सहितो दिवस अद्यतनः।

—सिद्धांत कौमुदी पृष्ठ ३०१

वस्तुतः अद्यतन और स्वस्तन शब्द पाणिनि के पूर्व के आचार्यों के ह और अपने मूल रूप में इनका भाव अद्य भव अद्यतन काल इवो भव स्वस्तन काल के रूप में था।

जब अद्यतन में कोई क्रिया समाप्त हुई रहती है उसे अद्यतन भूत के रूप में व्यक्त किया जाता है। यद्यपि यहां सामान्यभूत की भी सत्ता है। फिर भी सामान्य में विशेष रहता है। इस आधार पर हम अद्यतन को विशेष मान लेते हैं और सामान्यभूत से अद्यतनभूत को अलग करते हैं।

महाभाष्यकार के अनुसार अद्यतन में भी अद्यतन सभव है। (अद्यतनेऽपि अद्यतनो विद्यते। कथम्। व्यपदेशिवद्भावेन—महाभाष्य ३।२।१११)। अद्यतन का भी एक सामान्य रूप है और उसके भीतर मुहूर्त क्षण आदि के रूप में अद्यतन का एक विशेष रूप भी है। इस तरह समुदाय और अवयव के रूप में भेद मान कर समुदाय अद्यतन में अवयव अद्यतन है ऐसा कहा जा सकता है। वस्तुतः यहाँ अवयव में व्यक्ति रिक्त रूप में समुदाय की सत्ता आधार रूप में नहीं है। एक काल का दूसरे काल के

साथ आधारार्थभाव सवथा कल्पित होता है यथाथ नही। इसे भूत हरि न इस रूप में व्यक्त किया है—

कालस्याप्यपर काल निर्दिश्यत्येव लोकिना ।

न च निर्देशमात्रेण व्यतिरेकोऽनुगम्यते ॥

—वाक्यपदीय ३, सम्बन्ध समुद्देश ८३

## अनद्यतनभूत

अनद्यतन शब्द म बहुव्रीहि समास माना जाता है। जिसमें अद्यतन न हो वह अनद्यतन है। अर्थात् जहाँ अद्यतन का गद्य भी है वहाँ अनद्यतन भूत नहीं होता है। अनद्यतन भूत का प्रतिनिधि लकार लिट है। अकरोत् अहरत् जसी क्रियाएँ अनद्यतनभूत का व्यञ्जित करती हैं।

परोक्ष भी अनद्यतनभूत का ही एक भेद है। इसलिय पांच प्रकार के उपयुक्त भूत भेदास अतिरिक्त के रूप में इसकी गणना भूत हरि न नहीं की है। परोक्ष का प्रतिनिधि लकार लिट है। परोक्ष शब्द में अग्नि शब्द केवल आँख मात्र का बोधक न होकर सभी इन्द्रिया का वाचक माना जाता है। इसलिय जो इन्द्रियास परे हैं, जो वस्तु इन्द्रियगोचर नहीं है वह परोक्ष है। एक तरह से सभी धात्वर्थ परोक्ष ही होते हैं क्योंकि धात्वर्थ वह किया हुआ साध्य है। जो अभी साध्यमान है वह असत् है। जो असत् है वह इन्द्रियों का विषय नहीं है। अतः धात्वर्थ परोक्ष होगा। फिर भी जहाँ पर साधन प्रत्यक्ष है उसके आधार पर क्रिया के प्रत्यक्ष की बात तोक में देखी जाती है। साधन यद्यपि शक्तिरूप है फिर भी द्रव्याश्रित होने के कारण द्रव्य के प्रत्यक्ष के द्वारा वे भी प्रत्यक्ष होने वाले मान लिये जाते हैं। अथवा शक्ति और शक्तिमान में अभेद की विवक्षा से साधन का ही द्रव्य मान लिया जाता है। जहाँ द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है वहाँ प्रत्यक्ष का और जहाँ द्रव्य का परोक्ष होता है वहाँ परोक्ष का व्यवहार लोक में देखा जाता है।

पतञ्जलि के समय में परोक्ष के विषय में कई तरह की भाष्यताएँ प्रचलित थीं। किसी के अनुसार सौ वर्ष पहल का वस्तु परोक्ष था। किसी के अनुसार किसी दिवाल या कुटी से अतःरित वस्तु भी परोक्ष था। कुछ लोग दाँतीन दिन पहल बीती हुई घटना का भी परोक्ष मानते थे। कथत के अनुसार इन्द्रिय से अगोचर साधन से साधित सभी अनद्यतन क्रियावाची अथ एक तरह से परोक्ष हैं और ऐसे परोक्ष में लिट का प्रयोग साधु है। पतञ्जलि के लक्षणायाँ इस अर्थ में हैं पपाच वाक्य शुद्ध है—

इन्द्रियागोचरसाधनसाधितानद्यतनक्रियावाचिनस्तु

धातोर्लिट प्रत्यय इति निणयः । तथा ह्य पपाचेत्याद्यपि भवति । महाभाष्य प्रदीप ३।२।११५

उत्तम पुरुष में जहाँ क्रिया आत्ममाध्य होती है परोक्ष का व्यवहार चित्तव्याशेष अथवा अपह्लव के आधार पर माना जाता है। भाष्यकार ने इस प्रसंग में

शाक गायन की तल्लीनता का उन्नेष किया है जो राजमाग पर स्थित हात दृश्य भी सामन से जाते हुए शकटा को नहीं देख सके थे । पतञ्जलि के अनुसार मन संसृक्त होकर इन्द्रिया उपलब्धि में कारण होती हैं । मन यदि पास में नहीं है तो वस्तु प्रत्यक्ष होती हुई भी परोक्ष भी है—

किं पुन कारण जाग्रदपि वतमानकाल नोपलभते । मनसा संयुक्तानि इन्द्रियाणि उपलब्धौ कारणानि भवन्ति, मनसोऽसान्निध्यात् । मन्मभाष्य ३।२।११४

स्वयं अनुभूत न होने के कारण जो परोक्ष घटनाएँ हैं परन्तु वक्ता के समय में ही घटित हुई हैं उनके लिये परोक्ष के अर्थ में अनद्यतन का व्यवहार किया जाता है । अर्थात् लिट के स्थान पर लङ लकार का प्रयोग किया जाता है जैसे 'अरुणत यवन साकेतम्' । इस वाक्य में वक्ता के स्थिति काल में साकेत पर यवना का आनमण हुआ था । यह भाव लङ के प्रयोग से जान पड़ता है । (अरुणत इत्युदाहरणे तु तुल्यकाल प्रवर्ततेति बोध्यम्—मन्मभाष्यप्रदीपोद्योत ३।२।११५)। इसी तरह शश्वत और आसन काल प्रश्न के सम्बन्ध में भूत अनद्यतन परोक्ष के अर्थ में लङ लकार का प्रयोग पाणिनि ने उपयुक्त माना है ।

वस (निवास करना) के साथ अनद्यतन के अर्थ में सामान्यभूत का लकार (लुङ) प्रयुक्त होता है । कोई प्रातः काल साकर उठता है । उसमें कोई पूछता है 'आप ने रात कहा बिताई' । वह उत्तर देता है — इस स्थान पर रहा (अमुत्र अवात्सम) । परन्तु यहाँ लङ लकार का प्रयोग तभी हाता है जब कि जागरण सतति अथ गम्य हो अर्थात् रात के चौथे पहर में जग जाने के बाद वक्ता फिर नहीं सोया था । यदि चौथे पहर में जग जाने के बाद वह एक मुहूर्त के लिये भी सोता है 'अवात्सम' के स्थान पर उस 'अवसम' कहना चाहिये । कथट के अनुसार जागरण सतति का अभिप्राय यह है कि यदि प्रयोक्ता रात्रि के प्रथम तीन पहर जागे जाग ही बिताया था तभी अवात्सम प्रयोग होगा, यदि बीच में सोकर पुनः उठ कर अपने साने की बात वह करता है तो उसे अवसम कहना चाहिये ।

पुरा और स्म के साथ (उपपद रूप में) अनद्यतन भूत के अर्थ में वतमान काल का व्यवहार देखा जाता है पुरा शब्द के साथ वकल्पिक रूप में ही वतमान काल मिलता है । जैसे वसतीह पुरा छात्रा । इति स्मोपाध्याय कथयति ।

### अद्यतन-अनद्यतनभूत

भूत काल का एक अद्यतन और अनद्यतन का मिश्र रूप भी भक्त हरि ने स्वीकार किया है । अद्यतन और अनद्यतन का समुदाय अनद्यतन में भिन्न है । इसलिये अद्यतना नद्यतन नाम से एक अलग भूतभेद मान लिया गया है । इसका उदाहरण 'अद्य ह्य अमुक्षमहि' है ।

### भविष्यत् के स्थान पर आरोपित भूत

पाणिनि ने आशसाया भूतवच्च ३।३।१३२ जस सूत्रा द्वारा भविष्यत काल के अर्थ में

भूतकाल के प्रत्ययो का विधान किया है। ऐसे स्थला के लिये भविष्यत् के स्थान पर आरोपित भूत होने से इसे एक अलग भूत भेद मान लिया गया है।

## भविष्यत् काल

भत हरि के अनुसार भविष्यत् काल चार प्रकार का है—

- (१) सामान्य भविष्यत्,
- (२) अनद्यतन भविष्यत्,
- (३) अनद्यतन भविष्यत्
- (४) अनद्यतनानद्यतन भविष्यत्।

इनमें सामान्य भविष्यत् का निर्देशक लट लकार है। अनद्यतन भविष्यत् के लिए भी लुट का प्रयोग किया जाता है। अनद्यतन भविष्यत् अनद्यतन भूत की तरह है। इसका चोतक लुट लकार है। अनद्यतनानद्यतनसमुदाय अनद्यतन और अनद्यतन भविष्यत् से भिन्न है।

जिस तरह भविष्यत् के स्थान पर आरोपित भूत होता है उसी तरह अनद्यतन भूत के अथवा भविष्यत् काल का भी आरोप देखा जाता है विशेषकर स्मरणाधिक धातुओं के साथ। जस, अभिजानासि देवदत्त यत् कश्मीरेषु वत्स्याम। परन्तु भत हरि ने इसे अलग भविष्यत् भेद के रूप में स्वीकृत नहीं किया है इसी तरह अनद्यतन भविष्यत् होत हुए भी निम्न सामान्यभविष्यत् के प्रत्यय आदि प्रतिषेध के आधार पर किये जाते हैं उन्हें सामान्य भविष्यत् में ही परिगणित करना चाहिए (यस्तु अनद्यतनवत् प्रतिषेधात् भविष्यत् सामान्यकार्याणि प्रतिषेधते सोऽनद्यतनोपि शास्त्र व्यवहारो भविष्यत्सामान्यमेव—हेताराज काल समुद्देश २८)।

परिदवन (खेत्) के अथवा अनद्यतनभविष्यत् के लिये अनद्यतन भविष्यत् का प्रयोग साधु माना जाता है जैसे इय कदा नु गता या एव पादौ निदधाति (जब यह इस तरह से पर रख रही है तब कब पहुँच सकेगी)। पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्य लुट को स्वस्तनी और लट को भविष्यन्ती कहते थे।

लोक में भविष्यत् के अथवा भूत का प्रयोग एक वाक्य में देखा जाता था। वह वाक्य यह है—द्वन्द्वं वष्ट निष्पन्ना गालय (यदि पानी बरसगा धान की फसल अच्छी होगी)। वस्तुन सपत्स्यन्त गालय कहना चाहिये क्योंकि अभी धान होने वाला है वे अभी निष्पन्न नहीं हुए हैं। फिर भी जनना भविष्यत् काल का प्रयोग नहीं करती थी और यदि कोई भविष्यत् काल का प्रयोग (सपत्स्यन्त) कर देता था तो उससे क्या जाता था कि सपत्स्यन्ते के स्थान पर सपन्ना कहा। वाक्य पनीयकार ने यहाँ भूतकाल के प्रयोग के पक्ष में कुछ अपन सुभाव दिये हैं।

उनके मत में निष्पत्ति गन्तव्य दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो आरम्भ का फल का उत्पत्ति के कारण है और दूसरा फल का सिद्ध होना। जहाँ तक धान की निष्पत्ति का प्रश्न है पहले अर्थ के अनुसार जल और गालि का संयोग ही निष्पत्ति है। धान के सिद्ध होने में जल गालि का संयोग सम्पन्न होने वाली अवस्था का एक अवयव

है। वह वषण क्रिया मात्र से सिद्ध है। धान की जो फसल होगी उसके बहुत पहले ही जल शालि का संयोग घटित हो गया रहता है। इस आधार पर क्रिया अतीत मान ली जायगी और भविष्यत् के स्थान पर भूत का (निष्पन्न शब्द का) प्रयोग उपपन्न हो सकेगा।

यदि निष्पत्ति शब्द का दूसरा अर्थ, फल प्रसव रूप अर्थ लिया जायगा तब भी उपयुक्त वाक्य में भूतकाल के व्यवहार का समर्थन किया जा सकता है। धान की निष्पत्ति का अर्थ फल रूप धान का सम्पन्न होना है। उसके कारण जल शालि संयोग आदि है। काय के धर्म का कारण के धर्मों में अध्यस्त किया जाता है। इस आधार पर फलनिष्पन्नरूप काय का जल शालि संयोग में अध्यस्त हो जायगा। जल शालि का संयोग केवल वषण क्रिया से सिद्ध हो जाने के कारण क्रिया अतीत मान ली जायगी। फलतः फल निष्पत्ति भी अध्यस्त रूप में अतीत ही मानी जायगी और इस तरह निष्पन्न शब्द का व्यवहार भविष्यत् के अर्थ में भूत का प्रयोग उपपन्न हो जायगा।<sup>११</sup>

अथवा काय में कारण के धर्म का अध्यस्ताप किया जायगा। धान की फल निष्पत्ति काय है। जल शालि का संयोग कारण है। उसका वषण क्रिया अतीत धर्म है उस धर्म का निष्पत्ति में आरोप कर निष्पत्ति को अतीत मान निष्पन्ना शालि कहा जा सकता है। पूर्व वाले मत से इस मत में इतना ही अंतर है कि पहले कारण धर्म में काय धर्म का आरोप कहा गया था इसमें फल में कारण धर्म का अध्यस्त कहा गया है। कात्यायन ने हनुभूतकालसंश्लिष्टत्वात् (वातिक, महाभाष्य ३।३।१३३) के द्वारा इसी मत का समर्थन किया है। धान की निष्पत्ति में हनुभूत वषा आदि हैं। वर्षा के काल का (अतीत का) धान की संपन्नता रूप काय में अपस्था की जाती है अर्थात् काय और कारण में अभेद मान कर कारण का ही काय रूप में व्यक्त किया जाता है। इस तरह औपचारिक व्यवहार कराने का प्रयोजन किसी विशेष कारण या अर्थ कारणों की अपेक्षा अधिक शक्ति सम्पन्न जताना है। यदि इस तरह से शालि निष्पन्न माना जायगा तो उससे भोजन आदि के व्यापार (अर्थक्रिया) भी तुरन्त क्यों नहीं होन लगते? हमके उत्तर में महाभाष्यकार ने कहा है कि जो धान यथाथ रूप में निष्पन्न हो चुके हैं और खलिहान में उठाकर काठला (कोष्ठ) में रख गये हैं वे भी तुरन्त बिना किसी दूसरी क्रिया के सहारा लिये अर्थ क्रिया के उपयोगी नहीं होते। उन्हें भी भोजन के योग्य होने के लिये अवहनन (मूल से छाटना) आदि व्यापारों की अपेक्षा होगी है। तात्पर्य यह है कि यदि कोई विद्यमान वस्तु अर्थ क्रिया को नहीं कर रही है तो इसका यह अर्थ नहीं कि उसमें अर्थ क्रिया की शक्ति ही नहीं है। उसमें भी अर्थ क्रिया की शक्ति अतिमन्यत रूप में हो सकती है। इसलिए निष्पन्न कहे जाने वाले पर अभी अनिष्पन्न शालि भी जनन आदि क्रिया की प्रतीक्षा करने वाले कहे जा सकते हैं। और अर्थक्रियाशक्ति संपन्न मान जा सकते हैं।

इस प्रसंग में भत हरि ने निष्पत्ति और सिद्धि में थोड़ा सा भेद दिखाया है



जा प्रान देा योग है । भा हरि क समुगार निरालि क हेतु धनसिन्धु हा है, उमकी कारण गति की गरिबता टीर टीर गरी हा गा हा है । जबकि गिदि का माया तन सतिनि और स्वसिन्धु हा हा है । निरालि का सम्बन्ध हनुन म और पनजम हा हा म है जबकि गिदि का सम्बन्ध पन म ही है । निरालि बास मायना के अधीन है जब कि गिदि कारण माया क अधीर है

निष्पत्तायपि कश्चित् कश्चित् प्रतिविद्यते ।

हेतुः स्यादप्येवम् । एतन्नमेति बोध्यते ॥

अथ हिस्सापनापीना तिष्ठि यंत्र विषयिता ।

तत् साधनात्तराभावात् सिद्धमित्युपदिश्यते ॥

—याशयगम ३ कान मगदग १०६ ११०

भूत हरि न अवधिगत न आधार पर उपाय न वास म भूत भविष्यत् क्षीण वामान नीला  
कान्त न प्रयोग न समर्थ निया है निष्कान्त क्षान्त निष्कम्पन क्षान्त निष्कलने  
क्षान्त यतीना वास्य त्रिषातुगार प्रयुक्त न गत है । भूत हरि न मयत्र माना कान्त  
की माया पर जार निया है । इगर्ष पीड उतता गता-गता है । गता म एव रूप है ।  
जा पथिक उस प्रत्यक्ष रत्न है उगर्ष निय रूप की वनमान-गता है जा उम देग  
चुवा है उसर लित उम रूप की भूत गता है मोर जो उम अभी न्येता उमन निय उम  
रूप की भविष्यत्-गता है । इन्द्रिय सम्पद या अगम्य न आधार पर एव ही गता  
भिन भिन व्यपदन वाली है । साथ ही यस्तु की बोद्धि गता गता वनमान रूप म  
उपलब्ध हो सक्ती है । इस आधार से रूप है जग वतमानकालिक प्रयोग गवया  
उपपन्न है । इस तरन की उपलब्धि म भूत भविष्यत् क्षान्त की विवक्षा प्राधायन्य म  
नही उठती, बसल यस्तु न समान की विवक्षा मानसिक ग्रहण म देखी जाती है

सतानिद्वयसम्बन्धात् सद्य सत्ता विगिन्यते ।

भेदेन व्यवहारो हि वस्त्यतरनियमन ॥

अस्तित्व वस्तुमात्रस्य बुद्ध्या तु परिगृह्यते ।

य समासादनाद भेद स तत्र न विधक्षित ।

—वाक्यपत्नीय ३ कालगमुद्देश ११२ ११३

त्रिपातिपत्ति में भूत और भविष्यत्

जब किसी प्रतिबन्धक के कारण अथवा सामग्री की विकलता से किसी क्रिया की उत्पत्ति बिल्कुल नहीं हो पाती है उस क्रियातिपत्ति कहते हैं कुतश्चिद् वगुण्याद अनभिनिवृत्ति क्रियाया क्रियातिपत्ति — काशिका ३।३।१३६। अब प्रश्न यह है कि क्रिया की अनुत्पत्ति के साथ भूत या भविष्यत का सम्बन्ध कहा जोड़ा जा सकता। क्योंकि भूत उत्पन्न के अतिशय अवस्था का द्योतित करता है जो अनुत्पन्न है उस के साथ उसका सम्बन्ध दुषट है। इसी तरह साधनसंनिधान के हाते हुए सभावित उत्पत्ति भविष्यत का क्षेत्र है। अनुत्पन्न से उसका भी सम्बन्ध कठिन है।

भत हरि ने इस प्रश्न का समाधान अवधिभेद से विषयभेद के आधार पर किया है। यदि कमलकम आह्वास्पन न शकट पर्याभविष्यत (यदि कमलक को बुलाता गाड़ी नहीं टूटती)। कमलक एक ऐसा व्यक्ति है जो शकट को सभालन में कुशल है उसकी कुशलता पूर्व के अवमरो पर परीक्षित है। इसलिए भविष्य में भी कमलक का आह्वान शकट की सुरक्षा में साधक हो सकता है ऐसा समझना स्वाभाविक है। शास्त्रीय शब्द में यही लिंग है और कमलक का आह्वान सामान्य धर्म है। यहाँ कमलक के पुकारे जान की और गाड़ी के टूटने की अनिपत्ति है और वह प्रमाणांतर गय है। कमलक के पुकारे जान की अनिपत्ति उसके दशान्तर चले जाने से सम्भव है और गाड़ी का भग्न होना भी अत्यधिक भार आदि से सम्भव है। इस बात को समझते हुए ही वक्ता ने उपयुक्त वाक्य का प्रयोग किया है। इसमें कमलक के आह्वान और शकट के न टूटने में हेतुहेतुमदभाव है। इस वाक्य से इन दोनों की अनिपत्ति भविष्यत कालिक जान पड़ती है। वर्तमान में तो वह देख ही रहा है कि कमलक को बुलाया नहीं जा सकता और न गाड़ी ही टूटने से बचाई जा सकती है। अतः यहाँ भविष्यत काल सम्बन्धी क्रियातिपत्ति है। अर्थात् काल का अवच्छेद भविष्यत रूप में होने के कारण क्रियातिपत्ति का सम्बन्ध भी भविष्यत से हो गया है।

इसी तरह क्रियातिपत्ति का सम्बन्ध भूतकाल से भी हो जाता है। जैसे कोई किसी से कह रहा है— मैं अपने भूखे पुत्र को भोजन की फिराक में इधर-उधर घूमते देखा है एक दूसरे आदमी को भी देखा जो भोजन कराने के लिये ब्राह्मण की खोज में घूम रहा था। यदि उसे देखा होता अवश्य खिलाता परन्तु उसने भोजन नहीं किया वह दूसरे रास्ते से चला गया। इस उक्ति में न भोजन करने का व्यापार जो भोजन का प्रतिद्वन्द्वी है, भूतकाल के रूप में व्यक्त किया गया है वह अतीत को विषय बना गया है। इसलिये क्रियातिपत्ति भी अतीत विषय वाली जान पड़ती है। इसलिये यहाँ उसका व्यवहार भूत रूप में किया गया है।

नागन के अनुसार ऐसी स्थिति में भविष्यत आदि का आरोप किया जाता है और इस आरोपित अर्थ के द्वारा ही क्रियातिपत्ति का भविष्यत आदि से सम्बन्ध होता है—

साधनाभावाद असंविध्यदपि वस्तुनि भविष्यत्वम आरोप्यते निषेधप्रतियो  
गित्वायेत्यदोपातः। सुमिक्षमवन हेतुमुवष्टिभवन भविष्यत्वेन असम्भावयन  
एकमभिषते। एव हि क्रियातिपत्ति अवगता भवति—मजूपा, पृष्ठ ६२३

## व्यामिश्र काल

संस्कृत में ऐसे बहुत से वाक्य मिलते हैं जिनमें दो विरुद्ध काल एक साथ उल्लेख रहते हैं जैसे—

(१) भावि कृत्य आसीत्

(२) अग्नि गमयाज्यस्य पुत्रो जनिता

- (३) साटोपमुर्वीमनिश नदन्तो ये प्लावयिष्यन्ति मम ततोमी  
(४) गोमान आसीत आदि।

इनम प्रथम वाक्य म भावि शब्द म भविष्यतकाल का प्रत्यय है आसीत भूतकाल का है। द्वितीय वाक्य म अग्निष्टोमयाजी शब्द म भूत काल का प्रत्यय है, जनिता भविष्यत काल है। ततीय वाक्य म नदत वतमानकाल का प्लावयिष्यन्ति' भविष्यत काल से सम्बन्ध है। चतुथ वाक्य मे वतमान काल का भूतकाल से सम्बन्ध है। पाणिनि ने इस तरह के प्रयोगों की साधुता दिखाने के लिये धातु सम्बन्धे प्रत्यया' ३।४।१ इस सूत्र का निर्माण किया था। धात्वर्थों मे परस्पर सम्बन्ध सम्भव है। वह विशपण विशप्यभाव रूप म होता है। सुवतवाच्य अथ विशेषण होता है और तडित वाच्य अथ प्रधान होने क कारण विशप्य होता है। अग्निष्टोमयाजी म भूतकाल विशपण है जनिता नद म भविष्यत काल विगप्य है। विशपणविशेष्यसम्बन्ध के बल पर भूतकाल भविष्यत काल से मिल कर भविष्यतकाल हो जाता है। अत उपयुक्त वाक्य का भाव हो जाता है— इसको ऐसा पुत्र होगा जो अग्निष्टोम से यज्ञ करेगा। इसलिये पाणिनि का उपयुक्त सूत्र से अभिप्राय यही था कि धातु के सम्बन्ध म कालांतरविहित प्रत्यय वाले शब्दों का किसी अर्थकाल के साथ सम्बन्ध सम्भव हो सक और उह साध माना जाय। परन्तु महाभाष्यकार ने इस सूत्र का प्रत्याख्यान किया है और सत हरि आदि न इस सम्बन्ध म महाभाष्यकार का अनुकरण किया है। कात्यायन क अनुसार प्रत्यय के यथाकाल विधान से काम चल जायगा। जिस तरह से 'इन सूत्रों से साडी बनाओ इस वाक्य से साडी की भावि व्यपदेश रूप म प्रतिपत्ति होता है उसी तरह अग्निष्टोमयाजी क भूत का जनिता क भविष्यत क सहारे भावि व्यपदेश हो जायगा। उपपत्त म विशपण म विशप्य के काल से अर्थ काल का हाना अस्वाभाविक नही है परन्तु वाक्य क सामर्थ्य से विशेषण का काल विशप्य के काल से सम्बन्ध होकर ही भासित होगा। इसलिये सूत्र के बिना भी काम चल सकता है। किन्तु भूत-हरि न सूत्र की सायकता क पक्ष में भी अपने विचार यस्त किय ह। व्यामिश्रकाल म भूत और भविष्यत आदि के एक साथ प्रयोग को मायता देने के लिये सूत्र की साथ-कता है—

गुड च काले व्याख्यातमामिध्रे न प्रतिष्यति।  
साधुत्वमययाकाल तन सूत्रेणोपदिश्यते ॥१॥

इस तरह म वाक्यपत्नीय में ग्यारह तरह क कालभट्ट का विवचन किया गया है  
भूत पञ्चविधस्तत्र भविष्यच्च चतुर्विध।  
वतमानो द्विधा स्यात इत्येकादश कल्पना ॥१॥

परन्तु भतृहरि-दशन में ये सब भेद व्यवहार की सुविधा की दृष्टि से कल्पित हैं, यथाथ नहीं हैं। कालाख्य स्वतःशक्ति भेद से सबथा रहित है—

विकल्परूप भजते तत्त्वमेवाविकल्पितम् ।

न चात्र कालभेदोस्ति कालभेदश्च गृह्यते ॥<sup>६६</sup>

## दिक् और काल

भारतीय विचार परम्परा में दिक् और काल साथ-साथ आते रहते हैं। व्याकरण में भी इनका साहचर्य है। पाणिनि ने कई नियम दोनों के लिये साथ-साथ व्यक्त किये हैं जैसे दिग्देशकालोवस्ताति ॥३॥२७॥ भतृहरि ने भी काल की तरह दिक् पर भी विचार किया है।

भतृहरि के दशन में दिक् और काल में कई तरह के साम्य है। जिस तरह वे काल को शक्ति मानते हैं वैसे ही दिक् का भी शक्ति मानत है —

शक्तिरूपे पदार्थानामत्यन्तमनवस्थित ।

दिक् साधन त्रिया काल इति वस्त्वभिधायिना ॥

—वाक्यपदीय दिक् समुद्देश १

कालशक्ति त्रिया का भेदक है और दिक् शक्ति मूर्ति का (कालात् त्रियाविविज्यते आकाशात् सब भूतय — वाक्यपदीय २, साधनसमुद्देश, अधिकरण ६) ।

दिक् और काल दोनों क्रम के आधार पर भेदक होते हैं। दश भेद चलने वाले (गता) की गति से स्पष्ट है। ठहरने (तिष्ठति) में भी दश भेद है। काल भेद तो क्रमाश्रित है ही। योगपद्य में भी परमाथत क्रम रहता है।

भतृहरि के अनुसार दिक् अवधि और अवधिमान में भेद का हनु है। ऋजु या वक्र के पान का निमित्त भी निक् है। कम के त्रियक ऊर्ध्व आदि के व्यजक भ्रमण उत्प्रेषण आदि जातिभेद की अभिव्यक्ति भी दिक् के ही आश्रय से होनी है। दिक् शक्ति एक है फिर भी उपाधिभेद से दश प्रकार की मानी जाती है। दिक् के सहारे ही परत्व और अपरत्व विवेचन होता है। मूर्ति (सकलद्रव्यपरिमाण) में क्रमरूप की कल्पना दिगाश्रित है। अमूर्त आकाश में भी परत्व अपरत्व वस्तुओं के संयोग विभाग के आधार पर औपाधिक रूप में माने जाते हैं।<sup>६७</sup> इसी पूर्व अपर आदि पाना के चल पर दिक् की सत्ता का अनुमान किया जाता है (यथा पूर्वापरादि प्रत्ययलक्षणेन कार्येण अनुमित सत्त्वा तयाम्युपगतव्या शक्तिरूपा निक्—हेताराज, दिक् समुद्देश ७)

भतृहरि ने दिक् की बाह्य सत्ता के अनिश्चित उमकी आन्तरिक सत्ता भी मानी

है । उनके अनुसार दिक् अत करण का एक धम है जो बाह्य रूप म, पूव अपर रूप म पकाशित होता है । दिक् का कोई बाह्य रूप नही है (न बाह्या काचिद दिगस्ति—हेलाराज, दिक् समुददेश २३) ।

अत करणधर्मो वा बहिरेव प्रकाशते ।<sup>७१</sup>

## उपग्रह-पुरुष-सख्या-विचार

उपग्रह शब्द पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्यों का जान पड़ता है यद्यपि निम्न और प्रातिशाख्यो में इस शब्द का प्रयोग नहीं मिलता किन्तु कात्यायन, पतञ्जलि आदि न इसका व्यवहार पारिभाषिक रूप में किया है। पाणिनि-सूत्रों में यह शब्द नहीं है। पाणिनि के एक सूत्र 'चूर्णाद्यप्राणिषष्ठ्या' ६।२।१३४ का पाठभेद 'चूर्णादीयप्राण्युपग्रहात्' इस रूप में मिलता है। इसका उल्लेख काशिका में वामन ने किया है। इसमें उपग्रह शब्द है। वामन के अनुसार पूर्व के आचार्य षष्ठ्यन्त को उपग्रह कहते थे

चूर्णादीयप्राण्युपग्रहादिति सूत्रस्य पाठांतरम् । तत्रोपग्रह इति षष्ठ्यन्तमेव  
पूर्वाचार्यान्तरोधेन गृह्यते ।—काशिका ६।२।१३४  
पूर्वाचार्या हि षष्ठ्यन्तमुपग्रह इत्येवमुपचरन्ति स्म ।

—यास ६।२।१३४

किन्तु आख्यातगम्य उपग्रह षष्ठ्यन्त-उपग्रह में भिन्न है। आख्यातगम्य उपग्रह शब्द का प्रयोग कात्यायन ने उपग्रह प्रतिषेधश्च (वार्तिक ३।२।२२७) में किया है। महाभाष्य में पारिभाषिक उपग्रह शब्द का व्यवहार कई स्थलों पर मिलता है। जैसे—

न निष्ठापरस्यानुप्रयोगेण पुरुषोपग्रहो विनोपितो स्याताम् ।

महाभाष्य २।१।८०

सुपतिङ्गुपग्रह लिङ्गनराणां कालहलचस्वरक्त यडा च ।

व्यत्ययमिच्छन्ति नास्त्रकृदेया सोपि च सिध्यति बाहुल्येन ॥

—महाभाष्य ३।१।८४

तिङ्गिहितेन भावेन कालपुरुषोपग्रहा अभिव्यज्यते ।

—महाभाष्य ३।१।६७

### उपग्रह की परिभाषा

सन्द्स्वामी ने उपग्रह के स्वरूप बतलाते हुए उसे कत गामी और परगामी लक्षण वाला माना है। आत्मनेपद के उच्चारण से फल कत गामी जान पड़ता है और परस्मैपद

के उच्चारण से फल परगामी जान पड़ता है —

उपग्रह कत गामि परगामित्व लक्षण । स्वरितञित आत्मनेपद उच्चारिते  
ज्योतिष्टोमेन स्वगकामो यजेत इति कत गामिफलत्व प्रतीयते । परस्मपदे तु  
यजति याजका इति परगामिफलत्वम् ।<sup>१</sup>

जिनेन्द्र बुद्धि के अनुसार उपग्रह एक तरह का क्रिया विशेष है परन्तु उससे  
आत्मनेपद और परस्मपद इसलिय गहीत होते हैं कि वे ही उसकी अभिव्यक्ति में  
निमित्त हैं—

लादेश व्यङ्ग्य क्रियाविशेषो मुख्य उपग्रह । इह तु तद व्यक्तिनिमित्तत्वात्  
परस्मपदात्मनेपदयोवतते ।<sup>२</sup>

इसको भट्टोजि दीक्षित ने यों कहा है —

लादेश व्यङ्ग्य क्रियासाधनविशेषरूप स्वाथपराथत्वादिश्चोपग्रहशब्दस्य  
वाच्य ।<sup>३</sup>

इन सब उक्तियों का आधार वाक्यपदीय है । उपग्रह की परिभाषा वाक्यपदीय  
में ही सर्वप्रथम देख पड़ती है । वह या है —

य आत्मनेपदाद् भेद क्वचिदयस्य गम्यते ।  
अयतश्चापि लादेशात्तन्मयते तमुपग्रहम् ॥<sup>४</sup>

आत्मनेपद या परस्मपद के प्रयोग से क्रिया या साधन के किसी विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति होती है जिसका सम्बन्ध सीधे कर्त्ता से होता है अथवा कर्त्ता से अर्थ किसी दूसरे में होना है । इसी क्रिया या साधन के विनाप ही उपग्रह कहा जाता है । हला राज के अनुसार पूर्वाचार्यों ने इसी अर्थ में उपग्रह शब्द का व्यवहार किया था और उसी आधार पर उसी अर्थ में यह शास्त्र सप्रति व्याकरण-दर्शन में गहीत है — (पूर्वाचार्यप्रसिद्ध योपग्रहशब्दवाच्योऽयमर्थो व्यवहृतस्तत्र शास्त्र—हेताराज, उपग्रह समुद्र ११) ।

### साधन उपग्रह रूप में

कम कर्त्ता जैसे साधन आत्मनेपद से व्यग्य हान के कारण उपग्रह कही कहा कह जात है । जस पच्यत गम्यत जस शान्तं म आत्मनेपद से कम धातिन हाना है । एधन

- १ निरुक्तमर्थः पृष्ठ ६ ला० लक्ष्मण खरूप द्वारा सम्पादित ।
- २ काशिका विवरण पत्रिका ३।१।८५
- ३ शब्द बौधुम पृष्ठ ८६६ (चौखन्ना सम्क ४)
- ४ कनकशर्मा ३, उपमह सन्देश १

याति जैसे शब्दों में आत्मनपद और परस्मैपद से कर्ता व्यक्त है। कभी कभी भाव भी साधन के रूप में व्यवहृत होता है और वह आत्मनपद से अभिव्यक्त होता है। जैसे आस्त शय्यते जस पत्नी मे आत्मनपद के द्वारा ही भाव की अभिव्यक्ति होती है, भाव क्रिया के एकपदवाच्य साधनावश को अभिव्यक्त करता हुआ स्वयं साधन हो जाता है। कभी कभी उपग्रह साधन के विशेषणरूप में व्यक्त होता है विशेषकर व्यक्तवाक के अर्थ में। जैसे सप्रवदन्त ब्राह्मणा' इस वाक्य में उपग्रह साधन का विशेषण है। यद्यपि गुण, सारिका आदि के उच्चारण में भी वर्णों के स्पष्ट उच्चारण जान पड़ता है किन्तु वे सीमित या इन गिने वर्णों में ही स्पष्ट जान पड़ते हैं और वह भी पुरुष के प्रयत्न से बहुत दिन तक मिथान रटान से संभव हो पाता है। इसलिये उनके लिये वदन्ति शब्द का ही प्रयोग होता है वदत शब्द का नहीं।

## क्रियाविशेष उपग्रह रूप में

कभी कभी क्रियाविशेष उपग्रह होते हैं। जैसे गन्धन (पीड़ा पहुँचाने वाली निंदा) और अवशोषण (भक्षण) धातु से वाच्य क्रियाविशेष होते हुए भी जब तक आत्मनपद से न व्यक्त किया जाय तब तक अनभिव्यक्त ही रहते हैं। जैसे उत्कुरस्त। इस शब्द से हिंसात्मक निंदा का अर्थ आत्मनपद के प्रयोग से ही जान पड़ता है। इसी तरह 'इयेन वनिकाम उदाकुरस्ते' इस वाक्य में इयेन द्वारा वनिका की भक्षण उदाकुरस्त में आत्मनपद के प्रयोग से अवगत होती है। इसी तरह कर्मव्यतिहार भी क्रियाविशेषण के रूप में आत्मनपद से व्यक्त होकर उपग्रह होता है। कर्मव्यतिहार का अभिप्राय यही क्रिया-व्यतिहार है। जब एक सम्बन्धी क्रिया को कोई दूसरा व्यक्ति करने लगता है और दूसरे के लिये नियत क्रिया का जब पहला व्यक्ति करने लगता है उसे कर्म व्यतिहार अथवा क्रिया-व्यतिहार कहते हैं (यथाय सर्वधर्मी क्रियामय करोति, इतर सम्बन्धिनी चेतरे स कर्म व्यतिहार — काशिका १।३।१४)। क्रिया के साध्यस्वभाव के होने के कारण क्रियायि होने के कारण उनमें व्यतिहार अथवा विनिमय यद्यपि संभव नहीं है फिर भी साध्य साधन का विपर्यास संभव है। योग्यतावश से अमुक व्यक्ति की यह क्रिया साध्य है और अमुक का यह साधन है इस तरह के जान होते हुए भी जब साध्यसाधनभाव में व्यत्यास हो जाता है उस क्रियाव्यतिहार कहते हैं। वस्तुतः क्रिया अभी करने वाले को अभीष्ट रहती है 'मैं इस क्रिया को करूँगा' इस तरह के विचार उसके मन में रहते हैं तभी कोई दूसरा व्यक्ति उस क्रिया को करने लग तो क्रिया व्यतिहार होता है जैसे व्यतिलुनीते। इसका अभिप्राय है कि अय द्वारा काटे जाने वाले धान को पहले ही कोई दूसरा काट रहा है। यही आत्मनपद से यही व्यत्यास द्योतित है। फलतः क्रियाव्यतिहार भी उपग्रह माना जाता है। क्रिया व्यतिहार में तो आत्मनपद होता है परन्तु साधनकर्म व्यतिहार में नहीं होता जैसे देवदत्तस्य धाय व्यतिलुनीते (देवदत्त द्वारा सग्रहीत धाय का कोई अय सग्रह कर रहे हैं)। यही अय सम्बन्धी धाय का अय द्वारा सग्रह किया जाने के कारण साधन-



कर्म-व्यतिहार है। इसे परस्मपद से ही व्युत्पन्न किया जाता है। कभी कभी परस्परकरण भी त्रिया व्यतिहार होता है जैसे—'सप्रहुरत राजान'। इस वाक्य में एक ही त्रिया सचारिणी सी जान पड़ती है। त्रिया व्यतिहार प्रायः उपसर्ग से द्योतित किया जाता है (उपसर्गाश्च प्रायः कर्म-व्यतिहारद्योतनाय प्रयुज्यन्ते—कण्ट, महाभाष्यप्रदीप १।३।१६) उपसर्गों में भी प्रायः व्यति (वि और अति) ही त्रिया-व्यतिहार के लिए प्रयुक्त होते हैं। कभी कभी सम भी प्रयुक्त होता है। त्रिया व्यतिहार प्रायः अनेक क्त क होता है इसलिये उसके लिये त्रियाशब्द सदा बहुवचन में ही होता है ऐसा कुछ लोग मानते हैं। किन्तु 'अया व्यतिस्तु तु ममापि धर्म' जस वाक्या में एकवचन का प्रयोग भी देखा जाता है।

### विषयभेद के आधार पर त्रिया विशेष उपग्रह रूप में

एक ही त्रिया विषयभेद से भिन्न भिन्न मान ली जाती है और उसके भिन्न स्वरूप आत्मनपद और परस्मपद से द्योतित किया जाता है। पचति और पचन में अन्तर है। पचति शब्द में परस्मपद इस बात का द्योतक है कि पकाने वाले की पकाने की त्रिया जीविका रूप में है वह केवल भृत्य की तरह का व्यापार है। यहाँ प्रधान त्रिया फल क्त गामी नहीं है भृत्य के लिये वेतन मात्र फल है। किन्तु पचते में आत्मनपद से यह ध्वनित होता है कि पाक त्रिया का प्रधान फल कर्त्ता का मिलना। कर्त्ता अपने लिये ही पका रहा है। विषयभेद के आधार पर त्रिया का भेद वाक्य में भी दिखाई दे सकता है। जस स्व यन् यजत और स्व यन् यजति। यह भ्रम हो सकता है कि परस्मपद से द्योतित (यजति) प्रधान त्रिया फल क्त गामी नहीं होगा। इस भ्रम के निवारण के लिये ही विभाषापदना प्रतीयमान' (१।३।७७) सूत्र की आवश्यकता है। अर्थात् उपपत्ति (समीप में उच्चरित न कि पारिभाषिक) से द्योतित त्रियाफल क्त गामी होगा चाहे वह आत्मनपद से द्योतित हो अथवा परस्मपद से। फलतः स्व कट करोति और स्व कट कुरुत में फल की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है।<sup>५</sup> वस्तुतः इन वाक्यों में प्रधानफल का क्त गामित्व के रूप में चाहे स्व शब्द की शक्ति के कारण होता है। अतः विषयभेद से त्रिया भेद के आधार पर कही कही त्रियाविशेषण भी उपग्रह हो सकते हैं।

इस प्रसंग में महाभाष्यकार ने यह प्रश्न उठाया है कि याति वाति जसी त्रियाया में आत्मनपद क्या होता है। क्याकि जय त्रिया फल क्त अभिप्राय वाता (क्त गामी) हो आत्मनपद होता है। एक तरह से सभी त्रिया फल क्त अभिप्राय वात होते हैं। हमका समाधान स्पष्ट उद्घाटन किया है। उनका कहना है कि उन धातुया में आत्मनपद होगा जिनके त्रिया फल क्त अभिप्रायवात और अन्त अभिप्राय वात भी होंगे। या वा जस धातु क्त गामी और अन्त गामी भी त्रिया फल

वाले नहीं हैं। इसलिये इनसे आत्मनमद नहीं होता। पाणिनि ने, महाभाष्यकार के अनुसार एम भी स्वरित जित धातु पड़े है जिनके क्रियाफल क्त गामी भी हैं और अवन - गामी भी हैं। फलतः स्वरितजित क्त भिप्राय क्रियाफले १।१।७२ इस सूत्र में स्वरितजित की आवश्यकता नहीं है।<sup>६</sup> यद्यपि पाणिनि ने धातुआ म अ आदि अनुबन्ध को लक्ष्य कर ही स्वरितजित् ग्रहण किया होगा और इस दृष्टि से स्वरितजित की साधकता भी है परन्तु प्रत्याख्यान के पक्षपाती अकार आदि अनुबन्ध को धातु की स्वाभाविक शक्ति के दायक मानते हैं (स्वाभाविको हि धातूना शक्ति निवृत्तविषया अकाराद्यनुबन्ध तदवगमाय कृता गणकार — हेलारान उपग्रहसमुद्देश ११)। भत हरि के अनुसार अकार आदि अनुबन्ध स्मरणाधिक हैं। जा लोग केवल प्रयाग स धातु के स्वाभाविक अर्थ के समझन में ग्रममय हैं उनको] लिय अनुबन्ध का विद्यास किया गया है। प्रयागन के लिये उनकी आवश्यकता नहीं है

अनुबन्धश्च सिद्धेऽर्थे स्मृत्ययमनुपपद्यते<sup>७</sup>

कुछ लोग के अनुसार स्वाय की दृष्टि से जब क्रिया आरम्भ की जाती है आत्म नेप होता है। पराय की दृष्टि से जब क्रिया का आरम्भ होता है परम्पद होता है परन्तु एक तरह से सभी क्रिया स्वाय के लिये ही होती हैं। महाभाष्यकार ने इसे इस रूप में व्यक्त किया है—'सभी व्यक्ति अपने अपने लाभ के लिये ही क्रिया में प्रवृत्त होते हैं। जा गुरु की सेवा निरन्तर गत किया करते हैं वे भी वस्तुतः अपने स्वाय के लिये ही ऐसा करते हैं। हम पुण्य मिलेगा और प्रशंसा होकर गुरु हम पढावेगा ऐसी उनकी भावना गुरु सेवा में अन्तर्हित रहती है। जा कमकर (कमकर) हैं वे भी स्वाय भावना से ही काम करते हैं। हम अन्न-वस्त्र मिलेंगे और फटकार न सुननी पड़ेगी ऐसी उनकी अभिलाषा रहती है। गिल्पी भी वेतन और मित्र की अभिलाषा से ही अपने काम में प्रवृत्त होते हैं।' स्वायता ही पारमार्थिक (सत्य) है और परायता अमत्य है। अतः कुछ लोग स्वायता-परायता को विवक्षाधीन मानते हैं। कुछ लोग स्वायता में स्वाभाविक प्रवृत्ति हाने के कारण उस विवक्षा निमित्त नहीं मानते, केवल परायता को विवक्षा निबन्धन मानते हैं। कुछ लोग प्रधानफल की दृष्टि से स्वायता और परायता दोनों को वास्तविक मानते हैं। कथन न स्वायपरायता की दृष्टि से भी स्वरितजित ग्रहण को प्रत्याख्यान माना है क्योंकि जहाँ स्वाय पराय दोनों की विवक्षा होगी वही सूत्र की प्रवृत्ति होगी। यानि आदि क्रियाआ म परायता सम्भव नहीं है इसलिये वहा आत्मनेपद की प्राप्ति ही न होगी। फलतः उपयुक्त सूत्र में स्वरितजित ग्रहण की आवश्यकता नहीं है।

६ महाभाष्य १।१।७०

७ वाक्यपथ्य ३, उपग्रहसमुद्देश १२

८ महाभाष्य, ३।१।२६



साहचर्य में और वाक्याथ के पवालाचन में समझ पड़ता है। ऐसे उदाहरणा में अथ क सामर्थ्य में जिम अर्थ की उपनिधि हानी है उसकी आत्मनपद से ही उपनिधि का भ्रम होना स्वाभाविक है। और इस भ्रान्ति के आधार पर आत्मनपद और णिच् के विकल्प का मिथ्यात्व खड़ा हुआ। परन्तु नागों इस मन से महमन नहीं हैं। उनके मन में विस्तृत-उक्ति अमंगल है। वपन, विनुत आदि प्रमाण अन्तर्भावितव्यय के आधार पर उपपन्न हो सकते हैं। अथवा प्रकरण आदि के वन पर उनका तात्पर्य समझा जा सकता है और इस तरह का वान परम्परा के प्रयोगों के साथ भी दिखाया जा सकता है—

चिनुते इत्यादिप्रयोगश्च अन्तर्भावितव्ययतया उपापाद्य प्रकरणादिक च तात्पर्यग्राहकम् । कदाचित् परस्मैपदोऽपि तत् प्रतीत्या तस्यावश्यकत्वाच्च । वस्तुतः णिच् प्रेरणावाचो । किञ्च सामान्यविहितस्य णिचो धातुविनेपाद विहितेनात्मनेपदेन बाध एवोचितः ।<sup>१</sup>

अनेक अभिप्राय क्रियाएँ में भी आत्मनपद देखा जाता है यदि अण्यन्तावस्था का कम ध्यान में कम होता हुआ भी कर्त्ता के रूप में व्यवहृत हो। जैसे आराहण हस्ती स्वयमेव । अण्यन्तावस्था में यह वाक्य आराहति हस्तिन हस्तिपका के रूप में था। हस्तिन आदि कम था। वही कम ध्यन्तावस्था में कम होता हुआ कर्त्ता हो गया है। दानिए यहा आत्मनपद है। एक ही समय में एक ही शब्द कम और कना दाना कम हो सकता है? उसका उत्तर यह है कि धम भेद से ऐसा सम्भव है। एक वस्तु धम है दूसरा निवशा धम है। हस्ती पर आरोहण किया जाता है वह आरह्य है, अतः वस्तु धम के कारण उसमें कम है। स्वातन्त्र्य का विवक्षा में उसमें वनत्व भी है। आरह्यक रह धातु से दा क्रियाएँ अवगत हानी है यम्भवन (नीच भुक्ता) और यम्भावन (भुक्वाथ जाता)। यम्भवन क्रिया में हस्ती कर्त्ता है। यम्भावन क्रिया में हस्तीपद कर्त्ता है। भुक्त हुए हाथी का हस्तीपद (पित्रवान) भुक्ताना है। किन्तु अच्छी तरह से मित्राया हुआ और मरल हाथी यम्भवन क्रिया में अनुकूल हो जाता है। उस शब्द में हस्ती हस्तीपद के प्रयोजक जाना है और हस्तीपद प्रयोज्य जाना है। मुझ पर आराहण करो' इस भावना में हस्ती हस्तीपद का प्रयोजन जाना है। प्रयोज्य प्रयोजक भाव की विवक्षा में णिच् जाना है। पुन हाथी शब्द का वृत्त हो सकता है कि उस किसी प्रयोग की अपेक्षा है। उस अवस्था में यह वाक्य यम्भवन मात्र है और इस ही समय पर आराह्यत हस्ती स्वयमेव प्रमाण किया जाता है। प्रयोग प्रयोजक भाव की निवृत्ति वन पर भी णिच् की निवृत्ति नही हानी। क्योंकि निवृत्ति के कारण का यथा अभाव है। उस देवदत्त के व्यापार की निवृत्ति होने पर भी 'पच्यत आदन स्वयमेव' कहते हैं अथवा पच की पाक में निवृत्ति

१ महाभाष्यप्रयोगोद्योत ११३।७० पृष्ठ २२१, गुग्गुलु शास्त्री संपादन ।

नहीं होती वैसे ही प्रयोज्यप्रयोजक 'यापार' के निवृत्त हो जाने पर भी णिच् की निवृत्ति नहीं हाता। कमकत की अवस्था को भत हरि ने पचमी अवस्था मानी है। अथ विभाग भूमि की अंतिम अवस्था पाचवी अवस्था मानी जाती है और वह प्रायोगिक होती है —

यावन्तीषु सोपानस्थानीयासु पद विन्यस्येय प्रायोगिकी पयतभूमि प्राप्यते ता अंतरालभाविनो गम्यमाना भूमयोऽवस्थाशब्दाच्चा ।<sup>११</sup>

'यग्भवन' और 'यग्भावन' दो रूप शुद्ध रह (णिच् रहित रह) से प्रतीत होते हैं। ये दो रूप णिच् सहित रूप से भी व्यक्त किए जाते हैं। ये चार अवस्थाएँ हैं। पाचवी अवस्था कमकत अवस्था से चोखित होती है

यग्भावनना 'यग्भवन' रहो गुद्धे प्रतीयते ।  
 'यग्भावनना' 'यग्भवन' ण्यतऽपि प्रतिपाद्यते ॥  
 अवस्था पचमीमाहु ण्यये ता कमकतरि ।  
 निवृत्तप्रपणाद धातो प्राकृतेऽर्थे णिजुच्यते ॥<sup>१२</sup>

- (१) आरोहति हस्तिन हस्तिपका,
- (२) आरुह्यते हस्ती स्वयमेव
- (३) आरोह्यति हस्तिन हस्तिपका,
- (४) आरोह्यत हस्ती स्वयमेव ।

इन वाक्या में एक ही 'यापार' को सौकाय असौकाय के आधार पर विभिन्न रूपा में व्यक्त किया गया है। कयट न इसे एक दूसरे उदाहरण से स्पष्ट किया है —

- (१) लुनाति वेदार दवदत्त
- (२) लूयत वेदार स्वयमेव,
- (३) लायवत वेदार स्वयमेव ।

इनमें प्रथम दो वाक्या का कमकर्ता ण्यत वाले तीसरे वाक्य में भी कमकर्ता है। ऐसा इसलिए होता है कि लुनाति क्रिया का अथ द्विभाभवन और द्विभाभावन भी है।

लुनाति वेदार दवदत्त ऐसा कहन से खण्ड होत हुए धान को खण्ड खण्ड कर रहा है ऐसा अर्थ प्रतीत होता है। जब धान के सोमार्थातिगय को प्रकट करने की इच्छा होती है दवदत्त व 'यापार' की विवक्षा नहीं की जाती है। तब लुनाति क्रिया का अर्थ केवल द्विभाभवन है। धातु के अनेक अर्थ होत हैं इस आधार पर ऐसा कहा जाता है। अथवा भिन्न भिन्न अर्थ वाले धातु वस्तुन भिन्न भिन्न होत हैं। सादृश्य के कारण व एक-स जान पडत है। अस्तु द्विभाभवन में वेदार का कतत्व है उसमें कम-काय

११ हलाराज वाक्यपटाय साधनमनुषं रा ५० २११, महामाध्यप्रदीपोद्योन १।१।६७

१२ वाक्यपटाय साधनमनुषं रा ५६ ६०

का अतिदेश किया जाता है। फलतः 'लूयते केदार स्वयमेव' प्रयोग उपपन्न होना है। जहाँ पर देवदत्त हाथ में हुम्बा (दान) लिए दिखाई देता है वहाँ भी सौकाय की विवक्षा से उपर्युक्त वाक्य का प्रयोग किया जाता है। सूत्र की किरणा से सूत्रे हुए जजर धान के डठल स्वयं विशीण हो जाते हैं—उह काटन में कुछ भी कठिनाई नहीं पड़ती। यह दूसरी अवस्था है। पहली अवस्था में केदार के द्विधाभवन की बुद्धि होनी है केदार में काट जाने की योग्यता स्पष्ट कर ही व्यक्ति उसमें प्रवृत्त होता है। द्वितीय अवस्था में यह भाव भनकना है कि धान अथ द्वारा नहीं स्वयं अपने आप ही कट रहा है। इस अवस्था में भी स्वयं पद कहने की विशेष आवश्यकता नहीं है। 'लूयते केदार' इतना पर्याप्त है। क्योंकि यदि स्वयं का अर्थ अपने द्वारा है तो अपनी अपात्ता से कमल है ही। अथवा 'स्वयमेव' शब्द से अपना करणत्व प्रतिपादन किया जाता है न कि वनत्व। प्राचीन वक्तिकार स्वयं पद से अर्थ वर्त्ता का परिहार समझते थे। इसके बाद तीसरी अवस्था आती है। द्विधाभवन अथ वाली लुनाति क्रिया में देवदत्त प्रयोजक व्यापार में निश्चय उपपन्न होता है और 'लावयति केदार देवदत्त' यह वाक्य सामन्य आता है। इस वाक्य का वही अर्थ है जो 'लुनाति केदार देवदत्त' इस वाक्य का है। 'लुनाति केदार' इस अवस्था की अपात्ता तीसरी अवस्था में निश्चय विशेष है। निजयव्यापार प्रकृत्यर्थ और फलसमानाधिकरण व्यापार के त्याग में चतुर्थी अवस्था होती है। स्वयं द्विधाभवन में प्रवृत्त केदार को क्षेम के लिए काटने वाला (लविता) प्रवृत्त करता है। यह चतुर्थी कथा है। इसके बाद सौमार्थ निशय की दृष्टि से जब देवदत्त के व्यापार की भी विवक्षा नहीं होती है द्विधाभवन काय लावयति क्रिया में समझा जाता है। लूयते केदार स्वयमेव का जो अर्थ है वही अर्थ 'लावयते केदार स्वयमेव' का है। यही पंचमी अवस्था है। इसमें प्रयाजन व्यापार की अविवक्षा होती है। प्रयोज्य प्रयाजकभाव की निवृत्ति हान पर भी निश्चय की निवृत्ति नहीं होती। उपाय के निवृत्त हान पर भी उपय निवृत्त नहीं होता। सिद्ध शब्द की व्युत्पत्ति के लिए प्रकृति प्रत्यय की कल्पना करनी पड़ती है और अर्थ का आदान या त्याग भी उसी दृष्टि से किया जाता है। लौकिक व्यवहार में सौकाय की अपेक्षा में प्रायः 'लावयते केदार' इतना ही कहते हैं। यह पञ्च व्याकरण संप्रदाय में 'निवृत्तप्रेषण पक्ष' का नाम से प्रसिद्ध है। इससे कुछ भिन्न एक दूसरा पक्ष है जिस 'अप्यारोपितप्रेषण पक्ष' कहा जाता है।

अप्यारोपितप्रेषण पक्ष के अनुसार प्रक्रिया या है—

- (१) लुनाति केदार देवदत्त
- (२) लावयति केदारा देवदत्तेन,
- (३) लावयते केदार स्वयमेव।

यहाँ दूसरे वाक्य में केदार के व्यापार में निश्चय हुआ है। काटते हुए देवदत्त का प्रयोक्तृ केदार हो रहा है सौकार्यानिर्णय से। प्रयोज्यप्रयोक्तृ की अविवक्षा से तीसरा वाक्य उपपन्न होता है।

निवृत्तप्रेषणपक्ष और अप्यारोपितप्रेषणपक्ष में व्याकरण की दृष्टि से यह

तनी होनी उस ही प्रयोज्यप्रयोजन व्यापार का निमित्त है। जान पर भी निम्न की विवृति नही जाना। यमस्तु की अत्रय्या को भ्रातरि १ पत्नी अत्रय्या माना है। अथ विभाग भूमि का अतिम अत्रस्था पाववा अत्रय्या मानी जानी है और यदु प्राप्ता गिर हानी है —

यावतीयु सोपानस्यानीयागु पद विमस्येय प्रायोगिकी पयतभूमि प्राप्यते ता अतरालभाविषो गम्यमाना भूमयोऽथस्यागववाच्या ।<sup>११</sup>

‘यमभवन और ‘यग्भावा दा रूप शब्द गृह (गिर रहित गृह) में प्रतीत होता है। य दो रूप निच गतिन रूप में भी व्यक्त किए जाते हैं। य चार अत्रय्याएँ हैं। पाववा अत्रय्या यमका अत्रय्या से शीतिन होती है

‘यग्भावाता ‘यमभवन रहो गृहे प्रतीयते ।

‘यग्भावाता ‘यमभवन प्यतेऽपि प्रतिपाद्यते ॥

अत्रय्या पचमीमाहु प्यये ता कमक्तरि ।

निवृत्तप्रयणाद धातो प्राकृतेऽयं निजुच्यते ॥<sup>१२</sup>

(१) आरोहति हस्तिन हस्तिपत्ता

(२) आरुह्यत हस्ती स्वयमेव

(३) आरोह्यति हस्तिन हस्तिपत्ता

(४) आरोह्यते हस्ती स्वयमेव ।

इन वाक्या में एक ही व्यापार का मोक्षाय अमोक्षाय के आधार पर विभिन्न रूपा में व्यक्त किया गया है। कयट ने इस एक दूसरे उदाहरण से स्पष्ट किया है —

(१) तुनाति केदार देवदत्त

(२) तुयन केदार स्वयमेव

(३) लापवते केदार स्वयमेव ।

इनमें प्रथम दो वाक्या का कमकर्ता प्यत वाले तीसरे वाक्य में भी कमक्ता है। ऐसा इसलिए होता है कि तुनाति लिया का अथ द्विधाभवन और द्विधाभावन भी है।

तुनाति केदार देवदत्त ऐसा कहने से स्पष्ट होत हुए धान को खण्ड खण्ड कर रहा है ऐसा अर्थ प्रतीत होता है। जब धान के सौकायातिगय को प्रकट करने की इच्छा होती है, देवदत्त का व्यापार की विवक्षा नही की जाती है। तब तुनाति लिया का अर्थ केवल द्विधाभवन है। धातु के अनेक अर्थ होते हैं इस आधार पर ऐसा कहा जाता है। अथवा भिन्न भिन्न अर्थ वाले धातु वस्तुतः भिन्न भिन्न होते हैं। साहचर्य के कारण वे एक से जान पड़ते हैं। अस्तु द्विधाभवन में केदार का कत व हैं उसमें कम वाक्य

११ हेल्मराज वाक्यपदीय साधनसमुद्देश ५० २११ महाभाष्यपदापीछांत १।३।६७

१२ वाक्यपदीय साधनसमुद्देश ५१ ६०

का अतिदेश किया जाता है। फलतः 'लूयते केदार स्वयमेव' प्रयोग उपपन्न होता है। जहाँ पर देवदत्त हाथ में हनुमान (दान) लिए दिखाई देता है वहाँ भी सौकाय की विवक्षा से उपयुक्त वाक्य का प्रयोग किया जाता है। सूत्र की किरणा से सूखे हुए जजर धान के टठल स्वयं विशेषण हो जाने हैं—उह काटने में कुछ भी कठिनाई नहीं पड़ती। यह दूसरी अवस्था है। पहली अवस्था में केदार के द्विधाभवन की वृद्धि होती है केदार में काट जान की योग्यता देख कर ही व्यक्ति उमम प्रवृत्त होता है। द्वितीय अवस्था में यह भाव भवकता है कि धान अथ द्वारा नहीं स्वयं अपने आप ही कट रहा है। इस अवस्था में भी स्वयं पद कहने की विशेष आवश्यकता नहीं है। 'लूयत केदार' इतना पर्याप्त है। क्योंकि यदि स्वयं का अर्थ अपने द्वारा है तो अपनी अपक्षा से कमतर है ही। अथवा स्वयं का अर्थ अपना करणत्व प्रतिपादन किया जाता है न कि कर्तृत्व। प्राचीन वक्तिकार स्वयं पद में अर्थ कर्त्ता का परिहार समझते थे। इसके बाद तीसरी अवस्था आती है। द्विधाभवन अथ वाली लुनाति किया में देवदत्त प्रयोजक व्यापार में निश्च उत्पन्न होता है और 'लावयति केदार देवदत्त' यह वाक्य सामने आता है। इस वाक्य का वही अर्थ है जो लुनाति केदार देवदत्त 'इस वाक्य का है। लुनाति केदार में इस अवस्था की अपेक्षा तीसरी अवस्था में निश्च विशेष है। निजयव्यापार प्रकृत्यर्थ और पक्षसमानाधिकरण व्यापार के त्याग में चतुर्थी अवस्था हाती है। स्वयं द्विधाभवन में प्रवृत्त केदार को क्षेम के लिए काटने वाला (लविता) प्रवृत्त करता है। यह चतुर्थी कक्षा है। इसके बाद सौकार्यानिर्णय की दृष्टि से जब देवदत्त के व्यापार की भी विवक्षा नहीं होती है, द्विधाभवन काय लावयति किया में समझा जाता है। लूयत केदार स्वयमेव का जो अर्थ है वही अर्थ लावयत केदार स्वयमेव का है। यही पंचमी अवस्था है। इनमें प्रयाग्न व्यापार की अविवक्षा हाती है। प्रयाग्न प्रयाजकभाव की निवृत्ति होने पर भी निश्च की निवृत्ति नहीं हाती। उपाय के निवृत्त होने पर भी उपय निवृत्त नहीं होता। सिद्ध शब्द की व्युत्पत्ति के लिए प्रकृति प्रत्यय की कल्पना करनी पड़ती है और अर्थ का आदान या त्याग भी उसी दृष्टि से किया जाता है। लौकिक व्यवहार में सौकार्य की अपेक्षा से प्रायः 'लावयते केदार' इतना ही कहते हैं। यह पक्ष व्याकरण मप्रदाय में 'निवृत्तप्रेषण पक्ष' के नाम से प्रसिद्ध है। इससे कुछ भिन्न एक दूसरा पक्ष है जिस 'अध्यारोपितप्रेषणपक्ष' कहा जाता है।

अध्यारोपित प्रेषण पक्ष के अनुसार प्रक्रिया या है—

- (१) लुनाति केदार देवदत्त
- (२) लावयति केदारो देवदत्तेन
- (३) लावयत केदार स्वयमेव।

यहाँ दूसरे वाक्य में केदार के व्यापार में निश्च हुआ है। काटते हुए देवदत्त का प्रयोजक केदार हो रहा है सौकार्यानिर्णय में। प्रयाग्नप्रयोजक की अविवक्षा से तीसरा वाक्य उपपन्न होता है।

निवृत्तप्रेषणपक्ष और अध्यारोपितप्रेषणपक्ष में व्याकरण की दृष्टि से यह



नहीं होती वस ही प्रयाज्यप्रयाज्य व्यापार क निवृत्त हो जान पर भी णिच् क निवृत्ति नहीं होती । कमवत् का अर्थव्या का भन हरि न पचमी अर्थव्या माना है । अथ विभाग भूमि का अतिम अवस्था पाचवा अवस्था मानी जानी है और वह प्राया गित होती है —

पाचनीय साधानस्थानीयानामु पद विन्यसेय प्रायोविकी पयत्तभूमि प्राप्यते ता अंतरालमाविमो गम्यमाना भूमयाऽवस्थागदवाच्या ॥<sup>११</sup>

‘यमवत और ‘यमावत दो रूप ‘पुद्ध रह (णिच् रहित रह) म प्रतीत हान हैं । य दो रूप णिच् गन्ति रूप स भी व्यक्त किए जात है । य चार अवस्थाएँ हैं । पाचवा अवस्था कमवत् अवस्था स अतिवृत्त होती है

‘यमावता ‘यमवत रहो ‘पुद्धे प्रतीयते ।

‘यमावता ‘यमवत प्यतेऽपि प्रतिपाद्यते ॥

अवस्था पचमामाहु प्यय तां कमवतरि ।

निवृत्तप्रेयणाद धातो प्राकृतेऽर्थे णिजुच्यते ॥<sup>१२</sup>

(१) आरोहन्ति हस्तिन हस्तिपता

(२) आरोहन्त हस्ती स्वयमेव

(३) आरोहयन्ति हस्तिन हस्तिपता

(४) आरोहयन्त हस्ती स्वयमेव ।

इन वाक्या म एक ही व्यापार को सोनाय असौकाय के आधार पर विभिन्न रूपा म व्यक्त किया गया है । कयट ने इसे एक-दूसरे उदाहरण से स्पष्ट किया है —

(१) लुनाति केदार वनत्त

(२) लयते कदार स्वयमेव

(३) लायवत् केदार स्वयमेव ।

यन्मे प्रथम दो वाक्या का कमवत्ता प्यन्त वाले तीसरे वाक्य म भी कमवत्ता है । ऐसा इसलिए होता है कि लुनाति क्रिया का अर्थ द्विधाभवन और द्विभाभावन भी है ।

लुनाति केदार वनत्त ऐसा कहने में खण्ड होत हुए धान का खण्ड खण्ड कर रहा है ऐसा अर्थ प्रतीत होता है । जब धान क सौकार्प्रतिगय का प्रकट करने की इच्छा होती है देवन्त क व्यापार की विवक्षा नहीं की जाती है । तब लुनाति क्रिया का अर्थ केवल द्विधाभवन है । धातु के अनेक अर्थ होते हैं इस आधार पर ऐसा कहा जाता है । अथवा भिन्न भिन्न अर्थ धातु धातु वन्तु भिन्न भिन्न होते हैं । माहृष्य के कारण व एक म जान पड़ते हैं । अन्तु द्विधाभवन मे केदार का वनत्व हैं उसम कम काय

११ हेलाराज वाक्यपदीय साधनसमुद् श ५० २११, महाभाष्यप्रकाशकोट १।१।६७

१२ वाक्यपदीय साधनसमुद् श ५१ ६०

वम ही वत अभिप्राय क्रियापन सविधान का उपलक्षण है। बिना किसी क्रिया के अनुष्ठान व कोई फल नहीं होता। याज्ञिक को स्वयं फल किसी क्रिया द्वारा ही संभव है। अतः कार्यभूत फल से कारणभूत क्रिया लपित होती है और ऐसी क्रिया से आत्मनेपद का विधान किया जाना है।

महाभाष्यकार ने उद्बुम्भाञ्चकार में आत्मनेपद की प्राप्ति का प्रश्न उठाया है। जिस तरह से यानि आदि क्रियाया में सविधान के अभाव में आत्मनेपद नहीं जाना है वम ही उद्बुम्भ व माय भी सविधान के अभाव में आत्मनेपद नहीं जाना चाहिये। उद्बुम्भ के सविधान वाचक न जाने के कारण उसका माय की करोति क्रिया भी सविधान के अर्थ में गृहीत न होगी। फिर भी महाभाष्यकार के सदेह से ऐसा मानना पड़ता है कि गन्धर्विक स्वभाव के बल उद्बुम्भ आदि भी कभी-कभी सविधान अर्थ में व्यवहृत होते हैं। उद्बुम्भ व सविधान से महयाग जाने के कारण उससे माय की करोति क्रिया भी सविधान अर्थ में माना जायगी। अतः आत्मनेपद की प्राप्ति संभव है। इसका परिहार आमप्रत्ययवत् कृजोऽनुप्रयोगस्य १।३।६३ भूत में पूर्व वत्सन् १।३।६२ से पूर्ववत् ग्रहण की अनुवृत्ति पर आम प्रत्ययवत् सूत्र का विध्ययक और नियमायक बना कर किया जाना है। यहाँ तात्पर्य यह है कि स्वरितत्रित में अनिरिक्त धातुया का सविधान में मन्था अयाग ही नहीं जाना कभी-कभी योग भी जाना है। फिर भी गन्धर्विक नियत जाने के कारण व सविधान जय आत्मनेपद जान में असफल होती है। इसी तरह निच याग्य अर्थ के अभिधान में समर्थ सभी धातुया में सविधान की प्रतीति नहीं होती। शब्द की अर्थ प्रत्यायन की शक्ति स्वाभाविक जाना है मुक्तिगम्य नहीं। एक ही क्रियाया से जिस पक्ष से साधन की अभिवृत्ति हो सकती है परन्तु वाचिक की अभिवृत्ति नहीं जानी। आत्मनेपद से लिंग की पुंस्त्व प्राप्ति की प्रतीति नहीं होती। आत्मनेपद से सन्ध्यायुक्त द्रव्यात्मक साधन का प्रतीति जानी है। त्वदन्त पक्षति में इसी आधार पर द्रव्य के साथ गामानाधिकरण्य माना जाता है और इसी आधार पर द्रव्यवादी आचार्य आप्याताय को भी द्रव्य ही मानते हैं। सबथा गन्धर्विक कही कही नियमित हो जाती है। फलन सविधान संभव जाने पर भी कुछ धातुया में आत्मनेपद नहीं हो पाता है।<sup>१२</sup>

सविधानाभिनयन क्रियापन क्या है। इस सम्बन्ध में भी मत हरित महाभाष्य के आधार पर विचार किया है। जिस अर्थ की सिद्धि के मत में रख कर कोई क्रिया आरम्भ की जानी है उस अर्थ की सिद्धि हो उस क्रिया का प्रधान फल है। सविधानाभिनयन क्रियापन में तात्पर्य इसी प्रधान फल से है। यजन क्रिया का फल स्वयं है। स्वयं की कामना से ही याज्ञिक यज क्रिया आरम्भ करता है। उस यज में काम करने का पुरोहित भद्र प्राप्ति स्वयं की दृष्टि से क्रिया में प्रवृत्त नहीं हुय है। उनके लक्ष्य दर्शना अथवा वक्तव्य है। इसलिये दर्शना द्रव्य अथवा वेत्तन लाभ (फल)

अंतर है कि पहल पक्ष के अनुसार णरणो यत्कम १।२।६७ इम सूत्र के विभा 'तावयत क्त्वार स्वयमव म आत्मनपदे मिद्ध हो गयता १ कमवभाव द्वारा । दूसरा पक्ष उपयुक्त सूत्र की सत्ता रहत ही सम्भव १ । दूसरी प्रक्रिया कमवभाव की प्राप्ति नहीं है । कुछ लोग आह्वयत हस्ती स्वयमव' म कमवभाव न्तिपात ह । कयट के अनुसार यह उपयुक्त नहीं है । क्याकि क्रिया का तात्त्विकविपदशन स अथवा गन्ताथ के आधार पर निश्चित होता है । य त्तेना ही वार आराहण क्रिया की कत स्थिता प्रतिपादन करत ह उगना कमस्थिता नहीं व्यक्त क है । क्याकि हस्तिनम आराहति, वक्षम आराहति, पत्रतम आराहति जस वाक्या कम के भव हान हुय भी आराहण म का रूपभेद नहीं जान पडता है । इन प्रयोग कम म किसी प्रकार का विपत्ता क्रियावृत्त नहा न्तिपाई न्ती है । धातु के द्वारा यहा कत गन ही क्रिया प्रतिपात्ति है कमगत नहीं । भाष्यकार न भी रह को गति विनियम अथ वाला मान कर गक का स्थक्रिया के का ही परिपुष्ट किया है ।<sup>१३</sup>

स्मरयति एव वतगुल्म स्वयमव म वाक्य म आत्मनपदे स्मरणाथक निषेध के कारण नहीं होता है । आरोहति हस्तिन हस्तिपना तान आराहति हम् इसम भी आत्मनपद वक्तिकार के अनुसार नहीं हाना चाहिय । पर तु भागवतिका यहा आत्मनपद का प्रयोग चाहत ह । माघ ने भी ऐस स्थला पर आत्मनपद का प्रयोग किया है

वत्तिकृता नेष्यते । भागवत्तिकारेण त्विष्यते । तथा माघ प्रयुक्ते करेणुरोह्यते निपादिनम इति ।<sup>१४</sup>

कही न्ती पचति जमी क्रियाग्रा स भी सविधान अथ की प्रतीति हाती है यद्यपि पच का प्रदान अथ गण्डुल की विभित्ति ह परंतु महाभाष्यकार ने हेतुमति ३।१।२६ के भाष्य म प्रपण और अव्यपण का भी पक्ष का अर्थ माना है । सविधान—अथ सामग्री सघटन रूप अथ के व्यक्त करने पर भी पचति के अर्थ म निश्च नहीं होता । प्रयोज्यप्रेषण की विवक्षा म निश्च हाता है और पाचयति प्रयोग उपपन्न हा है । अस्तु पचति स दवत्त के अधिध्वयण उदकासवन (चावल को जल से धोना आदि यापार यवन हात है पचत म सभी भाजन सम्भार यापार यवन होता है पाचयति से प्रयोक्तव्य प्रकट होता है । सविधान हा प्रप नहीं है । अपितु सविधान पूर्वक प्रेरण का प्रप कहत ह जिस करत दुय यक्ति प्रयोजक कहा जाता है सविधान के करत हुय भी जब तस वर प्रेरणा का वाय नहा करता, उस प्रयानक नहीं कहा जाता है ।

कत अभिप्राय क्रियाफल स सविधान क्रिया का निर्देश किया जाता है । जे तत्रात्र दृष्टवा वाच विमजेत वाक्य म नक्षत्र दशन कातविपय का उपलक्षण

यस ही वन अभिप्राय त्रिप्राप्त सविधान का उपलक्षण है। बिना किसी क्रिया के अनुष्ठान के कोई फल नहीं होता। याज्ञिक को स्वर्ग पत्र किसी क्रिया द्वारा ही संभव है। अतः वायभूत पत्र में कारणभूत क्रिया लक्षित होती है और ऐसी क्रिया में आत्मनोपपन्न का विधान किया जाता है।

महाभाष्यकार ने उद्बुम्भाच्चकार में आत्मनोपपन्न की प्राप्ति का प्रश्न उठाया है। जिस तरह से यानि आदि क्रियाओं में सविधान का अभाव में आत्मनोपपन्न नहीं होता है उस ही उद्बुम्भ का माय भी सविधान का अभाव में आत्मनोपपन्न नहीं होना चाहिए। उद्बुम्भ का सविधान बोधक न होना के कारण उसका साथ की करोति क्रिया भी सविधान का अर्थ में गृहीत न होगी। फिर भी महाभाष्यकार के सदेह से ऐसा मानना पड़ता है कि गत्यागति का स्वभाव केवल उद्बुम्भ आदि भी कभी-कभी सविधान अर्थ में व्यवहृत होते हैं। उद्बुम्भ का सविधान से सहयोग होने के कारण उसके साथ की करोति क्रिया भी सविधान अर्थ में मानी जायगी। अतः आत्मनोपपन्न की प्राप्ति संभव है। इसका परिहार आमप्रत्ययवत् कृत्राजुप्रयोगस्य, १।३।६३ सूत्र में पूर्व-प्रत्यय १।३।६२ से पूर्ववत् ग्रहण की अनुवृत्ति कर आम प्रत्ययवत् सूत्र का विध्यथक् और नियमाथक् बना कर किया जाता है। यहाँ तात्पर्य यह है कि स्वरित्वित्ति से व्यतिरिक्त धातुओं का सविधान में सवथा अयोग ही नहीं होता कभी-कभी योग भी होता है। फिर भी गत्यागति का नियत ज्ञान के कारण वे सविधान जव आत्मनोपपन्न लान में असफल होती हैं। इसी तरह निच याग्य अथ का अभिधान में समथ सभी धातुओं से सविधान की प्रतीति नहीं होती। शब्दों की अर्थ प्रत्यापन की शक्ति स्वाभाविक होती है युक्तिगम्य नहीं। एव ही क्रियागत सजम पचत सत्तो साधन की अभियक्ति हो सकती है परन्तु दा लिंग की अभियक्ति नहीं होती। आख्यात से लिंग की पुस्त्व आदि की प्रतीति नहीं होती। आख्यात से सत्यायुक्त द्रव्यात्मक साधन का प्रतीति होती है। देवन्त पचति में दमी आधार पर द्रव्य के साथ सामानाधिकरण्य माना जाता है और इसी आधार पर द्रव्यवादी आचार्य आख्याताय को भी द्रव्य ही मानते हैं। सवथा गत्यागति कहा कही नियन्त्रित हो जाती है। पत्रन सविधान संभव होने पर भी कुछ धातुओं में आत्मनोपपन्न नहीं पाता है।<sup>१५</sup>

सविधानोपलक्षण क्रियापत्र क्या है। इस सम्बन्ध में भी भग्न हर्गि ने महाभाष्य के आधार पर विचार किया है। जिस अर्थ की सिद्धि का मन में रख कर कोई क्रिया आरम्भ की जाती है उस अर्थ की सिद्धि ही उस क्रिया का प्रधान फल है। सविधानोपलक्षण क्रियापत्र में तात्पर्य इसी प्रधान फल से है। यजन क्रिया का पत्र स्वर्ग है। स्वर्ग की कामना से ही याज्ञिक यज्ञ क्रिया आरम्भ करता है। उस यज्ञ में काम करने वाले पुरोहित भक्ष्य आदि स्वर्ग की दृष्टि से क्रिया में प्रवृत्त नहीं होते हैं। उनसे लभ्य दक्षिणा अथवा वन है। इसलिये दक्षिणा द्रव्य अथवा वस्तु लाभ (फल)

होते हुए भी प्रधानफल नहीं है। महाभाष्यकार ने प्रधानफल के निणय के लिये कहा है कि जिस क्रिया के बिना जो फल सिद्ध न हो सकता हो उस क्रिया का वही फल प्रधान फल है। यत् फल यत् क्रिया स ही सम्भव है। अतः वही उस क्रिया का मुख्य फल है। दक्षिणा और वतन तो यत् क्रिया के बिना भी अन्य तरह से उपलब्ध हो सकते हैं। अतः वे यत् क्रिया के प्रधान फल नहीं हो सकते।

नचातरण यजि यजिफल वपि वा वपिफल लभते (लभते) । याजका पुनरतरेणापि यजि गा लभ ते भतकाश्च पादिकर्मांत ।<sup>१६</sup>

यह अभिप्राय कत अभिप्राय क्रियाफल से निकलता है। फलतः सविधाता की दृष्टि से आत्मनेपद (यजत) और दक्षिणा लुध याजका की दृष्टि से परस्मैपद (यजति) का प्रयोग उपपन्न होता है।

सविधान में आत्मनेपद मानने पर भी जहाँ स्वामी और भक्त्य दोनों मिल कर एक ही व्यापार कर रहे हैं वहाँ सविधान के आधार पर आत्मनेपद आत्ति का निणय कैसे सम्भव है? क्योंकि स्वामीसाध्य व्यापार सामग्री सघटन (सविधान) रूप होगा और भक्त्य साध्य व्यापार प्रधान क्रिया रूप होगा इसलिये एक धातु से भिन्न व्यापार का उदबोध न हो सकेगा। साथ ही स्वामी (सविधाता) की दृष्टि से आत्मनेपद किया जाय अथवा भक्त्य की दृष्टि से परस्मैपद यह सशय बना रहेगा। यह मान भी लिया जाय कि एक धातु के कई अर्थ सम्भव हैं और यह भी मान लिया जाय कि सविधान के अर्थ में पच से आत्मनेपद किया जाय और विक्लित्ति आदि सत्कार अर्थ में उससे परस्मैपद किया जाय फिर भी एक ही प्रयोग में विरुद्ध दो लकारों की उत्पत्ति ठीक से न हो सकगी भन हरि ने इसका समाधान अध्यारोप के द्वारा किया है। स्वामीगत धर्म का भक्त्य में आरोप किया जाता है। साहचर्य के सहारे ऐसा सम्भव है। आरोप से दास स्वामी के तुल्य हो जाता है। फलतः दा स्वामी के वत त्व हान पर सविधान के अर्थ में पच से आत्मनेपद होगा। 'स्वामिगामी पचेत्'।

इस तरह का आरोप भन हरि के अनुसार अन्यत्र भी देखा जाता है। जैसे, प्लथ गन्त के साहचर्य में यग्राध में प्लक्षता मान ली जाती है। तभी एक दूसरे की अप्रभा में द्व द्व में उनमें द्विवचन का व्यवहार (प्लथयग्राधो) होता है। सानिध्य के कारण अर्थ में अर्थ का आरोप लाक और वेद दोनों में देखा जाता है। पुरोणा प्रचरन्ति इसमें यद्यपि गन्त पुरोडाग बहुत्व अर्थ में व्यवहृत है परन्तु एक पुरोणा के प्रसंग में भी उपमुक्त वाक्य कहा जाता है और संहारित पुरोणा भागा में बहुत्व के आरोप में ऐसा सम्भव हो पाता है। वही तरह तारा में छत्रिणा यानि जस प्रयाग मप्रति छत्रिसयाग न हान पर भी पटन के तम छत्रसबध के आधार पर ठीक मान लिया जान है।

कुछ वागा के अनुसार क्रियामात्र की विवक्षा में यत् परस्मैपद प्रयाग भा

उचित है 'स्वामिदासी पचत' ।<sup>१३</sup>

महाभाष्यकार ने एक स्थान पर कहा है कि एकांत में निष्क्रिय रूप में उप-चाप बंधे व्यक्ति के लिये कभी-कभी कहा जाता है—

पचन्ति ह्येन वृषति" (पाच हला से जानवा रहा है गन्त, पाच हला से जात रहा है) ।

इस वाक्य में वृषति शब्द उपयुक्त नहीं है । चुपचाप एकांत में बठा व्यक्ति एक साथ पाच हल नहीं चला सकता । अतः यहाँ अभिप्राय है कि उसके पाच हल चलते हैं वह पाच हला से खेती करवाता है । और यदि यह अभिप्राय है तो वृषति के स्थान पर 'कषयति' कहना चाहिए और यहाँ सविधान अथ होने के कारण आत्मनेपद भी होना चाहिए । जहाँ तक णिच् का (कषयति) का प्रश्न है, महाभाष्यकार ने यह समाधान किया है कि वृष केवल जोतना या विलेपन ही नहीं है इसका अर्थ जोतवाना विलेपन करवाना (प्रतिविधान) भी है । धातु के अन्त अर्थ होने के कारण वृष का अर्थ प्रयोजक व्यापार भी हो सकता है । उपपत् के साहचर्य से धातु से ही प्रयोजक व्यापार का व्यक्त हो जाना के कारण णिच् नहीं हुआ है । जहाँ तक आत्मनेपद का प्रश्न है वह भी भक्त हरि के अनुसार जटिल नहीं है । विभाषोपपदेन प्रतीयमाने १।३।७—इस सूत्र में प्राप्तविभाषा पक्ष मानने पर वृषति में आत्मनेपद का अभाव संभव है

अत्र तूपपदेनायमथभेद प्रतीयते ।

प्राप्ते विभाषा श्रियते तस्मान्नास्त्यात्मनेपदम् ॥<sup>१४</sup>

पाणिनि ने जितना आत्मनेपद पर विचार किया है उतना परस्मपद पर नहीं । उनका नेप में परस्मपद का विधान (नेपात् क्तरि परस्मपदम् १।३।७८) इतना यापक है कि विचार का अवकाश भी नहीं रह जाता । अतः भक्त हरि ने भी आत्मनेपद सम्बन्धी मायताओं का जोस विश्लेषण किया है वही परस्मपद सम्बन्धी मायताओं का नहीं किया है ।

आत्मनेपद और परस्मपद के लिये कभी आत्मनेभाष और परस्मभाष शब्द भी प्रचलित थे । कात्यायन ने इन दोनों शब्दों का उन्मूलन किया है—आत्मनेभाष परस्मभाषयोरपसख्यानम् ।<sup>१५</sup> पाणिनि को भी यह शब्द नात थे ऐसा उनका क्या करणाख्याया चतुर्थ्या' ६।३। सूत्र से जान पड़ता है । परन्तु कयट ने टिप्पणी दी है कि आत्मनेभाष और परस्मभाष शब्द किसी व्याकरण में पारिभाषिक रूप में नहीं पड़े गये हैं परन्तु इन शब्दों का व्यवहार होता आया है । आत्मनेपद की धातुओं को क्या करण आत्मनेभाष शब्द से और परस्मपद की धातुओं को परस्मभाष शब्द से व्यवहृत

१३ वाक्यपदीय ३, उपग्रहसमुद्देश १६२

१४ वही, उपग्रह समुद्देश ७

१५ वार्तिक, ६।३।७

करन है। तात्पर्यपरिचित ६।१०३ म भी उपपु वत प्राप्ति की पृष्टि का मद् ५ —

परस्मपद भाषा उचिन्तरस्य इति परस्ममाय । एवामात्मनेभाष ।

पदगणतोषो विपातनात् । धातुविशेषाणामिदो व्यपदगी ।<sup>२१</sup>

सुपेण न पाणिनि शीघ्रं सवयमा म म्म मयथ म कुछ भन् म्मति ह्य निम्न-  
लिखित कारिकाएँ निम्नी है

परस्मपद्यते यस्मात् तत् परस्मपः स्मृतम् ।

आत्मनपद्यते यस्मात् तदवाप्तात्मनपदम् ॥

इत्थमवयवसंज्ञाया विधानेनैव लभ्यते ।

मत् हि पाणिनेरेव सम्मत सवयमण ॥

मवयवयसंज्ञाया प्राया वतिरिह्यते ।

अतः न पाणिन सूत्र सम्मत सवयमण ॥<sup>२२</sup>

अस्तु उपग्रह सः आत्मनपः और परस्मपः क अथ म हः मा हा गया था ।  
अध्यायाया म उपग्रह गः का व्यवहार ग हान क कारण उमका व्यवहार ही एक  
तरह म व द हा गया परन्तु भन् हरि न आख्याताय क विवचन म उपग्रह की सामान्य  
करना उचिन् समझा ।

## पुरुष विचार

उपग्रह का तरह पुरुष भी पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्यों का पारिभाषिक  
गः है

य कतकमविशेषणभूत स पुरुष इति पूर्वाचार्या प्राहुः ।<sup>१</sup>

पुरुष गः का पारिभाषिक अथ म प्रयोग निश्चय म मिलता है

तत्र परोक्षकृता सर्वाणि नाम विभक्तिभि युज्यन्ते प्रथम पुरुषश्चाख्यातस्य ।  
अथ प्रत्यक्षकृता मध्यपुरुषयोगास्त्वमिति चतेन सवनाम्ना । अथाध्यात्मिकवय उत्तम  
पुरुष योगा अहमिति चतेन सवनाम्ना ।<sup>२</sup>

काण्डवृत्तन सूत्र म भी पारिभाषिक पुरुष गः का व्यवहार हुआ था ।  
जैसे—

धातु साधने दिशि पुरुषे चिति च तदाख्यातम् ।<sup>३</sup>

२० गः भाष्यप्रदाय ६।१।७

२१ टैकनिकल रूप परन्टैकनिक क्राव सरुत आमेर में उद्धृत, पृष्ठ १०३

२२ वायव्य व्याकरण ३।१।७६

१ हाराण, वायव्यप्रदाय ३, पुरुष समुदेश १

२ निरुक्त ७२

३ इस काशकाल क सूत्र होने में वषम प्रमाण ६, द्रव्य वायव्यप्रदाय टीका १।६६

पाणिनि न अग्न्यायी म पुष्प शब्द का व्यवहार पारिभाषिक अथ म नहीं किया है। परन्तु कात्यायन और महाभाष्यकार न पारिभाषिक पुष्प शब्द का व्यवहार किया है जैसे—

“परस्मपदसज्ञा पुष्पसज्ञा”—वातिक १।४।१  
न निष्ठा परस्यानुप्रयोगेण पुष्पोपग्रहो विगणितो  
स्यात्ताम्”—महाभाष्य ३।१।४०

पाणिनि ने पारिभाषिक पुष्प शब्द के स्थान पर प्रथम, मध्यम और उत्तम गण का प्रयोग किया है। ये शब्द भी पारिभाषिक हैं और वस्तुतः ये भी पूवाचार्यों के पारिभाषिक शब्द हैं।

प्रथममध्यमेत्यादि महासज्ञाकरण तु प्राचामनुरोधेन।\*

आत्मनपदस्य पुष्पशब्द म उसके अर्थप्रत्यक् और परगत्व गणित होता है। प्रत्यक् स्वगतत्वा कहते हैं और परगभाव सवाग्यगत का कहते हैं। त्व पचमि अह पचामि त्व-पाठ्यस अह पाठ्य जस वाक्या म मध्यम और उत्तम पुष्प का प्रत्यक् और परगत्व रूप क्त कम विगणन के रूप म गण्य शक्ति क वन स अवगत होता है। इसलिए कर्ता आदि साधना का निरापण पुष्प माना जाता है। कम कम क विगणन हान क कारण ही पुष्प नाव का विषय नहीं हो पाता और एमीनिष्ठ भाव म मध्यम और उत्तम पुष्प क प्रयोग नहीं होता। कबल गेप के कारण प्रथम पुष्प का ही व्यवहार होता है। स्वातन्त्र्य और परगत्व सन्तान्तर क प्रयोग से जान जाते हैं जम आस्यते मया। व्यत त्वया आदि म।

वाक्यपत्नीयकार न पुष्प का दान्तिक विवचन प्रस्तुत किया है। उनके मत म पुष्प-अवस्था सत असत चतयात्रित है। उनके अनुसार प्रत्यङ् पत् का भाव अन्तयामी जीवात्मा है। वह प्रतिष्ठ म अवस्थित है। उसका भाव (अस्मिन्त्व) पुष्प म वाच्य है। इसलिए प्रयाका की अहकारास्पद चेतनता प्रत्यक्त्व ह। आख्यात स जव किया का अहकार समानाश्रय रूप (मैं अह की प्रतीति) अभिव्यक्त होता है, वह उत्तम पुष्प का विषय होता है। इसलिये पुष्प अहकाराश्रय कर्ता का और तिष्ठत स वाच्य कम का भा उपाधिभूत है। पचे, पचामि जैसे क्रियागण से कर्ता का उपाधिभूत उत्तम पुष्प अवगत होता है। कम उपाधिभूत आत्मनपद से ही अभिव्यक्त होता है। जैसे पध्य रु। कम म आत्मनपद का विधान होता है। मध्यम पुष्प परव है। वह क्त कम निरापणभूत है प्रश्न आदि विषय के उपयुक्त है। पचमि पचम जैसे शब्दा म वह क्त उपाधि है और पचम जैसे आत्मनपद से कामोपाधिरूप म लक्ष्य होता है। इस तरह उत्तम और मध्यम पुष्प गण विगणन लक्षित होते हैं और अपने अपने अर्थ का प्रयोजन करत हैं अथवा चेतययुक्त कर्ता



घोर कम का योग बताया है ।

यदि ध्यान में आधार पर प्रथम घोर उत्तम पुरुष की व्याख्या का ज्ञानी को सफलता प्राप्त हो तो साथ ही साथ मध्यम घोर उत्तम पुरुष का योग कम समय होगा, शृणोत आशय । अने प्रयोग कम उपायों में । जायेंगे । १० म प्रत्येक उत्तम म भू-हरि की गाथा है कि ध्यान प्राप्त हो तो साथ ही मध्यम घोर उत्तम पुरुष का प्रयोग व्यापारित चतुर्थ का आधार पर हो जाएगा । भू-हरि का अनुसार मध्यम घोर उत्तम पुरुष से मत्त समय का सम्यक् ध्यान का अभिव्यक्ति होती है । प्रथम ध्यान का अभिप्राय कुछ साधना का अनुसार अभिव्यक्ति चतुर्थ में है । हताराज का अनुसार व्याकरणज्ञान प्राप्त में ध्यानमय अर्थ का ही स व्यापारित करता है । १०० चतुर्थ समय है । किसी पदार्थ का सम्यक् ध्यान यदि ध्यान की अभिव्यक्ति नहीं होती है तो वही व्यापारित चतुर्थ की कल्पना कर ली जाती चाहिए । पदार्थ मध्यम घोर उत्तम पुरुष चतुर्थ के प्रतीक है ।

परन्तु भू-हरि का मत में प्रथम पुरुष का सम्प्रत्य चतुर्थ से नहीं है । ध्यारापित चतुर्थ भी उपाय विषय नहीं है । प्रथम पुरुष का विषय प्रयत्न है । प्रथम पुरुष का रूप विधान (१०० प्रथम १०००) होने का कारण हताराज का अनुसार, उसमें निश्चय प्रयत्न ही पड़ा है । इसलिए पतति तूल (तट गिरता है) सुप्पन्ति ब्रीहय (धान खसते हैं) जस अचतन पत्तय ही प्रथम पुरुष का विषय है ।

सदसदवापि चतुर्थमेताभ्यामवगम्यते ।

चतुर्थमेता प्रथम पुरुषो न तु चतुर्थे ॥५॥

हताराज के अनुसार चतुर्थभाग शब्द में भाग ग्रहण से यह जान पड़ता है कि समानाधिकरण वाले (तुल्यकारक वाले) सुप्पद अस्मद से अतिरिक्त भी चतुर्थ प्रथम पुरुष का विषय हो सकता है जस नवान पचति म । परन्तु यहाँ चतुर्थ पदान्तर गम्य है । इसलिए यहाँ प्रथम पुरुष चतुर्थी के सस्वरा से साधनसाध्य भाव मात्र जानाता है । बुद्धि जानाति जमी त्रियाश्रम प्रथम पुरुष का चतुर्थ से संबंध स्पष्ट जान पड़ता है जानना और समझना कर्त्ता में चेतनता की सत्ता से ही सम्भव है । परन्तु भू-हरि के अनुसार ऐसे स्थलों में भी चतुर्थ का व्यापार व्यक्त नहीं होता । ऐसी त्रियाश्रम धात्वर्थ ही चतुर्थ लक्षण वाला है । वह कर्त्ता और कम का अवच्छेदक है इसलिए उसके कारण चतुर्थ अवगत होता है । प्रथम पुरुष के प्रयोग के कारण यहाँ चतुर्थ नहीं आकता । क्योंकि अनानाथ धातुश्रम का साथ प्रथम पुरुष के प्रयोग होने से सबका निश्चित रूप में चतुर्थ की प्रतीति नहीं होती । जैसे 'काष्ठानि पचति' इस वाक्य में प्रथम पुरुष से किसी प्रकार का चतुर्थ नहीं आकता । जिस तरह से सुप्पन् और अस्मन् शब्द के लिए मध्यम और उत्तम के विधान से चतुर्थ उपाधि वाल कर्त्ता कम का बोध होता है वही प्रथम पुरुष में नहीं होता ।

उत्तम विधान 'सत्य' में ही है व कारण उत्तम धर्म उपनिषद् विधान का समर्थन करता है। पुष्प धर्म में विहित मध्यम पुष्प मन्त्र निहित रूप में धर्म का आधार होता है क्योंकि पुष्प का धर्म व निमित्त प्रमाण होता है।

इस सम्बन्ध में महाभाष्यकार का मत कुछ स्पष्ट हो जाता है। उदात्त प्रकृति व साधारण पर कृत म भी पतता जाती है। कृत म मन्त्रों पड़ता है। उत्तम साध्य विधीन होता है और वह एक दम में सत्य दम (स्यात्) पर गिर कर पतता जाता है। म मन्त्रों, पतजनि व अनुगार, कृत म प्रकृतिक दृष्टि व चोत्तम है। उदात्त विधानों के मध्य धर्म म मन्त्रों (सत्य व धर्म) धर्म—यानि २।१।३) समर्थन किया है। इस सम्बन्ध में उदात्त विधानों में धर्म उत्तम धर्म म मन्त्रों है —

वसन्ता मन्त्रि,  
निरोपाय स्वपि,  
मुक्तामा धादिमनुपर्वेति  
धर्मस्तान्मय सन्नामनि  
धर्मि (व) पठति ।<sup>६</sup>

इस सब उदाहरणों में धर्म का धर्म व रूप में धर्म विधान किया गया है। और मन्त्रों में प्रथम पुष्प का धर्म है। कर्म ने इस प्रथम में यह विचार प्रकट किया है कि धर्म धर्मस्तान्मय व अनुगार सत्य धर्म है। धर्म मन्त्रों भागों में धर्म का प्रतिपादन करते हैं। पतजनों का उपनिषद् विधान होता है। धर्म मन्त्रों वही धर्म धर्म होता है और वही धर्म होता जाता पड़ता है। धर्म हरि प्रथम पुष्प व सम्बन्ध में धर्मपति धर्म मान व धर्म म भी होता है। परन्तु पतजनि व धर्म म मन्त्रों के उपचार का उद्देश्य किया है —

धर्मनेष्वपि धर्मनावदुपचारो दृश्यते। तद यथा सस्तायस्या धर्मनानि,  
सत्यते चास्या धर्मनानोति ।<sup>७</sup>

इस उदाहरणों में भी प्रथम पुष्प है। धर्म म भी प्रथम पुष्प का धर्म के रूप में धर्मपति देगी जाती है।

धर्म की धर्मता तदर्थ के रूप में प्रथम पुष्प की धर्मपति कहना धर्म उपनिषद् जान पड़ता है।

कुछ लोग उत्तम पुष्प को मध्यम और प्रथम पुष्प से विशेष मानते हैं। क्योंकि उत्तमपुष्प, उत्तम धर्म म सभी पुष्प का विश्रान्ति धर्म है। धर्म के अनुगार इद म धर्म सभी वस्तु का धर्म म धर्मपति होता है। धर्म भी जाता है कि धर्म पति त्व धर्म, धर्म धर्म इत सब की विवक्षा म धर्मपति धर्म प्रयोग उत्तम

जाता है। अर्थात् सभी पुष्प का उत्तम पुष्प मध्यमता हो जाता है। परन्तु तब उत्तम मन में निगल रूप में सभी पुष्पों का अन्त है। उत्तम मध्यम प्रथम पुष्प वर्णित है परन्तु चिद्रूप का भाव तब अर्थात् है।

व्याख्यानप्रक्रिया उत्तमपुष्प अस्मदर्थे य स पुष्प द्वेयाम्नां मध्यमप्रथम पुरपाण्यां विनियोगो सजातविनियोगास्ति । तस्य च तत्स्थपरामर्शात् प्रथमपुरुषादपुष्पदर्थो मुलाच्च मध्यमपुष्पादय विनियोगोपपुरुषाधपत्वं तत् विधातिधामन्त्रम् । सपरयेता विमन्त्रप्रदतायामय विधाति । स पचति, त्व पचमि अह पचामीति विनियोगा यस्मै पचाम इत्यादी प्रयागे अयमवागय इत्यास्ताम् । त्व तु विनियोगाणां प्रथममध्यमात्तम पुरपाण्यां कल्पितानां अवत्पित चिद्रूपाय । यथोक्त प्रयत्नितायाम् — पाह्यप्राह्कनामिन्नावयो भात प्रमातरि ।

कुछ लोग अन्तःकरण मध्यम प्रथम मन्त्राधन या अथ प्रतीत होता है निगल रूप (प्ररणा का भाव) विवर्तित रहता है। जिस गान्धर्व अस्ति म । जो लाग सवाधन का वक्ता अभिमुखीकरण रूप में समझते हैं उनका मन में प्रथम का अभाव में भा मध्यम पुष्प मन्त्राधन का भाव रहता है। तब पचमि म इस मन का अनुगार सञ्चालन है। परन्तु कुछ लोग सोचते हैं कि भट्टारि न उत्तम किया है इस मन का प्रथम ही दत्त । तब पचमि म मन्त्राधन का प्रतीति नहीं होती। उनके अनुसार सिद्ध व अभिमुखीकरण का सवाधन बहुत है। सोच का विधीयमान का सवाधन नहीं होना। क्योंकि जिसका स्वरूप अभी नियत नहीं है जो अपने स्वरूप का प्राप्ति नहीं हुआ है वह अभिमुखीभाव का भाव नहीं माना जाता। इन्द्रानु वक्ष्यमाण गान्धर्व मन्त्राधन मन्त्राधन और तत्त्व विधीयमान सलिय प्रथम का हात में गान्धर्व मन्त्राधन विभक्ति नहीं है। युग्म के साथ प्रथमा सवाधन विभक्ति मानने पर पचमि कुत्त स्वर सम्पत्ति विनियोग । प्रथमात्त पुष्प का आदि उत्पत्ति होना दत्त है। तब जय कि वह वाक्य का अस्ति म रहता है अर्थात् किसी पद से पर जय नहीं होता है। ऐसा उक्त सवाधन मात कर ही समझ है। जस

त्व न द्र वाजयु (ऋग्वेद ७।३।१३)

त्वमेमे छुमिस्त्वमोनुगुर्गणि (ऋग्वेद २।१।१)

परन्तु जिस पद के पर रहने पर उस आशयित (सवाधन) मान कर अनुप्राप्त होता है। जस दवीराय शुद्धा यूयम् ।

भट्टाजि दीर्घ के अनुसार आदि उत्पत्ति और निधात वाली उक्ति सबत्र ठीक नहीं देखी जाती। अन्तः इस मन्त्र है जिनमें युग्म के आदि म होने पर भी वह अन्तःप्राप्त और पद के उत्तर में होने पर भी अनुदात्त ही है —

दृश्यते हि पाप्मादावपि अतोदात्तत्वं पदात् परत्वोपपत्तिर्वातश्च । तदप्यया पुन  
ह गम जगतीषु धृत्य । यूय यात स्वस्तिमि । ह ये दवा यूयन्निगपय स्थ  
इति ।<sup>१</sup>

भट्टोजि दीक्षित समाधन का प्रातिपदिकाथ क अतगत मानते ~ (सबोधनस्य  
प्रातिपदिकाथ एवा तभावात्) । उनक मत म अतिग और सम्पाधन—एक विषय  
युष्मत् का अर्थ है और सतिग तथा सम्पाध्य और यमप्राध्यमाधारण भवन का अर्थ  
है । फलतः 'भवान कराति' मयम पुरुष का विषय नहीं हो पाता है ।

अलिग सम्बोधनकविषयश्च युष्मदथ । सलिग सम्बोद्धासम्बोध्यसाधारणश्च  
भवदथ —शब्द कोस्तुभ—१।४।१०४

अब व भवति 'वदभवति'—इस वाक्य म मयम प्रवृत्ति विवृति की अभेद-  
विवक्षा म च्व प्रत्यय हुआ है । यहा प्रवृत्ति क आश्रय स पथम पुरुष और विवृति के  
आश्रय स मध्यम की प्राप्ति है । परन्तु मयम विवृति कतो नहीं २ । प्रवृत्ति ही  
त्रिकारान्पाप्ति म वता है । अतः प्रथम पुरुष ही होता है । गौणमुख्यताय क आश्रय  
पर गमा सम्भव है । सधी भवति ब्राह्मणा । इस वाक्य म बहुवचन 'स वान का  
प्रमाण है कि च्वयत्त म प्रवृत्ति का ही कतत्व माना जाता है

यदेग्ने स्यामह त्व त्व वो धा स्या अहम ।

स्युष्टे सत्या इहाशिष ॥<sup>११</sup>

## पुरुष व्यत्यय

महामाप्पकार न पुरुष व्यत्यय के उदाहरण म 'अथा स वीर दन्तमिक्कियूपा' <sup>१०</sup>  
कहा है । यहा वियूपात् क स्थान पर वियूपा पडा गया है । पुरुष व्यत्यय का एक  
उदाहरण मम्मट ने या दिया है—

रे रे चञ्चल लोचनाञ्जितरुचे चेत प्रमुच्य स्थिरप्रेमाण महिमानमेणतपता  
मालोक्य कि नत्यसि । कि मये विहरिष्यमे वत हुता मुञ्चातराशामिमा मेपा  
कण्ठतटे कृता खलु शिला ससारवारानिधी ॥<sup>१२</sup>

इस उदाहरण म मयस के चञ्चल मय और विहीरय के स्थान पर विहीरयस कहा  
गया है अथान मयम क स्थान पर उत्तम पुरुष का और उत्तम के स्थान पर मध्यम  
पुरुष का व्यवहार कवि ने किया है और प्रहास क अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए

१० शब्दकोस्तुभ १।४।१०२

११ अथेद ८।४।१३ । इस मत्र म अत त्व ग्यान, त्व वा ग्रह या इस रूप म प्रवृत्त्याश्रय ही  
पुरुष है ।

१२ काव्यप्रकाश, चतुर्थ उक्त्यास, पृ० १९९ त्रिवेन्द्र म संस्करण

क्रिया है। परिहास की अभिव्यक्ति व क्रिया पुरुष व्ययय पाणिनि द्वारा समझा है।<sup>१२</sup>  
और भन्तु हरि न भी पुरुष व्ययय का समझा गया है—

गुणप्रधातामेव पुरुषादिविषमय ।  
निदिष्टस्यायथा गतरे निरवयान विरुध्यते ॥<sup>१३</sup>

## सरया विचार

सख्या आख्याताय का भी अर्थ है और साधन का भी अर्थ है। सख्या मात्र स एव च  
द्वित्व बहुत्व आदि का ग्रहण होता है। जिमन द्वारा सख्याय अयथा गणना समझ  
है। वह सख्या है (सख्यायतेऽनया सख्यति—मन्त्रभाष्य १।१।२१) वचन सख्या है।  
वचन और सख्या पूर्वाचार्यों के पारिभाषिक शब्द हैं। एकवचन और बहुवचन शब्द का  
प्रयोग सब प्रथम शतपथ ब्राह्मण में मिलता है

एक वचनेन बहुवचन व्यापयाम ।<sup>१</sup>

द्विवचन शब्द का उल्लेख निरवय म है—अपि या मदच्च पणान्च सात्य  
द्विवचन स्यात् ।<sup>२</sup>

पाणिनि ने पूर्वाचार्यों के आधार पर सरया के अर्थ में एकवचन और बहुवचन  
का व्यवहार किया है। ऐसे सरया के भी पारिभाषिक रूप का बहुवचनबहुवचन सख्या  
१।१।२३ के रूप में उल्लेख किया है।

वाक्यपदीय में सख्या समुद्देश में सख्या के साधन मान रूप का ही अधिक  
विवचन है। परन्तु भन्तु हरि के अनुसार सख्या आख्याताय भी है यह पहले सिद्ध  
किया जा चुका है। यद्यपि क्रिया साध्यत्वभाव वाली होना के कारण निवृत्तभेद मानी  
जाती है, उसमें कोई भेद नहीं होता फिर भी साधन के आधारभूत द्रव्य के एकत्व  
द्वित्व आदि के आधार पर क्रिया में भी एकत्व द्वित्व आदि मान लिए जाते हैं। साधन  
भेद स वृत्ति-कर्म के अभिधायक प्रकार में द्विवचन और बहुवचन हात है। फलतः  
पचत पचति पच्यते पच्यते उस विशिष्ट क्रियारूप सिद्ध होता है। इन पदा में  
दो या दो से अधिक साधन द्वारा क्रिया के साध्यत्व की प्रतीति होती है। साधन  
के आधारभूत द्रव्यगत सख्या से क्रिया का योग तो होता है परन्तु द्रव्यगत लिंग के साथ  
क्रिया का योग नहीं होता। क्योंकि आख्यायन में लिंग विशेष की प्रतीति नहीं होती।  
शब्द का अपन अर्थ का प्रत्यायन अथवा उनके अर्थ की अभिव्यक्ति स्वाभाविक होती  
है, युक्तिगम्य नहीं होती है।

१२ ग्रहासे च मन्त्रोपपद मन्यतेरुत्तम एकवच्च १।४।१०६

१४ वाक्यपदीय ३, पुरुष समुद्देश ७

१ शतपथ ब्राह्मण १३।१।१।१८

२ निरवय ६।१६।२

एकत्वेऽपि क्रियाख्याते साधनाश्रयसत्यया ।

भिद्यते न तु लिङ्गाख्यो भेदस्तत्र तदाश्रित ॥<sup>३</sup>

पुण्यराज ने भी आख्यातनाच्य क्रिया म सम्बन्धभेद से भेद की प्रतीति का समर्थन किया है

यथाख्यातेषु धातूपात्ताया क्रियाया प्रत्ययवाच्य कत भेदे सति सम्बन्धात् क्रियाया अपि भेद प्रतीयते पात पचतीति ।<sup>४</sup>

इसी बात का हरदत्त ने भी या व्यक्त किया है

कत भेदेऽपि नावश्य धात्वर्था भिद्यन्ते यत ।

एकामेव क्रियाव्यक्ति बहुपूपादयत्स्यपि ॥

दष्टमेत पचतीति कमभेदोऽपि तादृश ।

पश्यकस्या क्रियाव्यक्तौ पच्यत तण्डुला इति ॥

न कालभेदे शब्दव्यमास्यासिध्यत आस्यते ।

पाकौ पाका इति त्वथ शब्दव्यादेकशेषता ॥<sup>५</sup>

इसके स्वारस्य से, साधनगत सख्या का क्रिया म आरोप होने के कारण लिङ्ग सरया का प्रकृत्यर्थ म अवय होता है । इसका एक फल यह होना है कि भाव म एकवचन ही होना है, द्विवचन और बहुवचन नहीं होते । जम आस्यते भवता आस्यते भवदभ्याम, आस्यते भवदभि । अवश्य ही पाकौ पाका जैसे स्थला म, जहा घञ स साधन का अभिधान नहीं होना, भाव म द्विवचन और बहुवचन दखे जाते हैं, एकपदवाच्यसाधनसख्याश्रय पञ्च म ऐसे स्थला म भी द्विवचन और बहुवचन नहीं होना चाहिए । इसका उत्तर यह है कि पाकौ पाका आदि म आश्रय भेद से द्विवचन और बहुवचन हात हैं । गुड तिल, आदन आदि आश्रयभेद से आश्रित भी पात्र भिन्न भिन्न मान लिया जाता है । घञ् आन्ति से सत्वरूप अर्थ का अभिधान होता है । इस लिए द्व्यधमसख्याभेद के आश्रय से वचनभेद होना अस्वाभाविक नहीं है ।

जहा पर प्रकारांतर स लिङ्ग वाच्य भाव म सख्या की प्रतीति होता है वहा भाव म भी बहुवचन दया जाता है जैसे उष्टासिका आस्यते हतशायिका शय्यन्त । यहा पर उट्ट आश्रय है । उनके भेद स उनके अनक प्रकार क आसन भी भिन्न भिन्न हैं । उसर सामानाधिकरण्य स आख्यात वाच्य भाव भी भिन्न भिन्न जान पड़ता है । भाव भेद स आस्यते म बहुवचन का प्रयोग हुआ है । इव शब्द के प्रयोग के बिना भी इस वाक्य म इव क अर्थ की प्रतीति होती है । इसलिये 'उष्टासिका आस्यते' इस वाक्य से जिस तरह उटा क अनक प्रकार के आसन हात है वैसे ही देवदत्त आदि क द्वारा किए जा रहे हैं इस अर्थ की प्रतीति होती है । इसी तरह "हतशायिका शय्यन्त" इस वाक्य मे हत व्यक्तियों की शयन क्रिया उत्तान, अवतान, विकीर्णकेश,

३ वाक्यपदीय ३ उपग्रह समुदेश १६

४ पुण्यराज वाक्यपदीय २।८।२ टीका

५ पदमनरी १।१।६७

इधर उधर सरके हुए वस्त्र आदि में रूप भिन्न भिन्न है। इस कारण आख्यात वाच्य भाव में भी स्वरूपगतभेद अवभासित होता है फलतः बहुवचन प्रयुक्त है। आहता की गयन क्रिया की तरह देवदत्त आदि के द्वारा भी अनेक प्रकार की गयन क्रिया की जाती है यह अभिप्राय है। 'भवदभि आस्यत' इस वाक्य में आश्रय भेद से आश्रित भेद तो संभव है परन्तु पूर्व वाक्य में उष्ट्र और देवदत्त के आसन में साम्य दिखाना जसा प्रयोजन था उस तरह का कोई प्रयोजन इस वाक्य में नहीं है। प्रयोजन के अभाव के कारण भावभेद भी नहीं माना जाता है। अतः इस वाक्य में एक वचन ही क्रिया में प्रयुक्त है। इसी आधार पर ताम्र पलाणेषु बभूव राग इस वाक्य में भी पलाणरूप आश्रय के भिन्न भिन्न होने हुए भी राग गान में एक वचन का ही प्रयोग कवि ने किया है। वस्तुतः सवन आश्रय के भेद से आश्रित में भेद की प्रतीति नहीं होती। घटान पचनि जैसे वाक्यों में अभिन्न पाक का ही बोध होता है।

कुछ लोग उष्ट्रासिका आस्यत इस वाक्य में कम में लकार मानते हैं। क्योंकि उष्ट्रासिका लक्षण भाव कम है। जस गोत्रोह सुप्यते मकम है। जिस तरह गोत्रोह (गाय के दुहने का काल) का स्वाप में अवय होता है उसी तरह उष्ट्रासिका और हतशायिका का क्रमशः आसन और गयन में परिच्छेदक के रूप में अवय होता है। केवल अंतर यह है कि गोत्रोह में परिच्छेदकत्व काल उपाधिक है जबकि आसिका आदि में सादृश्य रूप में है। इस मत के अनुसार आसिका और शायिका गान उपयुक्त वाक्या में प्रथमात् बहुवचन हैं। पूर्व मत के अनुसार व द्वितीयात् बहुवचन है। क्योंकि क्रिया विशेषण के रूप में उनमें कमत्व है। यह कथन यहाँ उपयुक्त न होगा कि क्रिया विशेषण होने के कारण उन शब्दों में नपुंसक लिंग और एक वचन होना चाहिये क्योंकि 'स्त्रिया क्तिन' ३।३।६४ सूत्र के अनुसार यहाँ स्त्रात्व का अवधारण है। अतः सामान्ये नपुंसकम् (वातिक) की प्राप्ति यहाँ न होगी। और बहुत्व के बोध के कारण जसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है एक वचन की प्राप्ति नहीं है।

भट्टोजि दीक्षित न भाव में एक वचन की उत्पत्ति एक दूसरे प्रकार से की है। उनके मत में सूत्रकार ने तिङ् और तिङ् निष्ठ सख्या का भी संवत्त कत कमणी शब्द से किया है। कर्ता और कम का द्वित्व और बहुत्व द्विवचन और बहुवचन कहे जाते हैं। भाव में लकार असत्त्वावस्थापन धात्वर्थभूत क्रिया का ही अभिधान करता है अथवा छोनन करता है। इसलिये वहाँ प्रथम पुरुष—एकवचन ही होता है। मध्यम और उत्तम पुरुष नहीं होते। क्योंकि युष्मदस्मिन् का उसके साथ सामानाधिकरण्य नहीं है। द्वित्व और बहुत्व की प्रतीति न होने से द्विवचन और बहुवचन भी नहीं होते। एकवचन आत्मगिक होता है।<sup>१</sup>

परन्तु महाभाष्यकार न भाव में ल विधान में बहुवचन गिनाया है जसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है। इसमें आख्यात वाच्य भाव असत्त्वावस्थापन होता है इस सिद्धांत में बाधा न पड़ेगी क्योंकि असत्त्व असत्त्वा का अभिप्राय लिंग और कारण

के अयोग से है। अतएव पचति भवति, पच्यते भवति, पश्य मृगो धावति इत्यादि वाक्या म वाक्यायभूत क्रिया का त्रियांतर के साथ कर्ता के रूप म अथवा कर्म के रूप म अभित होने म कोई क्षति नहीं मानी जाती है। तिङभिहितभाव का वृद्धभिहितभाव (घञादि वाच्य) से वैषम्य म बाधा न पड़ेगी। क्योंकि वृट् अभिहितभाव मलिंग होता है और सक्रिय कारकावित होता है जबकि तिङ् अभिहितभाव अलिंग होता है और सभी कारकों स सम्बन्ध नहीं रखता। इनके भेद दिखात हुए महाभाष्यकार न कहा है कि तिङ् अभिहित भाव का कर्ता क साथ योग होता है किन्तु वृद्धभिहित का कर्ता क साथ योग नहीं होता। (तिङभिहितो भाव कर्त्रा सप्रयुज्यते, वृद्धभिहित पुनरसप्रयुज्यते—महाभाष्य ३।१।६७)। यद्यपि वृद्ध अभिहित भाव का भी कर्ता के साथ योग देखा जाता है जैसे ब्राह्मणाना प्रादुर्भाव, फिर भी एकपदवाच्य कर्ता के साथ उसका योग नहीं देखा जाता। पचति शब्द कहने में जिस तरह कर्ता की अभिव्यक्ति होती है ठीक उसी तरह पाक शब्द कहने से नहीं होती। अस केवल पुद्ध भाव का प्रत्यायन होता है। दूसरे शब्दों म तिङतवाच्य भाव सदा क्त आकाश होता है जबकि वृट् वाच्य सदा वसा नहीं होता। अथवा ऐसा कहा जा सकता है कि घञादि के द्वारा भाव के सिद्ध रूप का अभिधान होता है इसलिये उस रूप से कर्ता का योग नहीं होता। धातु रूप के द्वारा भाव के साध्यरूप की अभिव्यक्ति होती है इसलिए साध्यरूप म कर्ता के साथ उसका योग होता है। अथवा “पाचक” जस शब्द म भाव का कर्ता के साथ योग उपलक्षण (गौण) के रूप म होता है जबकि तिङ के क्षेत्र म पचति जैसे शब्द म साध्य होने के कारण कर्ता के साथ प्रधान रूप में योग होता है।

सवथा क्रिया म सख्या का अन्वय मानना उचित है। महाभाष्यकार के कई वाक्य क्रिया में सख्या की समावृत्ति के पोषक हैं। जस भवति पुनवतमानकाल चकत्व च।<sup>७</sup> इस वाक्य का एकत्व शब्द स्पष्ट रूप में क्रिया का सख्या क साथ संबध जोड़ रहा है। इसी तरह करोति पचादीना सर्वान कालान सर्वान पुरुषान सर्वानि वचनानि अनुव्रतते<sup>८</sup>—इस वाक्य का सर्वाणि वचनानि शब्द क्रिया में सख्या के समर्थन कर रहे हैं। सग्या का नाम वचन है।

‘तद्धितश्चासव विभक्तौ’ १।१।३८ सूत्र के माध्य म महाभाष्यकार न यह लिखा है कि कुछ अव्यय विभक्तयः प्रधान होते हैं। कुछ क्रिया प्रधान होते हैं। उच्च नीच य विभक्तयः प्रधान हैं। हिक् पृथक् य क्रियाप्रधान हैं। नवे माथ त्रिग और सख्या का योग रहा होता। परन्तु यहां भाष्यकार का क्रिया के साथ सख्या के अयोग दिखाने का अभिप्राय यह है कि अयम वाच्य इनके माथ सग्या का योग नहीं होता।

अतः सग्या का आग्यानाथत्व उपपन्न होता है।



## सख्या द्रव्याश्रित

भत हरि के अनुसार सभी सत्वभावापन्न पदार्थ सख्यावान् बहे जाते हैं। लोक सख्या का आधार भेदभेद विभाग है। सख्या भेद के आधार पर खड़ी है। उसे भेद अपोद्धार लक्षण वाली कहा जा सकता है। क्योंकि एक से पराध तब जितनी सख्याएँ हैं व सब भेद के आधार पर ही अस्तित्व पाती है 'यह वह' (इद तत्) जस सवनाम स प्रत्ययमग योग्य वस्तुगत भेद होता है। फलतः सभी द्रव्यात्मा (वस्तु) में भेद होना है और उसका व्यवहार एक दो बहुत आदि सख्याओं से युक्त रहता है। सुविधा की दृष्टि से एकत्व सख्या का व्यवहार अभेदाश्रय के रूप में होता है और दो, तीन आदि सख्याओं का व्यवहार भेद का प्रतिपादक है। इस तरह सत्वभूत (द्रव्यात्मक) अर्थ का एक अथवा अनेक रूप में भेद सख्याश्रित है।

वशेषित दान के अनुसार सख्या एक गुण है और द्रव्याश्रित है। कुछ लोग मानते हैं कि पदार्थ असहाय अवस्था में एक और सहसहाय अवस्था में दो बहुत आदि सख्याओं से व्यवहार किया जाता है। सहसहाय या विरह वस्तु के घन नहीं है। इसलिये द्रव्य से अतिरिक्तसख्या लक्षण कोई गुण नहीं है। परन्तु यह मायता ठीक नहीं जान पड़ती। क्योंकि सहसहाय ज्ञान और दो तीन आदि का ज्ञान समान नहीं है वह भिन्न भिन्न रूप में जान पड़ता है। अतः ज्ञान भेद के कारण उनकी एकता नहीं सिद्ध की जा सकती है। साथ ही सहसहाय अवस्था में भी एकत्व का भान होता है अतः सहसहाय रहित होना ही एकत्व नहीं है। कुछ लोग सख्या को द्रव्य से अव्यतिरिक्त मानते हैं। सख्या और द्रव्य का भेद तिरोहित रहना है द्रव्य से व्यतिरिक्त रूप में सख्या की उपलब्धि नहीं होती इसलिये सख्या को द्रव्य से अव्यतिरिक्त मानना चाहिए। व्याकरण दर्शन जसा कि हलाराज ने कहा है वशेषिका की तरह पदार्थ विचार में रम नहीं लेता (अस्माकं तु शब्दप्रमाणकानां पदार्थविचारानादरात् यथायथं पदार्थकल्पना तोषिक कृता)।<sup>६</sup> इसलिये भत हरि का कहना है कि सख्या द्रव्य से अभिन्न हो अथवा व्यतिरिक्त हो व्यवहार में एक दो बहुत आदि शब्दों से भेद की प्रतीति होती है। इस प्रतीति का कोई न कोई हेतु भूत धर्म होना चाहिये। उसी भेदक धर्म को सख्या नाम से व्यक्त किया जाता है —

स धर्मो व्यतिरिक्तो वा तेषामात्मव वा तथा ।

भेदहेतुत्वमात्रेण सङ्ख्येति व्यपदिश्यते ॥<sup>७</sup>

सख्या मूल और अमूल सत् का भेदक है (सख्या सवस्य भेदिका)।<sup>८</sup> जस ७ घट । अनेक आत्मा । दो त्रिया । एक बीता (वितस्ति) । दो हाथ । चार प्रस्थ । पाच पल । सख्या सख्या का भी भेदक है जस, दो बीस पाच पचास । द्रव्यगत सख्या का रूप रम आदि में आराप कर चौबीस गुण बहे जाते हैं। इसी तरह अभाव यद्यपि

६ हलाराज, वाक्यपदीय ३ मर्यादामु २ ।

७ वाक्यपदीय ३, मर्यादामु २ ।

८ वहा काल ममु २ ।

निरूपण है फिर भी औपाधिकभेद से चार अभाव कह जाते हैं। सख्या गद पदार्थों के बलक्षण्य का प्रतिपादन है। एक घट में भी दो तीन आदि के निगम (अलग करना) के रूप में भेद की प्रतीति होती है (यच्छेषीकान्त यच्छापरिमाण तस्य सवस्य सख्या भेदमान ब्रवीति महामाष्य ५।१।१६)। महाभाष्यकार का इपीकान्त शब्द परिमाण का उपलक्षण है। जो महत् परिमाण बात है वे भी सख्या से गिने या व्यक्त किया जा सकता है जैसे मात पतत (मत्त कुलाचना)। जो अल्प परिमाण या अपचितपरिमाण बात है वे भी सख्या से भेद हैं जैसे तीन परिमाणु (त्रय परिमाणव)। अतः सवत्र सख्या भेदक के रूप में ग्राह्य है।

गुण द्रव्याश्रित है। स्वतन्त्र नहीं है। फिर भी पदस्य रूपम् जस वाक्या म वह द्रव्यधर्म से स्वतन्त्र रूप में व्यवहृत होता है वही पदस्यधर्म चित्र रूप में जस वाक्यो म गद शक्ति के आधार पर सख्या का स्वतन्त्र रूप में प्रतिपादन होता है। जहाँ पर ऐसा सम्भव नहीं है वहाँ अव्यारोप से काम चल सकता है। वस्तुन मन हरि के अनुसार अव्यारोप के लिए वस्तु की सत्ता अथवा असत्ता प्रयोज्य नहीं होती। अतएव अविद्यमान अथ म भी काल्पनिक आरोप देखा जाता है जमे ममुद्र कुण्डिका (कुण्डिका म समुद्र का आरोप)। याकरण-द्वान नामाय मे भी सामा य विनेष म विशेष लिंग म लिंग और सख्या म सख्या मानना है।<sup>१२</sup> इसी आधार पर गन गते शतानि आदि व्यवहार होन हैं।

## सख्या का स्वरूपगत विवेचन

सभी भावों की सहज सख्या एकत्व है। एकत्व द्वित्व आदि का मूल रूप है। क्योंकि भेद अभेद पूर्वक होता है। द्वित्व आदि भेद मानक है, एकत्व अभेदाश्रित है। बिना एकत्व के द्वित्व बहुत्व आदि का परिचय सम्भव नहीं है।<sup>१३</sup> द्वित्व ज्ञान की प्रक्रिया में मनभेद है। कुछ लोग मानते हैं कि बुद्धि सहित एकत्व और एकत्व (न एकत्व) द्वित्व के ज्ञान में निमित्त हैं। अथवा बुद्धि निरपेक्ष दो एकत्व से द्वित्व का परिचय होता है। कणाद ज्ञान द्वित्व के ज्ञान में तीन कारणों का उपयोग करता है। दो द्रव्या म मय प्रथम उनके नामाय का ज्ञान होता है तब उनके गुण का ज्ञान होता है इसके बाद उससे विनिष्ट दो द्रव्या का ज्ञान होता है। कणाद-द्वान की इस मायता का मूल आधार वह सिद्धांत है जिसके अनुसार विद्या विगण के ज्ञान किय विनेष्य बुद्धि नहीं होती है (नागहीतविनेषणा हि विनेषा-बुद्धि)।

द्वित्व का स्वरूप म भी मतभेद है। कुछ आचार्य मानते हैं कि द्वित्व एकत्व का समुदाय मात्र है। वह न एकत्व से विगण नहीं है। एकत्व के समुदाय का द्वित्व इस एव नये गन् से जमी तरह कहा जाता है जिस तरह वस्त्र के समुदाय का वन जस एक नये गन् से व्यक्त किया जाता है। इस मन में समुदाय-अर्थ का प्राधान्य

१२ वहा मध्यामसुदेश ११

१३ वादयन्तीय ३ सख्या समुदेश १५

है। कुछ लोग के अनुसार दो एकत्व निरपक्ष रूप में तो एकत्व है परन्तु परस्पर सापेक्ष होकर वही द्वित्व कह जाते हैं। इस मत में अवयवप्राधाय की विवक्षा है। उन दोनों मतों के अनुसार द्वित्व एकत्व से अव्यतिरिक्त है। परन्तु ये मत समीचीन नहीं हैं। पाणिनि ने द्वयेत्याद्विवचनकवचन (१।४।२२) सूत्र के द्वारा द्वित्व में द्विवचना का विधान किया है। अत्र अव्यतिरिक्त पठने में द्वित्व का एकत्व से अव्यतिरिक्त होने से द्विवचन दो एकत्व में होगा। फलतः द्वयेत्या शब्द से तीन एकत्व (दो + एक) का ग्रहण होने लगगा और बहुवचन की प्राप्ति होने लगेगी। अतः दो एकत्व से जनित द्वित्व को उनसे अव्यतिरिक्त मानना उचित है।<sup>१६</sup> तीन से लेकर दस तक की संख्याओं के बारे में इसी तरह का विचार प्रयुक्त किया जाना है।

बीस (विंशति) और बीस का आग की संख्याओं के सम्बन्ध में भट्ट हरि ने महाभाष्य के आधार पर अपना विचार व्यक्त किया है। इन संख्याओं के सम्बन्ध में मूल विचार दो हैं। एक तो इनके व्युत्पन्न अथवा अव्युत्पन्न होने का विषय में है। और दूसरा इनके संख्या रूप से सम्बन्ध रखता है। व्युत्पन्न पक्ष में विंशति शब्द दशद्वयार्थाभिधायी द्विशब्द से शक्तिच प्रत्यय निपातन कर सिद्ध किया जाता है। वस्तुतः सम्पूर्ण शब्द ही निपातन के द्वारा सिद्ध किया जाता है। केवल साधुत्व के लिये विंशति शब्द के प्रकृति प्रत्यय का अन्वयान किया जाना है। शक्तिच प्रत्यय स्वाथ में होता है। स्वाथ का अभिप्राय अतः प्रकृति के अर्थ से है।<sup>१७</sup> लोक में विंशति आदि शब्द संख्या और संख्या दोनों अर्थ में व्यवहृत होते हैं। जस बीस गाय के लिये सस्कृत में 'गवा विंशति' और विंशतिर्गाव दोनों रूप में कहा जाता है। अब यदि दश के अर्थ में (स्वाथ में) विंशति शब्द का निपातन किया जायगा तो विंशतिगव यह समस्त रूप संभव नहीं हो सकेगा। इसी तरह त्रिंशत शब्द के भी उपयुक्त विधि से निपातन करना पर त्रिंशतपूर्ती जस शब्द में द्विगु समास नहीं हो सकेगा। क्योंकि इन शब्दों में द्विगु समास के लिये आवश्यक सामानाधिकरण्य नहीं मिल सकेगा। विंशति शब्द से दश दस का अभिधान होगा न कि दस सम्बन्धी द्रव्य का अभिधान होगा।

१६ कैट ने इस पर टिप्पणी दी है कि द्वयेक शब्द द्वित्व और एकत्व के अर्थ में है और इमीलिय द्विवचन के रूप में व्यवहृत है—द्वयकयोरित्यत्र संख्यापदेन द्विशब्देन सापेक्षयादेकशब्दव्यतिरिक्त संख्यावाचिनो ग्रहणम्। त्रिवैकत्वयोरत्र द्वयकशब्दावतत्वेति द्विवचनेन निर्देशः। अन्यथा बहुवचनं स्यात्। प्रसिद्धं या च संख्यायां वमेकात्तानामप्यन्तानामुच्यते।

—महाभाष्यप्रदीप १।४।२१

एक शब्द जब संख्यावाचा होता है वह गुणवचन होता है। जब वह असंख्यावाचा होता है गुणवचन नहीं होता। (महाभाष्यप्रदीप ६।३।२२)। नागेश्वर के मत में सहमत नहीं है। उनका मत है संख्या शब्द गुणवचन नहीं होते (महाभाष्यप्रदीप ६।३।२२)। परन्तु पाणिनि ने उपयुक्त सूत्र में एक शब्द का संख्या का अर्थ में हटा दिया है। यामकार का भी यही मत है (अत्र एक शब्द संख्यावाचकप्रयुक्तः, न संख्येये द्वये—याम ६।३।२२)।

१७ स्वाथ इति। प्रत्ययस्य स्वात्म या प्रकृतिग्न या अर्थ इत्यर्थः। अथवा य प्रकृतिरथ स एव प्रत्ययान्ता स्वाथ विना न भव पुत्रयः। तत्रैवार्थे प्रत्ययस्य अन्तिर्दिश्याथ प्रत्ययव्यत्यक्तः स्वाथवाचः।

महाभाष्यप्रदीप ५।१।१६

फलतः बीस शब्दों के अर्थ में मदद गवा विगति यह पष्ठी विभक्ति वाला रूप ही होगा क्योंकि गांधी के दा दस (गवा दू दानों) के रूप में अर्थ की उपस्थिति हो। सत्यनिरेक उपस्थित हो जाने के कारण पष्ठी विभक्ति ही गो गद में होगी। पष्ठ्यन्त गा गद के साथ विगति शब्द का समानाधिकरण न होने से द्विगु सामान्य मभव न हो सकेगा। साथ ही इस शब्द में एक वचन का प्रयोग भी उपपन्न न हो सकेगा। वस्तुतः केवल समास या केवल वचन की अनुपपत्ति न होकर समास वचन की उपपत्ति न हो सकेगी। गवा विगति से गोविगति ऐसा सामान्य होता है। यद्यपि 'पूरणगुणमुहिताथ २।२।११ सूत्र के अनुसार गुण के साथ पष्ठी समास नहीं होता फिर भी यह निषेध अनित्य माना जाता है और संख्या शब्द के साथ समास दबा जाता है। स्वयं पाणिनि ने शतमहस्याताच्च निष्कां (५।२।११६) में संख्या शब्द के साथ सामान्य किया है। गुणनिषेध अनित्य द्योतक वाक्य कात्यायन और पतञ्जलि के भी बड़े हैं जस क्रोशगतयोजनशतयोरुपसंख्यानम् (वार्तिक ५।१।७४) 'त्वारिगतमपि न ददाति (महाभाष्य, पस्पराह निव) आदि। अथवा गुण के साथ निषेध वाला नियम तत्स्य गुणा के साथ लागू होता है जस वाक्यस्य काण्यम्' में। गुणात्मा रूप में अवस्थित के साथ वह नियम नहीं लगना। फलतः गोविगति यह समस्त पद बनता है। परंतु व्युत्पन्न पद में सामानाधिकरण्य के अभाव में समस्त पद न बन सकेगा। साथ ही दा दस का भाव हान से द्विवचन की भा प्राप्ति हान लगेगी। स्वायिक प्रत्यय लिंग का व्यक्तिगमण कर सकते हैं परंतु संख्या का व्यक्तिगमण नहीं करत। लिंग का ता प्रतिवस्तु के माय—इय व्यक्ति अयम पन्था शब्द वस्तु—इम रूप में लिंग का व्यवहार दत्ता जाता है इसलिये लिंग भेद होने पर उतना विरोध संभव नहीं है परंतु संख्या के क्षेत्र में संख्यांतरयुक्त का सग्यान्तर में विरोध है। यदि परिमाणी अर्थ में स्वायिक प्रत्यय का विधान है, तो इस दोष से बचा जा सकता है। परिमाणी दा तरह का होता है द्रव्य का मघात अथवा भिन्न भिन्न द्रव्य। गा सघ के एक होने में विगति गद में एकवचन माघु मान लिया जायगा। द्रव्य का परिमाणी के रूप में लेने पर विगतिगद, विगतिगुली आदि में समानाधिकरण्य समास की भी सिद्धि हो सकती है। परंतु दूसरी कठिनाइया आ खड़ी होगी। जब सघ के परिमाणी अर्थ में विगति शब्द का निपातन होगा वचन विगति शब्द से भी सघ का ग्रहण हान लगेगा पर ऐसा इष्ट नहीं है और न लक्ष्य में ऐसा देखा ही जाता है। भिन्न द्रव्य परिमाणी में प्रत्यय की उत्पत्ति मानने पर विगति गद से द्रव्य का अभिधान होगा, फलतः व्यतिरेक न हान के कारण गवा (गवा विगति) में पष्ठी विभक्ति न हो सकेगी। और द्र प्र के साथ सामानाधिकरण्य हाने से बहुवचन की भी प्राप्ति हान लगेगी।

वार्तिककार ने उपयुक्त दोषों से वचन के लिए विगति आदि शब्दों को अयुत्पन्न मान लिया है। जिस तरह सट्स अयुत अयुद आदि शब्द अयुत्पन्न हैं उसी तरह विगति आदि शब्द भी अयुत्पन्न हैं। इनकी प्रातिपत्तिक सना अथवत् ० १।२।४५ सूत्र से हो जायगी। अथवन सूत्र के द्वारा अव्युत्पन्न शब्दों की प्रातिपत्तिक सना होगी।



मिथान वत्ति यहा विवक्षित है और इसलिये वह प्रत्यय उत्पादन करने में ममथ हो सकेगा। यहा यह बात ध्यान दन की है कि द्रव्या का द्रव्यसघ से और दगता का दशनसघ से कोई तात्त्विक भेद नहीं है। उनमें भेद बुद्धि-परिकल्पित है। शब्द बुद्धि व्यवस्थापित अर्थ जाने होते हैं। बुद्धि को ही वे अर्थाकार के रूप में अभिप्रेत करते हैं। बाह्य अर्थ व अभिधान से उनका साक्षात् प्रयोजन नहीं होता। इसलिये वाच्यविभक्त भेद न होने पर भी भेद की प्रतीति वे कराते हैं। गुणी (गाय आदि) का भेद के रूप में व्यवहार करने पर पठ्ठी विभक्ति (गवा विगति) भी सिद्ध हो जायगी। यद्यपि विगति शब्द से दसा का सघ (दाता सघ) वाच्य है इसलिये उसका गुणी गाय आदि नहीं होत, दो दम ही उसके गुणी (सख्यय) हैं फिर भी गाय और दसमघ में किसी तात्त्विक भेद व न होने के कारण गाय भी विगति शब्द व गुणी हैं। कबल अन्तर यह है कि दस सघ से विगति के सम्बन्ध में कोई अभिचार नहीं है इसलिये कभी दशत से विगति की विशेषता नहीं व्यक्त की जाती, काइ 'दातो विशति' नहीं कहता। कभी भी 'वृष्णम्य काप्प्यम', "गुक्लस्य शौक्ल्यम" प्रयोग की आवश्यकता नही होती, इनमें व्यभिचार सम्भव नहीं है। परन्तु अश्व आदि की व्यावृत्ति के लिये विशति शब्द का गा शब्द व द्वारा विगति रूप व्यक्त किया जाता है। और कहा जाता है 'गवा विगति'। अथवा अश्व आदि भी बीस मय्या से गृहीत हो सकत हैं। गाय का विशति से सम्बन्ध भावानयन द्रव्यानयनम् 'याय' के आधार पर हो जाता है।

वचनवाला दोष भी दोना पया म वस्तुतः दोष नहीं है। समुदाय अभिधान के पक्ष में समुदाय के एक होने से एक वचन सिद्ध ही है। गुणी अभिधान पक्ष में भी दोष नहीं है। यह ठीक है कि गुणवचन शब्द द्रव्य व लिंग और उसकी मय्या का अनुवचन करत हैं। परन्तु सबन यह नियम नहीं देखा जाता। लोक में कहा जाता है— गावो धनम पुत्रा अपत्यम इ द्राम्नी देवता वदा प्रमाणम आदि। इन वाक्या में गुण और गुणी में लिंग और सख्या का साम्य नहीं है फिर भी ये प्रयोग शुद्ध हैं। गाव म बहुवचन है और धनम म एक वचन है। धन गुण है और गाय गुणी है क्योंकि धन साक्षात् भेदक है और क्रिया पारतन्त्र्य है। जिस तरह गुक्ल शब्द कहन से द्रव्य की आकाशा होती है उसी तरह धन शब्द कहने से कौन से धा की जिनामा म गाय आदि की आकाशा होती है। जिस तरह गुक्ल वस्त्र म गुक्ल शब्द द्रव्य का भेदक है उसी तरह गावा धनम म धन शब्द गाय का भेदक है अर्थात् दूसरे दूसरे प्रकार के धन से गाय धन अधिक प्रीतिकर है इस हन में भेदक है। जिस तरह गुक्लमानय इसमें द्रव्य ले आन में ही गुक्ल के लान की सभावना है अतः क्रिया में द्रव्यपगतता के कारण गुक्ल गुण है उसी तरह वनमानय जिस वाक्य में गाय आदि द्रव्य की आनयन क्रिया में पारतन्त्र्य के कारण धन गुण है। अतः जिस तरह 'गावा धनम आदि' में गुण-गुणी में भिन्न भिन्न वचन हैं—एकवचन और बहुवचन साथ-साथ हैं वस ही विगतिगाव विगतिवलीवदा विगतिगोत्रानि आदि में भी विभिन्न वचन और लिंग साथ-साथ सम्भव हैं। विगति शब्द नित्य एकवचन और स्त्रीलिंग है। इस एक वचन की पीठिका में भी एक-दगन है। जहा कही एमा होता है वहा कुछ न कुछ रहस्य

होना चाहिये । महाभाष्यकार ने कहा है कि एक गोपिण्ड धन नहीं है अपितु गाया का समुदाय धन है और प्रीति हनु होने के कारण धन गुण एक है । उमी एकत्व की प्राधाय विवक्षा से घनम शब्द में एक वचन होता है । इसी तरह पुत्रा अपत्यम में अपत्य शब्द से अपतन एक गुण प्रधान रूप से विवक्षित है और उमी आधार पर इसमें एकवचन है । लिंग के लोभाशय हान के कारण अपत्य शब्द का व्यवहार नपुंसकलिंग में होता है । वस्तुतः इसमें भी एकत्व की तरह ही रहस्य है । इसी तरह इन्द्राणी देवता में देवत्व (ऐश्वर्य) एक गुण ही प्रधानतः विवक्षित है इसलिये देवता में द्विवचन न होकर एकवचन है । विंशति आदि में भी विंशति सख्या समुत्ति द्रव्यसमूह में समवाय रूप में रहने के कारण एक है । इस एकत्व गुण के कारण विंशति शब्द का प्रयोग एकवचन में होता है । वह भुवनत्व की तरह प्रत्यक्ष में परिसमाप्त नहीं है । अतः सत्ता द्रव्यगत लिंग सत्ता का अनुवचन नहीं करता । पच सप्त आदि नित्य सरयेय वचन है इसलिये वे सत्यय लिंग-वचन का अनुगमन करते हैं । उनमें उपयुक्त आधार पर एकवचन नहीं होता ।<sup>१६</sup> अतः व्युत्पत्ति पक्ष में भी दोष नहीं है । पर व्याकरणा का भुनाव विंशति आदि शब्द को अव्युपन मानने की ओर ही अधिक रहा है । जसाकि काशिकाकार ने कहा है —

विंशत्यादयो गुणशब्दास्ते यथाकथञ्चिद्व्युत्पाद्या ।

नात्रावयवार्थोऽभिनिवेष्टव्यम । या चपा विवक्षयेदेत गुणमात्रे

गुणिनि च वन्ति स्वलिंगसख्यानुविधान च एतदपि तव स्वाभाविकमेव ।<sup>१७</sup>

विंशति की तरह ही एकविंशति शब्द सख्यामात्र का समझना चाहिये । उनमें भी अवयवाथ कुछ नहीं है । एक सख्या और बीस सख्या के योग से एकत्रिंश (एक विंशति) सख्या बनी है । यह एक तरह का काल्पनिक रूप है यथाथ नहीं । नव और बारह दस और ग्यारह के द्वारा भी एक विंशति का विवरण किया जा सकता है परन्तु ये सत्र विभाग भेद हरि के अनुसार काल्पनिक हैं । एकविंशति शब्द सख्यामात्र में कोई अवयव नहीं है । वे अय ही सख्या हैं । नरसिंह की तरह उनमें अय ही बुद्धि होती है । केवल समझने के लिये नर और सिंह के रूप में जैसे अपाद्वार किया जाता है वैसे केवल अवस्थान के लिए एकश्च विंशतिश्च अस वाक्य एक विंशति के लिये कहे जाते हैं

एकविंशति सख्याया सख्यातरसरूपयो ।

एकस्यां बुद्धयन्तावत्या भागयोरिव कल्पना ॥<sup>१८</sup>

यह भाष्यता कुछ व्याकरण सम्बन्धी कठिनाइयाँ के कारण है । एकविंशति जमा सख्यामात्र का दो सख्यामात्र का योग मान लेने पर और उह निरस्तावयत्र न मानने पर व्याकरण सम्बन्धी कठिनाइयाँ पड़ेंगी । दस शब्द की तरह उह असंख्य

१६ महाभाष्य तथा महाभाष्यप्रदाय १/१/५८

१७ काशिका ५/१/५६

१८ वाक्यपदीय ३ मन्त्रा समुत्ति २०





## एकवचन, द्विवचन और बहुवचन

यद्यपि ये शब्द अन्वयिक हैं फिर भी परिभाषित रूप में व्यवहृत होते हैं। पूर्वाश्रयों द्वारा व्यवहृत शब्दों की परिभाषा प्रायः परिभाषा नहीं दी है परन्तु उदाहरण द्वारा शब्दों की परिभाषा दी है। महाभाष्यकार ने इसका उदाहरण दिया है—  
 एकवचन द्विवचन बहुवचनमिति शब्द समा एताः<sup>१</sup> द्वयस्योक्त्याश्रयता १।४।२२  
 सूत्र के द्वारा एतत्त्व के अर्थ में एतत्त्व और द्वित्व के अर्थ में द्वित्व का प्रयोग होता है। एक शब्द का अर्थ अर्थों में प्रयोग होता है। एक दो बहुवचन शब्दों के साथ वह शब्दों के अर्थ में व्यवहृत होता है। एतत्त्व जगत्त्व में वह अन्वयिकवाची है। अन्वयिक शब्दों एतत्त्व जगत्त्व जगत्त्व में वह अर्थ में प्रयोग होता है। तभी उक्त एकवचन होता है। परिभाषा ने उक्त शब्दों में अर्थों में ही एक शब्द का व्यवहार किया है। यदि एतत्त्व सत्त्व अर्थ विवक्षित होता द्वयस्योक्त्या द्विवचन के अर्थ में बहुवचन का प्रयोग उचित जाना, क्योंकि दो और एक मिल कर तीन का अर्थ व्यक्त करते। अन्वयिक के लिये एक आदि शब्दों का व्यवहार सोच प्रसिद्धि के आधार पर किया जाता है (प्रसिद्धि या च सत्येयायत्यमकादीनाम अष्टादशाक्षरानाम उच्यते)।<sup>२</sup> जहाँ एक शब्द अन्वयिक होता है वहाँ उसकी गणना सत्त्व में नहीं होती। अतः उससे बहुवचन भी होता है। जहाँ 'एक' मान्य है। अस्तु एकवचन में एक के सत्त्विक होने के कारण एकवचन वस्तु की एक इकाई का होता है और वस्तु में भेद भेद पूर्वक होने के कारण अन्वयिक सूत्र एकत्व ही वस्तु का स्वाभाविक रूप है। फलतः सत्त्व के व्याकरण एकवचन की औचित्य मानते हैं।

द्विवचन कभी कभी अपनी स्वाभाविक सीमा के परे भी चला जाता है। सत्त्व में शरीर के व अन्वयिक प्रायः द्विवचन द्वारा प्रकट किये जाते हैं जो जोड़े हैं जैसे—आत्मा आत्मा। परन्तु 'अक्षीणि म दगनीयानि, पादा म सुकुमारा' जहाँ बहुवचनान्त प्रयोग भी लोक में देखे जाते हैं।

बहुत्व के अर्थ में बहुवचन का विधान पाणिनि ने बहुषु बहुवचनम् १।४।२१ के द्वारा किया है। बहुत्व तीन में लेकर पराध तक की सत्त्विकों में व्याप्त धर्म है। सत्त्विक में दारा शब्द बहुवचनान्त है। एक दारा के लिये भी दारा पद का प्रयोग किया जाता है। कुछ लोग इसकी उपपत्ति बताते हुए कहते हैं कि अवयवगत बहुत्व का अवयवी में यहाँ आरोप किया गया है। अतः यहाँ बहुवचन आरोपजन्य है। (अवयवबहुत्वस्यावयविनि आरोपाद् भविष्यति)<sup>३</sup>। एक वक्ष में मूल, शाखा आदि अवयव के आरोप से बहुवचन नहीं होता क्योंकि कोश अथवा वक्ष-व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता। दारा शब्द में प्रति अवयव में प्रम के कारण दारत्व का आरोप

२० महाभाष्य १।४।२१

२१ महाभाष्यप्रतीप १।४।२१

२२ शब्दकौस्तुभ १।४।२१

सम्भव है। जहाँ कोश आदि बाधा नहीं देते एकत्व या बहुत्व के प्रयोग वस्तु की इच्छा पर है। जैसे "आचाया आगता" भी कहते हैं और 'आचाय आगत' भी कहा जाता है। कुछ लोगो के अनुसार दारा शम्भू में बहुवचन साधुव के लिये है। परन्तु बहुवचन विधान सूचक कोई उल्लेख नहीं है उसका अनुशासन नहीं हो पाया है। आचाय धर्मकीर्ति के अनुसार दारा सिक्ता आदि शब्दों में बहुवचन वस्तु के इच्छा स्वातन्त्र्य के कारण है वस्तु के आधार पर नहीं।

तरमादय नियमो नियस्तुक्त क्रियमाण शब्दप्रयोगे इच्छास्वातन्त्र्य स्यादप्यति।

—प्रमाणवार्तिक पृष्ठ १६०

महामाध्यकार ने सिक्ता शब्द का प्रयोग एकवचन में किया है। जैसे एका च सिक्ता तलशनेऽसमया, तत्समुदायश्च खारोशतमपि असमयम्'। इस पर कैपट ने टिप्पणी दी है कि "एका सिक्तेति भाष्यप्रयोगादेव सिक्ता शब्दस्यकवचना तमपि"।<sup>२३</sup>

एकवचन आदि प्रत्ययनियम और अथनियम दोनों रूप में गृहीत होते हैं अर्थात् एक अथ में ही एकवचन अथवा एक में एक वचन ही होता है। इन दोनों रूपों में इनकी व्याख्या की जाती है। 'बहु सूत्र' जैसे वाक्यों में बहु शब्द वैपुल्यवाची है। बहु शब्द भिन्न वस्तुओं के आधारार्थ के रूप में ही सत्यावाचक होता है।

## सख्या विभक्ति से वाच्य अथवा द्योत्य

त्रिषु प्रातिपदिकाथ पञ्च में कम आदि की तरह एकत्व आदि सख्या विभक्त्यर्थ माना जाता है। पञ्च प्रातिपदिकाथपक्ष में विभक्तिसख्या के द्योत्य है। कुछ लोग मानते हैं कि सख्या का अभिधान प्रत्यय के द्वारा होता है और कम आदि का अभिधान प्रातिपदिक के द्वारा होता है। इस मत का आधार अथवा 'यतिरेक' पद्धति है। वक्षी वस्थान जैसे शब्दों में प्रत्यय के भेद से सख्या में भेद देखा जाता है परन्तु साधन में भेद नहीं देखा जाता। इसके विपरीत कुछ लोग मानते हैं कि कम आदि का अभिधान प्रत्यय द्वारा होता है और सख्या प्रातिपदिक के द्वारा अभिव्यक्त होती है। क्याकि अग्निचित्त जैसे शब्दों में प्रत्यय के त्रिषु भी एकत्व का परिणाम होता है परन्तु विभक्ति के बिना कम आदि का ज्ञान नहीं होता। कुछ लोगों के अनुसार प्रातिपदिक से ही सख्या और कम आदि दोनों का अभिधान होता है। कम पश्य जैसे वाक्यों में विभक्ति के बिना भी दोनों का परिणाम देखा जाता है। वस्तुतः ये सब पक्ष भेद पुरुष विकल्पाधीन हैं। और व्याकरणद्वय में प्रसंगानुसार सभी पक्ष यथावसर ग्राह्य हैं। महामाध्यकार ने अनभिहित (२।३।१) इस सूत्र की स्थापना सख्या विभक्त्यर्थ दान के आधार पर की है (तदेव सख्याविभक्त्यर्थ इति दशनाश्रयेण सूत्रं स्थापितम् —महामाध्यप्रदीप २।३।१)। इसी तरह पाणिनि सूत्र ४।१।५० के भाष्य में विभक्तियां व कर्मादि के द्योत्य होने का संकेत है और नागार्जुन के अनुसार यही सिद्धांत

प्रा है—

(परमाद् भाष्याद् द्योतयत्येवमिति सिद्धात् इति भाष्ये—

—महामात्रप्रभाषाया ४।१।५०)।

महामात्रप्रभाषाया और प्रत्यय दाता का परिच्छेद है। पञ्चमी नामक म महामात्रप्रभाषाया का परिच्छेद है। पञ्चमी नामक म महामात्रप्रभाषाया का परिच्छेद है। पञ्चमी नामक म महामात्रप्रभाषाया का परिच्छेद है।

## वृत्ति में सरया

वृत्ति म महामात्र की निवृत्ति हो जाती है। विग्रह दाता म महामात्र का प्रतीति होती है। स राग पुण्य म राग शब्द म एतत्त्व का ज्ञान होता है परन्तु राजपुरुष शब्द म उपसर्जन शब्द स विगी महामात्र का बोध नहीं होता। विगी महामात्र का ज्ञान स वृत्ति म महामात्र का स्थान नहीं है इसका अनुमान कर लिया जाता है।

## वृत्ति में अभेदकत्वसरया

अथवा वृत्ति म अभेदकत्वसरया होता है। भक्त हरि ने अभेदकत्वसरया की दो रूपों म व्यक्त किया है। विग्रह सरयाया का अविभाग रूप म अवस्थिति का नाम अभेदकत्व सरया है। इस दशन क अनुसार वृत्ति म उपसर्जन पदार्थों म भी सरयायोग होना चाहिये। अव्यय की तरह सवथा सरयारहित उपसर्जन पदार्थ की सत्ता उपयुक्त नहीं है। इसलिये वृत्ति म भी सरया का एक सामान्य रूप रहता है जो सभी सरया विग्रहों का ससंग रूप सा है। उसम सरयाया का विभाग दृष्टिगोचर नहीं होता। इसका स्पष्टीकरण म भक्त हरि न मधु का उदाहरण दिया है। मधु म सभी प्रकार की औषधियाँ क रस अविभाग रूप म सन्निविष्ट रहते हैं। मधु म औषधि रसा की अलग अलग पहचान दुष्कर है फिर भी वे वहा है। काय म रस कारण गुण—रस स ही सभव है। इसी तरह यद्यपि वृत्ति म उपसर्जन पदार्थ म सरया विशेष की प्रतिपत्ति नहीं होती, फिर भी उसम सभी सरयाएँ अविभक्त रूप म हैं। इसी का अभेदकत्व सरया शब्द स व्यक्त किया जाता है।<sup>२४</sup>

अथवा अभेदकत्वसरया से अभिप्राय उस सरया सामान्य से है जिसम विग्रह परित्यक्त है (परित्यक्तविशेष सरयासामान्य अभेदकत्वसरया)। अभेदकत्व स्वभाव वाली सरया म व्यक्तिभेद सवथा तिराहित रहता है और सरया केवल जाति रूप म अवस्थित रहती है। सरया का जातिरूप भेदपोहना है अर्थात् भेदों का व्यावर्तन अथवा हटाना ही सरया का जातिरूप है। एकत्व द्वित्व का व्यावर्तन करता है, त्व त्वत्व को हटाता है। इसी तरह अभेदकत्व के अर्थ सभी सरयाया के व्यावर्तक होने के कारण उसमे भेदपोह तक्षण सरयात्व है। पहले मत

से इस मत में यह भेद है कि पहले के अनुसार अभेदकत्व समस्त भेद का समग्र मात्र था फलतः समस्त भेद-रूप था। दूसरे मत के अनुसार अभेदकत्व समस्त भेद में अनुगत सामान्य रूप और अग्र व्यावर्तक स्वभाव वाला है। समास में द्वित्व और बहुत्व सरथा का ज्ञान नहीं होता। केवल अभेदकत्व का परिचय होता है। अतः संख्या विशेष का परित्याग कर संख्या के सामान्य रूप का अभेदकत्व सरथा मानना चाहिए। जिस तरह से अंधेरे में किसी वस्तु के केवल आकार का ही बोध हो पाता है उसके विशेष गुण शुक्ल, नील पीत आदि का आभास नहीं होता उसी तरह राजपुरुष आदि वृत्तिस्थलों में आकार या रूप की तरह केवल सरथावान राज व अथ का ग्रहण होता है पर विशेष रंग की तरह विशेष सरथा का ग्रहण नहीं होता। अतः वृत्ति में अभेदकत्व संख्या की सत्ता स्वीकार करनी चाहिए।

कभी कभी वृत्ति में भी संख्या का बोध होता है। परन्तु इसमें अभेदकत्व संख्या पक्ष की हानि नहीं होती। द्विपुत्र पंचपुत्र जैसे शब्दों में समास में भी सरथा विशेष की अभिव्यक्ति अवश्य होती है परन्तु यहाँ प्रातिपदिकाय ही संख्या विशेष है। इस विग्रह वाक्य से जिस द्वित्व संख्या की प्रतीति होती थी समास होने पर वह तिरोहित हो जाती है और अभेदकत्व संख्या का आविर्भाव हो जाता है। किन्तु द्विशब्द का प्रातिपदिकाय जा द्वित्व है वह वृत्ति होने पर भी तिरोहित नहीं होता। जहाँ स्वार्थवृत्ति पक्ष में भी उपसर्जन का अर्थ होता है। भाव प्रत्यय के बिना भी वृत्तिविषय में द्वि और बहु शब्द द्वित्व और बहुत्व का अर्थ में दखे जाते हैं जैसे द्वयैकयोद्विचनकवचने १।४।२२ के द्वयैकयो शब्द में।

अथवा भी वृत्ति में संख्याविशेष की भूलक मिलती है। जैसे 'तावकीन में एकत्व की। परन्तु यहाँ भी एकत्व की प्रतीति आदेश के प्रयोग से है।

मासजात शौचिक जैसे स्थलों में एकत्व का भान यहाँ प्रातिपदिक के ही विशेष अर्थ के अभिव्यक्ति होने का कारण है। विनिष्ट काल का अवबोध ही यहाँ मुख्य है। परिमय—विशेष के अवधारण के लिये ही परिमाण शब्द का प्रयोग किया जाता है।

कुण्डश ददानि, प्रस्थश ददानि वनश प्रविशति जैसे वाक्यों में एकत्व का अवधारण प्रकरण के बल पर होता है।

विग्रह वाक्य में स्तोकाभ्या मुक्त स्तोकेभ्य मुक्त ऐसा भी कहा जाता है किन्तु समास में सदा 'स्तोकान् मुक्त' ही होता है। यह अलुक् समास है और समस्त पद होने के कारण इसमें एक ही उदात्त है। स्तोकाभ्या मुक्त में समास अन्विधान के कारण नहीं होता। लोक में समस्त शब्द के रूप में इसका प्रयोग नहीं देखा जाता। स्तोकां मुक्त में अलुक् का एकवचनभाव माना जाता है। फलतः वृत्ति में अभेदकत्वसंख्या का व्याधान यहाँ भी नहीं है। गापुचर, वर्षापुज जैसे आपातत बहुवचना में समास में भी अभेदकत्वसरथा है क्योंकि इनमें व्यक्ति बहुत्व के अर्थ में बहुवचन नहीं है अपितु जाति बोध के कारण एक के अर्थ में है। इसलिये एक व्यक्ति के लिये भी गोपुचर (कण्ट के अनुसार कुक्कुट, हलाराज के अनुसार इन्द्रगोप) शब्द का

प्रयोग होता है। इसी तरह वर्षापूर्व म वर्षा शब्द बहुवचन न हो प्रत्यु विनाय का वाचक है। इसलिये वृत्तिगत अभेदवाचकता की प्रतीति यहाँ भी है। पञ्च वृत्ति म अभेदवाचकता भा हरि के अनुसार माननी चाहिए। पर यह अभेदवाचकता पारिभाषिक रूप म ही है। व्यपहारत वृत्ति स सख्याविनाय का भाव नही होता। यदि कुछ स्थला पर किसी विनाय कारण स वृत्ति म सख्या का अन्वेष हो भा तो भी सामान्य लक्षण के रूप म यही कम्ना उचित है कि वृत्ति म सख्याभेद का अवगमन नही होता—

भेद सख्याविशेषो वा व्याख्यातो वृत्तिवाचकयो ।

सबन्ध विनोपस्तु नादस्य तादृशो भवेत् ॥

—वाक्यपदीय वृत्ति समुद्देश १३२

## जाति में सख्या

व्याकरण दशम जाति म भी सख्या मानता है। क्योंकि सख्या इस दशम म भेदक के रूप म भी गृहीत है। गुणपद स सदा विशेषिक प्रसिद्ध ही गुण नहीं लिया जाता गुण भेदक भी होता है

ननु च जाते सख्या न विद्यते तस्या द्रव्यघमत्वात् । यद्यपि विशेषिकप्रसिद्धात् प्रसिद्धा गुणपदाथसंग्रहीता या सख्या सा न विद्यते तथापि भेदका गुणा इत्यस्माद दशमे भेदमात्रा या सख्या सा विद्यत एव—

—यास १।२।५८

## कारक (साधन) विचार

स्वाश्रये समवेतानां तद्वदेवाश्रयात्तरे ।

क्रियाणामभिनिष्पत्तौ सामर्थ्य साधनं विदुः ॥<sup>१</sup>

क्रिया की निष्पत्ति में लगी हुई द्रव्य शक्ति को साधन कहत है । इसे कारक भी कहत है । साधन शब्द की व्युत्पत्ति साध्यते अनेन क्रिया के रूप में की जाती है । महाभाष्यकार ने साधन को गुण माना है । शक्ति स्वयं आधार के परतन्त्र है साथ ही अन्य आश्रया से अपने आश्रय का भेदन है । भेदक होने के कारण 'भेदका गुणा' इस दशन के आधार पर उसे गुण कहते हैं । महाभाष्यकार ने यदि तावद् गुणसमुदाय साधन, साधनमपि अनुमानगम्यम्' (महाभाष्य ३। २। ११५) — यह वाक्य 'यवहृत' किया है । गुणसमुदाय स अभिप्राय शक्ति समुदाय से है । गुणसमुदाय शब्द में समुदाय शब्द करण आदि सभी शक्तिया का प्रतीक है । करण आदि शक्तिया क्रिया की सिद्धि में अविनाशरूप से निमित्त हैं अतः वे सभी साधन हैं । इसीलिये सर्वा शक्तयः साधनम्<sup>२</sup> यह उक्ति प्रसिद्ध है । कभी कभी द्रव्य के लिये भी साधन शब्द का व्यवहार मिलता है जैसे, 'साधनं च द्रव्यम्' । एस स्थलो में शक्ति और शक्तिमान के अभेद की विवक्षा से साधन शब्द स द्रव्य का अभिवान होता है (शक्तिशक्तिमतोरभेदविवक्षया साधनशब्देन शक्तिमति द्रव्याण्युच्यते) ।<sup>३</sup>

साधन के शक्ति रूप में होने के कारण क्रिया की तरह वह भी अनुमय है । शक्तिया सदा अनुमय ही होती हैं । शक्तिमान को शक्ति से अतिरिक्त मानन पर साधन का प्रत्यक्षत्व और परोक्षत्व द्रव्य के आधार पर होता है । लाक में द्रव्य के प्रत्यक्ष होने पर क्रिया का भी प्रत्यक्ष समझा जाता है और द्रव्य के परोक्ष होने पर क्रिया का भी परोक्ष माना जाता है वैसे ही साधन का भी समझना चाहिये ।

भक्त हर्ष ने साधन पर विचार द्रव्य-अतिरिक्तशक्तिदान और द्रव्य-अयति स्विनशक्तिदशन इन दोनों पक्षा की मायताओं के आधार पर किया है ।

१ वाक्यपत्नीय ३, साधनसमुद्देशः ।

२ कैयट, महाभाष्यप्रदीप ३। २। ११५ पृ० २५३

३ वट्टा, पृष्ठ २५२

## द्रव्यव्यतिरिक्त शक्ति-दर्शन के अनुसार साधन

भत हरि के अनुसार विश्व शक्तिया का समूह है। विश्व की प्रत्येक वस्तु एक तरह का शक्ति पुंज है। घट जस भाव (पन्था) जल ले आना जल रखना आदि जस बायीं के साधक शक्तियों के समूह है। ये शक्तिया, हेलागज के अनुसार कई प्रकार की होती हैं। कुछ अपने हेतुओं से ही स्वाभाविक रूप में उदबुद्ध होती हैं जैसे दीप में प्रकाश की शक्ति। कुछ शक्तिया अपने आश्रय के अन्तर्स्थित होती हैं जस बाधा आदि शक्तियाँ। विप की भारण शक्ति और बीज की अकुर जनन शक्ति भी शक्ति विनोप ही हैं। योगिमा की शक्ति भी एक विशेष शक्ति है। यह उपयुक्त भाव हेलागज ने भनू हरि के शक्तिमात्रासमूहस्य विश्वास्यानवधमण वाक्य का यक्त किया है। परन्तु इसका भाव भत हरि के शक्ति दर्शन के अनुरूप भी हो सकता है। भत हरि शक्ति-पदाथ के समर्थक हैं। विश्व की मूल सत्ता शक्त्यात्मक है। विश्व की सभी वस्तुएँ उसी मूल शक्ति की मात्राएँ हैं उनके अवयव हैं। इसलिये विश्व को शक्तिमात्राओं का समूह कहना उनके दर्शन के अनुकूल है। उस शक्ति की सवत्र सदा सत्ता है। फिर भी वही किसी शक्ति विशेष की विवशा होती है और इस तरह वस्तु वचित्रय बना रहता है। घट दवा घट द्वारा जल लाओ घट में जल रपे आदि वाक्यों में कम करण आदि शक्तियाँ विवशा बना उन्भूत होती हैं। इसलिये कारक-साक्य भी नहीं होने पाता है। शक्ति की साधन मानन पर ही इस वचित्रय की भीमासा ठीक ठीक हो पाती है। द्रव्य का साधन मानन पर कम करण शक्ति की व्यवस्था समुचित रूप में नहीं की जा सकती क्योंकि द्रव्य एकस्वभाव वाला है।

शक्ति की साधन मानने में कुछ कठिनाइयाँ हैं। गहाँ पर शक्तियाँ हैं वहाँ विवक्षा भल हो जहाँ उनकी वास्तविक सत्ता नहीं है वहाँ किस तरह व्यवस्था की जायगी। जैसे शक्तिम श्रान्धाति शक्त या साधयति जमे वाक्या में शक्ति शान् के रहन से किसी दूसरी शक्ति की आवश्यकता नहीं है। एक शक्ति का किसी अन्य शक्ति के साथ योग अनिवाय मानने पर अनवस्था दाप भी जायगा। इसके अतिरिक्त भीमा वात्मन वाक्या में कस शक्ति की भीमासा हागी। धनाभावो न युक्त जस वाक्यों में अभाव में कस किसी शक्ति का स्थान होगा अभाव तो निष्पत्त्य है। इस तरह की शान्वाक्या के समाधान में भनू हरि ने कहा है कि साधन-व्यवहार बुद्धि अवस्था निवधन है वीद्धि है। वीद्धि सत्ता के लिये किसी वस्तु की ग्राह्य सत्ता अथवा असत्ता प्रयोजक नहीं। सन् अथवा असत् वस्तु के भनू बुद्धि द्वारा ग्राह्य हैं। ग्राह्य जणत् में वस्तु की यथाय मता हात हुए भी जब तक बुद्धि द्वारा उसका निरूपण नया हाता उसका लिय किसी शान् का व्यवहार नया किया जाना। अभाव का भी बुद्धि द्वारा भावजन हाता है तभी वह शान् द्वारा अमिति हाता है। इसा तरह स्थानी पचति स्थाना पचति और स्थाना पचति इन वाक्यों में एक ही स्थानी कता करण घोर अधिवरण कम हो सकगी क्योंकि उसमें भनू करता कठिन है। इस का समाधान भी स्थाना में भी ग्राह्यभाव की विवशा में करण वास्तविक आधार की

विवक्षा म अधिकरण आदि मान कर हो जाता है। महाभाष्यकार ने बौद्धिक आधार लेकर पाणिनि के अपादानविधायक कई सूत्रों का प्रत्याख्यान किया है। वस घातयति, वलि वधयति जैसे वाक्यों में वनमान का निर्देश भी नटा और वृषको द्वारा अतीत की घटना को बुद्धि अवस्थित रूप में प्रत्यक्ष सा स्थान के रूप में उपयुक्त माना गया है। इसलिये साधन व्यवहार का बौद्धिक धरातल मान लेने पर शक्ति का नाशत्व भी बौद्धिक रूप में सिद्ध हो जाता है। बाह्य वस्तु में जिस बौद्धिक-वस्तु का समारोप होता है उसके लिये भर्तृहरि ने 'बुद्धिप्रवृत्तिरूप' शब्द का व्यवहार किया है। वक्ता बुद्धिप्रवृत्तिरूप का—बुद्धि में आभासमान विषय का बाह्य अर्थ में आरोप कर शक्ति के भेद का कल्पना करता है। भाग्योप का आधार दृश्य और कल्पित में अभेद का अध्यवसाय है। हलाराज के अनुसार बाह्य अर्थ में भी शब्द प्रमाण है। बुद्धि प्रतिभास अपने आप में अवस्थित नहीं होता। क्रियाभेद का आधार पर विवक्षाजय शक्ति भेद की कल्पना कर वस्तु को ही अनङ्ग शक्तिमयी मान लिया जाता है। इस सम्बन्ध में हलाराज ने बौद्ध और व्याकरण के मतभेद का उल्लेख किया है। बौद्ध धर्म के अनुसार विकल्प प्रतिबिम्ब भेद अध्यवसाय से शून्य होता है इसलिये बाह्य प्रवृत्ति होती है किन्तु शब्द की प्रवृत्ति अपाह रूप में अर्थ व्यावर्तनरूप में—बाह्य होती है अपाह का अतिरिक्त शब्द की बाह्य प्रवृत्ति मानने पर व्यभिचार दोष आ जायगा—शब्द का यथाय सकेत जानना दुष्कर होगा। अतः प्रामाण्य वक्ता के अभिप्राय में है। व्याकरण दर्शन के अनुसार बाह्य अर्थ में प्रामाण्य अध्यवसाय के बल पर होता है

सौगतानां तु विकल्पप्रतिबिम्बस्य भेदात्तदवभासात् बहिष्प्रवृत्तिः। प्रामाण्यं तु वक्त्रभिप्राय एव शब्दानां न बाह्यो व्यभिचारशक्त्यादयव्यावृत्तिमात्रनिष्ठता तु बहिः। व्याकरणानां तु व्यावृत्तवस्तुविषयता तथा अध्यवसायात् तत्रैव च प्रामाण्य इति निदर्शनमेव<sup>४</sup>।

शक्ति में नाशत्व मानने पर भी उपाधिया नियत हैं फलतः परस्पर साक्य नहीं होन पाता है और साधन में भेद परिलक्षित होता है।

एक दर्शन के अनुसार सभी भाव निरीह है चेष्टा रहित है। फिर भी उन्मेष कर्ता, कर्म, क्रिया आदि की कल्पना होती ही है। स्वानर्थ और पारतन्त्र्य लक्षण कर्तृकरण आदि कारक हैं। क्रिया प्रमलक्षण वाली है। ये सब क्रिया कारक भाव आदि मिथ्याग्रन्थाम वासना से सवथा निर्वेष्ट पदार्थ में भी बौद्धिक-कल्पना द्वारा माने जाते हैं। क्योंकि शब्द व्यवहार विकल्प के आश्रित होता है। हलाराज के अनुसार यह मत अद्वैतवाद के अनुसार है और महाभाष्यकार ने अद्वैतवाद का अनुगमन किया है (?)

दर्शितमित्यद्वैतनयाबलम्बिभिः भाष्यकारप्रभृतिभिः कुल  
पिपतिपतीत्यादिप्रयोगसिद्धयथमाख्यातमित्यर्थः।<sup>५</sup>

४ हलाराज, वाक्यपदीय ३ सा. १ समु. १६

५ वाक्यपदीय ३ सा. १ समु. १६, तथा हलाराज की इस पर टीका



परन्तु "कूल पिपित्तिपति" व प्रसंग में भाष्यकार ने सभी भावा को चेतन माना है, निश्चय नहीं माना है। हा, भद्वैतवाद की गंध बहा अवश्य है।

द्रव्य में व्यतिरिक्त सात्त्विकसाधन की सिद्धि का आधार अव्यव्यतिरिक्त भी है। वक्ष्य, वक्ष्य जिस साधन में विभक्त्यर्थ का (साधन का) व्यतिरेक स्पष्ट है। प्रकृति ता वृक्ष" एक ही है परन्तु प्रत्यय भिन्न भिन्न है। इसलिये प्रत्यय की सत्ता मानने पर साधन की सिद्धि हो ही जाती है।

महामाध्यकार ने भी कहा है— किसे साधन मानना उचित है—द्रव्य को या गुण को। गुण को साधन मानना उपयुक्त है। देखा जाता जाता है कि कोई किसी से पूछता है देवदत्त कहा है। वह उत्तर देता है—'देवदत्त वक्ष्य पर है। किस वक्ष्य पर ? जो सामने है (य तिष्ठति)। कम वार्तानाप में वृक्ष पहले अधिकरण के रूप में और बाद में कर्ता (तिष्ठति क्रिया) के रूप में व्यक्त हुआ है। द्रव्य के साधन मानने पर जो कम होगा। वह कम ही होगा जो करण होगा वह करण ही होगा, जो अधिकरण होगा वह अधिकरण ही रहेगा। (महामाध्य २। ३। १)। गुण का (गवित को) साधन मानने पर अनेक अर्थ क्रिया के कारण अनेक व्यपदेशन संभव है। फलतः सात्त्विक नानात्व भी सिद्ध होता है।

यदि द्रव्य साधन स्यात् तदा तस्य कल्पत्वात्

निबन्धनाबाधितप्रत्यभिज्ञाविषयत्वात् नानाथ—

क्रियाकारणनिबन्धनो व्यापदेशमेवो न स्यात्। दृश्यते चासाविति

नानागवितसदभाववगम सिद्धः।

—महामाध्यप्रदीप २।३।१

## द्रव्य-अव्यतिरिक्त शक्ति-दर्शन के अनुसार साधन

कुछ लोग गवित का द्रव्य से अव्यतिरिक्त मानते हैं। हेताराज के अनुसार यह मत ममगवादी वैशेषिका का है। ममगवादियों के अनुसार शक्ति और शक्तिमान सभी भाव हैं। और भावा का स्वरूप स्वभाव के उपपन्न करने में शक्ति है। अतः भाव ही शक्ति है। भावों का साधनय अपात्तान् आत्ति शब्दा द्वारा व्यक्त न होकर प्रत्ययो द्वारा व्यक्त होता है। "घट पश्यति" इस वाक्य में घट गणनक्रिया का विषय है वही कम है उसका द्रव्यत्व रूप अपनी शक्तिया से समग्र होकर साधन होता है और कम कारक के रूप में व्यवहृत होता है। अभी तरह 'रूप पर्यति' इस वाक्य में दान क्रिया में रूपत्व साधन है। एव ही वस्तु गवित और गविमान दाना कस ह इससे समाधान में ससगवादी कहते हैं कि एक ही वस्तु उपकारक अवस्था में शक्ति और उपकार्य अवस्था में गविमान हो सकता है। गवित अवस्था में किसी अर्थ गवित से याग न होने के कारण अवस्था दाप भी न होगा और अनाव के सातवें पदार्थ के रूप में स्वीकार करने के कारण उसमें भी गवित संभव हो सकती। गवित के उपकारक धर्म का नाम साधन है। श्रिया माध्य स्वभाववाली होती है। फलतः सिद्ध स्वभाव वाल भाव (कारक) साध्यस्वभाववाली श्रिया का सिद्धि में महायक होने के कारण उसका उपकारक मान

लिय जात है। इसलिय सिद्धमात्र (कारक) ही साधन है। अपने आश्रय में गतिन वैम व्यजिन हाती है इसका निष्पन्न मन हरि ने रस के दृष्टान्त से किया है। रस आश्रि का रसनादि क्रिया साधन है और ये सत्ता नियत ग्रहण वाल हैं अर्थात् अपने जाति बल के आधार पर आश्रित हैं। द्रव्य का ग्रहण अभी द्रव्य रूप में होता है कभी गुण रूप में और कभी क्रिया रूप में इस तरह उसका ग्रहण नियत गती है। परन्तु रस का आधार ही उसका स्वरूप ग्रहण में हनु है और वह नियत है। रसक में रस का रस में उसके आश्रय का आश्रय हो जाया करता है। इस तरह भाव परस्पर शक्ति मान होत हैं। परस्पर समग ही गतिन है। गतिन नाम की कोई क्रिया वस्तु नहीं है। परस्पर ससग कभी संयोग में हाता है। जस, मन और चन्द्रिय के अर्थ के साथ सन्निकष किसी वस्तु की उपलब्धि (ज्ञान) में साधन हाता है। मुख की अनुभूति में आत्मा का अन्त करण से संयोग साधन है। इस तरह जा जिमसा जिम रूप में अनु ग्रह करता है वह उसका उभी रूप में साधन है।<sup>६</sup> अस्तु सभी भावा की अतीन्द्रिय गतिनया हैं। भाव सहकारी के रूप में स्वरूप से ही कायजनक है भावा की आत्मा ही गतिन है। विनोप सहकारी के सपक से विनोप काय जनकता गतिन भाव में स्वाभा विव है। अत भाव से व्यतिरिक्त किसी अदृष्ट गतिन की कल्पना आवश्यक नहीं है।

सभी द्रव्य में सहज रूप में गतिन विराजमान है। समय पर उसकी अभि व्यक्ति होती है। कुडय में आवरण की शक्ति और गस्त्र में छेदन की शक्ति सत्ता निश्चित है परन्तु क्रियाकाल में अपने काय निष्पादन के समय में ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। द्रव्य में क्रिया काल के पूर्व-काल में भी शक्ति है और क्रिया काल के उत्तर काल में भी है। इस विषय में आचार्यों में विचलप है। कुछ लोग गतिन और भाव (द्रव्य) की साथ साथ मत्ता मानत हैं। कुछ लोग गतिन के पूर्व में भाव मानत हैं और कुछ लोग शक्ति के उत्तरकाल में भाव मानत हैं।

व्यतिरिक्त और अव्यतिरिक्त पक्षा में चाह सत्य जो हो त्याकरण न्शन व्यतिरिक्त पक्ष को प्रथम देना है। वह गत्प्रमाणवादी है। गत् से जो अभिव्यक्त होता है वही उसके लिए प्रमाण है। गत् पदार्थों का साधनरूप व्यतिरिक्त रूप में ही व्यक्त करता है। लाव में भी गतिन व्यतिरिक्त रूप में ही समझी जाती है। अत्यति रिक्त मानन पर सतत क्रिया निष्पत्ति होने की सम्भावना होन लगगी।

एव च व्याकरणनयानुसारिभि अस्माभि तत्सामर्थ्य व्यतिरिक्तमेवोच्यत।

लोकश्च गदक्रिया निमित्ताया शक्ते व्यतिरेकमेवानुगच्छति।

अत्यतिरेके हि सतत क्रियानिष्पत्तिप्रसंगः।<sup>७</sup>

## शक्ति एक अथवा अनेक

गतिन साधन है। वह शक्ति एक है अथवा अनेक इस विषय में भी शास्त्रिक

६ वाक्यपदीय ३, साधन समुदेश ६-१४

७ हेलाराज, वाक्यपदीय, साधन समुदेश २८

प्रवाद हैं। कुछ लोग क अनुसार साधन शक्तियाँ छ (षट्) हैं, नित्य हैं, भग्नभेद समचित है। जिस तरह अथ म जानि की सत्ता रहती है उसी तरह व भी उसम क्रिया की सिद्धि के लिए रहती है। यद्यपि द्रव्यभेद म भिन्न भिन्न अनन्त शक्तियाँ हो सकती हैं फिर भी उन सबका समावेश छ शक्तियाँ म हो जाता है। इसलिए मूल शक्तियाँ छ ही हैं। वही छ शक्तियाँ, छ साधन अथवा छ कारण नाम से विख्यात हैं।

कुछ अन्य आचार्य मानते हैं कि शक्ति मूल रूप म एक ही है। निमित्तभेद से एक ही साधन शक्ति कई रूप म (छ रूप म) व्यक्त होता है और वही निमित्त भेद साधन भेद का हेतु है। इस मत के अनुसार मूल रूप म वह शक्ति वत त्व शक्ति है। वत त्व शक्ति ही अवातर व्यापार की विवक्षा से कारण सम्प्रदान आदि नाम प्राप्त करता है और छ प्रकार की बही जाती है।<sup>15</sup> क्रिया की निष्पत्ति म सभी कारक सहायक हैं। अतः वत त्व किसी न किसी रूप म सभी कारका म है। पुत्र के जन्म म माता पिता नाना का वत त्व है। विवक्षावश पिता म वत त्व और माता म अधिकरणत्व कभी माता म वत त्व और पिता म अपादानत्व मान लिया जाता है। साध्य के रूप म क्रिया सभी कारकों के लिए साधारण है। अतः उस क्रिया के प्रति सभी कारका म वत त्व है। प्रधान क्रिया की निष्पत्ति म सभी कारण अपने अपने व्यापार में स्वतन्त्र हैं, कर्त्ता के सानिध्य म भी दूसरे कारका का व्यापार बन्द नहीं होता। अतः कर्त्ता के सानिध्य म पारतन्त्र्य अवस्था म भी उनमें कारकत्व बना रहता है। जहाँ स्वतः स्वातन्त्र्य है वही वत सत्ता होनी है और जहाँ पारतन्त्र्यसहित स्वातन्त्र्य है वहाँ वत सत्ता न होकर कारण आदि का विधान होता है। कर्त्ता की प्रधानता इसलिए मानी जाती है कि कारण शक्ति की प्रवृत्ति निवृत्ति उसी के अधीन होती है दूसरे में पहले उसीकी शक्तिलाभ होता है उसका कोई प्रतिनिधि नहीं होता। आस्तै शेत जस स्यता म जहा कारण आदि का अभाव है केवल वही दिखाई देना है और बिना कर्त्ता के कारण शक्ति के दान नही होत। इसलिए वत त्व शक्ति ही इस मत के अनुसार प्रधान शक्ति है।

## क्रिया साधन रूप में

महाभाष्यकार ने क्रिया का भी साधन के रूप म व्यक्त किया है। उनके अनुसार क्रिया भी कृत्रिम कर्म है। क्रिया किस तरह क्रिया से इत्सिततम हो सकती है इसके लिए उन्होंने सदशन शक्ति क्रियाया का उल्लेख किया है। बद्धिगाली मनुष्य पहले किसी वस्तु को बुद्धि से देखता है। देखन पर उस पान की इच्छा उसके मन में जगती है। इच्छा (प्राथना) होने पर वह उसमें लिए अध्यवसाय करता है। अध्यवसाय से आरम्भ, आरम्भ से निवृत्ति और निवृत्ति से फल की प्राप्ति होती है। अन्तम मन्थन क्रिया का साध्य प्राथना क्रिया है और प्राथना क्रिया का साधन सम्प्रदान क्रिया है। इसी तरह प्राथना क्रिया अध्यवसाय क्रिया का साधन है। इस तरह पहले जो क्रिया साध्य है वही आग वाली

क्रिया का साधन बन गई है। भत हरि के अनुसार सदसा क्रिया का साधन चतुर्थ है (सदगने तु चतुर्थ विनिष्ट साधन विदुः)।<sup>६</sup> कैयट के अनुसार 'कारक' १।४।२३ इस सूत्र में कारक पद से क्रिया विवक्षित है (क्रियाऽत्र भूते कारकगद्देशेनोच्यते। सा हि कर्त्रादीनि विनिष्टायपदेश युक्तानिकरोति-महाभाष्यप्रदीप १।४।२३)। पाणिनि सूत्र ३।१।११८ व भाष्य में भी पतञ्जलि ने व पुन धातुकृतोऽथ। साधनम्।<sup>७</sup> कहा है। कैयट के अनुसार यहा धातु शब्द का अभिप्राय धात्वर्थ क्रिया है। वही साधन है। हेलाराज के अनुसार 'क्रिया साधन है यह मत वार्तिककार का है (शक्तिव्यतिरेका क्रियोपकाराथमाश्रिता साधनमिति सामान्येनोच्यत इति वार्तिककारमतम्)।<sup>८</sup>

### अपूर्व, कालशक्ति प्रकृति आदि साधन के रूप में

भत हरि ने साधन ज्ञान के प्रसंग में विभिन्न तन्त्रों के मतों का भी उल्लेख किया है जसा कि उनकी पद्धति है। कुछ दार्शनिक (मीमांसक) 'अपूर्व' को ही साधन मानते हैं। (मीमांसक यागजय अष्ट शक्ति विशेष को अपूर्व मानते हैं)। कुछ विचारक ब्रह्म की काल शक्ति को ही साधन मानते हैं। काल-द्रव्यवादी केवल काल को साधन मानते हैं। सात्यदगन राजसी क्रिया अथवा प्रकृति को ही साधन मानता है। विज्ञानवादी बुद्धि प्रकल्पितरूप को श्री भसगवादी ससगिरूप का साधन मानते हैं इनका विवचन ऊपर किया जा चुका है। व्याकरण दगन लाकप्रसिद्ध पदार्थ सामर्थ्य का साधन मानता है। हेलाराज ने इन सब मतों का संग्रह निम्नलिखित पंक्तियों में कर दिया है जो महत्त्वपूर्ण है

तदेव पदार्थसामर्थ्य व व्याकरणमतेन साधनम्। शयवा बुद्धि प्रकल्पनारूप विज्ञानवादाभिप्रायेण ससगिरूप वा पदार्थांतरभूत ससगवादानुसारेण, अदृष्टलक्षणम् अपूर्वगद्देशाच्च वा मीमांसकदृष्ट्या ब्रह्ममन्त्रादिनी वा काल शक्ति अद्वैतदगनेन क्रिया राजसी प्रकृतिरूपा वा सात्यदगनानुसारेण, नित्यमेव ब्रह्मलक्षण वा कालरूप द्रव्यकालवादिना मतेन विज्ञेयम्।<sup>९</sup>

अन शक्ति शब्द से वाच्य साधन का व्याकरणज्ञान में स्थान है। उसीका कारक सामर्थ्य रूप है। कारक के सात भेद मान जाते हैं। छ कता कम आदि के रूप में और एक नेप में। कुल मिला कर सात होते हैं—

सामर्थ्य कारक तस्य सप्ताद्या भेदयोनय

यद् कमाख्यादिभेदेन नेपभेदस्तु सप्तमी ॥

[वाक्यपणीय ३ साधन ८४]

६ महाभाष्य १।४।२३ तथा वाक्यपणीय, साधन समुदेश १६ १७

७ हेलाराज वाक्यपणीय, साधन समुदेश १७

८ हेलाराज, वाक्यपणीय, साधन समुदेश ४२

## कर्ता कारक

पाणिनि ने स्वतन्त्र को कर्ता माना है। जिसका स्व (आत्मा) तत्र (प्रधान) हो वह स्वतन्त्र है। यद्यपि क्रिया की निष्पत्ति में सभी कारका का हाथ रहता है क्रिया के द्वारा जिसका व्यापार प्रमुख रूप में व्यक्त होता है, उसे स्वतन्त्र कहा जाता है। जिसमें प्रवृत्ति या निवृत्ति स्वेच्छाधीन हो वह भी स्वतन्त्र है। कुछ-न कुछ स्वतन्त्र सभी कारका में होता है सभी कारक अपने अपने व्यापार में स्वतन्त्र होते हैं फिर भी कर्ता को ही स्वतन्त्र माना जाता है। भतहरि ने कर्ता में स्वातन्त्र्य के कई हेतु दिए हैं। कर्ता स्वतन्त्र इसलिए माना जाता है कि वह दूसरे कारका की अपेक्षा पूर्व शक्ति लाभ करता है। करण आदि में स्वातन्त्र्य कर्ता के द्वारा आता है। कर्ता अन्य कारकों के उपकारक होने के कारण उन्हें अपने से नीचे करने में समर्थ होता है। कर्ता की अधीनता में दूसरे कारक क्रियाशील होते हैं। जब कर्ता विरत हो जाता है व भी निवृत्त हो जाते हैं। कर्ता अन्य कारका को निवृत्त करता है पर अन्य कारक उसे नहीं निवृत्त करते, वह स्वयं निवृत्त होता है। दूसरे कारकों के प्रतिनिधि होते हैं आवश्यकता पड़ने पर उनका स्थान पर दूसरा का उपादान किया जा सकता है। कर्ता का प्रतिनिधि नहीं होता। कर्ता अधिकारी होता है अधिकारी वह होता है जो अर्थी हो समर्थ हो और शास्त्र से अप्रमुदस्त हो। जहाँ दूसरे कारक नहीं हैं वहाँ भी कर्ता रह सकता है। अस्ति क्रिया के साथ कोई अन्य कारक नहीं है, यहाँ प्रविवेक है किन्तु यहाँ कर्ता है। यद्यपि अस्ति क्रिया के साथ अधिकरण कारक आदि संभव हैं किन्तु उनकी स्थिति नान्तरीयक रूप में है। गद व्यापार से उनका उन्मीलन नहीं होता है। कर्ता दूर में भी उपकारी होता है, दूसरे कारका में यह शक्ति नहीं है। बिना कर्ता के क्रिया नहीं होती, अतः कारका के मिलित रूप से भी कर्ता की विशेषता सिद्ध होती है। इन सब कारणों से कर्ता में स्वातन्त्र्य माना जाता है।

उपयुक्त कृत घम शास्त्रिक हैं। गद से जहाँ इनकी अभिव्यक्ति हो यहाँ कृत रूप रहता है। अस्ति चेतन अचेतन सत्य में गदोपात्त रूप में कृत रूप समर्थ है। हलाराज ने प्रमाण में किमी अन्य व्याकरण के दा मूल उद्धृत किए हैं

अर्थोर्कर्ता तथा युक्तश्च

(हलाराज व्याकरणटीका ३ भाष्यन समुद्धृत १०३)

य गाना मूल पाणिनि के स्वतन्त्र कर्ता १।४।२८ और तत्प्रयोजन हेतु च १।४।२९ के प्रमाण अनुकरण है। किन्तु हलाराज ने इनका प्रणयन चेतन और अचेतन की दृष्टि में माना है।

कृतत्व के शास्त्र स्वरूप मानन पर ही एक कारण में विद्वत्तावधान के भी कृतत्व के भी कर्मत्व और कर्म करणत्व सम्भव है। प्रयोज्य कर्ता में भी स्वातन्त्र्य है। अस्ति कर्ता क्रिया में प्रवृत्ति नहीं है उम अस्ति क्रिया में प्रवृत्ति किया जाता है उमर सामर्थ्य का रूप कर ही किया जाता है। अस्ति व्यक्ति क्रिया द्वारा किमी व्यापार में निपुण नहीं किया जाता। अस्ति क्रिया की गति में सम्भावित शक्ति के रूप में

प्रयोज्य में भी कृतत्व रहता है। वह आत्मसाध्य क्रिया में अथवा कारका का प्रयोजक होता है। दूसरे द्वारा प्रयुक्त होने के कारण उसके स्वातन्त्र्य में बाधा नहीं पड़ती। विषयभेद में प्रयुक्त दशा में उसमें पारतन्त्र्य और स्व व्यापार में स्वातन्त्र्य है। अपने व्यापार में अनन्यप्रयोज्य के रूप में वह अथवा कर्ता की तरह ही स्वतन्त्र माना जाता है।

कर्ता ही प्रयोजक के रूप में हेतु भी कहा जाता है। प्रेक्षण अध्येषण और प्रयोज्यक्रिया के अनुकूल चेष्टा करता हुआ कर्ता ही व्याकरणशास्त्र में हेतु नाम से व्यक्त किया जाता है। स्वातन्त्र्य को न छोड़त हुए प्रयोजक व्यापार में प्रयोज्य रूप में कभी पराधीनता का भी अनुभव करता है।

प्रयोजक दो तरह का होता है—मुख्य और अमुख्य (गुणभूत)। देवत्त कट कारयति वाक्य में प्रयोजक मुख्य है। भिक्षा वासयति इस वाक्य में भिक्षा के वाम हेतु होने के कारण प्रयोजकत्वं उपचरित माना जाता है।

यासकार ने कर्ता का सांनिध्य शास्त्र में तीन प्रकार से दिखाया है। निर्देशक द्वारा प्रकरण के द्वारा और सामर्थ्य के द्वारा।

## कर्म

क्रिया के माध्यम से कर्ता का ईप्सिततम काम माना जाता है। जहाँ पर काम के लिए क्रिया होती है निष्पत्ति सत्कार अथवा प्रतिपत्ति हानी है वहाँ काम ईप्सित होता है। अन्यत्र क्रिया ही प्रतीयमान सन्देश आदि क्रिया की अपेक्षा ईप्सित होती है। ईप्सित के साथ अनीप्सित भी काम होता है। अनीप्सित शब्द से जो ईप्सित से अथ है उन सबका ग्रहण होता है। अकथित भी काम है। कुछ काम विनोप नियम द्वारा निवृद्ध हैं।

भग्न हरि ने ईप्सित काम के तीन भेद दिए हैं निवृत्य विकाय और प्राप्य। तथा अथ प्रकार के कर्मों को चार प्रकार का दिखाया है—श्रीशमीय रूप से प्राप्य अनाप्सित, सन्नातर से अनाख्यात और अयपूर्वक। इस तरह काम सात प्रकार के होते हैं।

ईप्सित के तीन भेदों में सदा के निवृत्य और विकाय के उल्लेख कात्यायन ने किए हैं। जिसकी प्रकृति चाहे वह सत हो अथवा अमन अभेद रूप से आश्रित नहीं हानी है वह निवृत्य काम माना जाता है।

अथवा जा अमन में उत्पन्न होता है अथवा मन हात हुए भी ज में द्वारा व्यक्त होता है वह निवृत्य काम है। वनोपिक दान के अनुसार अमन से मन की उत्पत्ति होती है। सतवायवाद के अनुसार सत से सत की उत्पत्ति होती है। दोनों रूप में, ज में के द्वारा जिसकी अभिव्यक्ति होती है वह निवृत्य है —

यस्योपादान कारण नास्ति तत् निवृत्यम् । यथा सयोग करोतीति । मदस्युपादान कारण न विवक्ष्यत तत् निवृत्यम् ।

—कथं महामाध्यमशील ।

यदि प्रकृति सत अथवा असत परिणामी रूप में विवक्षित रहती है विकाय कम होता है। विटठल ने निवत्य का सम्बन्ध असत से और विकाय का सम्बन्ध सत से जोड़ा है।

तत्र निवत्य यदसदेव जायते । यथा घ्नं करोतीति । विकाय लब्धसत्ताफमेवा वस्थांतरमापद्यते ।

—प्रक्रियाकौमुदी भाग १ प० ३८३

विकाय कम दो प्रकार का माना जाता है। प्रकृति के उच्छेद से सभूत और गुणांतर उत्पत्ति से सभूत। प्रकृति के उच्छेद से अभिप्राय अपनी प्रकृति के नाश से सर्वात्मना विनाश से है। जैसे काष्ठ भस्म करोति। हेताराज के अनुसार यह वाक्य निवत्य का भी उदाहरण है यदि प्रकृति की अविवक्षा हो। प्रकृति की विवक्षा में यह विकाय का उदाहरण है।

काष्ठानि भस्म करोति। नूयवत प्रकृति विकारयो क्रियासम्बन्धो योज्य पूर्वोण तु लक्षणत निवत्यमेतत् कम प्रकृतेरविवक्षायाम्। विवक्षायाम् तु विकायम्।

—हेलाराज साधन समुद्र २

काष्ठानि दहति इस वाक्य में विकाय सामर्थ्य गम्य है। जब प्रकृति अपने स्वरूप को न छोड़ती हुई किसी गुणांतर के संनिधान से विकृत जान पड़ती है उससे उपलक्षित भी विकाय कम होता है। जैसे सुवर्ण कुण्टल करोति। यद्यपि सार्वमत के अनुसार इस वाक्य में भी विकाय अपूर्व है किंतु प्रत्यभिज्ञान के बल पर। लान् में उह एक मानकर केवल गुणांतर का भेद माना जाता है। अतः गुणांतर के आधान से जहां दूसरा व्यपदेश हो वह भी विकाय कम है।

निवत्य और विकाय सम्बन्धी विरोध जहां प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से नहीं लक्षित होता है वह प्राप्य कम कहना होता है। जैसे आन्तिय पर्यति। इस वाक्य से आन्तिय में दहन क्रिया द्वारा कोई विरोध या विचार प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से नहीं जान पड़ता है।

कुछ लोग के अनुसार प्राप्य कम नहीं है। क्योंकि क्रियावृत्त विरोध सबसे उपलब्ध होता है। वही वह दृश्य होता है और वन्ता सूक्ष्मता के कारण अदृश्य होता है। अतः विपरीत कथन का भावना है कि प्राप्यत्व सभी कम में है। सभी कम क्रिया में प्राप्यमाण होता है। कवन घनांतर की विचार से कम तीन प्रकार के कहे जाते हैं।

तत्र प्राप्स्यस्य सवस्य कमणाऽस्ति क्रियया प्राप्यमाणत्वात्। अवांतरविवक्षायां तु न विध्यमुच्यते।

—कथं महाभाष्यप्रतीप २।२।१

प्राप्यमाण कम का क्रियामिदं न निम्ननिम्न साधनभावे मान जाते हैं। सामानोपगमो द्यवस्थित सादृत्वमिति कमणः।

विगण प्राप्यमाणस्य क्रियासिद्धौ द्यवस्थिता ॥—वाक्यपदीय २ साधन, ५३

आभास का उपगम, योग्यदेश में प्रकाश की उपलब्धि प्राप्य कम के दान में साधन होती है। अथवा प्रदीप आदि के द्वारा व्यक्ति (अभिव्यक्ति) उसका अंग बनती है। अथवा सात्त्विक बोध्यमता आदि प्राप्य कम के साधन होते हैं। य सब दर्शन क्रिया के हेतु हैं। आदित्य पश्यति इस वाक्य से आदित्य आभास प्राप्नोति होता है क्योंकि देखा जाता है अभिव्यक्ति भी प्राप्त करता है क्योंकि प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है दर्शन क्रिया की सहनशक्ति भी प्राप्त करता है क्योंकि सहता है।

निवृत्य में विकाय और प्राप्य के धर्म और स्वधर्म होते हैं विकाय में प्राप्यधर्म और स्वधर्म होता है प्राप्य में केवल स्वधर्म होता है (शृंगारप्रकाश पृ० १४७)।

शेष श्रीकृष्ण ने ईप्सित अनिप्सित और औदासीन्य रूप से प्राप्य इन तीनों के निवृत्य विकाय और प्राप्य रूप से तीन-तीन भेद किए हैं। इस तरह में नव भेद होते हैं। इनमें अकथित और अयपूर्वक ये दो भेद मिलाकर कुल ग्यारह भेद हो जाते हैं।

एवञ्चेप्सितादीनां त्रयाणां निवर्त्यादिभेदात् त्रित्वे नवविधत्वम्। अकथिता अयपूर्वकभेदाभ्यां सहैकादशत्वं प्रतिभाति।

—पदचन्द्रिका विवरण पृ० १६१ हस्तलेख।

अभिनवगुप्त ने विकाय आदि को क्रमशः कायपरिणाम, धर्मपरिणाम और वृत्तिपरिणाम कहा है।

पूर्व रूप हि तिरोदधत कश्चिन् परिणाम काण्डमस्मवत् स कायपरिणाम उच्यते। यस्तु अतिरोदधत स धर्मपरिणाम य सिद्धाकारतया भाति सुवर्णस्येव कुण्डलता। यस्तु अतिरोदधत साक्षाकारत्वेन गच्छति बुध्यते इति यथा स वृत्तिपरिणाम।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवर्तिविमर्शिनी भाग १ पृ० १४५

कम के इस विवेचन में मन अमृत और परिणाम की चक्षा आ जान में उन दिना दर्शन के क्षेत्र में इसकी पर्याप्त चक्षा थी और भक्त हरि की मायता के विरोध में कुछ लोग ने कई तक उपस्थित किए थे। एक आशेष नीचे लिखी कारिकाओं में है।

निवृत्य कारक नव क्रिया तस्य हि साधिका।

विकायमपि भावेन विरोधान्नव कारकम् ॥

प्राप्यत्वात् पूर्विकावस्था न सा कमबुधमता।

प्राप्यावस्था क्रियासाध्या साध्यत्वात् साधनं नहि।

—पुरुषोत्तमतेव द्वारा कारक चक्र में उद्धृत पृ० १०६

तात्पर्य यह है कि उपयुक्त कम भेद कारक कहलान के अधिकारी नहीं हैं। निवृत्य अस्तन से उत्पन्न है वह स्वयं क्रियाकृत। क्रिया के पूर्व उसकी सत्ता नहीं थी। विकाय और प्राप्य क्रिया के साध्य हैं अतः वे साधन (कारक) नहीं हो सकते। पुरुषोत्तम देव के अनुसार इस आशेष का उत्तर है कि निवृत्य आदि में स्वगत भी व्यापार होता है। उस व्यापार के आधार पर कम को कारक माना जाता है (कारक चक्र पृ० १०६)।



विकार्य म धातु से उपात्त फलाश्रयता के न होने का प्रश्न भी उठाया गया था। भट्टोजि दीक्षित ने इसका समाधान प्रवृत्ति और विवृत्ति म अभेद विवक्षा के आधार पर फल की आश्रयता मानकर किया है। अथवा 'वाष्टानि विवृवन् भस्म उत्पादयति' इस रूप म अथ वर आश्रयता सिद्ध होती है (शास्त्र कोस्तुभ १।४।४६)।

ईप्सित कम का उदाहरण पय पिबति। अनीप्सित का विप भक्षयति। औत्सीय अथवा तटस्थता से प्राप्य का उदाहरण, हेताराज के अनुसार ग्राम गच्छन् वग्मभून् स्पृशति' होना चाहिए (औदासी येन ताटस्थ्येन यत् प्राप्यम्, यथा ग्राम गतु वृक्ष मूलादि—हेताराज साधन समुद्देश ४६) किन्तु महाभाष्य कागिका आदि के आधार पर यह उदाहरण अनीप्सित का होना चाहिए। वस्तुन इगवा उदाहरण है पयान गच्छति नदी तरति। यह आस्थित कम है इसका ईप्सित अनीप्सित से भेद इस रूप मे किया है कि आस्थित म क्रिया के दो रूप होते हैं। सनात्तर से अनास्थात कम से अभिप्राय अव्ययित से है। अव्ययित भस्वृत व्याकरण म परिगणित है। अव्ययवक का उदाहरण अश्वान गी यति है।

## करण

साधकतम का नाम करण है। जिस व्यापार के अनन्तर क्रिया की निष्पत्ति विवक्षित होती है वह करण माना जाता है। भट्ट हरि के अनुसार करण अनित्य है उसका कोई नियत रूप नहीं है। अधिकरण भी विशेष अथ की दृष्टि से करण रूप मे विवक्षित हो सकता है। क्रिया की सिद्धि म प्रकृष्ट उपकारक होने के कारण पाणिनि ने इस साधकतम माना था। प्रकृष्ट उपकारकता अथ कारका की दृष्टि से है। कर्ता क्रिया की सिद्धि के लिए करण का आश्रय लेता है फिर भी स्वातन्त्र्य के कारण वह प्रधान होता है। परायत्तवत्ति के कारण करण अप्रधान होता है। बिना कर्ता के करण व्यापार गोल नहीं होता। कर्ता निरपेक्ष है। करण सापेक्ष है। इसके अतिरिक्त धातु से कर्ता का व्यापार उक्त होता है, करण क्रिया धातु से अभिहित नहीं होती। साधु अस्ति छिनत्ति' जैसे प्रयोग विवक्षा के आधार पर होते हैं। वक्ता विवक्षा म स्वतन्त्र है

न हि नन्दा दाण्डपाण्डिका इव ववतारमस्वनश्रयति। किं तर्हि। सत्या शक्तौ वक्तु विवक्षामनुविधोयते।

चन्द्रकीर्ति प्रसन्नपदा माध्यमिकवत्ति प० २४

मण्डन मिश्र न भी विशेष स्थल पर अभिधान के आधार पर करण की प्रधानता स्वीकार की है

करण नाम सबत्र क्त व्यापारगोचर।

तिरोदधाति कर्तार प्रधान तनिब धनम ॥<sup>१</sup>

जो निमित्त व्यापारित नही होता और द्रव्य गुण क्रिया विषयक होता है

उसे हेतु कहा जाता है।

## सम्प्रदान

कमणा यममिप्र ति स सम्प्रदानम १।४।३२

करणरूप कम क द्वारा जिससे अभिसम्बन्ध चाहा जाता है वह सम्प्रदान है।

यह तीन प्रकार का माना जाना है

प्रेरक, अनुमत्तक अनिराक्तक। प्रेरक, जैसे ब्राह्मणाय गा ददाति। इस वाक्य का अर्थ यह है कि ब्राह्मण यजमान को गाय दान देने के लिए प्रेरित करता है। और तब यजमान उसे गाय देता है। अनुमत्तक जैसे उपाध्यायाय गा ददाति। उपाध्याय गाय क लिए उसे प्रेरित तो नहीं करता किन्तु गाय के मिलने पर उसे साधुवाद देता है देने वाले के व्यापार का अनुमोदन करता है। अनिराक्तक, जैसे आदित्याय पुष्प ददाति। आदित्य न तो फूल के लिए प्रार्थना करता है और न अनुमोदन करता है।

भोज ने सम्प्रदान के तीन भेद को दूसरे रूप से भी दिखाया है —

ददाति कर्माप्य, कममात्राप्य और क्रियाप्य।

—शृंगार प्रकाश प० १५१

## अपादान

कायससग अथवा बौद्धिकससग पूर्वक अपाय की विवक्षा होने पर अवधिभूत ध्रुव अपादान कहा जाता है। यह तीन प्रकार का होता है—निर्दिष्ट विषय उपात्तविषय और अपेक्षितक्रिय। जहा घातु के द्वारा अपायलक्षण विषय निर्दिष्ट रहता है उसे निर्दिष्टविषय कहते हैं जैसे ग्रामात् आगच्छति। यहाँ क्रिया क द्वारा अपाय ग्राम गद निर्दिष्ट है। उपात्तविषय वहा माना जाता है जहाँ क्रिया अथ क्रिया के अर्थ क अर्थ रूप में स्वाय को व्यक्त करती है जैसे बलाहकात् विद्योतते यहा द्योतन क्रिया का अर्थ नि सरण है। हेलाराज ने गुणभाव और प्रधानभाव दोनों रूप में यहा क्रियाय को लिया है। उनके अनुसार बलाहकात् विद्योतन का दो रूप में कहा जा सकता है—बलाहकात् नि सत्य ज्योति विद्योतते। अथवा बलाहकात् विद्योतमान नि सरति। जहा नियापद की प्रतीति होती है किन्तु प्रयाग नहीं हुआ रहता वह अपेक्षितक्रिय है।

जसे साङ्काकेभ्य पाटलिपुत्रका अभिरूपतरा।

अश्वान त्रस्तात पतित — इस वाक्य में वातिककार न ध्रुव्य अविवक्षित माना है। ध्रुव एकरूपता का नाम है। अपायविषयक ध्रुव्य आश्रित होता है निरपय (अनच्छिन्न) नहीं। इसलिए अपाय में जा अनाविष्ट है वह अपाय में ध्रुव होता है। दीप्त हुए घड़े से गिरने में देवदत्त कन क पतन में त्रस्त अश्व ध्रुव है क्योंकि वह अपाय से अनाविष्ट है। किन्तु देवदत्त अध्रुव है। उसमें अपाय का आश्रय है। अथवा त्रस्त अश्व का ध्रुव्य अविवक्षित है। क्योंकि कारक का पहल क्रिया में अवय होता है। वह श्रुतिप्रापित कहलाता है। वाद में विरोध से वाक्यीय सम्बन्ध होता है। अतः अश्वान् पतित इस सम्बन्ध में अश्व का अध्रुव नहीं है। वाद में त्रस्त क

साय सम्प्रध होने पर भी अधोव्य मे अतरग सपा का नियतन नही होता । विशपण के अपादान न होने पर भी सामयिकी विभक्ति हानी है । वह विगप्य के अनुरोध पर होती है न कि अनियम स । अथवा प्रस्त ग् भी अपादान है । क्याकि वह प्राग की अपेक्षा म तो अधोव्य है किन्तु पतन की अपादा म उसम अधोव्य है—(कयट, महाभाष्य प्रदीप १।४।२५) ।

भोज न अपादान के तीन भेदा को पाणिनि के सूत्रा म दियाया है । उनके अनुसार ध्रुवमपायऽपादानम् १।४।२४ तिन्ष्टि विषय है । भीत्रार्याना भय हेतु १।४।२५, पराजरसाढ १।४।२६ आदि उपात्तविषय है । पञ्चमाविभक्त २।३।४२ आदि अपात्ति त्रिय हैं । (शृ गार प्रकाश, पृ० १५३) ।

उपाध्यायात् अधीन इम वाक्य के विदलपण म महाभाष्यकार न सन्ततत्व और ज्योतिवद ज्ञान का उल्लेख किया है । जस फल वक्ष स च्युत होकर पुन वक्ष पर नही होता इसी तरह शब्द भी उपाध्याय के मुख स नि सत होकर पुन वहा नही होता । व ही शब्द पुन जान पडत हैं सततत्व के कारण । शब्द का पुन पुन उत्पादन सततत्व है । कयट के अनुसार उपाध्याय के द्वारा व्यक्त की जाती हुई ध्वनिया भिन भिन होती है किन्तु सादश्य के कारण वे ही जान पडती हैं । वे ध्वनिया सुनने वाले के श्रोत्रेण म पहुच कर व्यक्तिस्फोट के रूप म अथवा जातिस्फोट के रूप म शब्द की अभिव्यक्ति करती है । अथवा ज्वालामयी ज्योति लगातार प्रवाहित होती हुई सादश्य के कारण वही समभी जाती ह यद्यपि वह भिन भि न ह । उसका अनवरत प्रवाह सतत कहा जाता ह । उसी तरह उपाध्याय के ज्ञान भिन भिन हैं । व विभिन्न शब्द के रूप मे ढलकर सतत जान पडत है । महाभाष्यकार का अभिप्राय ज्ञान शब्दत्वापत्तिवा स है—(महाभाष्य प्रदीप १।४।२६) ।

पाणिनि न जनि क्तु प्रकृति १।४।३० को भी अपादान माना था । पतजलि न इसका प्रत्याख्यान किया ह । गोमयात् वरिचको जायत जसे वाक्या म अपत्रमण रूप म अपाय रूप म अपादान ह । कयट के अनुसार पतजलि का मत लोक आधार पर ह । लोक की मायता म जो वस्तु जिसस उत्पन्न होती ह वह उससे निकलती है । दान के क्षेत्र म भि न विचार हैं । क्यापिक दशन म परमाणु समवन काय कारण से अपथक दग म उत्पन्न होता ह । इसलिए काय का अपत्रमण नही होता । सारयत्नान के अनुसार भी अपत्रमण नही ह । ज म और नाश आविर्भाव और तिरोभाव के रूप म परिणामविशेष हैं । धाणिक दशन द्रव्यांतर आरम्भ दान अथवा परिणामदशन के आधार पर पतजलि ने उपयुक्त वाक्य म सततत्व माना ह । जो सत ह उसका जययोग सभव नही ह जो असत ह उसका कत त्व असभव है । कोई तीसरा पक्ष भी नही है ऐसी दगा म अकुर जायत जस प्रयोग कस उपपन्न हान है । इसका समाधान बौद्धिक स्वरूप मानकर किया जाता है । अथ बद्धि व्यवस्थापित हैं । उसका क्रिया म कारक उपपन्न हा जाना हैं—कयट महाभाष्यप्रदीप १।४।३० । ग्रामात् नागच्छति जम निषध वाक्या म अपादान सना प्राप्ति पूर्वक प्रतिषेधत्नान के आधार पर की जाना ह । इत् का भी यही मत ह

तथाह इदुमिश्र, अथ कट न करोति परशुना न छिनत्ति, ब्राह्मणाय गा न ददाति ग्रामात् नागच्छति, राज्ञ नाय पुरुष, गृहे नास्तोत्पादो द्वितीयादिभि न भवितव्यम् । नञा निषेधात् । उच्यते, प्राप्तिपूर्वका हि प्रतिषेधा भवति ।<sup>१</sup>

—कारकचक्र, पृ० ११७ म उद्धृत ।<sup>१</sup>

## अधिकरण

पाणिनि के अनुसार आधार अधिकरण है । कारक क्रिया सापक्ष है । अतः क्रिया का आधार का नाम अधिकरण है । क्रिया प्रायः कर्त्ता में अथवा कम में अवस्थित रहती है इसलिए अधिकरण का भी कमस्थक्रियाविषयक अथवा कतस्थक्रियाविषयक ही माना जाय तो स्याली आदि में अधिकरण की उपपत्ति ठीक से नहीं हो पाती है । इसलिए कर्त्ता और कम से व्यवहित क्रिया का आधार का भी अधिकरण माना जाता है । अधिकरण तीन प्रकार का होता है औपश्लेषिक विषयिक और अभिव्यापक । आधार और आधेय ता जहाँ उपश्लेष होता है उस औपश्लेषिक अधिकरण माना जाता है । जैसे कटे आस्त । विषयिक का उदाहरण गुरो वसति । जिस तरह चक्षु आदि का रूप आदि विषय माने जाते हैं वैसे ही शिष्य का गुरु में अनन्य भाव रहता है । उस अनन्यभाव का विषय गुरु है । बिना संयोग के भी एक दूसरे पर निर्भरता देगी जाती है, जैसे राज पुरुष में । अतः गुरु भाव का आश्रय हो सकता है । अथवा यहाँ बौद्धिक उपश्लेष है । तिलेषु तल में अभिव्यापक आधार है । तिल और तल का समाग तो संभव है किंतु देशविभाग न होने से संश्लेष नहीं माना जा सकता । अतः अभिव्यापक माना जाता है । रामचन्द्र ने चार प्रकार के आधार माने हैं—  
औपश्लेषिक सामीपिक विषयो व्याप्त इति ।

—प्रथिया कौमुदी, पृ० ४५५

अतः हरि दशन में संपूर्ण विश्व मूतविवृत और क्रियाविवृत के रूप में अवस्थित है । मूतविवृत का आधार आकाश है । क्रियाविवृत का आधार काल है

कालात् क्रिया दिभज्यते आकाशात् सवमूतय ।

एतावाश्च च भेदोऽयमभेदोपनिबन्धन ।

—वाक्यपदीय, भाषा, १/१

## सम्बन्ध

सम्बन्ध कारक से भिन्न किंतु कारक के रूप में स्वीकृत है । जगत् आत्मा आत्मा का क्रिया से भीधा सम्बन्ध होता है वसा सम्बन्ध कारक का नहीं होता । आत्मा का

१ सार्धात् हीयने में अपादान क प्रयोग में इदुमिश्र एक मन का उ-  
भी किया है—जगत् कतस्थक्रियत्वात् कर्मसंख्य लकार ३।  
कौमुदी १।६२४, पृ० ११७

शेष रूप म माना जाता है । कारक की अविवक्षा का नाम गप है । कम, करण आदि पट कारको से अय सम्बन्ध शेष है ।

राज पुरुष जस सम्बन्ध विगप म, स्वस्वामिभाव म दत्तानि क्रिया का अय देना है । राजा पुरुष को दत्ता है । पूव अवस्था की दान क्रिया गप अवस्था म भी अव्यक्त रूप से काम करती है । ऐसे स्थला म क्रिया कारक सम्बन्ध कारणभूत होता है शेष सम्बन्ध फलभूत होता है । इगलिए गप म भी क्रियाकारक सम्बन्ध अव्युपमान क्रिया क आवार पर हो जाता है । कही कही क्रिया व्युपमान भी रहती है जस नटस्य शृणोति । यहाँ श्रवण कवल नटा का विवक्षित है । मिमी निमित्त न होन से करण आदि कारक की यहा प्रवृत्ति नहीं है । अत शेष कारक है । क्रिया क श्रुत और अव्युत रूप क आधार पर सग्रहकार ने सबध दो प्रकार क माने थ—तिरोभूत क्रियापद और सनिहित क्रियापद । तिरोभूतक्रियापद का उदाहरण राज पुरुष है । सनिहित क्रिया पद का उदाहरण मातु स्मरति है । मातु स्मरति पर कुछ विवाद था । इसका उल्लेख कमप्रवचनीय के प्रसंग म भी किया जा चुका है । कयट ने साराश इस रूप म दिया है

मातु स्मरणयो अवस्थानादि क्रियानिमित्त सम्बन्ध इति केचिदाहु । अये तु स्मरणस्य क्रियारूपत्वात् क्रियातरमतरेणैव द्वयेण सम्बन्धोपपत्तिमाहु । यथा द्वयो वाप्यो जतुकृत सश्लेष जतुनस्तु काष्ठेन स्वत एव न जत्वन्तर कृत ।

—महाभाष्य प्रदीप २।३।५२<sup>१</sup>

क्रिया के श्रवण अथवा अव्यवस्था के रूप म भी कम आदि की अविवक्षा म शेष सम्बन्ध उपपन्न होता है । सम्बन्ध सम्बन्धी के भेद से अनेक प्रकार का होता है स्वस्वामिसम्बन्ध जयजनकसम्बन्ध अवयवावयविसम्बन्ध स्थायादेशसम्बन्ध आगमागमिसम्बन्ध, क्रियाकारकसम्बन्ध आदि । सम्बन्ध की इयत्ता नहीं है । एक शत पण्यार्थ कहा जाता है । परमाथ रूप म सम्बन्ध एक है

यद्यपि भिनोभयाश्रितक सम्बन्ध इति कज्जटीय (कयटीय) सम्बन्धलक्षणात् सयोगसमवायी एव सम्बन्धी तथापि विनोपणविनोप्यादीनामुपचरित स्वीकृत भाष्ये । अत सोऽपि स्वीकृत एवास्मान्नि । सवत्र सम्बन्धभेद एव सम्बन्धस्यभेदको द्रष्टव्यः । परमाथस्तु सम्बन्ध एक एव ।

—पुरुषोत्तमदेव कारक चक्र प० ११३

सम्बन्ध द्विष्ट होता है । पाणिनि न शप म पठ्ठी का विधान किया है (गप पठ्ठी २।३।५०) । इस पर विवाद था कि पठ्ठी विभक्ति राजा के पुरुष अथ म राजन गत स हाती है पुम्प शत स भी होनी चाहिए । सम्बन्ध दोनों म है वह द्विष्ट है । किसी प्राचीन व्याकरण म गुणे पठ्ठी सूत्र था । इस नियम के अनुसार आपत्ति नही है (व्याकरणांतरे तु गुणे पठ्ठी—इति वचनात् नास्ति दोष—महाभाष्यप्रदीप २।३।५०) । पाणिनि संप्रदाय म इस आपत्ति का परिहार अथप्राधाय

मानकर किया जाता है (न हि शब्दकृतेन भावार्थेन भवितव्यम् अथकृतेन नाम शब्देन भवितव्यम् —महाभाष्य २।३।५०) । लोक में परोपकारी रूप में राजा विवक्षित है । वह परायण है । पुष्प उपकाय है । वह स्वनिष्ठ है । प्रधान है । पट्टी एक में हाती है और गुणभूत में हाती है—

न हि शब्दस्य भावाभावाम्यामथस्य भावाभावो नियते । किं तर्हि । अस्य प्रतिपादयिषया विषयीकरणाकरणाभ्यां शब्दस्योच्चारणानुच्चारणलक्षणौ भावाभावावित्यय । तत्र परोपकारित्वेन राज्ञो विवक्षितत्वात् पट्टी भवति । पुरुषस्य तूपकायतया स्वनिष्ठत्वेन विवक्षितत्वात् प्रथमा ।

—महाभाष्यप्रदीप २।३।५०

विशेषण विशेष्यभाव का स्वेच्छा पर निर्भर हान से पुरुष का राजा की विवक्षा में पुरुषस्य राजा प्रयाण हाता है । इसलिए इस सम्बन्ध में भन हरि की यह कारिका प्रसिद्ध है—

द्विष्ठोऽप्यसौ पराथत्वादगुणेषु व्यतिरिच्यते ।

तत्रामिधीयमान सन प्रधानेऽप्युपभुज्यते ॥

—वाक्यपदीय ३, साधन १५७

## सम्बोधन

अभिमुखीकरण को सम्बोधन कहा जाता है । सिद्ध पन्था का क्रिया के प्रति विनियोग के लिए संबोधन का आश्रय लिया जाता है । व्याकरणागम परंपरा में इस वाक्याय नहीं माना जाता । संबोधन के लिए प्रयुक्त विभक्ति आमंत्रित विभक्ति भी कही जाती है—

यो य स्वेन धर्मेण प्रसिद्धो धर्मांतर सम्बन्ध प्रत्यभिमुखी नियते तत्रामंत्रित— विभक्ति । यथा देवदत्त क्रियांतरसम्बन्ध प्रत्यभिमुखी करोति देवदत्त अधीष्ट भुङ्क्ष्वेति ।

—महाभाष्यटीपिका, पृ० १०

पाणिनि ने प्रथमा द्वितीया तृतीया, चतुर्थी पंचमी, पट्टी और सप्तमी विभक्ति का व्यवहार किया है । इनके अर्थ विभक्तयथ कहलाते हैं । पाणिनि ने सूत्र रूप में इन सबके अर्थ बतला दिए हैं । जमे प्रातिपदिकाथलिगपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा २।३।४६ आदि । विभक्तयय प्रातिपदिकाथ से भिन्न माना जाता है । पाणिनि ने अव्यय विभक्ति २।१।६ सूत्र में विभक्ति शब्द का प्रयाण किया है इससे अनुमान किया जाता है कि उन्हें विभक्तयय द्रव्य से अतिरिक्त रूप में अभिप्रेत है । भोज ने स्वाय, द्रव्य और लिग का प्रातिपदिकाथ और सख्या कारक तथा नेप को विभक्तयय माना है (शृंगारप्रकाश, पृ० १८३, १६०) । विभक्तयय पर विचार नव्य तथायिका न अधिक किया है । कौण्डभट्ट नागार् आदि ने मुख्य विचार तथाय और व्याकरण परम्परा के मिश्रित रूप में किया है ।

## लिङ्ग-विचार

लिङ्ग के विषय में श्लोकवातिकार और कात्यायन के यवनध्य महत्वपूर्ण हैं। गायत्री विद्वत् के किसी वाङ्मय में लिङ्ग पर इतने प्राचीन काल में इतने सूक्ष्म विचार प्रस्तुत किये गये हैं।

स्त्रियाम् ४।१।३ सूत्र पर निम्नलिखित श्लोकवातिक हैं—

स्तनकणवती स्त्री स्यात्लोम्य पुरुष स्मृतः ।  
 उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम् ॥  
 लिङ्गात् स्त्रीपुंसयोर्जाते भ्रूकुसे टापः प्रसज्यते ।  
 नत्वं खरकुटीपदं सटवावक्षी न सिध्यत ॥  
 नापुंसकं भवेत्तस्मिन् तदभावे नपुंसकम् ॥  
 असत्तु मृगतण्णावत् गणधनगरं यथा ॥  
 आदित्यगतिवत्सन् धस्त्रात्तद्विषयश्च ततः ।  
 तपोस्तुतकृतं दृष्ट्वा यथाकाशेन ज्योतिषः ॥  
 अयोयसश्च त्वेतत् प्रत्यक्षेण विरुध्यते ।  
 तटे च सर्वालङ्गानि दृष्ट्वा कौऽध्यवसास्यति ॥  
 सस्त्यानप्रसवी लिङ्गमास्थेयौ स्वकृतात्ततः ।  
 सस्त्यानेस्त्यायतेऽष्ट स्त्रीसूते सम्प्रसवे पुमान् ॥  
 तस्योक्तौ लोक्तौ नाम गुणौ वा लुपि युक्तवत् ।

आरम्भ में भाषा में लिङ्ग विकास लौकिक लिङ्ग के आधार पर हुआ होगा। यौन चिह्न स्त्री पुरुष के भेदक हैं। कुछ गारीरिक विषयताओं के कारण किसी व्यक्ति को स्त्री और किसी व्यक्ति को पुरुष कहते हैं। ये विषयताएँ भाषा में लिङ्ग भेद के कारण मानी जा सकती हैं। स्तन कर्ण आदि स्त्रीत्व के प्रतीक हैं।<sup>१</sup> रोम आदि पुरुषत्व के प्रतीक हैं। इन दोनों के सादृश्य का अभाव नपुंसकत्व का लक्षण माना जा सकता है। श्लोकवातिक में उभयोरन्तरं शब्द साभिप्राय है। इसके कारण अव्यय और

१ कुछ लोग, जिन्हें नागेश भी है, केश का अर्थ भगवन् कहते हैं। प्राचीन ग्रन्थों में इस अर्थ में वह प्रयुक्त भी है। जैसे— अटशूला वनपत्ता शिखशूला द्विजानय । केशशूलाश्च कामिनय

तिङ्गपदा म लिंगयोग सम्भव नहीं है। क्याकि लिंग सत्त्वधम है। अव्यय और आत्मा ताथ असत्त्वभूत हैं। 'तदभावे शब्द भी साधक है। इसके कारण मयूरी, कुक्कुट आदि के समुदाय म नपुसक लिंग नहीं हो सकता। समुदाय समुदायी के सङ्ग होना है मान कर एस स्थला मे नपुसक लिंग की प्राप्ति हो जाती।

किन्तु स्त्री और पुरुष क विशेष शारीरिक चिह्नों के आधार पर लिंग व्यवस्था का भाषा म सवथा निर्वाह कठिन है। भ्रूकुम (स्त्री वेपधारी नट) म स्नान आदि देखे जात हैं। इस आधार पर उसम स्त्रीत्व मानकर स्त्रीत्व बोधक प्रत्यय टाप आदि होन चाहिये। यद्यपि भ्रूकुस क साथ स्त्रीत्व चिह्ना का नित्य सम्बन्ध नहीं है फिर भी दशक को तो व सदा भासित होते ही हैं। अतः इस प्रतिभास के आधार पर उसम स्त्रीत्व बोधक प्रत्यय होना चाहिये। इसी तरह खरकुनी (नापित गृह) म तोम सम्बन्ध के कारण पुस्त्व धानन प्रत्यय होने चाहिये।

इसके अतिरिक्त लौकिक स्त्री-पुरुषगत विनोप चिह्ना के आधार पर लिंग व्यवस्था मानन पर अचेतन पदार्थों म लिंग व्यवहार का कोई रास्ता नहीं रह जाता है। खटवा म स्त्रीगत कौन भी विशेषता है कि इसमें स्त्रीत्व माना जाय। उपयुक्त लौकिक आधार पर ता अचेतन पदार्थों म स्त्रीत्व-पुस्त्व की अनभिन्नवित्त क कारण नपुसकत्व मानना ही उचित होगा। कुछ लोग मानत है कि असत वस्तु म भी कभी कभी प्रतीतिभावना होती है। मगतपणा म जल नहीं है, फिर भी जल का आभास होता है। इसी तरह खटवा आदि म लिंग नहीं है फिर भी लिंग का आभास होता है। सारना, पुष्प नथन जमे विभिन्न लिंगी शब्द एक ही वस्तु क लिये प्रयुक्त होत हैं। उनम वास्तव लिंग नहीं है किन्तु जिस तरह मगमरीचिका म जल की सत्ता न रहते हुए भी जल का अभ्यास हो जाता है उसी तरह अचेतन पदार्थों म लिंग चिह्न न रहते हुए भी चेतनगत लिंग का अभ्यास हा जाता है। अवश्य ही मृगमरीचिका म सादृश्य के आधार पर जल का आराप होना है। खटवा वग आदि म स्त्री पुरुष गत लिंग का कोई सादृश्य नहीं है। अतः किस आधार पर आराप सम्भव है? इसके उत्तर म कहा जाता है कि विषय साद य की उपस्था करके भी अनादि मिथ्याभ्यास-वासनावग आनिया दम्बी जाती है। गन्धवनगर की सत्ता नहीं है फिर भी उसकी चका होती है। वह दूर से दिखाई देता है पास पहुँचन पर नहीं दीखता। शब्द मे यथाय अथवा मिथ्या ज्ञान की अभिव्यक्ति की क्षमता समान है।

अथवा खटवा वक्ष आदि अचेतन पदार्थों म भी लिंग है किन्तु उसका ज्ञान उसी तरह नहीं होता जिस तरह सूय की गति का सत्ता होने पर भी सूय की गति का भाव नहीं होता। अथवा जिस तरह से वस्त्र म ढकी वस्तु का ज्ञान नहीं होता उसी



तरह खटवा आदि अचेतन पदार्थों में भी लिंग का प्रत्यक्ष नहीं होता। पतञ्जलि ने यहाँ प्रश्न उठाया है कि वस्त्र के हटा देने पर वस्त्र से आवृत वस्तु का भान हाना है किन्तु खटवा आदि में इस तरह का कोई भान नहीं होता। बड़द हाथ में बगूला और रंगानी लेकर खटवा के गण्ड गण्ड भी कर डालें तो भी उसमें कोई लिंग नहीं मिलेगा। इसका उत्तर में स्वयं पतञ्जलि का निवेदन है कि वस्तु की सत्ता होत हुए भी उसकी अनुपलब्धि संभव है। प्रायः छ कारणों से वस्तुविनाश की सत्ता रहते हुए भी उसकी उपलब्धि नहीं होती।

(१) अति सन्निकट से जस अपनी आत्मा का भजन अपनी आत्मा से नहीं देखता।

(२) अति विप्रकट से जस बहुत ऊँचाई पर उड़त हुए पक्षी आदि नहीं दिखाई देते।

(३) मूल्य तर व्यवधान से, जस बीच में दिवाल आदि के कारण पार की वस्तु नहीं देखती।

(४) तमसावन से जस अधवार के कारण गड्ढे आदि का भान नहीं होता।

(५) अद्वय दौर्बल्य से—आस की गवित क्षीण होने पर उपस्थित वस्तु भी नहीं दिखाई देती।

(६) अति प्रमाण से—किसी विषयांतर में आसक्त चित्त वाले व्यक्ति को सामने स्थित का भान नहीं होता।<sup>१</sup>

अति समीप अति दूर आदि अनुपलब्धि के कारण माने जा सकते हैं, किन्तु अनुपलब्धि के कारण प्रमाणसिद्ध वस्तु के ही होते हैं। किन्तु खटवा आदि में लिंग प्रमाणसिद्ध सत्यभूत वस्तुधर्म नहीं है। इसका अतिरिक्त इस पक्ष में प्रत्यक्ष विरोध भी होता है। क्योंकि दृश्य स्वभाव वस्तु का कभी भी प्रत्यक्ष से ग्रहण न होना फिर भी उसकी सत्ता स्वीकार करना अवश्य ही प्रत्यक्ष विरोध है।

कुछ लोग अनुमान के आधार पर खटवा वक्ष आदि में लिंग की सत्ता मानते हैं। जस प्रकार देखकर आकाश में मध से आच्छादित ज्योति की सत्ता का अनुमान किया जाता है उसी तरह खटवा वक्ष आदि में स्त्रीत्व पुस्तक बोधक प्रत्यक्ष दलनर उनमें स्त्रीत्व पुष्टि की कल्पना कर लेती जाती है। परन्तु इस पक्ष में अयोयाथ्य दोष है। लिंग ज्ञान के बाद ग न प्रयोग और ग न प्रयोग के बाद लिंग का अवगमन यह अयोयाथ्य है। ज्योति और प्रकाश में प्रत्यक्षतः कार्यकारण न न के आधार पर कार्य से कारण का अनुमान संभव है खटवा आदि में तो कभी भी प्रत्यक्षतः लिंग ज्ञान न होने से कार्यकारण भाव संभव नहीं है फलतः अनुमान भी संभव नहीं है। पुनः तट तटी तटम जस एक ही वस्तु में सब लिंग विरोध के कारण नहीं हो सकते। यदि तट में स्त्री-पुंस्त्व हो तो नपुंसकत्व नहीं हो सकता। वह उनके अभाव में ही होता है।

लौकिक निगम्यजब विज्ञा के आधार पर 'दारा' 'वलत्र' जस गाना को पुननिग और गपुसकालिग म नही रखा जा सकता ।

अत वयाकरण लौकिक स्त्री-पुरुषगत निग घोषक व्यजना के आधार पर शास्त्रीय लिग की व्यवस्था नही स्वीकार करते, यद्यपि कुछ दूर तब उस अपरिहाय मानत हैं । फलत लिग की टनकी अपनी शास्त्रीय परिभाषा है धीर वह है

सस्त्यानप्रसवी लिगमास्थेयो स्वकृतातत ।

सस्त्याने स्त्यायतेऽट स्त्री सूते सप प्रसवे पुमान् ॥

एक तरह से इस कारिका में स्त्री और पुरुष गान की व्युत्पत्ति बनाई गई है । सस्त्यान के अर्थ में स्त्य धातु से डट प्रत्यय स स्त्री गान निष्पन्न होता है । प्रसव अर्थ में पूड धातु के सकार के स्थान में पकार कर पुमान् गान बनता है । प्रसूति अर्थ में पा धातु से दुमसुन प्रत्यय द्वारा पुमान् गान की निष्पत्ति भी प्रसिद्ध है । कुछ आचार्य पूजा से पुमान् की मिडि बतलाते हैं । भट्टोजि दीक्षित इस मत के विरुद्ध हैं ('सूडो दुमसुनिति माधव । यच्च उज्ज्वलदर्शन पातेदमसुनित्युक्तम्, यच्च पुसोऽमुड' (७।१।८६) इति सूत्रे यासरक्षिताभ्यां पुनातेमकसुन ह्रस्वश्च इति सूत्र पठित तदुभयमपि भाष्यानुगुणम् — गानकौस्तुभ १।२।६४) परन्तु भाष्यकार ने और उनके अनुयायी मत हरि आदि ने इस कारिका के आधार पर एक दार्शनिक गान बना कर दिया है । महाभाष्यकार के अनुसार लौकिक स्त्री का सम्बन्ध स्त्यायति से है और शास्त्रीय स्त्री का सम्बन्ध भी उसी से है । लौकिक पुरुष का सम्बन्ध सत से है और शास्त्रीय पुरुष का भी उसी से सम्बन्ध है । परन्तु लौकिक में स्त्री अधिकरण है उसमें गम का सस्त्यान होता है । और पुरुष वर्ना है वह उत्पन्न करता है । जबकि शास्त्रीय अर्थ में दोनों भावसाधन हैं—सस्त्यान स्त्री है और प्रवृत्ति पुरुष है । गुणा का सस्त्यान स्त्री है । गुणों की प्रवृत्ति पुमान् है । गुण से अभिप्राय गान स्वगान, रस और गंध से है । कैंयट ने भट्ट हरि के आधार पर भाष्यकार के मतों की व्याख्या साम्यान्त के सहार की है । उनके अनुसार गुण से अभिप्राय सत्त्व, रजस और तमोगुण से है । सस्त्यान का अर्थ तिरोभाव है । प्रवृत्ति का अर्थ आविभाव है । गुणा का तिरोभाव स्त्री है । गुणा का आविर्भाव पुरुष है । गुणा की साम्यावस्था नपुंसक है । गुणा की य अवस्थाएँ केवल शब्द गान हैं । सात्य-दर्शन के अनुसार प्रकृति त्रिगुणात्मिका है । गुण सदा सन्निय रहते हैं । उनमें मयाग से और उनमें किसी एक की कमी या आधिक्य के आधार पर विविध विश्व की सृष्टि होती है । तब और अचेतन सब पदार्थों में गुणा की सत्ता है । अतः गुणों के आधार पर सब लिग व्यवहार सम्भव है । गुणा की प्रवृत्ति अथवा उपचय पुस्त का प्रतीक है । गुणा का सस्त्यान अथवा अपचय स्त्री का प्रतीक है । गुणा की स्थिति अथवा साम्यावस्था नपुंसकत्व का प्रतीक है । उपचय और अपचय सापेक्ष है । प्रकाश प्रसव, आविर्भाव सत्त्व के धर्म है । प्रवृत्ति त्रिधा रजस के धर्म हैं । आवरण तिरोभाव स्थिति तमस के धर्म है । ये ही धर्म लिग हैं । रजोधर्म लक्षण प्रवृत्ति त्रिधा का विनोप अथवा आधिक्य पुरुष है पर इनमें प्रकाशियम रूप सत्त्व का धर्म और आवरण रूप तम का धर्म भी अनुगत रहता है । दूसरे गान

म, सत्त्व और तमधर्मानुगत रजोगुण का आविर्भाव पस्त्व है। तिरोभाव स्त्रीत्व है। प्रवृत्ति का सामान्य रूप नपुंसकत्व है। कोई कोई आचार्य सत्त्व के आधिक्य में पुस्त्व, रजस के आधिक्य में स्त्री व और तमोगुण के आधिक्य में नपुंसकत्व मानते हैं।<sup>३</sup> रूप, रस आदि के समुदाय से युक्त पदार्थ में तीनों गुणों का योग तो ठीक है किन्तु केवल रूप केवल रस केवल गन्ध में गुणत्रय जिस तरह है? इसके उत्तर में भर्तृहरि की भाष्यता है कि रूप भी अवस्था विशेष के तम रूप में परिणमित होता है। वह भी सत्त्वादि गुणात्मक है। क्षण क्षण तक नव अवस्था ग्रहण के कारण रूप में भी किसी अवस्था का आविर्भाव किसी का अपव्यय होता है। परन्तु सूक्ष्म ज्ञान के कारण उनका आवलन स्थूल दृष्टि से नहीं हो पाता है। फल आदि में रूपा के परिवर्तन देखे भी जाते हैं। महाभाष्यकार ने स्वयं माना है कि कोई वस्तु अपने आप में क्षण भर स्थित नहीं है। या तो वह बढ़ती है या घटती है स्थिर नहीं रहती।<sup>४</sup> अतः गुणों के आविर्भाव और तिरोभाव के आधार पर लिंग व्यवस्था संभव है। हलाराज ने सग्रहकार का एक वक्तव्य उद्धृत किया है। उसमें भी उपयुक्त मन की पुष्टि होती है —

तथाहि सग्रहकार पठति—सह्याय सहनन तमोनिवत्तिरशक्तिरुपरति प्रवृत्ति प्रतिबन्धस्तिरोभाव स्त्रीत्व प्रसवो विषयभावो वृद्धिगतिव-  
त्तिलाभोऽभ्युदये प्रवृत्तिराविर्भाव इति पुस्त्वम अविबक्षत साम्य स्थिति  
रोत्सुक्यनिवत्तिरपरायत्वमङ्गाङ्गिभावनिवत्ति कवत्यमिति नपुंसकत्व  
मिति ।—हेलाराज भाष्यपदीय ३, लिंगसमुद्देश २।

साध्य दर्शन के अनुसार पुरुष गणातीत है इसलिए गुणदर्शन के आधार पर पुरुष शब्द में लिंग याग कैसे सम्भव है? इसका उत्तर यह है कि वृद्धि में प्रतिबिम्बित भोग्यभाव शबलित चतय का ही व्यवहार में बोध होता है। अतः प्रतिबिम्बित रूप में सत्त्व धर्म की स्वच्छता आदि से उसका योग सम्भव है। फलतः उसमें पुस्त्व आदि की अभिव्यक्ति भी सम्भव है। पुरुष चिन्ति चतय—इन तीनों रूपों में तीनों लिंगों का अध्यारोप सम्भव है।<sup>५</sup>

सर्वथ सभी गणों में तीनों लिंगों की सत्ता हाते हुए भी किसी विशेष शब्द से किसी विशेष लिंग की अभिव्यक्ति सिद्ध समाचारवत् है। इसे लोकव्यवहारानुवा-  
त्तनी विवक्षा कह सकते हैं जो लौकिक स्वच्छारूपा विवक्षा से भिन्न है। गुणों के आधार पर लिंग व्यवस्था मानने में स्थिति का प्रश्न कुछ जटिल हो जाता है। ऊपर कहा जा चुका है कि गुणों की स्थिति का सम्बन्ध नपुंसक लिंग से है। किन्तु गुणों की स्थिति कब सम्भव है? गुण सदा परिणमित हाते रहते हैं। क्षणभर के लिये भी वे स्थिर नहीं रह सकते। पुनः गुणों की साम्यावस्था कबन मूल प्रकृति में ही सम्भव है। विद्वत् की किसी भाववस्तु में गुणों का साम्य साध्यदर्शन के अनुसार असम्भव

३ मगधनाकर कलिताय की टीका ६७७ २६२ (आनन्दा १८)

४ महाभाष्य ४।१।२ और १।२।६४

५ भाष्यपदीय ३, वृत्तिमुद्देश ३२३—३२५

है। अतः कोई भी वस्तु नपुंसकलिंग के द्वारा कैसे अभिव्यक्त की जा सकती है ? इस समस्या का समाधान भन हरि ने कई ढंग से करन की चेष्टा की है। उनके अनुसार प्रवृत्ति की एकरूपता स्थिति है। प्रत्येक पदार्थ की दो अवस्थाएँ हैं। या तो वह बढ़ता है अथवा घटता है। उससे बढ़ने की क्रिया अथवा उपचय प्रवाह में एक प्रवृत्ति है जिसे हम बढ़याख्याप्रवृत्ति कह सकते हैं। इसी तरह उसके अपचय प्रवाह में भी एक प्रवृत्ति है जिसे अपायलक्षणा प्रवृत्ति कह सकते हैं। इन दोनों की प्रवृत्ति में अभेद है और इस अभेद के आधार पर प्रवृत्ति की एकरूपता की स्थिति कहते हैं। अथवा प्रवृत्ति का साम्य स्थिति है। उपचय और अपचय इन दोनों प्रवाहों में भेद मानकर भी उनमें प्रवृत्तिरूप साम्य है। बढ़ने और घटने की क्रिया में प्रवृत्ति समान है और यही साम्य स्थिति है। अथवा आविर्भाव और तिरोभाव के बीच किसी प्रवृत्ति की कल्पना करनी पड़ती है जिसके कारण किसी वस्तु की किसी कला का तिरोभाव होत-होत किसी दूसरी कला का आविर्भाव होने लगता है और उस हतुभूत प्रवृत्ति को स्थिति मान सकते हैं। अथवा गुण का सामांय रूप स्थिति है। जिस कारण से ये गुण हैं ऐसी बुद्धि होती है वही गुण सामांय है। मत्त्व आदि गुण विचित्र विश्व में बदलत हुए अपनी जाति को नहीं छोड़ते हैं। गुणरूपता ही उनकी जाति है। सामांय में सभी विशेषताओं के आविर्भाव हान के कारण आविर्भाव और तिरोभाव भी उसके भीतर आ जाते हैं। इसलिये गुण सामांय ही स्थिति है। इस दृष्टि से स्त्रीत्वान्तरलिंगभेद का स्थिति नपुंसकलिंग हुआ। जिस तरह से रूढ़ तत्त्व सवनाम वस्तु भाव का स्पष्ट कर सकता है उसी तरह नपुंसकलिंग भी विशेष की अविवक्षा में सर्वलिंग का परामर्श करना है और अव्यक्तलिंग के स्थान में व्यवहृत भी होता है। इस दृष्टि से स्थिति सस्त्यान और प्रभव इन दोनों अवस्थाओं में प्राप्त है और इस तरह सवनाम की तरह नपुंसकलिंग व्यापक महत्त्व पा लेता है (वाक्यपदीय ३ लिंग समुद्देश १७ १८)। कथन के अनुसार आविर्भाव और तिरोभाव के बीच की अवस्था स्थिति है। (आविर्भावतिरोभावांतरालावस्था स्थितिहृद्यते—प्रदीप महामाध्य ४।१।३)।

कुछ लोग प्रवृत्ति (गुणों के चित्तपरिणाम) को लिंग का सामांय लक्षण मानते हैं। वह प्रवृत्ति ही आविर्भाव तिरोभाव और स्थितिरूप में अलग जान पड़ती है। इन तीनों प्रवृत्तियों में सभी पन्नाथ प्रवृत्ति वाले हैं। प्रवृत्तियुक्त पदार्थ ही शब्द के अभिधेय हैं। आकार युक्त पदार्थ ही शब्द द्वारा संचित होते हैं। शुद्ध वस्तुतत्त्व शब्द के अभिधान का विषय नहीं होना। शब्दविषय आदि अत्यन्त असत् पन्नाथ में लिंग योग उनकी बौद्धिक सत्ता के आधार पर हो जाता है। अपरिणामी पुष्प में भाक्त त्वधर्म के आरोप से लिंग योग मभव है। स्त्रीत्व स्त्रीता जस सस्त्यान आदि में भी प्रवृत्तिलक्षणलिंगयोग है। साम्यज्ञान के आधार पर लिंग का उपयुक्त विवचन चित्त है। गुण शब्द से भाव्यकार का अभिप्राय साम्य दर्शन के गुणों से नहीं जान पड़ता। भाव्यकार ने सस्त्यान और प्रवृत्ति का विवचन या किया है— किस का सस्त्यान स्त्री है और किसकी प्रवृत्ति पुमान है ? गुणों की। किनकी ? शब्द, स्पष्ट, रूप, रस और

गन्ध की। सभी मूर्तिया ऐसी होती हैं, उनमें सस्त्यान और प्रसवगुण होते हैं और वे गन्ध स्पृश, रूप रस गन्ध वाली होती है। जहाँ अल्प गुण होते हैं उनमें गन्ध स्पृश, और रूप होते हैं। रस और गन्ध सबत्र नहीं होते। प्रवृत्ति भी नित्य है। कोई भी इस ससार में क्षण भर भी अपने आप में स्थिर नहीं रहता। या तो वह बढ़ता है जितना कि उसे बढ़ना चाहिये अथवा बिनाश की ओर अग्रसर होता है। ये दोनों (सस्त्यान और प्रवृत्ति) सबत्र हैं। यदि सबत्र हैं तो (लिंग की) व्यवस्था किस सम्भव है? विवक्षा स। सस्त्यान की विवक्षा में स्त्री। प्रसव की विवक्षा में पुमान्। दोनों की अविवक्षा में नपुंसक — महाभाष्य ४।१।३

गुणों के सस्त्यान या गुणों की प्रवृत्ति में गुण गन्ध सारयप्रसिद्ध गुण के अर्थ में महाभाष्यकार द्वारा प्रयुक्त नहीं जान पड़ता। साख्य दर्शन में प्रसिद्ध गुण के अर्थ में गुण गन्ध का व्यवहार महाभाष्य में कहीं नहीं है। दार्शनिक विचार रूप में जब कभी गुण शब्द का व्यवहार महाभाष्य में हुआ है सदा शब्द स्पृश रूप आदि अर्थों में ही हुआ है। मत्त्व रज या तमोगुण के अर्थ में नहीं। तस्य भावस्त्वतली ५।१।११६ सूत्र के भाष्य का कुछ अंग निम्नलिखित है—

किं पुनर्द्रव्य के गुणा। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा गुणा। ततोऽयं द्रव्यम्। गुण शब्दोऽयं वह यथ। अस्त्येव समेष्ववयवेषु वर्तते। तदयथा द्विगुणा रज्जु त्रिगुणा रज्जुरिति। अस्ति द्रव्यपदायक। तद यथा गुणवानय देव इत्युच्यते यस्मिन् नाव सप्तानि च वर्तते। अस्त्यप्राधान्ये वर्तते। तद यथा यो यत्राप्रधान मयति स आह गुणभूता ययमस्ति। अस्त्याचारे वर्तते। तदयथा गुणवानय आह्वाण इत्युच्यते य सम्यगाचार करोति। अस्ति सत्कारे वर्तते। तद यथा सस्कृतमान गुणवदित्युच्यते।

गुण गन्ध के जितने अर्थ यही पतञ्जलि ने दिए हैं उनमें सत्त्व रजस आदि अर्थों का उल्लेख नहीं है। मत्त्व रजस और तमस शब्दों का भी गुण के अर्थ में महाभाष्य में प्रयोग नहीं है। सत्त्व गन्ध का प्रयोग महाभाष्य में केवल दो बार है और वह द्रव्य और त्रियापन्नाथ के अर्थ में प्रयुक्त है। (कथन का तर्क है कि मत्त्व रजस और तमस ये गुण हैं गन्ध आदि पाँच गुण उन्हीं के परिणाम होने में तत्त्वमय हैं सत्त्वरजस्तमसि गुणारतत्परिणामरूपाश्च तदात्मका एव शब्दादयः पञ्चगणा — (महाभाष्य प्रदीप ४।१।३)। किन्तु यह तर्क लचर है। हम आधार पर तो किसी भी वस्तु का गुण कहा जा सकता है क्योंकि भाष्य के अनुसार प्रत्येक वस्तु गणा का परिणाम है। इनाराज ने गन्ध आदि का सम्बन्ध मत्त्व आदि में दूसरे रूप में किया है। उनसे अनुसार गुण तम गण व्यवहारवाच्य न हो पाएगा तमस परिणामभूत गन्ध स्पृश आदि का स्पर्श लिंग की व्याख्या में किया गया है (गुणमत्तमा गुणा व्यवहार न साक्षादवतर स्तानि तत्र परिणामरूपाणां रूपाणामविनिर्वाच्यवस्थान्ध सिद्धमाश्रय भाष्य—

६. कथं न रजः प्र. दद इदं २५६ । २० दया म ५२४ इत्यादि । मध्वसि ३।१।१ । अति विद्वत्पण्डित महाशय स. ब. म. १ ।

हेलाराज वाच्यधीय ३, लिंगसमुद्देश २४)। परन्तु यह तक भी आपानरमणीय है। गुणों की जो आविर्भाव आदि अवस्था है वह भी विवक्षाधीन है कल्पित है। व्यवहार योग्य नहीं है। पुन विचार के क्षेत्र में रूप आदि भी सत्त्व आदि की तरह सूक्ष्म ही मान जायेंगे। वस्तुतः यदि शब्द आदि से पतञ्जलि का अभिप्राय सत्त्व आदि गुणा से होता है तो वे सत्त्व आदि शब्दों से ही उल्लेख करत है। उनकी गली अस्पष्ट और दूरारूढ कल्पनामयी नहीं है। अतः भाष्यकार के शब्द रूप आदि गुण साध्य के गुण न होकर वक्षोपिकादि दान में गृहीत गुण हैं।

सस्यान शब्द का अर्थ कथं आदि ने तिरोधान अथवा अपचय किया है। यह अर्थ भी चिन्त्य है। कोण या व्यवहार में सस्यान शब्द का यह अर्थ नहीं मिलता। पाणिनिधातुपाठ में सत्य धातु के दो अर्थ दिए हैं—शब्द और सघात (सत्य शब्द सघातयो—पाणिनि धातुपाठ १।६।१।)। यास्क ने सत्य का अर्थ लजाना भी दिया है (सत्यायतेरपत्रपक्वमण—निरुक्त १२६)। स्वयं महाभाष्यकार ने सत्य धातु का प्रयोग सघात अर्थ में किया है (सत्यायतेऽस्यां गभ इति स्त्री—महाभाष्य ४।१।३)।

प्रवृत्ति शब्द का अर्थ भी विचारणीय है। पतञ्जलि ने प्रवृत्ति शब्द का व्यवहार अनवरत गतिशील अथवा क्रियाशील के अर्थ में किया है और प्रवृत्ति को नित्य माना है (प्रवृत्ति खल्वपि नित्या। नहीह कश्चिदपि स्वस्मिनात्मनि गृह्यमप्यव तिष्ठते—महाभाष्य ४।१।३)। किन्तु कथं आदि ने प्रवृत्ति का अर्थ आविर्भाव माना है। भत हरि प्रवृत्तिको लिंग का सामान्य लक्षण मानत हैं और आविर्भाव तिरोभाव तथा स्थिति के आधार पर प्रवृत्ति के तीन भेद मानत हैं। भाष्यकार प्रवृत्ति का सम्बन्ध केवल पुलिङ्ग में जोड़त हैं जबकि भत हरि उसका सम्बन्ध तीनों लिंगों से जोड़त हैं। यही भेद है। एक भेद और है। पतञ्जलि ने स्थिति की चर्चा नहीं की है जबकि भत हरि ने स्थिति पर विचार किया है।

कथं ने भत हरि के आधार पर प्रवृत्ति के एक भेद तिरोधान का सम्बन्ध सस्यान से जोड़ दिया है और गुणा के तिरोधान अथवा अपचय से स्त्रीत्व की आविर्भाव अथवा उपचय से पुलिङ्ग की तथा स्थिति अथवा अत्रालावस्था से नपुंसक की अभिव्यक्ति माना है किन्तु कथं ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि गुणों के उपचय या अपचय मापने का स्थिर बिन्दु क्या है? उपचय और अपचय निरपेक्ष नहीं हो सकत। पुन तीनों गुणों का एक साथ आविर्भाव या तिरोभाव कस सम्भव है? गुणों की साम्यावस्था भी यथेन प्रकृति में असम्भव है।

इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि पतञ्जलि और श्लाक वातिकार के पूर्व भी शब्द आदि गुणों का स्त्री से सम्बन्ध विचार के क्षेत्र में आ चुका था जमा कि यास्क के निम्नलिखित वक्तव्य से स्पष्ट है—स्थिय एव एता शब्द स्वरूपपरसंग्रहहारिण्य—निरुक्त १४।२०। इसमें यह भी स्पष्ट हो जाता है कि

शब्द आदि गुणों के सस्त्यान का अभिप्राय इन गुणों के अधिष्ठान, एतत् सप्रहं म है न कि उनके तिरोधान अथवा अपचयः ।

अतः सस्त्यान का अर्थ सघात और प्रवृत्ति का अर्थ गतिशीलता सम्भन्ना उपयुक्त जान पड़ता है । इस दृष्टि से शब्द आदि गुणों का सघात स स्त्रीत्व की उनकी प्रसवधर्मिता से पुस्त्व की और दोनों की अविवक्षा में नपुंसकत्व की व्यञ्जना माननी चाहिए ।

प्राचीन काल में ही सारथ के गुणज्ञान वाली लिंग व्याख्या सर्वको माय नहीं थी । अतः भट्ट हरि ने दूसरी व्याख्या भी प्रस्तुत की है । कुछ लोग न वगैरह दशम के आधार पर सस्त्यान का अर्थ नाश और प्रसव का अर्थ उत्पत्ति माना था । भावा का अनौपाधिक स्वरूप ही उनके अनुसार स्थिति है । इस वाद का अनुसार पुष्प चित्ति आदि नित्य पदार्थों में उत्पत्ति विनाश गरीर आदि उपाधिसमूह के सहारे कल्पित है ।

उत्पत्तिः प्रसवाऽप्येता नागः सस्त्यानमित्यपि ।

आत्मरूपं तु भावानां स्थितिरित्यपदिश्यते ॥

—वाक्यपदीय ३ निग समुद्देश २७

स्वयं वशेषिको नेलिंग को जातिरूप माना है । स्तनादि व्यजनविशेष से अभिव्यक्त स्त्रीत्व पुस्त्व और नपुंसकत्व के रूप में लिंगजाति की सत्ता है । गवय अभिनप्रत्यय जाति के सदभाव में प्रमाण है । स्त्रीत्व आदि गो व आदि का सदृश ही है । खटवा आदि अचेतन पदार्थों में भी लिंगजाति है जिसके कारण खटवा आदि में स्त्रीत्व बाधक प्रत्यय करने की इच्छा होती है । अथ गच्छ पुलिङ्ग है । व्यक्ति ग द स्त्रीलिंग है । वस्तु ग द नपुंसकलिंग है । इन तीनों विभिन्न लिंग वाले शब्दों में से प्रत्येक से ससार की किसी भी वस्तु का निर्देश किया जा सकता है । अथ अथ इय व्यक्ति इद वस्तु इस रूप में । अब यदि प्रत्येक वस्तु में तीनों लिंगों की सत्ता नहीं होती तो वे उपयुक्त तीनों लिंगों वाले शब्दों से गहीत न होते । एक ही में उनके परस्पर विरोध को दूर करने के लिए जातिपथ का आश्रय लेना पड़ता है । जाति सवगत होती है । बहुत जातियाँ भी एक में समवाय सम्बन्ध से रह सकती हैं । इस्तिनी और वडवा दोनों में स्त्रीत्व वृद्धि होती है । स्त्रीत्व और गो व साथ साथ रह सकते हैं । स्त्रीत्व और स्तनादि व्यजन में गोत्व की तरह सामान्यविशेष भाव है । व्याकरण शास्त्रों को अर्थ मानते हैं । इसलिए द्रव्य गुण कम, सामान्य आदि में भी लिंगजाति का योग सम्भव है । इसी दृष्टि से भाव गच्छ से पुस्त्वोपाधिक सत्ता का बोध होता है । सत्ता शब्द से स्त्रीत्वोपाधिक सत्ता का परिचय होता है और सामान्य गच्छ से नपुंसकोपाधिक सत्ता लक्षित होती है । तट तटी तटम आदि में भी इसी तरह लिंगजाति की सत्ता है । लिंग में भी दूसरा लिंग योग इस दृष्टि से सम्भव है । गच्छ जब कभी वस्तु रूप में अपने आपको व्यक्त करेंगे उसके लिंगोपाधिसत्ति ही व्यक्त करेंगे । इसीलिए स्त्री स स्त्रीत्व स्त्रीता और स्त्रीभाव तीनों लिंग सम्भव हैं । कायायन का भावस्य च भाव युक्तवान् (वार्तिक ४।१।३ ७) भी इस मत का पोषक है । स्त्री गच्छ से अभिहित

स्त्रीत्वविशिष्ट द्रव्य में भाव प्रत्यय के द्वारा नपुंसकलिङ्ग आदि की अभिव्यक्ति स्वाभाविक है<sup>८</sup> । किंतु कयट लिङ्गसामाय के पक्षपाती नहीं हैं (लिङ्गादिसामाय-सदभाव प्रमाणाभावात्—कयट १।१।३२) ।

कुछ आचार्य मानते हैं कि लिङ्ग स्वभावतः गण्यभिधेय है । बाह्य लिङ्ग की सत्ता नहीं है । शब्द के द्वारा असत् लिङ्ग की अभिव्यक्ति होती है । इसलिये एक ही वस्तु को अथ व्यक्ति अथवा वस्तु रूप में विभिन्न लिङ्गों से व्यक्त करते हैं । इस पक्ष का भक्त हरि न शब्दोपजनितोऽथात्मा कहा है ।

कुछ लोग लिङ्ग को केवल शब्दसंस्कार के रूप में मानते हैं । लिङ्ग शब्द का धर्म न होकर शब्द का संस्कारक है । उदात्त अनुदात्त आदि स्वर शब्द के धर्म हूँ पर तु लिङ्ग शब्द का संस्कारक मात्र है । क्योंकि शब्द के अवाक्यान के लिए उसका ग्रहण प्रक्रिया वाक्य में ना तरीयक रूप में होता है । पाणिनि के पुंवन कर्मधारयजातीयदशी येषु ६।१।४२ सूत्र पर वार्तिककार ने एक वार्तिक पुंवन भाव के पक्ष में लिखा— कुक्कुटयादीनामण्डादिषु पुंवद्वचनम् । कुक्कुटी आन्ति का अण्ड आन्ति के साथ वृत्ति में पुंवत्भाव हो जाना चाहिये जैसे कुक्कुटया अण्ड कुक्कुटाण्डम् । मृग्या पद मृगपदम् । काक्या गाव काकगाव । पुनः वार्तिककार ने इसका प्रत्याख्यान किया—न वाम्नीपुंव-पद विवक्षितवान् । कुक्कुटाण्डम् जस पदाम् पुंव पद में स्त्रीत्व विवक्षित नहीं है । अण्ड आदि के विशेषण के रूप में जो कुक्कुट आन्ति पद हैं उनमें जातिमात्र की विवक्षा है इसलिए स्त्रीत्व अविवक्षित है । पुंवदभाव करने पर भी पुंवपद से वाच्य जत्र स्त्रीत्व की विवक्षा नहीं है तो पुंवदभाव करना भी निष्प्रयोजन है । मृग्या क्षीर मृगक्षीर जमे स्थला में भी पुंवपद में स्त्रीत्व अविवक्षित है । सत् वस्तु की भी अविवक्षा देखी जाती है और असत् वस्तु की भी विवक्षा की जाती है जमे अनुत्तरा कया विध्यो वद्धित-कर्म में अमग सत् की अविवक्षा और असत् की विवक्षा है । कुछ लोग प्रक्रिया वाक्य में

८ प्रक्रियाप्रमाद के लेखक ने इस मत का समर्थन किया है और पाणिनीयमतदणकार की भाँति इस पक्ष में अभिमति व्यक्त की है—

यत्र वशेन इयं त्रीणि लोकाः सप्रययं म धम त्रीत्वम् । म च गोदादिवत् सामाय विशय । तथा च पाणिनीयमतदर्पण उक्तम्—

इयमयमित्ति येषु त्रयपदशो दृश्यन्त लोकाः ।

त्रीषु नपुंसकानि प्रोच्यन्ते तानि लोकाः ॥

गोवादि स्वाश्रयैयद्वन् सामायमुपलक्ष्यते ।

यत्र वस्तुननुत्तवात् त्रीणि पुं लिङ्गि तथा ॥

भावाना शस्त्रीना लोकाः प्रतियोगविशयवन् ।

किञ्चिन्नेनचिदेवाश्रयेण सामायमुपपत्तिः ॥

ततो यत्रैवैचिन्त्याजनात् त्रयोमेव हि ।

यत्र न तु पुंस्त्वादि सोऽथ स्वायमिरीयन् ॥

पुमान् नपुंसक त्रैव द्वित्रिलिङ्ग तथैव च ।

यथा गौरी गिरिहोममर्त्यं तन्मत्र लिङ्ग ॥

—नोपदव, पाणिनीयमतदण, प्रक्रियाप्रमाद में उद्धृत पृ ३६८ १८ भाग १



भी मुक्तुस्य अष्ट मृगस्य क्षीर इम रूप म पुंसि रूप म ही निमित्त कृत है अर्थात् सत्त्वभूत अथ वा त्रिग तात्तरीय है। इसी तरह इन वस्तु इस व्यक्ति, समय इस रूप म सभी पदार्थों का निर्देश उत्तर बाध्य त्रिग न त्रिगो रूप म हो जाता है। अर्थात् त्रिग भवन धर्म अर्थात् त्रिग है। धर्म-जात्या का निमित्त प्रायः कथित होता है। यदि धर्म अर्थात् त्रिग का निमित्त यास्तविक न लिया जाय तो रातो गिर स्वयं स्वभाव जगत् स्वरूप म व्यापित विमलित रूप हो जाती है? टावुचि ४।१।६ सूत्र म वृत्तिकार न शून्य का अभिप्राय रूप म निमित्त किया है जो धर्म-जात्या रूपान्तरण का आधार पर ही उक्त है। अर्थात् त्रिग अर्थात् त्रिग और धर्म-सत्त्वार इन दोनों पदों म भेद यह है कि धर्म-जात्या पद म अर्थात् त्रिग का अर्थात् अर्थात् किया जाता है जबकि धर्म-सत्त्वार पद म त्रिग धर्म का मातृत्व का निमित्तमात्र होता है।

भाज ने धर्म-सत्त्वार का हेतु रूप म त्रिग का उक्त भेद गाता है—गुड मिश्र सक्तीण उपसर्ग आदिष्ट और अर्थात् त्रिग म त्रिग सत्त्वार अर्थात् त्रिग गुड है जस—गुडवा यथा गुणम् स्था पुमान् गुणम्। जिसमें त्रिग सत्त्वार है वह मिश्र है जस—मरीचि उमि अर्थात् त्रिग कथय। जिसमें तीन सत्त्वार हैं वह सक्तीण होता है जस ततो तद तम शृगला शृगल शृगलम्। विषयगत त्रिग से प्रभावित विषयस्वरूप उपसर्ग है जस गुणता गुणता गुणम्। विषयगत होने पर भी नियतशब्द-सत्त्वार आदिष्ट है जस प्रकृति विषय प्रधानम् अर्थात् दारा कलत्रम्। जिसमें त्रिग निमित्त धर्म-सत्त्वार न हो वह अर्थात् त्रिग जगत् पद कति उच्च। (शृगारप्रकाश पृष्ठ १८३, १८४)। य सभी मत उपयुक्त इतिहासिका म ध्वनित है और इन्हें भी भक्त हरि ने त्रिग के सान विरूप माने हैं

स्तनकेगादिसम्बन्धो विनिष्टा वा स्तनादयः ।

तदुपपन्नजना जाति गुणावस्था गुणास्तथा ॥

गन्धोपजनितोऽर्थात्मा गन्धसत्त्वार इत्यपि ।

लिंगानां लिंगतत्त्वनविकल्पा सप्त दण्डिता ॥

—वाक्यपनीय ३ लिंग समुद्देश १२

उपयुक्त मता म गुणवाचक आधार पर त्रिग का विवेचन बाद के व्याकरणों ने अधिकतर अपनाया है। हेनाराज ने इसे ही सिद्धांत के रूप म स्वीकार किया है सिद्धांतस्तु यथामात्र गुणावस्थारूप लिंगमित्यस्माभिर्वीतिकोमेवे यथागम याख्यात तत एवावधारय म। गुणधर्मरूप हि त्रिगे धर्मगुणस्य सवधवाच्य चहापत्वादस्तुत्यपि वस्तुत्वभिमानात्लौकिकानां लोकसम्प्रत्ययसमाहृत्यवशात्तात्त्वादात्मादीनां रूपादीनां तमश्छायाप्रभतीना च सर्वेषां लिंगयोग उपपन्न। अभावशब्दविषाणादीनामपि वस्तुभूतोत्तरपदाश्रय लिंग न चाप्यथा भावोपाश्रयत्वादभावो व्यवहृत इति व्यापकमिदं सत्त्वानप्रसवौ स्थिति इवेति लिंगत्रयो सिद्धांतितमवगतव्ययम्।

—वाक्यपनीय ३ लिंग समुद्देश ३१।

लिंग के सम्बन्ध में वैयाकरणा के उपचयापचयवाद पर आक्षेप करते हुए पक्ष धर मिश्र ने लिखा है—पुल्लिङ्ग आदि शब्द से उपचय अपचय आदि की प्रतीति नहीं होनी। क्योंकि उपचय अपचय आदि का स्वरूप निर्धारित नहीं है। वक्ष शब्द से वक्ष गत किसी प्रकार के उपचय का ज्ञान नहीं होता। इसी तरह गगा शब्द से गगागत किसी तरह के अपचय का आभास नहीं होता। यदि ऐसा माना जायगा तो वक्ष या गगा की अवधि का ज्ञान आवश्यक होगा। इसके अतिरिक्त यदि पुस्त्र का सम्बन्ध उपचय से स्त्रीत्व का अपचय से और नपुंसकत्व का सम्बन्ध दोनों से माना जायगा तो नपुंसक शब्द की स्थिति पहनी बन जायगी। क्योंकि एक ही वस्तु में उपचय अपचय जैसे दो विरोधी धर्म कैसे भूलकेंगे। साथ ही, पथिवी, सुमेरु, कुल जस निश्चित लिंग वाले शब्द सत्ता एक सा अर्थ व्यक्त करते हैं, विशेष (उपचयादि सहित) नहीं। (प्रशस्तपाद भाष्य-संतुटीका ५० ८४, ८५)। वैयाकरण इस आक्षेप का समाधान उपचय अपचय को विवक्षाधीन मानकर देते हैं। उपचय अपचय दोनों से रहित दशा का सम्बन्ध नपुंसक से मानने पर पक्षधर मिश्र का नपुंसक शब्द के विषय में उपयुक्त आरोप निराधार हो जाता है (उपचयापचयरहिता यावस्था तदात्मिका स्थिति नपुंसकत्वम्—याम ४।१।३, पृष्ठ ८०६)। भक्त हरि के अनुसार ऐसी कोई अवस्था नहीं है जिससे लिंग का याग न हो सक। जा गुणात्तात पदार्थ हैं उनमें भी लिंग व्यवहार होता है जस आत्मा (पुल्लिङ्ग) चित्ति (स्त्रीलिङ्ग) चैतन्यम् (नपुंसकलिङ्ग)। भक्त हरि ने संभवतः पञ्चशिख आचार्य के आधार पर चित्ति जस गत्तो में लिंगयाग के लिए प्रतिविम्बवाद का आश्रय लिया है। चित्ति शक्ति बुद्धि में प्रतिविम्बित होती है। बुद्धिमनान्त होने से चित्ति में बुद्धिगत (भाग्यगत) धर्म आभासित होते हैं। यही धर्म शब्दाक्षर है। सत्तात दशा में भोक्तशक्ति और भोग्य शक्ति में भेद जान पड़ता है। चित्तिशक्ति स्वयं अपरिणामिनी है किन्तु सत्तात दशा में अचेतन में भी चैतन्य की छाया ला देती है

यश्चाप्रवृत्तिधर्मायश्चित्तिरूपेण गृह्यते ।  
अनुयातीव सोऽप्येषा प्रवृत्तीविष्णुगाश्रया ॥  
तेनास्य चित्तिरूपं च चित्तिकालश्च मिथ्यते ।  
तस्य स्वरूपभेदस्तु न कश्चिदपि विद्यते ॥  
अचेतनेषु सकृत्त चैतन्यमिव दृश्यते ।  
प्रतिविम्बकधर्मेण यत्तच्छब्दनिबन्धनम् ॥

—वायव्यपदीय ३ वृत्तिममुद्देश ३२० ३२१

गोत्र आदि सामान्य (जाति) भी प्रवृत्तिधर्म के चपट में आ जाता है। क्योंकि वह यक्ति से सवथा भिन्न नहीं है

सामान्यमपि गोत्रादिक यस्तेरयतिग्वित्त्वात् प्रवृत्तिधर्म —

—कण्ट महाभाष्य प्रतीप ४।१।३

ताम्र के अनुसार यहाँ व्यक्ति को जाति से गत्यतिरिक्त मानना व्यक्ति अनुगत ब्रह्म की सत्ता वाले वाद के आधार पर है। ताम्र के अनुसार सामान्य भी प्रवृत्ति का

विराभी लिख्य विराभ है। कय न अनुगार विरभा साध्यवदारानुवाग्निनी माननी  
भाहिय, प्रागन्भी गहा। हताराज न अनुगार विरभा न अभिप्राय प्रागन्भी स है  
व्यवस्थापनी लीकनी गही—

लोकव्यवहारानुवाग्निनी विरभा साध्यवदारा न नु प्रागन्भी।

—कय महाभाष्यप्रमाण ४।१।३

तथा न प्रागन्भी विरभा न लीकनी व्यवस्थापनीयुक्त भवति।

—हलाराज वास्यपनीय ३ लिगमुद्ग २१

दाता ही भाषाय अपन पना स्थान पर टीक है। कय न प्राधा भाषायों  
का परम्परा क अनुगार लिगव्यवस्था क विषय म सात का हा प्रमाण माना है  
(लिगव्यवस्थापनी लोक प्रमाणमिषय कयट प्रदीप ८।१।३)। अतः उनकी दृष्टि  
म लिग भी लिग क विषय म सात का ही अनुगमा करत है। हलाराज का अभिप्राय  
यह है कि लिग व्यवस्था स्वच्छाव्यवहार पर अभिन नहा है। अपितु परम्परा स लिग  
क व्यवहार क आधार पर उमरा निणय लिया जाता है। कय की मान्यता है कि  
लिग क स्वरूप का ज्ञान ज्ञान स हा सम्भव है अथवा उमरा ज्ञान सम्भव नहा है  
(अनेन लिङ्गस्वरूपमपि लोकस्थे ज्ञायत इत्युक्त भवति—कयट प्रदीप ८।१।३)।  
हलाराज क अनुगार लान म भी लिगव्यवस्था लिग जना क व्यवहार पर ही भव  
लम्बित है। लोकाश्रयत्वात् लिगम्य जस वास्यो म हलाराज क अनुगार लान ग  
का अर्थ लिग है (इह लोक गनेन लिग विवक्षिता—हलाराज वास्यपनीय ३  
लिग समुद्ग २१)। नागन का भुगान भी लोक की अर्थ स लिग की धार है। उन  
अनुगार जिम गन का जिम लिग क साथ साधुत्व और धमबुद्धि स लिग न व्यवहार  
किया है उस दण्ड का वही लिग है

एयञ्च येषां शब्दानां यल्लिगमुपादाय लिग साधुत्वावगमनपूर्वक  
धमजनकत्व बुद्ध्या प्रयोग कृति तेषां तदेव लिगमिति नियम सिद्ध इति  
भावः।

—नागन महाभाष्य प्रदीपोद्योत, ४।१।३

लिग के विषय म वातिककार के कुछ महत्वपूर्ण बातें हैं। उनम एक है—लिग  
मक्षिप्य लोकाश्रयत्वाल्लिगस्य। यद्यपि यह वातिक वतमान वातिक पाठ म नहीं  
मिलता फिर भी यह वाक्यायन का वचन है। महाभाष्यकार ने स्वयं कहा है—  
पठिष्यतिह्याचाय लिगमक्षिप्य लोकाश्रयत्वाल्लिगस्य इति। पुन पठिष्यति—  
एकार्थे गदायत्वाद दष्टि लिगायत्वम अवयवायत्वाच्चेति (महाभाष्य ४।१।३)।  
इनम एकार्थे गदायत्वाद दष्टि लिगायत्वम और अवयवायत्वाच्च य दा वातिक  
८।१।६२ सूत्र पर पठित हैं। इन वातिक का और लिगमक्षिप्य इस वातिक का कर्ता  
एक ही है जा भाष्यकार क पठिष्यति और पुन पठिष्यति गन से स्पष्ट है। अतः इस  
वातिक की सत्ता किसी सूत्र पर अवश्य रही होगी। अस्तु वातिककार के लिग के  
विषय म जितने मौलिक विचार हैं उनम लिग अक्षिप्य वाला वचन य बहुत महत्वपूर्ण  
है। वातिककार ने यह अनुभव किया होगा कि किसी शास्त्रीय नियम स लिग व्यवस्था

का निर्वाह कठिन है। शास्त्रीय नियम एक बार बनाए जा सकते हैं किन्तु भाषा के विकास में लिंग व्यत्यय बराबर देखे जाते हैं। पुनः व्याकरण लाक का अनुयायी है। अतः लिंग-व्यवस्था में भी लोक ही प्रमाण है। शास्त्रीय उपदेश के बिना भी लोक व्यवहार में लिंग परिचय सुलभ है। लोक में लिंग-व्यवहार स्तन आदि चिह्ना पर निर्भर नहीं है। लिंग के स्वरूप पर भी लोक ही प्रमाण है। अतः वार्तिककार के मत से लिंग अशिष्य है। भाष्यकार ने भी अनेक बार कात्यायन के इस मत का दुहराया है और इसी आधार पर पाणिनि के सनपु सकम् २।४।१७ सूत्र का प्रत्याख्यान किया है (इदं तर्हि प्रयोजनं सनपु सकमिति वक्ष्यामीति। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। लिंगमशिष्यं लोकाश्रयत्वात् लिंगस्य महामाष्य २।१।१२)। भाष्यकार ने वार्तिककार के भी कई वार्तिका का प्रत्याख्यान उपधुक्त्वं वार्तिकं का आधार पर किया है जैसे सर्वालिंगता च २।१।३६ वा० ५ का प्रत्याख्यान लिंग अशिष्य के सिद्धांत पर किया है। आचार्य पाणिनि भी अशिष्य सिद्धांत का ही समर्थक है। उन्होंने स्वयं पूर्वाचार्यों के सूत्र लुपि युक्तवद व्यक्तिवचन १।२।५१ विशेषणानां चाजात १।२।५२ आदि का तदशिष्य सनाप्रमाणत्वात् १।२।५३ का द्वारा प्रत्याख्यान किया है। उनका लिंगप्रकरण परम्परा पालनमात्र है (एव च लिंगप्रकरणं जात्याख्यायामित्यादि सख्याप्रकरणं च पूर्वाचार्यानिरोधेन कृतम् इति ध्वनितं सूत्रकृता भागेश, महामाष्यप्रदीपोद्योत १।२।५३)। श्लाकवार्तिककार का तस्योक्तो लोकोक्तो नाम (४।१।३) वक्तव्य भी लाक पक्ष का ही समर्थक है। इसलिये जो लोग सस्त्यान आदि लक्षणा को अलौकिक कहते हैं वे भ्रम में हैं—

यद्यपि अविचारितरमणीय लिंगमाश्रित्य वक्तार शब्दानुच्चारयति,  
श्रोतारश्च प्रतिपद्यत तथापि वस्तुतत्त्वनिर्णयो भाष्यकारेण कृत इति  
यदयमवध्यायि सस्त्यानादिलक्षणमलौकिकं लिंगम् इति तदपाकृतं भवति।

—कण्ठ, महामाष्यप्रदीप ४।१।३

हेलाराज ने वार्तिककार को भी गुणवादी माना है। उन्होंने अपने ग्रंथ वार्तिको-  
मेय में इसका विवरण दिया है पर यह ग्रंथ अब तक उपलब्ध नहीं हो सका है। अतः  
हेलाराज के कथन की ठीक समीक्षा सम्भव नहीं है परन्तु प्रकीर्णकप्रकाश में इस पक्ष में  
उनके तक लक्ष्य है। उनसे अनुसार लिंगमशिष्य वाला मत प्रत्याख्यात है और इसलिए  
गुणावस्था वाला मत ही वार्तिककार का हाथ—

तदित्यमनेनकार्यं शब्दा यत्वादिना लिंगमशिष्यमिति च प्रत्याख्यानेन शब्द  
शक्तिभेदोपवर्णनतात्पर्यरूपेण गुणावस्था सर्वत्र सम्भवितो लिंगमिति सूचित  
भवति। वाक्यकारस्यापीदमेव दग्नमिति वार्तिको मेवे कथितमस्माभिः।

—वाक्यपत्नीय ३, लिंगसमुद्देश २६ टीका

किन्तु हेलाराज ने स्पष्ट नहीं किया है कि लिंगमशिष्य वाला मत कहा किस  
रूप में प्रत्याख्यात है। महामाष्य में इसका प्रत्याख्यान नहीं मिलता।

लिंग के विषय में वार्तिककार का वार्तिक एकार्यं शब्दा यत्वाददष्ट लिंगा-  
यत्वम् ४।१।६२ भी महत्त्वपूर्ण है। लाक में एक ही वस्तु के लिए भिन्न-भिन्न  
शब्द प्रयुक्त होते हैं। यह शब्द भिन्नता लिंग भिन्नता का एक आधार मानी जा  
सकती है। एक वस्तु के लिये पुष्प तारका तथा नक्षत्र शब्द का व्यवहार होता है।

पुप्य गद पुल्लिङ्ग तारता स्त्रीलिङ्ग और नक्षत्र नपुंसक लिङ्ग है। मठ, कुटी, गह आदि भी एक ही वस्तु के नियम विभिन्न लिङ्गी शब्द हैं। कथट इस वाक्य को व्याख्या या करते हैं—प्रत्येक पन्थाय सर्वाङ्गिता जाता है। उसका गद किसी गद से जान कराया जाता है किसी विशेष लिङ्ग के साथ ही उसका भाव होता है।

अवयवायत्वाच्च ४।१।६२ ७ वाक्य भी लिङ्गभेद का निर्देशक है। कथन गद के भेद से ही लिङ्गभेद नहीं होता अवयव के उपजन आदि में भी लिङ्गभेद देखा जाता है। कटो और कुटीर गमी और गमीर गुण्य और गुण्यार जस गद में स्वाधिक प्रत्यय के होने पर भी अवयव में भेद का जाने के कारण लिङ्गभेद एक ही गद में देखा जाता है।

अथभेद से भी एक ही गद में लिङ्गभेद अवगत होता है। जिस तरह स्वरभेद से एक ही शब्द विषयांतर में साधु माना जाता है वैसे ही लिङ्गभेद से भी एक ही शब्द विभिन्न अर्थ में प्रयुक्त हो सकता है। अक्ष गद देवनाक्ष और गवनाक्ष दाना का बोधक है किन्तु जब अन्तोन्नात होता है तब देवनाक्ष का बोधक होता है आदि उन्नात की अवस्था में शकटाक्ष का प्रत्यायक जाना है। अध शब्द समप्रविभाग अर्थ में नपुंसकलिङ्ग है एकदेशमान के अर्थ में पुल्लिङ्ग है। सार शब्द चाय से युक्त अर्थ में नपुंसक है (नतत्सारम्) उत्कथ अर्थ में पुल्लिङ्ग है (चत्सार)।

कुछ लोग मानते हैं कि एकाग्र शब्द के भेद से लिङ्गभेद में भी कोई न कोई विशेष बात रहती है। कुटी और कुटीर में केवल लिङ्गभेद ही नहीं है, कुछ अर्थभेद भी है। कुटीर छोटी कुटी को कहते हैं। अरण्य और अरण्यानी में भी यही भेद है। इसलिये अरण्यानी में स्त्रीत्व अरण्य के एक विशेष अर्थ एक विशेष गुण का बोधक हो जाता है। इस तरह सबमें ही कुछ न कुछ गुणवर्गिष्ठ के कारण एकाग्र गद में लिङ्गभेद की व्यवस्था करनी चाहिए। शब्द की नियतलिङ्गता भी किसी विशेष कारण से ही लोक में देखी जाती है। तक्षक (बद्ध) तक्षण छेदन आदि अनक क्रियाएँ करता है। उनमें से एक तक्षण क्रिया के आधार पर उसे तक्षक कहते हैं। कुम्भकार कुम्भ के अतिरिक्त गराव आदि भी बनाता है किन्तु कुम्भ क्रिया के कारण उसे कुम्भकार कहते हैं। इसी तरह शब्द भी स्वभावतः अथवा अभिधानवचिष्य के कारण किसी विशेष लिङ्ग में अभिहित किये जाते हैं। इस अभिधानवचिष्य को भन हरि न उपादान कहा है और उसके आधार पर भी लिङ्ग के निम्नलिखित सात भेद किये हैं

१—कुछ गद केवल पुल्लिङ्ग हैं जैसे वध आदि।

२—कुछ गद केवल स्त्रीलिङ्ग हैं जैसे तत्त्वा आदि।

३—कुछ गद नपुंसकलिङ्ग में ही नियत हैं जैसे नवि आदि।

४—कुछ गद पुल्लिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग वाले हैं जैसे जस, गय, गयम् पम्, पम्पम्।

५—कनिषय गद स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में नियत हैं जैसे भागधयी, भाग धेयम्।

६—कुछ गद स्त्रीलिङ्ग और पुल्लिङ्ग में साधारण हैं जैसे वत्ता वम् आदि।

७—अनेक शब्द तीना लिंगा म व्यवहृत होत हैं, जैसे, तट, तटी, तटम आदि ।

उपादानविकल्पाच्च लिंगानां सप्त वर्णिना ।

विकल्पसंनियोगाभ्यां ये शब्देषु व्यवस्थिता ॥

—वाक्यपदीय ३, लिंगसमुद्देश ३

सब लिंग सब वस्तु म है । किसी शब्द स सकृत् वस्तु किसी विशेषलिंग का जक है और इस तरह नियत लिंग की व्यवस्था सस्कृत के व्याकरण न की है पर सर्वेषां लिंगानां सवत्र भावात् केनचिच्छब्देन प्रत्यागम्यमान वस्तु कस्यार्थोत्पत्त्यस्य प्रसक्तमिति दारादिषु नियतलिंगता सिद्धा ।—कपट, महाभाष्यप्रदीप १।२।५३

काशिकाकार न लिंग की व्याख्या कुछ भिन्न प्रकार से की है । उनके अनुसार लिंग एक तरह स सामान्यविशेष है । सामान्यविशेष शब्द का ठीक अर्थ आज ज्ञात नहीं है । काशिकाकार न केवल इतना कहा है कि स्त्रीत्व आदि सामान्यविशेष हैं, गोत्र आदि की तरह बहुप्रकार व्यक्ति हैं

केय स्त्री नाम । सामान्यविशेषा स्त्रीत्वादयो गोत्वादय च बहुप्रकारा यवन्तय । कश्चिदाश्रयविशेषामावाद उपदेशव्यङ्ग्या एव भवति, यथा ब्राह्मणत्वादय ।

—काशिकावृत्ति ४।१।३

जिनद्रबुद्धि क अनुसार सामान्यविशेष का अर्थ है जो सामान्य भी हो और विशेष भी हो । तुल्यजातीय पदार्थों म साधारण होने के कारण सामान्य है । परस्पर तथा विजातीय म भी भेद होने के कारण विशेष है । यदि इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जाय तो गोत्व इसके समीप है । गोत्व सामान्य भी है । क्योंकि विभिन्न गोयति म अनुगतान्तरबुद्धि के आधार पर अभिन्नव्यवहार का हतु होता है । गोत्व विशेष भी है । क्योंकि अश्वत्व आदि से विषय की अभिव्यक्ति करता है । इसी तरह से स्त्रीत्व आदि भी सामान्यविशेष हैं । वे तुल्यजातीय सब म रहने ह और विजातीय स व्यावर्तक हैं । हरणत्त न सामान्यविशेष शब्द के दो अभिप्राय दिय हैं । एक तो यह अर्थ समझ है कि कुछ सामान्य ह और कुछ विशेष । दूसरा यह कि सत्ता क अतिरिक्त अर्थ जिनने अर्थों मे सामान्य शब्द का व्यवहार किया जाता है उन म के लिय सामान्यविशेष शब्द रूढ़ है

सामान्यविशेषा इति । कानिचित् सामान्यानीत्यय । यद्वया सत्ताप्रतिरिक्तेषु सामान्यविषय शब्दो रूढ तिल्लो वातरजानय इत्यय ।

—पदमन्तरी ४।१।३ पृष्ठ १६

और इस तरह स वाक्यपदीय की निम्नलिखित कारिका स इसका स अर्थ जो निया है—

तिल्लो जानय एतता केयचित् समप्रस्थिता ।

प्रविहता विह्वानि गोमहिष्यादिजातिभि ।।

—वाक्यपदीय ३, लिंगसमुद्देश ४

इस स सामान्यविषय क आशय क वचन्य न लिंग म भी वचन्य या जाता

कोई सामान्यविशेष किसी व्यञ्जक के आश्रय से अभिव्यक्त होता है। सब सय से अभिव्यक्त नहीं होत। क्योंकि पदार्थों की शक्ति नियतविषय वाली होती है। इसलिये जिस अर्थ (वस्तु) से स्त्रीत्व व्यक्त होता है, पुरुष अथवा नपुंसकत्व व्यक्त नहीं होता, वह स्त्री है। इस तरह से जिससे पुरुष की अभिव्यक्ति हो वह पुरुष और नपुंसकत्व की अभिव्यक्ति हो व नपुंसक है। चतन पदार्थों में उनके व्यञ्जक यौन चिह्ना के आधार पर लिंग व्यवस्था हो जायगी। अचतन पदार्थों में लिंग-व्यवस्था उपदेश के आधार पर उपदेश-योग्य के रूप में मान ली जायगी। इसी तरह आशा, आकाश जैसे निराश्रय शब्दों में भी लिंग उपदेश-योग्य है। जैसे ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व आदि उपदेश-योग्य हैं। प्रत्यय नहीं हैं उसी तरह स्त्रीत्व आदि भी विशेष स्थानों में उपदेश-योग्य हैं।<sup>१</sup> कोई शब्द एक ही लिंग में शक्त है, कोई दो में और कोई तीन में। दो या तीन के व्यञ्जकत्व के आधार पर द्विलिंग या त्रिलिंग शब्दों की व्यवस्था सम्भव है।

भट्टोजि दीक्षित ने लौकिक लिंग और पारिभाषिक लिंग का जोड़कर लौकिक लिंगविशिष्ट शास्त्रीयलिंग की भी कल्पना की है—

कुमारब्राह्मणादिशब्दास्तु लौकिकपुरुषत्वविशिष्ट शास्त्रीयेषु स्त्वे शक्ता लौकिक स्त्रीत्वविशिष्टे च शास्त्रीयस्त्रीत्वे। कथमप्यथा कुमारी कुमार इत्यादयः प्रयोगाः प्रवर्तिष्येरन् ।

—शब्दकोशसुम १।२।६४, पृ० ४५

लिंग शब्दनिष्ठ है अथवा अर्थनिष्ठ है? इस प्रश्न पर व्याकरणों में मतभेद रहा है। दोनों तरह के विचार मिलते हैं। कुछ लोग मानते हैं कि लिंग शब्दनिष्ठ है, पुलिङ्ग शब्द जिस वक्तव्य शब्दनिष्ठ लिंग के योग्य है। स्वमोनपुंसकात् ७।१।२३ में पाणिनि ने शब्द का ही नपुंसक कहा है। इसमें विरुद्ध कुछ आचार्य लिंग को अर्थनिष्ठ मानते हैं।

उन्नीचामात स्थान यन्पूर्वाया ७।१।६६ सूत्र में पाणिनि ने अथधम स्त्रीत्व का शब्द में आरोप माना है—स्त्रीलिंगनिर्देशस्तु तस्य समुदायस्याथधर्मेण स्त्रीत्वेन वेदितव्य, 'यास ७।३।४६, पृ० ७६८। कथट ने अनुसार भी इस सूत्र में पाणिनि ने अथगत स्त्रीत्व का शब्द में आरोप किया है—अथगत स्त्रीत्व शब्दे समारोप्य निर्देश कृत। कथट प्रदीप ७।३।४६।

महाभाष्यकार ने कहा है—न हि नपुंसक नाम शब्दोऽस्ति (महाभाष्य ७।१।२३)। कथट ने अथधमत्वान्तरिणस्य (७।१।२३) कह कर अर्थनिष्ठ-पद का समयन किया है। नागार्जुन ने भी, अथधमस्य स्त्रीत्वस्य शब्दे आरोप' कह कर तथा शब्दनिष्ठमेव लिंग

१ इस बोधदेव ने पाणिनीयमन्त्रपत्र में या रत्नाकर कह दिया है—

अत्यन्तमात्रेण सादृश्यात् व्यञ्जकभावना

उपदेशोक्तद्वयं कृत्वा यथा द्वाभ्यां वाचि ।

आश्रयस्थानाद्विषयवाच्यतायां श्रावणिकमन्त्रेण

उपदेशोक्तद्वयमवस्थान्तिगागमगमनयथा ॥

मिति नव्योक्त परास्तम (महामाध्य प्रदीपाद्योत ४।१।३) कहकर स्पष्टरूप से लिंग की अथनिष्ठता का समर्थन किया है।

नागेश का यहाँ नय से सकेत कौण्डभट्ट की ओर है। कौण्डभट्ट ने शब्दनिष्ठ पक्ष का समर्थन किया था। उनके अनुसार भाष्यकार के मत में भी लिंग शब्दनिष्ठ है। क्योंकि वे पुल्लिङ्ग शब्द जैसे व्यवहार करते हैं। पुल्लिङ्ग का अर्थ पुल्लिङ्गवाचक करना भी उपयुक्त नहीं है। अथवा घट शब्द जम प्रयोग हो सकते हैं। उपचार अथवा आरोप के आधार पर पुल्लिङ्ग शब्द जम प्रयोग का सिद्ध करने में निमित्त शक्ति की कल्पना करनी होगी। लिंग का अथनिष्ठ मानने में तट, तटी तटम् आत्मा ब्रह्म जैसे प्रयोगों की उपपत्ति नहीं बठ पाती है। छागी का भी यन्त्र में प्रयोग होने लगता—

वस्तुतस्तु भाष्यमते लिंगशब्दनिष्ठमेव। पुल्लिङ्ग शब्द इति व्यवहारात् पुल्लिङ्ग वाचकत्वात्तथेति चेत्तहि घट शब्दे इत्यपि स्यात् आरोपे निमित्तानुमरणमित्यादेरतिगौरवात्। अथनिष्ठत्वे तटस्तटी तटमित्यादेरात्मा ब्रह्मत्यादेरनुपपत्तेरुक्तत्वाच्च। छाग्या यागप्रसगाच्च।

—कौण्डभट्ट, व्याकरणभूषण, पृ० १२३

नागेश ने मज्झिमा में कौण्डभट्ट के उपयुक्त मत की समीक्षा विस्तार से की है और अथनिष्ठपक्ष का समर्थन किया है—

एतदवस्थानयस्य पदार्थमात्र सत्त्वाद इदं केवला वयि। इयं प्रकृति इदं वस्तु अयं पदार्थ इत्यादि-व्यवहाराणां सर्वत्राप्रतिबद्धप्रसरत्त्वात्। अथनिष्ठं च तत्। तथाच भाष्यम्—एकार्थे गदशयत्त्वाद दृष्टं लिंगा यत्वेन अवयवायत्वाच्चेति। पुण्य तारका नान्यत्रमिति शब्दनानां वदशनात् स्तनकेनाद्यतिरिक्तमेव लिंगम् अथनिष्ठम्। कुटी कुटीर इत्यादौ रेफस्यावयवस्योपजने लिंगभेददशनाच्चेत्यथ इति कथं। अत एवोपक्रमभाष्ये रूपरसस्पर्शशब्दानां स्थानप्रसवौ लिंगमित्युक्तम्। न हि रूपादयः शब्दगताः। पुल्लिङ्ग गच्छ इति तु वाच्यवाचकयोरभेदोपचाराद बोध्यम्। अत्र आद्यजन्तु वा तत्। आत्मनि सर्वस्याध्यस्तत्वेन परस्परया तत्रापि स्थानादिसत्त्वात् आत्मा अह्यति ध्यवहारोपपत्तिः। पशुना यजेतेत्यादौ पुस्त्वस्य विवक्षितत्वात् न स्त्रिया याग इति भीमासकाः।

—नागेश, मज्झिमा पृ० ११४२-४३

किंतु भाषा की दृष्टि में हलाराज का गदशय लिंग योग अधिक उपयुक्त जान पड़ता है (व्याकरण हिं में वस्तुधर्मों लिंगमिच्छते, अतितु गदशयस्य लिंगयोग, हलाराज, वाक्यपदीय ३ धनिसमुद्देश ३२८)।

जयान्तिय के अनुसार लिंग शब्दनिष्ठ हान पर भी अथभेद के आधार पर निर्भर देया जाता है—

गदरूपाश्रया चेष्ट द्विलिङ्गता कृच्चिदयभेदेनापि व्यवतिष्ठते—काशिका २।४।३१। उनका अनुसार पदम और गद गच्छ निधि के अर्थ में पुल्लिङ्ग हैं जनक के अर्थ में उभयलिङ्ग हैं। भूत गच्छ पिताच के अर्थ में उभयलिङ्ग है किंतु श्रिया गच्छ के रूप



म इसका लिंग अभिधेय ने अनुसार होता है जस भूत काण्डम भूता शाला भूत घट । स धवगात् लवण के अथ म उभयलिङ्ग है यौगिक गत् के रूप म इसका लिंग अभिधेय के आधार पर होता है जसे स प्रथम मत्स्य स धन जलम स धवी गङ्गरी । मार गब्द उत्कप के अथ म पुलिङ्ग है च त्तसार । कि तु अनुपयुक्त अथ म नपुंसक लिंग है नतनसारम ।

सारगब्द उत्कर्षे पुल्लिङ्ग याप्रादनपेते नपुंसकम नतत सारमिति—

पाणिनी २।४।२१।

अभयनगी न ग न्निष्ठपथ का समर्थन किया है—

शब्दजनितप्रत्ययवर्गा स्त्रीत्वादय इहामिप्रेता न वस्तुवर्गा । अयाप्ये । शब्दो हि श्रोत्रपथ गत लिङ्गसत्त्वाच्च त स्वप्रत्यय जनयति । स प्रत्यय खट्वादिषु रसादिषु अभावादिषु च शब्देषु सम्भवति ।—जने द्रमहावृत्ति ३।१।३ पृ० १५०

ज्ञानपीठ संस्करण

पाणिनि क स्त्रियाम ८।१। सूत्र पर विचार करत हुए वात्स्यायन ने लिंग के प्रत्ययाथपथ प्रवृत्त्यथविशेषणपथ और समानाधिकरणपथ पर भी विचार किया है । जिस तरह गुल आदि गुणगत् गुण और गुणी दोनों क लिए व्यवहृत हात ह जसे गुल पट पटम्ब गुलन उसी तरह स्त्रीगत् भी गुण और गुण क आश्रय दोनों क लिए प्रयुक्त होता है । जत्र स्त्री गत् स गुणमात्र स्त्रीत्व व्यक्त किया जाता है द्रव्य वाची प्रातिपदिक स स्त्रीत्व वाच्य अथ म टाप आदि प्रत्यय हात हैं । इस रूप म यह प्रत्ययाथ पथ है । जत्र स्त्रीयुक्त द्रव्य स्त्री गत् स कहा जाता है स्त्रीत्वयुक्त द्रव्यवाची अगीकृतस्त्रात्वा वाच प्रातिपदिक स टाप आदि प्रत्यय हात है—यह प्रवृत्त्यथ विशेषण पथ है । स्त्रीत्व युक्त द्रव्य स्त्री गत् स व्यक्त किया जाता है स्त्रीत्व उप सतिद्रव्यवाची प्रातिपदिक स टाप आदि हात ह—यह स्त्रीसमानाधिकरणपथ है । अत्रयत्रतिरक् के आधार पर भी प्रत्ययाथ पथ की कल्पना की जाती ह । दपत् वाच आदि गत् म प्रत्यय क प्रयत्न ज्ञान क विना भी स्त्री अथ वा अभिव्यक्ति होती है इस आधार पर भी प्रवृत्त्यथपथ की सम्भावना की जाता है ।

स्त्रा समानाधिकरण पथ का नश्य कर वार्तिककार न किया—

स्त्रीसमानाधिकरणादिति चेद भूतादिष्वतिप्रसंग ।—४।१।३ ५

पट सप्तकर्म्यच्च प्रतिषेध ।—८।१।३ ४

इसका अभिप्राय यत् न निमित्त तरत् न कुमार म्वा म स्त्री गत् म प्रयापित अथ म कुमार गत् वा है और त्व दृष्टि म स्त्राप्रत्यय का विधान इस पथ म हाता न उमा तरह भूतमिय आश्रया आदि म आश्रया गत् म उपसर्गित म्वा न अथ म वतमान भूत आदि गत् म टाप प्रत्यय हात लगता । त्मी तरह पञ्च पत् म न नत् त्वा आश्रय म त्व आदिगत् म स्त्राप्रत्यय क प्रसंग म त पत्त्वमात्म्य (८।१। ०)

स प्रतिषेध कहना पड़गा। प्रकृत्यथविशेषणपक्ष म य दोष नहीं हो सकते। क्योंकि भूतमिय ब्राह्मणी म स्त्रीत्व विवक्षित नहीं है अपितु पौन्य विवक्षित है। स्त्रीत्व के विवक्षित हान पर प्रत्यय हात ही है जस— भूता ब्राह्मणी'। यहा सत्यवादिनी अर्थ है अथवा चलवमी (अतीता) अर्थ है पौन्य नहीं। पच पट् आदि स भी भेद बाजन गणनात्मक मस्या विवक्षित है स्त्रीत्व नहीं। इसलिए स्त्रीप्रत्यय की अप्राप्ति स प्रतिषेध प्रयास्यान है। इस रूप म प्रकृत्यथविशेषण पक्ष निर्दोष है। इसको सूचित करने क लिए वार्तिककार ने कहा

सिद्धतु स्त्रिया प्रातिपदिकविशेषणत्वात् स्वार्थे ङावादेश (४।१।३ ५)

प्रत्ययाथविशेषणपक्ष की भी भीमामा वार्तिककार ने की है—

स्त्रियामिति स्ययामिधाने चेष्टावादेशो द्विवचनबहुवचनानेकप्रत्ययानुपपत्ति (४।१।३ १)

स्ययस्य च प्रातिपदिकाथत्वात् स्त्रियामिति लिंगानुपपत्ति

(४।१।३ २)

वार्तिककार का अभिप्राय यह है कि प्रत्ययाथविशेषणपक्ष म प्रकृत्यथामनन स्थाव का प्रत्यय म ही अभिधान हो जायगा। स्त्रीत्व प्रधान हो जायगा। स्त्रीत्व के एक हान से कुमारी णात् से एक वचन हो जायगा परन्तु द्विवचन और बहुवचन न हो सकेंगे। यद्यपि णात् रूप आदि गुणा क अवस्थाविशेष लिंग है। अवस्था अवस्थात से अभिन्न है। घट म णात् रूप आदि अनक का सन्निवेश है फिर भी णात् आदि क बहुत्व हान पर भा सन्निवेश क अभेद की विव ग हान पर घट एक वचन म प्रयुक्त होता है। इसी तरह स अवस्थाविशेष लिंग भी सस्यान आदि के रूप म एक है। सस्यान की विवक्षा म एक वचन ही जायगा द्विवचन और बहुवचन नहीं। स्त्रीत्व के एक हान से अनेक प्रत्यय भी प्राप्त न हो सकेंगे। गार्ग्यायणी कारीपगव्या आदि म तो तो स्त्रीत्वबोधक प्रत्यय हैं। गार्ग्यायणी म एफ और डीप दा स्त्री प्रत्यय हैं। अब एक म स्त्रीत्व क उत्पन्न हो जान पर ङाप अनुपयुक्त हो जायगा। इसी तरह सस्यानवाचीं डट प्रत्ययान् स्त्री णात् से डीप् नहीं जायगा क्योंकि स्त्रीत्व स्त्री म ही उत्पन्न हो जाता है।

वार्तिककार ने इन आक्षेपों का स्वयं समाधान भी किया है—

गुणवचनस्य बाधघतो निगवचनभावात् (४।१।३ ६)

भावस्य च भावयुक्तत्वात् (४।१।३ ७)

तात्पर्य यह है कि गुणवचन णात् से आश्रय के आधार पर निग और वचन जात हैं। कुमारी णात् स द्रव्य का ही अभिधान होता है इसीलिए द्रव्यगत मस्या के आधार पर द्विवचन और बहुवचन हो जायगा। यद्यपि प्रक्रियात्मा म स्त्रीत्वका प्रत्ययाथ मानत है फिर भी णात् णामिति क स्वभाव म गुणप्रधानभाव से विषयय भा दया जाना है। इसलिए स्त्रीत्व अप्रधान हो जाता है और द्रव्य प्रधान। मवत्र प्रत्ययाथ प्रधान नहीं जाना। णात् णामिति क आधार पर अप्रधान भी प्रधान होता रहता है। अत आश्रय की प्रधानता मानकर वचन-अवस्था सम्भव है। अथवा गुण और गुणी म अभेद की विव ग म कुमारी णात् स द्रव्य का ही अभिधान होता है। अथवा सस्यान आदि घम द्रव्य म अव्यतिरिक्त रूप में ही प्रतिभासित होत हैं। स्वभावतः प्रत्य

क द्वारा द्रव्य से व्यतिरिक्त स्त्रीत्व का बोध गता जाता । यह महर्षि मामानाधिकरण्यात्  
प १ क तीन प्रकार यही प्रमाण है—

१ स्त्रीत्व का अप्रामाण्य द्रव्य का प्राप्तात् ।

२ अभिधानात् ।

३ द्रव्य से व्यतिरिक्त स्त्रीत्व का प्राप्तात् ।

गाम्यायिणी छान्दि म १११ स्त्रीप्रत्ययः स स्त्रीत्व की अभिव्यक्ति माननी  
जायगी । पाणिनि ने एक भ विषय टीका ही किया है । छान्द म भी एक की अभिव्यक्ति  
हानी है जस धन अधिकार म धनक दात म एक धन की अभिव्यक्ति । अथवा ही न पक्ष  
वान दृष्टान्त क माय गाम्य सात क लिए द्वाग प १ म प्रत्यय का धातु मानता  
पडेगा । वागिकारः । दूसरे द्वाग से समाधान किया है जो मू म है और वागिक महत्व  
रखता है । उक्त अनुसार स्त्रीत्व का स्त्रीत्व क माय याग व्याभाविक है । (भाष्य  
च भाष्यवृत्तत्यात् । ४।१।३ ७) भाय का भाय म यन्तु का यन्तु म त्रिया का त्रिया से  
याग स्वाभाविक है । स्त्री उ भी द्रव्य रूप है । धा अपर स्त्री य क माय उगका याग  
अनिन्द्य है ।

कुछ लोग मानते हैं कि प्रातिपदिक म व्यवहृत का अभिधान होता है और  
प्रत्यय से धमरूप का । जस उम छान्दि विभक्ति धातुरूप का प्रत्यापन है और प्राति  
पदिक वस्तुभूत का । और इस तरह अभिधानभक्त से स्त्रीत्व का स्त्रीत्व से याग क्या  
जाता है । वागिकारः न स्त्रीत्व का प्रत्ययाय और प्रवृत्त्ययविशेषण दोनों रूप म  
स्वीकार किया है स्त्रीत्व च प्रत्ययाय प्रवृत्त्ययविशेषण चेत्युभयत्रापि प्रयुज्यते ।

—वागिकावति ४।१।३

भाष्यकार ने लिंग को सत्त्व (द्रव्य) का गुण माना है स्त्रीपु नपु सकानि सत्त्व  
गुणा—महामाष्य १।१।३८ १।२।६४) । यह एक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य है । कयट  
नागेन आदि इस वक्तव्य पर मौन हैं । सम्भवत उनके माध्य आधारित गुण लिंग  
दशन की पुष्टि इस उक्ति से नहीं होती । भाष्यकार क अनुसार गुणवचन गत अपने  
आधार क अनुसार लिंग और वचन ग्रहण करते हैं । वचन तुक्त वस्त्र तुक्ता नाभी  
शुक्ल कम्बल आदि प्रयाग उपप न हान है । इसी तरह स्त्रीत्व आदि भी अपने आधारित  
द्रव्य क लिंग को ग्रहण कर सकते हैं । यह आधार पर लिंग म भी लिंगयोग सम्भव  
है । स्त्रीत्व तीनों लिंगों द्वारा यक्त किया जा सकता है । जस स्त्रीभाव (पुल्लिंग)  
स्त्रीता (स्त्रीलिंग) और स्त्रीत्व (नपुसकलिंग) ।

एक ही वस्तु क लिये विभिन्न लिंगों क व्यवहार पर वातिकार के मत का  
उत्तर उपर हा चुका है । पतञ्जलि ने एक दूसरा मौलिक सुभाव दिया है । पाणिनि  
क पुयोगात्प्रायाम ४।१।४८ सूत्र के विवचन क प्रसंग म भाष्यकार ने कहा है कि  
पुरुष के लिंग के लिय स्त्रीलिंग का और स्त्री क लिय पुल्लिंग का प्रयोग सम्भव है ।  
और इसका कारण यह है कि पुरुष म स्त्रीत्व के कुछ लक्षण मिल सकते हैं । और  
स्त्री म भी पुरुष क कुछ लक्षण मिल सकते हैं । लक्षण ग भी मिल तब भी एक क  
धम का दूसरे पर आरोप या अध्यस्य अवयव परस्पर तात्पर्य सम्भव है । तात्पर्य,

तात्त्विक, सामीप्य और साहचर्य के आधार पर जिसमें जो धम नहीं है उसमें भी उस धम का आरोप देखा जाता है। इस दृष्टि से दारा (पुल्लिंग), स्त्री (स्त्रीलिंग) और कलत्रम (नपुंसकलिंग) शब्द स्त्री के क्रमशः पुस्त्व स्त्रीत्व और नपुंसकत्व स्वरूप के द्योतक हैं। दारा शब्द विनाशक पुष्प अर्थ को व्यक्त करता है जो पुष्प के लक्षण से मल खाता है। (दारयतीति दारा । अथवा दीयते तैर्दारा, महाभाष्य भाग २ पृ० १४७ किलहान सस्करण) । कलत्र शब्द स्त्री के अनिर्जाति अथवा रहस्य स्वरूप का द्योतक है और इसलिये नपुंसकलिंग से व्यक्त किया जाता है। वे वस्तुएँ जिनके गुण पूर्णतया ज्ञान न हो अथवा सदिग्ध हो नपुंसकलिंग द्वारा व्यक्त की जाती हैं। (अनिर्जातैर्गुणसदहे च नपुंसकलिंग प्रयुज्यते—महाभाष्य १।२।६७ भाग १ पृष्ठ २५०) तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु के विभिन्न पहलू हैं लिंग उनके विभिन्न स्वरूपों के प्रत्यायक हैं। हम बात का हलाराज न यो स्पष्ट किया है—

शब्देभ्यो वस्त्वर्थो एकस्वभावा अपि विस्तार भवति, तेभ्यो नानारूपाणां प्रकान्तात् । तथा च दाराशब्दस्त्रियं पुस्त्वविशेषणमावृष्टे, भार्याशब्दस्त्रित्वविशिष्टाम् ।

—वाक्यपदीय वृत्तिसमुद्देश १६७ ।

जातिपदाथदशन और द्रव्यपदाथदशन के आधार पर भी लिंग पर विचार किया जाता है। जातिपदाथदशन में शब्द से आकृति का अभिवान होना है। आकृति सदा आविष्टनिगा होती है। जाति के आविष्टलिंग मानने का तात्पर्य यह है कि जाति निश्चललिंगवाली होती है। जाति की आविष्टलिंगता शब्दविशेष सापेक्ष है। सबत्र तीना निगा की सत्ता होन पर भी किसी विशेष शब्द से किसी विशेष निग की अभिव्यक्ति होती है। पाणिनि ने जाति पदाथ को सामने रखत हुए द्रव्यपदगुणसंघेष्वात्तरुणेषु स्त्री १।२।७३ सूत्र का निर्माण किया था। लोक में गाव इमा अजा इमा जमे प्रयोग दमे जात थ। ऐसे प्रयोगों की साधुता के लिए पाणिनि ने उपयुक्त सूत्र लिखा था। गाव इमा 'इस वाक्य में गौ शब्द का प्रयोग स्त्रीलिंग में किया गया है। यद्यपि सम्भृत में गौ शब्द पुल्लिंग है किन्तु प्राचीनकाल में ही इसका प्रयोग स्त्रीलिंग में भी होना आया है। अति प्राचीन काल में स्त्रीगवी और पुगव जमे शब्द गौ शब्द के असंदिग्ध अर्थ जताने के लिए चल पड़े थे। केवल गौ शब्द में भ्रम की सम्भावना रहती थी। इसलिये गौ शब्द सयति गाय अर्थ अपक्षित रहना था तो उसमें स्त्री शब्द जोड़ कर स्त्रीगवी शब्द का व्यवहार किया जाता था जसे आज अंगरेजी में बकरी के लिए गी-गोट शब्द का व्यवहार किया जाता है। अथवा अयम या व्यम सबनाम शब्द का साथ जोड़कर बल या गाय का बोध कराया जाता था जसे गौ अय य शब्द वृत्ति गौ इय या समा ममा विजायते (महाभाष्य ५। १५५) ।

जि नु कालान्तर में गौ शब्द गाय के लिये अधिक प्रयुक्त होन लगा। जैसा कि गाव इमा (महाभाष्य १।२।७३) के प्रयोग से जान पड़ता है। जागण ने इस स्पष्ट करत हुए किया है कि गौ शब्द का स्त्रीलिंग में व्यवहार भाष्यप्रयोग के आधार पर और लिंग व्यवहार के आधार पर समझना चाहिए—

भाष्यात् लोकाच्च गोगन्द यवहार प्रायेण स्त्रीगवीत्येवेति दृष्टव्यम्

—नागग महाभाष्यप्रतीपोद्योत १।२।७३

गाव इमा इस वाक्य का आभप्राय है गाय जना का भूण । यद्यपि उस भुण्ड में बल भी रहत थे किंतु उन निना उस पूरे भुण्ड को गाव इमा गाय का भुण्ड कहा जाता था । पाणिनि का तात्पर्य यह है कि ऐसे ग्राम्य पशुमघ में स्त्रीगप हाता है और पुंस्त्व की अविवक्षा हाती है । इसलिये गाय इमा वाक्य से गाय बल दोनों के भुण्ड अभिप्रात हैं कि तु गाव भ बल स्त्रीत्व निर्देश है । इसी तरह अजा और अा दोनों क भुण्ड में होने पर भी अजा इमा य अा ऐ एमा ही प्रयोग होता था । कि तु जगली पशुआ के भुण्ड के लिए या बछड़ों के भुण्ड के लिए स्त्रीगप का नियम लोक में प्रचलित नहीं था । जगनी सूअर और सूअरि नाना के लिए सूअरा इम कहा जाता था । इसी तरह जिस भुण्ड में बाछा और बछिया दोनों हात थे उनके लिए बत्सा इम इस वाक्य का प्रयोग होता था । तात्पर्य यह है कि प्रयोग के नियत होने पर जाति कभी आश्रयनिष्ठ ग द्वारा स्त्री य स और कभी पुंस्त्व से व्यक्त होती है—

अनेन प्रकरणेन प्रयोगस्य नित्यत्वात् जाति अवचिदाश्रयगतलिङ्गेन स्त्रीत्वेन व्यपदिश्यते अवचित पुंस्त्वेनेत्युक्तं भवति ।

—कण्ट—प्रतीपोद्यात् १।२।७३

महाभाष्यकार ने पाणिनि के उपयुक्त सूत्र का प्रत्याख्यान किया है । उनका कथन है कि जब गाव इमा चरति कहा जाता है तब प्रायः गाय का चरन का ही निर्देश किया जाता है । बल रहत ही कहाँ है । उह बछिया बनाकर उनमें भार ढान का काम लिया जाता है अथवा उह बच देने है । केवल गाय ही बच रहती है—

गाव उत्कलितपुस्का वाहाय च विश्रयाय च स्त्रिय एवावशिष्यते ।

—महाभाष्य १।२।७३

यद्यपि गाय का साथ एक तो वधभ (इल) भी सम्भव है फिर भी आश्रय का आधार पर स्त्रीत्वमय निर्देश कभी ही सम्भव है जब कि तो गाव में अधिक पहलवानों का हान का कारण उसे मलनग्राम कहा जाता है । जाति पशुव ज्ञान के मानने पर सूत्र के प्रत्याख्यान करने पर गाव इमा जम स्थला में लिङ्गनियम का अश्रय पर अवस्थित माना जाता है । जानि मया आश्रयगत निङ्ग से संपृक्त रहती है । वक्ष पात्प तत् इतम आशिष्ट वक्षज नि मया पुंस्त्व विशिष्ट ही हाती है कभी भी स्त्रीत्व अथवा नपुंसकत्व विगिष्ट नहीं । इसी तरह गिगपागन जानि स्त्रीत्व विगिष्ट हा हाती है । पतमम म नपुंसकत्व विगिष्ट ही हाती है । अपु अगनि अयमा नमम नाम जस नाम द्विलिङ्गी हैं तत् आशि त्रिलिङ्गी ह । इन समय निङ्ग नियत है कभी भी उसमें परिवर्तन नही होता । इसी आधार पर जाति की आशिष्ट निङ्ग रूप में स्वीकार किया जाता है । किंतु लोक में स्तन का आशि लिङ्ग व्यञ्जक पशु का हान हुए भी आशिष्टनिङ्ग वाला नियम सदैव सफल नहीं होता । दारा (पुंलिंग) कन्यम (नपुंसालिङ्ग) में निङ्ग भेद है यद्यपि व्यञ्जन समान है । इसका परिहार का निग भन हरि न प्रवृत्ति का ही निङ्ग का सामान्य लक्षण माना है ।

(वाक्यप्रदीप ३, वृत्तिममुद्ग ३२१)

द्रव्यपन्थावात् की दृष्टि में विचार करने पर भी आविष्टलिङ्गता का नियम ज्यों का त्यों रहता है। अवश्य ही जाति आविष्टलिङ्ग गवानी होती है जसकि द्रव्य अनियतलिङ्ग वाला होता है। फिर भी दोनों पन्था में इस रूप में साम्य है कि जाति की आविष्ट लिङ्गता नियतजातिसंख्या द्वारा लिङ्गग्रहण अमाक्यरूप में होता है। केवल एकलिङ्ग का परिग्रह आविष्टलिङ्गता नहीं है। व्याकरण में लिङ्ग का ग्रहण वस्तुधर्म के रूप में न होकर गन्तव्य के लिङ्ग के रूप में होता है। द्रव्यपन्थापन्थ में गुणावस्था लिङ्ग है। उपादानविकल्प के रूप में लिङ्ग के जा मात भेद पहले कह जा चुके हैं वही इस पन्थ में आविष्टलिङ्गता है—

लिङ्ग प्रति न भेदोऽस्ति द्रव्यपक्षेऽपि कश्चन ।

तस्मात् सप्तविकल्पा ये सवावाविष्टलिङ्गता ॥

—वाक्यपदीय ३ वृत्तिममुद्ग ३२८

जानिपदायपक्ष में शब्द का प्रधान रूप में वाच्य जाति है। द्रव्य उसके उपकारक होने के कारण गुणभूत रूप में अवगन माना जाता है। द्रव्यपन्थापन्थ में शब्द का अभिधेय द्रव्य है आकृति उसके अवच्छेदक हान के कारण गुणभूत होती है। जो गन्त जातिविशिष्ट द्रव्य के अभिधायक हैं उनमें लिङ्ग गयोग आश्रय के आधार पर होता है। जो गन्त केवल जानिप्रापक हैं उनमें लिङ्ग गयोग अभेदोपचार के आधार पर में अथम इस निषम के आधार पर हो जाता है। जाति निराश्रित नहीं रह सकती। अतः साहचर्य के कारण आश्रयगतलिङ्ग से वह संपृक्त हो जाती है। कुछ लोग केवल जाति अभिधायक गन्त को अथ आश्रय केवल द्रव्य अभिधायक गन्त को अथ मानते हैं। जानिपन्थापन्थ में केवल शुद्ध जाति गन्त से वाच्य है द्रव्यपन्थापन्थ में केवल शुद्ध द्रव्य गन्त से वाच्य है। पन्था पन्था में अनभिधीयमान द्रव्य अथवा जाति में लिङ्ग गयोग आधार भेद भी कल्पना से अथवा स्वगतनिर्गम कल्पना से सिद्ध किया जाता है। हेनाराज के अनुसार पाणिनि का यही मत है—

केवलजात्यभिधायी गन्तोऽप्येव । अथैव केवलव्याप्तिभिधायी । उभयत्रापि चानभिधीयमाना जाति द्रव्य वा यथायोगमाधारभेदप्रकल्पनेन स्वगत लिङ्ग गसंख्यादिधर्मप्रकल्पनेन शोषकरोतीति भगवत पाणिनेराध्यायस्याय पक्षः ।

—हेनाराज वाक्यपदीय ३ वृत्ति ममुद्ग १७

लिङ्ग के आधार पर, गन्त का दावों में विभक्त किया जाता है। आविष्टलिङ्ग और अनाविष्टलिङ्ग। जाति द्रव्य और परिमाणवाचक गन्त आविष्टलिङ्ग है। जाति गन्त जिस निग के आश्रय में व्यक्त होते हैं कभी गन्त नहीं होता—

आविष्टलिङ्गा जाति यत्लिङ्गपुरादाय प्रवर्तते उपतिप्रभत्ताविनाशान तल्लिङ्ग जहति ।

—महामात्र १।२।५२

आकृतिव्यय और उपदाव्यय के रूप में जाति गन्त की है। इनमें आकृति

व्यग्य आविष्टलिङ्ग शब्द—गौ, मग, पगौ, सप, सिंह, वग, कुमारी, कुम्भ स्त्री पुमान् नपुंसकसम आदि हैं।

उपदेशव्यग्यजाति वाले आविष्टलिङ्ग शब्द—ब्राह्मण, गाय, कठ, क्षत्रिय, वैश्य, गूढ मृत पारंगव आदि हैं। द्रव्य भी मापन और निरूपण रूप से दो तरह का है। इनमें सापेक्ष द्रव्य आविष्टलिङ्ग शब्द—गुरु पिता पुत्र भ्राता, जामाता, मित्रम माता स्वमा दुहिता भार्या आदि हैं। अनपेक्ष द्रव्य आविष्टलिङ्ग शब्द—चक्र मन्त्र, इन्द्र चन्द्र सूर्य, काल आकाश, प्राची प्रतीची गची लक्ष्मी आदि हैं। नियत और अनियत भेद से परिमाण भी दो तरह का होता है। इनमें नियत परिमाण आविष्टलिङ्ग शब्द—द्रोण खारी पलम भार, कोण, योजनम अश्वोहिणी, आदि हैं। अनियत परिमाण आविष्टलिङ्ग शब्द—सघ, पूग, साथ, समाज वग, अणि कुटुम्बम परिपद पक्ति यूथम वनम् सेना आदि हैं।

गुणवाचक सत्त्वावाचक वचन और सवनाम—ये सब अनाविष्टलिङ्ग हैं। इनमें श्वेत स्वादु शीघ्र मन्द दीध, ह्रस्व युवा वद जैसे शब्द अनुरजक अनाविष्टलिङ्ग हैं। दक्ष जिह्व जड प्राज्ञ खल साधु गूर भीरु लघु गुरु जैसे शब्द अनुरजक अनाविष्टलिङ्ग हैं। सग्या दो रूप में गृहीत होती है। लिंगवती और अलिङ्गा। इनमें लिंगवती—एक एका एकम् द्वौ द्वे त्रै आदि हैं। पञ्च षड अष्टौ आदि अलिङ्गा हैं। सवनाम के भीतर सर्वादिगण और असर्वादि दोनों लिए जाते हैं।

—भोज शृंगार प्रकाश, पृ० ७

सवनामा में युष्मद् (त्वम्) अस्मद् (अहम्) के लिंग के विषय में सस्कृत व्याकरणों में कुछ विवाद था। इनका उल्लेख कयट ने किया है। वातिकार और महाभाष्यकार ने युष्मद् और अस्मद् शब्दों को अलिङ्ग माना है। अलिङ्ग युष्मदस्मदी—महाभाष्य ७।१। ३। अभिधेय के अलिङ्ग होने से ये शब्द अलिङ्ग मान जाते हैं। शब्दशक्ति स्वभाव के आधार पर ऐसा माना जाता है। इन शब्दों से लिंग रहित रूप में ही अर्थ का भान होता है। शब्द शक्ति के सहारे ही शब्द अपने अर्थ का प्रत्यायक है। शब्द के सामर्थ्य का अवधारण लौकिक प्रयोग से होता है। लक्ष्मण में युष्मद् अस्मद् शब्दों से लिंग का अवगमन नहीं होता। कुछ लोग मानते हैं कि युष्मद् अस्मद् शब्दों का अभिधेय अर्थ रूप शब्द है वस्तु रूप नहीं। ब्राह्मण आदि शब्दों से उसी का लिंगयुक्त रूप में प्रतिपादन होता है। यह नियम नहीं है कि सत्त्वभूत अर्थ अवश्य लिंग युक्त होता है। क्योंकि पञ्च सप्त आदि कण्ठों से लिंग का भान नहीं होता। इसीलिए कुछ वक्तव्यकार न पटमनन से स्त्रीप्रत्ययप्रतिषेध का प्रत्याख्यान किया है। गण्य आचार्य मानते हैं कि युष्मद् अस्मद् शब्दों से भी लिंग सवनाम नपुंसक याग होता है। इसी आधार पर गिणी नुन नुम् का तथा युष्मद् अस्मद् विभक्त्यादश का विप्रतिषेध कहा गया है। कुछ अन्य आचार्य विप्रतिषेध का समाधान दशमभेद के आधार पर मानकर युष्मद् अस्मद् में लिंग याग मानते हैं। उनका मत है कि सत्त्वभूत अर्थ का लिंगयोग अवश्य होता है। कयट भाष्यप्रतीप—७।१। ३३। नागार्जुन लिंग वाले पदों का समर्थन किया है और इसके विरोध में कहा गया भाष्यकार के वाक्यों का एकदेशीय माना है अर्थ

लिंगवत्त्वपक्ष एव युक्त सूत्रवातिकोभयसमतत्वात् ।

—नागेन, महाभाष्यप्रदीपाद्योत ७।१।३३

अव्यय म लिंगयोग के विषय म भी मतभेद है । जो अव्यय अमत्त्वभूत अथ व अभिधायक हैं उनस लिंगयोग नहीं होता । जो सत्त्वभूत अथ के प्रतिपादक हैं उनस भी शक्तिस्वभाव के आधार पर लिंगयोग नहीं होता । कुछ लोग मानते हैं कि अव्यय का लिंगविशेष से ता योग नहीं होता किन्तु लिंगसामान्य से याग होता है । कथट इस पक्ष के समर्थन नहीं जान पड़ते । उनके मत म लिंगसामान्य की सत्ता म कोई प्रमाण नहीं है—

केचित्तु लिंगादिविशेषणयोगात्, तत्सामान्येन तु योगमव्ययानामाहु । तद-  
युक्तम । लिंगादिसामान्यसदभावे प्रमाणाभावात्—

—कथट महाभाष्यप्रदीप १ । १ । ३८

लिंगसामान्यदर्शन यासकार का है लिंगसत्त्वाकारकविशेषस्यानुपदानात् सामान्यरूपोपादानाच्च—यास १ । १ । ३७ पृ० ८२ । उनके मत म, तत्र शालायाम वाक्य मे तत्र शब्द अव्यय है फिर भी इसमे स्त्रीत्व दानक टाप प्रत्यय होता है और अव्यय के कारण टाप प्रत्यय का लोप हा जाता है । यद्यपि 'तत्र शालायाम' म वाक्याथ म स्त्रीत्व है फिर भी वाक्याय के द्वारा तत्र म भी स्त्रीत्व है (यास २ । ४ । ८१) ।

क्रियाविशेषण नपुसर्कलिंग मान जाने हैं । क्रिया विशेषणाना च क्लीबतप्यत । महु पचति । शोभन पचति—काशिका २ । ४ । १८ । यासकार के अनुसार क्रिया स्वयं द्रव्य नहीं होती अतः उसके विशेषण भी द्रव्य नहा माने जात । द्रव्य न हान से उनम लिंगयोग भी नहीं होता—

क्रियाया सायत्वात् कमत्वम । तद् विशेषणमपि कम भवति । तच्चासत्त्व भवति । क्रियव हि तावद् द्रव्य न भवति । कुत पुनस्तद्विशेषण द्रव्य भविष्यति ।

—यास २ । ३ । ३३

यद्यपि संस्कृत के व्याकरणों ने यह अनुभव कर लिया था कि लिंग के नियम व्याकरण द्वारा सवथा नियमित नहीं किए जा सकते और इसलिए यह घोषणा की थी कि इस सम्बन्ध म शास्त्रापदेश अनिवार्य नहीं हैं । (शास्त्रोपदेशन विनापि सिद्धि लिंगस्य लोकव्यवहारगम्या—कथट, भाष्यप्रदीप ५ । ३ । ६६ ।) फिर भी याज्ञिकि आदि ने लिंग के विषय म अनेक नियमों के उल्लेख किये हैं । विशेष नियम लिंगानुयासना म वर्णित है । यहा कुछ प्रत्यया आदि के सम्बन्ध मे सकेत दिए जा रहे हैं ।

एक ही वस्तु शब्दभेद से—प्रत्ययभेद म अथवाविषय उत्पन्न करती है । जस—काश्य द्रविमा कृताता । इन शब्दों म प्रकृति समान है किन्तु प्रत्ययभेद से लिंग भेद है और उपयुक्त गुणदर्शन के आधार पर—गुणा की स्थिति प्रसव और सत्त्वान भेद से अर्थभेद की कल्पना की जा सकती है ।

जलम और आप

दारा और भार्या



जस गन्ता म गक्तिभेद क आधार पर लिंग भेद है । द्वयम गद अलिंग है किन्तु अतिवृद्धानि ग द लिंगयुक्त है ।

सस्कृत म कुछ गद एसे है जिनके प्रातिपदिक रूप स भी लिंग का भान होता है जम—नमित (स्त्रीलिंग) दपद (स्त्रीलिंग) । कुछ गन्ता म लिंगभान प्रत्यय के आधार पर हाता है जस गौरी, किगौरी । पाणिनि न स्त्रीत्व के भान के लिए अनक प्रत्यया का विधान किया है । और कइ गदो के एक स अधिन रूपा का निर्देश किया है जस—

चन्द्रमुखी	—	चन्द्रमुखा
अतिकंगी	—	अतिकशा
स्निग्धकण्ठी	—	स्निग्धकण्ठा
विम्बोष्ठी	—	विम्बाष्ठा
तिलादरी	—	तिलोदरा ।

किन्तु मुभगा पृथुजघना जस गन्ता म दो रूप नहीं चलत थ । कही-कही दा रूपा म अवभेद हात थे जस निम्न जोडा म—

कुण्डी	—	कुण्डा
गोणी	—	गाणा
स्थनी	—	स्थला
भाजी	—	भाजा
काली	—	काला
नीली	—	नाला
कुंगी	—	कुंगा
कामुका	—	कामुरा
पाणिगहीरी	—	पाणिगहीरा ।

किन्तु व्यवहार म य भेद निराहित हात लग थ । जस—

कुवलपदलनीलाकाकिलावालयून ।

—वामन, काव्यालसार १२ । ६६

यही नीली क स्थान पर कवि न नाला का प्रयोग किया है । सस्कृत म कुछ गन्ता म प्रत्यय क कारण अथभेद न हात हूण भा विगभेद गता है । जिन गन्ता म तद्धित प्रत्यया क कारण मूल विग बना रहता है व तर्हिगी ह । जम—मन एय मानगम । मन और मानम गन्ता नाना नपुमक विग है । यन्पुत्र्य वाप्य । य धु और वाप्य गन्ता नाना पुंलिंग है । इता तरण यय मावरा । जिन गन्ता म प्रत्यय क कारण विगभेद किया जाता है व मूल तर्हिगी है जम उताय एय श्रीगयिकम । यगी उताय पुति और मोरविग गन्ता नपुमकविग है । एय एय रचना । एय गन्ता पुंलिंग और रचना एय स्त्रीलिंग है । इमा एय रचना एय दयनम ।

स्त्रीविग प्रत्यय स्त्रीभावत प्रवृत्तिगत विग का अनुसरण करता है । किन्तु कभी कभी एय विगन म स्त्रीविग भी रणा जाता है । जम कुता (स्त्रीविग) कुतार

(पुल्लिङ्ग) इसी तरह शमी—शमीर गुण्डा, गुण्डार ।

अनेक शब्दों में विवक्षा अविवक्षा के सहार लिंग विचार किया जाता है ।  
 रूहा, गज्जा जस श ग म लिंग विवक्षित है । आतक जम गन्द म अविवक्षित है । बाधा  
 बाध, ऊहा ऊर्, ब्रीडा ब्रीत्, जम गन्ग म विवक्षा और अविवक्षा दोनों होते हैं ।

पाणिनि ने द्वन्द्व और तत्पुंज समास में परस्पर लिंग का विधान किया है । भक्त-  
 हरि ने भाष्यकार के आधार पर द्वन्द्व समास में लिंगयोग स्वाभाविक और वाचनिक  
 दोनों रूप में लिखा है । च के अर्थ में द्वन्द्व समास होता है । च का अर्थ समुच्चय  
 भी है । समुच्चय के साथ दो तरह के विचार हैं । एक पक्ष समुच्चित को प्रधान  
 मानता है । दूसरा पक्ष समुच्चय को प्रधान मानता है । समुच्चितप्रधान पक्ष में लिंग  
 योग स्वभावतः होता है । समुच्चयप्रधानपक्ष में लिंगयोग वाचनिक माना जाता है ।  
 कुछ लोग च के अनुसार समुच्चितप्राधायपक्ष में भी लिंगयोग स्वाभाविक न होकर  
 वाचनिक होता है क्योंकि समुच्चय निमित्त है, समुच्चित निमित्तिक है । निमित्त से  
 निमित्तिक का स्वरूप आच्छादित रहता है । इसलिए समुच्चित में स्वधर्म की प्रतिपत्ति  
 न होने से शास्त्र द्वारा लिंग का अतिदेश किया जाना है । किन्तु भक्त हरि के अनुसार  
 यह भक्त उपयुक्त नहीं है । उनके अनुसार समुच्चय का समुच्चित के निमित्त के रूप में  
 ग्रहण भ्रामिक है (वाक्यपदीय २, वृत्तिमुद्देश २०१) ।

बहुव्रीहि समास में लिंग के विषय में विप्रतिपत्ति वातिककार ने उठाई थी ।  
 बहुव्रीहि समास में पदार्थाभिधानपक्ष और विभक्त्यर्थाभिधानपक्ष के रूप में विवाद  
 प्रचलित थे । दोनों पक्षों का उल्लेख कार्त्तव्यायन ने किया है । इनमें विभक्त्यर्थाभिधानपक्ष  
 में बहुव्रीहि समास में लिंग योग की उपपत्ति नहीं हो पाती है । क्योंकि लिंगयोग सत्त्व  
 भूत द्वय से होता है । विभक्त्यर्थ अद्वय है । उसमें लिंगातिदेश संभव नहीं है ।

विभक्त्यर्थाभिधाने-द्रव्यस्य लिंगसंश्लेषचारानुपपत्ति

पा० सूत्र २।१।२४ पर वातिन<sup>१</sup>

भाष्यकार ने इसका समाधान किया है कि जम गुणवचन शब्दों में आश्रयगत-  
 धर्म के आधार पर लिंगयोग होता है उसी तरह बहुव्रीहि समास में भी हो जाया  
 करेगा । व्याकरणशास्त्र में पदानधिक अवाक्यान् और वाक्यावधिन अवाक्यान्  
 दोनों गीते हैं । पदानधिक अवाक्यान् पक्ष में सामान्यमात्र का सामन रखकर पद  
 मन्वार किया जाता है अतः बहुव्रीहि समास में भी सामान्य में तत्पुंजलिंग और एक-  
 वचन निषेध के अनुसार तत्पुंजलिंग और एकवचन की ही प्राप्ति होगी चार्त्तव्यायन ने  
 विवक्षणात्ता काजान १।२।१२ सूत्र के अनुसार गुणवचना के आश्रय के आधार पर  
 लिंग और वचन प्रतिपादन किया जाता है । अतः पदमन्वार पर में लिंगविधान

१. समासावधारक ने अर्थ का ५ रूप में इस वातिक का एक दूसरा पाठ भी लिखा है—अन्तर प्रा-  
 —विभक्त्यर्थोभिधाने द्रव्यलिंगसंश्लेषचारानुपपत्ति —समान य १।१।२४ उपयुक्त वातिन में  
 अन्तर इस वातिक में क्या अन्तर है कि उसमें अन्वय दो पाठ हैं इनमें द्रव्यस्य पदमन्वार  
 प्रत्यक्षपाठ है ।

शास्त्रीय है। वाक्यसंस्कार पश्च म बहुव्रीहि समास म लिंगविधान यायसिद्ध है। क्योंकि इस पश्च म पद के संस्कार आश्रयविशेष के आश्रय स ही हात हैं। अर्थात् वाक्यसंस्कार पश्च म लिंगविधान वाचनिक न होकर स्वाभाविक है। चित्रगु शब्द म बहुव्रीहि समास है। यद्यपि चित्रगु शब्द स सम्बन्ध का अभिधान हाता है फिर भी अभ्येष्टोपचार स सम्बन्धी का ग्रहण हो जाता है। यद्यपि सम्बन्ध द्विष्ट हाता है फिर भी प्रधानता के आधार पर स्वामी की अभिधेयता मान ली जाती है और उसी के आश्रय स लिंगयोग होता है गाय के आश्रय से नहीं। जिस तरह गुल गद्द कही गण का बोधक होता है और कभी गुणी का उसी तरह चित्रगु शब्द भी कभी सम्बन्ध का बोधक होने लगेगा और कभी सम्बन्धी का। उसे केवल सम्बन्धी का ही बाचक हाता चाहिए। इसके उत्तर म भाष्यकार की भावना है कि कृत्स्न पदार्थ की अभिव्यक्ति हाती है। पाणिनि न अनकमयपत्तार्थे २।२।२४ सूत्र म अथ ग्रहण के द्वारा यह संकेत किया है कि कृत्स्नपदार्थ का अभिधान हो—

यद्यथग्रहण करोति तस्यतत प्रयोजन कृत्स्न पदार्थो यथाभिधीयते सद्र य  
संलिग ससत्यश्चेति। महाभाष्य २।२।२४

बहुव्रीहि समास म यदि कृत्स्न पदार्थ का—सबका अभिधान मान लिया जायगा तो लिंग के भी अभिधान हो जाने के कारण लिंग विधिवाल नियम नहीं हो पायेंगे। इसका परिहार भाष्यकार न वाचनिकता के आधार पर किया है कि समास द्वारा लिंग के अभिहित होने पर भी स्त्रीत्व द्योतक टाप आदि प्रत्यय हान म कोई बाधा नहीं है।

नञ समास म भी लिंग याग स्वाभाविक माना जाता है। नञ समास म तीन तरह के कल्प भाष्य म वर्णित हैं। अयपदायप्रधान पूर्वपदायप्रधान और उत्तर पदाय प्रधान। अय पदायपश्च म नञ समास म, लिंग का प्रश्न सामने आता है। अवषा कहने स ह्रस्व का बाध होता है। अय यदि अयपदाय प्रधान माना जाय तो ह्रस्व शब्द म जो लिंग है उस ही अवषा शब्द म भी होना चाहिए। पूर्वपदायपश्च म भी नञ के अय के प्रधान होने के कारण लिंगयोग की प्राप्ति नहीं हो पाएगी। इसका परिहार इस रूप म किया जाता है कि विग्रह वाक्य म नञ असत्त्वभूत अय को यक्त करता है किंतु समास म सत्त्वरूप अय की अभिव्यक्ति करता है। और ऐसा स्वभावत हाता है। महाभाष्य म स्वाभाविकत्वात् न अतिरिक्त आश्रयत्वात् के अनु सार भी नञ समास म लिंगयाग की कल्पना मिलती है गुप्त वस्त्र गुप्ता गानी आदि के सदृश नञ समास म भी जिस द्रव्य के आश्रित गमाय होगा, उसम जा लिंग हागा समास म भी वही लिंग माना जायगा। इस पश्च म अवषा ह्रस्व अन्त्य स्त्री अन्तज भिक्ता जस प्रयोग म लिंगयोग की उत्पत्ति ठीक नहीं हो पाता है। इसलिय भाष्य म नञ समास म उत्तरपदायपश्च का आश्रय लिया गया है। हनाराज न स्वाभाविक दान के आधार पर पूजप्रधानपश्च का भी निर्णय माना है—

यद्येव गन्धगतिप्रतिनिधमादप्रयोगे पि विगपस्य दिगिष्टे लिङ्गसह्ये सिध्यत  
एवेति पूर्वपदायप्रधानपश्चापि न त्याग्य।

उत्तरपन्थाय प्रधानपथ म भी अमित्र जसे शब्द म लिंगयाग जटिल हो जाता है । किन्तु हरदत्त ने अमित्र शब्द को न मित्र अमित्र रूप म न लेकर अभिधातु से अच् प्रत्यय द्वारा व्युत्पन्न शब्द माना है—

अभेद्विपतीति अच् प्रत्यय । न पुनरयं नञ् समास । परवर्तिलगप्रसगात् ।  
लोकाश्रयत्वात् लिंगस्य । स्वने दोष चित् स्वरो हीष्यते बृहवचास्तु मध्यो-  
दात्तममित्रशब्दमधीयते ।

—पदमजरी २।२।१३१ पृ० ६५०

लिंग की दृष्टि से समस्त पदा मे सहजीकरण के नियम सुदूर प्राचीनकाल मे संस्कृत भाषा म दिखाई देने लगते हैं । इसका एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण महाभाष्यकार का निम्नलिखित प्रयोग है—

द्रुतमध्यमविलम्बितासु वृत्तिषु ।

—महाभाष्य १।४।१०६—पृ० ३५४, कीलहान संस्करण

इस पर कयट ने या टिप्पणी दी है द्रुता च मध्यमा च विलम्बिता चेति  
द्वे कृते भाष्यकारवचनप्रामाण्यात् ह्रस्व ।

—कयट, भाष्यप्रदीप १।४।१०६

स्पष्ट है कि प्रयत्नलाघव के आधार पर समस्त पदो म आन्तरिक लिंग तिरोहित होने लग थे । कालिदास के 'दूधभक्ति' (रघुवंश १२।१६) जसे प्रयोग भी इसी दिशा के संकेतक हैं ।

## वाक्य विचार

संस्कृत व्याकरण में वाक्य शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में देखा जाता है

- १ विग्रह वाक्य के लिए । जैसे राजपुरुष के लिए राज पुरुष । राज पुरुष वाक्य है ।
- २ लौकिक वाक्य के लिए । जैसे 'देवदत्त ओदन पचति ।
- ३ पारिभाषिक अर्थ में । निघात आदि की व्यवस्था के लिए शास्त्रीय वाक्य-लक्षण वाक्य शास्त्र से व्यवहृत किया जाता है ।

इस अध्याय में केवल लौकिक और पारिभाषिक वाक्य लक्षण पर विचार किया जा रहा है ।

पारिभाषिक वाक्य का लक्षण सवप्रथम सभवन कात्यायन ने किया । क्योंकि पतञ्जलि ने इनके वाक्य लक्षण को अप्रुव कहा है—

इदमद्याप्रुव क्रियते वाक्यसंज्ञासमानवाक्याधिकारदत्त ।

—महाभाष्य २।१।१ पृ० ३३८ निणय सागर संस्करण

अप्रुव शब्द से यह ध्वनि निकलती है कि इसका पूर्व वाक्य का लक्षण उस रूप में नहीं पात था जसा कि कात्यायन ने बतलाया । कात्यायन का एक नाम वाक्यकार भी है । बहुत समभव है कात्यायन का यह नाम उनके वाक्यलक्षण निर्माण के कारण पड़ा हो । अवश्य ही व्याकरण संप्रदाय में वातिक और वास्य पर्याय मान जाते हैं और वातिककार के अर्थ में वाक्यकार का प्रयोग बराबर मिलता है ।<sup>१</sup>

प्राचीन विचार क्षेत्र में जैमिनि का वाक्य-लक्षण भी प्रसिद्ध था । जैमिनि के वाक्य-लक्षण और कात्यायन के वाक्य-लक्षण में पूर्वापर का विचार कठिन है । भाष्यकार के अप्रुव शब्द से जान पड़ता है कि कात्यायन ने ही सवप्रथम, शास्त्रीय दृष्टि से, वाक्य पर विचार प्रस्तुत किया । लौकिक वाक्य के स्वरूप पर कात्यायन के पूर्ववर्ती व्याख्यान सग्रह में विचार किया था और पाणिनि की दृष्टि भी उस पर गई थी ।

१ वाक्य विवरण बार्तिक ५। यन् करणान् कात्यायना बार्तिके १।१ उच्यते ।—राकर, हचरित २०३। पृ० ११३ बन्द सङ्करण

जमिनि और कात्यायन दोनों के वाक्यलक्षण के विषय में दो तरह के विवाद प्राचीन काल से ही चले आ रहे हैं। मीमांसा सूत्र के प्राचीनतर टीकाकार जमिनि के वाक्यलक्षण को लौकिक वाक्य का लक्षण मानते थे। कुमारिल और उनके अनुयायियों ने उसे शास्त्रीय वाक्यलक्षण माना है। व्याकरण संप्रदाय में भट्ट हरि,<sup>१</sup> कैयट,<sup>२</sup> भोज<sup>३</sup> विटठल<sup>४</sup> आदि ने कात्यायन के वाक्यलक्षण को शास्त्रीय वाक्यलक्षण माना है। नागेश ने उसे लौकिक वाक्यलक्षण माना है अथवा उसे लोक शास्त्र-माधारण सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।<sup>५</sup>

कात्यायन के वाक्यलक्षण का रूप निम्नलिखित है—

आख्यात साधयकारकविशेषण वाक्यम् । एकतिङ् ।

—वार्तिक महाभाष्य २।१।१

महाभाष्य में इसके विशेषण में कहा गया है कि साध्यय सकारक सकारक विशेषण और सक्रियाविशेषण आख्यात वाक्य है। एकतिङ् वाक्य है। जैसे—

साध्यय—उच्चैः पठति ।

सकारक—ओदन पचति ।

सकारकविशेषण—मदु विगदम ओदन पचति ।

सक्रियाविशेषण—मुष्टु पचति ।

एकतिङ्—ब्रूहि ब्रूहि ।

कात्यायन के दस शास्त्रीय वाक्यलक्षण पर इस ग्रंथ में क्रिया विचार के अवसर पर भी प्रसंगत चर्चा की गई है।

इस वाक्यलक्षण के अर्थय कारक और विशेषण में से प्रत्येक अलग अलग और समुदित रूप में भी गृहीत होने हैं। अर्थय यद्यपि कारक और विशेषण भी हो सक्ता है फिर भी स्पष्टताय उसका पृथक् उल्लेख किया गया है। सविशेषण नाम प्रत्यासत्ति के आधार पर जो वाक्य का विशेषण होता है उसी का ग्रहण किया जाना है न

१ निघातादिव्ययं यथा शास्त्रे यत् परिभाषितम् । वाक्यप्रदाय २।३

२ नानाकारकानि निघातादिनिवृत्तये, क्वचित् प्रवृत्तये च समानवाक्यं निघातशुभदादेशां वक्ष्यते । तत्र लौकिकवाक्यग्रहणनिषेधाय वाक्य परिभाष्यते ।

—कैयट महाभाष्यप्रणीतोद्योत २।१।१

३ वार्तिककारस्तु श्रयदव लौकिकान् पारिभाषिक वाक्यलक्षणमारभते । न च तेन लौकिको व्यवहारः सिध्यतीति उपेक्ष्यते ।।

—भोज, रा. गारप्रकाश पृ० ११६ मैसूर सम्करण

४ वाक्यमहा पारिभाषिकी महाभाष्ये उक्ता ।

—विटठल, प्रक्रियाप्रमाद, भाग प्रथम, पृ० ७१

५ परे तु आख्यातसंश्लेषण वाक्यमिति लक्षणं लौकिकमेव पञ्चतिमन्तायेतत् साधारणम् । यत्तु कैयटेनायं पारिभाषिक वसुधनं तन् प्रमादान् ।

—नागेश महाभाष्यप्रदायोद्योत २।१।१

सम्माद आचनक्षण वाक्यस्य टरितयन् शास्त्रलोकसाधारणम् ।

—महाभाष्यप्रदायोद्योत २।१।१ पृ० ४५ गुरु प्रसङ्ग लौकिकवाक्य

कि क्रिया के विनोपण का । आख्यातम्' इस शब्द में, लक्षणविधानसामर्थ्य के आधार पर, एकवचन विवक्षित है । आख्यात स क्रियाप्रधानता लक्षित है । फलतः 'देवदत्त' शब्दितव्यम् जसे अतिङित स्थाना में भी वाच्यत्व माना जाता है । आख्यात में एकत्व विवक्षा के कारण 'पचति भवति' में साध्यमाधन होने पर भी दो आख्यात के कारण और समानवाक्यता के अभाव के कारण निघात नहीं हो पाता है । एतद्भिन्ना म एक शब्द, कथक के अनुसार सत्यावाची न होकर समानवचन है और इसमें बहुव्रीहि समास है ।

वातिककार के उक्त शास्त्रीय वाक्यलक्षण में दो विप्रतिपत्तिया उठाई गई थी और उनका परिहार किया गया था । उक्तलक्षण के अनुसार 'व्रजानि देवदत्त' इस वाक्य में देवदत्त शब्द से पाणिनि सूत्र ८।१।१६ के अनुसार निधान प्राप्त नहीं हो सकेगा । क्योंकि देवदत्त पद यहाँ तो अव्यय है न कारक है और न उसका विनोपण है । इसका परिहार या किया जाता है कि उक्त लक्षण में साध्यम्, सकारक शब्द का सामान्य रूप में अभिधान किया गया है । फलतः वातिककार की वाक्यपरिभाषा के अनुसार भी निघात हो जायगा । क्योंकि उक्त परिभाषा के आधार पर सक्रिया-विशेषण भी आख्यात वाक्य कहलायगा । व्रजानि देवदत्त इस वाक्य की व्रजति क्रिया व्रजानि देवदत्त इस वाक्य की व्रजति क्रिया से भिन्न है । क्योंकि एक का संबन्ध सर्वोप्य देवदत्त से है और दूसरे का असंबन्ध देवदत्त से है । क्रिया का विनोपण कभी सामानाधिकरण्य रूप में होता है जस शोभन करोति । यहाँ करोति क्रिया का अर्थ शोभन के अर्थ से संपन्न रूप में ही उपस्थित होता है । क्रिया का विशेषण कभी वयधिकरण्य रूप में होता है । जस व्रजानि देवदत्त । इस वाक्य में गमनक्रिया और देवदत्त का सामानाधिकरण्य नहीं है । जाने वाला अर्थ व्यक्ति है और देवदत्त अर्थ है । किन्तु देवदत्त की सम्बोधन कर गमन होने के कारण यहाँ व्रजति क्रिया विशिष्ट हो जाती है और उसे क्रियाविशेषण मानकर निघात हो जाता है ।

दूसरी आपत्ति इस वाक्य में है—

‘पूव स्नाति पचति ततो व्रजति ।

इस वाक्य में तत के बाद व्रजति क्रिया के होने से वाक्यभेद के कारण निघात नहीं हो सकेगा । किन्तु हाना चाहिए । इसके उत्तर में कहा जाता है कि जिस तरह अनेक क्त्वात् शब्द तिङित के विशेषक होने हैं वस ही तिङित भी तिङित का विशेषक होता है । स्नात्वा भुक्त्वा, पीत्वा व्रजति इस वाक्य में स्नान, भोजन और पान से गमन क्रिया ही विशिष्ट मानी जानी है । उसी तरह उपयुक्त वाक्य में स्नान क्रिया शब्द से व्रजति क्रिया ही विशिष्ट रूप में सामन आती है । उपयुक्त वाक्य में व्रजति क्रिया प्रधान है और दूसरी क्रियाएँ इसके विनोपण रूप में हैं । इसलिए सविशेषण क्रिया एक मानकर वाक्य भेद न होने से निघात सिद्ध हो जायगा ।

भत हरि न कात्यायन और जमिनि के वाक्यलक्षणा में असमानता का संकेत किया है । जमिनि ने यजुस के अवसाननिश्चय करने के लिए वाक्य की परिभाषा बताई थी जो यों है—

अर्थैकत्वादेक वाक्य साक्षात् चेद विभागे स्यात् —मीमांसा सूत्र २।१।४६

इसका तात्पर्य है कि पदसमूह वाक्य है यदि यह एकाधिक हो और विभक्त दंगा म साक्षात् हो। विभाग म साक्षात्ता और अविभाग म एकायता के रूप म वाक्य को स्वीकार करने के कारण निम्नलिखित वाक्य एक वाक्य के रूप म मीमांसा गान म गृहीत होता है—

दवस्य त्वा सवितु प्रसवे अश्विनो माहूष्याम, पूष्णो हस्तायाम अग्नये जुष्ट निवपामि ।

इसम अग्नये जुष्ट आदि पद को पथक करने पर दवस्य त्वा आदि पदसमूह साक्षात् है। सत्रको एक साथ नन पर मपूण पदसमूह का एक ही निर्वाप अर्थ है। अतः उपयुक्त समूह एक वाक्य है।

मीमांसा क इस वाक्यलक्षण को व्याकरण दान म स्वीकार करने पर सत्र तरह से काम नहीं चल पाता है। उदाहरण के लिए जसा कि पुण्यराज न उल्लेख किया है अथ दण्डा हरानन आत्न पच तव भविष्यति जैस स्थला म, जमिनि के वाक्यलक्षण के अनुसार निघात हो जायगा क्याकि प्रयोजन म ऐक्य है। किन्तु व्याकरण की दृष्टि म इन स्थला म निघात नहीं होता। कात्यायन के वाक्यलक्षण के अनुसार भी इनम निघात नहीं होता। अतः जमिनि के वाक्यलक्षण की अपेक्षा कात्यायन का वाक्यलक्षण इस सामित दृष्टि से उद्धर है।<sup>१</sup> कैयट ने जमिनि के वाक्यलक्षण को लौकिक वाक्य का लक्षण माना है और कात्यायन के वाक्यलक्षण को शास्त्रीय मानकर उनम भेद किया है—

अर्थैकत्वादेक वाक्य साक्षात् चेद विभागे स्यादिति लौकिक वाक्यलक्षणम् । इह तु वाक्य पारिभाषितम् आख्यात साध्यकारकविगोषण वाक्यमिति ।

—महाभाष्यप्रदीप ८ । १ । १८

## लौकिक वाक्य लक्षण

लोक व्यवहार म अर्थ की स्पष्ट प्रतिपत्ति वाक्य से होती है। इस तत्त्व का उमीलन प्राचीन काल म हा चुका था। फलतः वाक्य के स्वरूप पर भी ऊहापोह सुदूर भूत म ही आरम्भ हो गय थे। भूत हरि न अपने समय तक प्रसिद्ध प्रायः उन सभी वाक्यवादा का निर्देश निम्नलिखित कारिकाया म किया ह—

आख्यातगद सघातो जाति सघातवर्तिनी ।  
एकोनवयव गद त्रयो बुद्धयनुसहृति ॥  
पदमाद्य पृथक्सवपद साक्षात्मित्यपि ।  
वाक्य प्रतिमतिभिन्ना बहुधा यायवादिनाम् ॥

वाक्यपत्नीय २।१२

पुण्यराज के अनुसार इन कारिकाया म निम्नलिखित आठ वाक्य विकल्पा का



उल्लेख किया गया है—

- १ आख्यात शब्द
- २ सघात
- ३ जाति (सघातवर्तिनी)
- ४ एक अनवयव गण
- ५ क्रम
- ६ बुद्धयनुसंहति
- ७ आद्य पद
- ८ पथक साक्षात् सवपद

पुण्यराज के अनुसार सघातवर्तिनीजाति एक अनवयव गण और बुद्धयनुसंहति य तीन वाक्य विकल्प अष्टपक्ष में हैं।

आख्यातगण क्रम सघात आद्यपद और पथक साक्षात् सवपद—य पांच वाक्य विकल्प अष्टपक्ष में हैं।

इनमें भी सघात और क्रम य दो वाक्य विकल्प अभिहितवाक्यवाचक अनुसार हैं। और आख्यातशब्द आद्यपद और पथक साक्षात् सवपद अविनाविधानवाद के आधार पर हैं।

यद्यपि इन आठ वाक्य विकल्पों में कुछ का सम्बन्ध पुण्यराज ने मीमांसा दर्शन से दिखलाया है किन्तु प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल शालिकताथ सुचरितमिश्र पाथ शारथि आदि ने इन आठ वाक्य विकल्पों को व्याकरण मन के रूप में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में उल्लेख किया है और इन सबका खण्डन किया है। वस्तुतः ये वाक्य के आठ विकल्प एकत्र वाक्यपदीय में ही पाये जाते हैं। अतः वाक्यपदीयकार के बाद के लेखकों ने बिना विशेष विचार के इन आठों वाक्यलक्षणा का सम्बन्ध व्याकरणदर्शन से जोड़ दिया है।

ऐसा जान पड़ता है इनमें से कुछ वाक्य विकल्पों का सम्बन्ध किसी प्राचीन मीमांसा दर्शन से अवश्य था। उपयुक्त कारिका के 'यायवान्निनाम' ('यायवर्तिनाम') शब्द से भी यही ध्वनित होता है। प्राचीन तन्त्रा में 'याय' शब्द मीमांसा दर्शन के लिए व्यवहृत किया जाता था। तन्त्रा निश्चित है कि इन आठ विकल्पों का मूल बल व्याकरणदर्शन नहीं है और न महाभाष्य आदि आकर ग्रन्थों में इन सबका खोज दिखाई देता है।

उपयुक्त वाक्य विकल्पों के अतिरिक्त वाक्य के अष्टपक्ष और सखण्ड पर भी विचार प्रातिगम्या के युग में आरम्भ हो गया था। वेद के संहिता रूप को मूल मानने वाले अष्टपक्षवादी के पद पाठ को अधिक महत्त्व देने वाले सखण्डवादी थे।

अब प्रातिगम्य में संहिता को पञ्च प्रवृत्ति कहा गया है। पञ्च प्रवृत्ति गण के दो तरह से विग्रह संभव है—पञ्चाना प्रवृत्ति पदप्रवृत्ति (तत्पुरुष समास) अथवा पञ्चानि प्रवृत्ति यस्या सा पञ्चप्रवृत्ति (बहुव्रीहि समास)। पहले पक्ष के अनुसार पदा का मूल (प्रवृत्ति) संहिता है अथवा संहिता पहले है। पदा की सत्ता बाद में। दूसरे

गन्तव्य सहिता नित्य है, अपौरुषेयी है, पद अनित्य हैं, पौरुषेय हैं। दूसरे पक्ष के अनुसार सहिता का मूल (प्रकृति) पद हैं। पदा की सत्ता पहले और सहिता की सत्ता बाद में है। पद नित्य हैं, अपौरुषेय हैं। सहिता अनित्य है, पौरुषेयी है।

इनके अनिरिक्त भवृ हरि न इस सम्बन्ध में दो अर्थ मना का भी उल्लेख किया है। किसी के अनुसार पद और सहिता दोनों ही नित्य हैं। पद सामान्याय प्रतिपादक रूप में नित्य हैं और सहिता सामान्याय प्रतिपादक रूप में नित्य है। पुन कुछ अर्थ आचार्य मानते हैं कि सामान्याय नित्य है और वह एव है। उस एक ही सामान्याय की दो शक्तियाँ हैं—विभाग शक्ति और अविविभाग शक्ति। विभागशक्ति (पद) प्रतिपादक है और अविविभाग शक्ति (सहिता) प्रतिपादक है—

केषांचित्तु नित्याद्युभाव्येतो सामान्यायौ । पदसामान्यायस्तु प्रतिपादकत्वेन नित्य इतरस्तु प्रतिपाद्यत्वेन नित्य । केषांचि नित्यस्य कस्यामन्यायस्य द्वे एते विभागाविभागशक्ती प्रतिपादकप्रतिपक्षद्वयेण वर्तते ।

—हरिवृत्ति, वाक्यपदीय २।५८ लाहौर म०

महामाध्यकार न एक स्थल पर कहा है कि पदकारों को लक्षण के अनुसार पद करना चाहिए। लक्षणा को पदकारों का अनुवर्तन नहीं करना चाहिए।<sup>१</sup> इसका तात्पर्य है कि लक्ष्य नित्य है। शास्त्र केवल उसका अनुविधान करता है। शास्त्र स्वयं अनुविधेय नहीं है। इस दृष्टि से भाष्यकार को भी अखण्ड पक्ष ही अभिप्रेत जान पड़ता है।<sup>२</sup>

## आख्यात शब्दवाद

वाक्य के उपयुक्त आठ विकल्पा में पहला आख्यात शब्द है। आख्यात शब्द ही वाक्य है। आख्यात शब्द में क्रिया शब्द अभिप्रेत है। वाक्य में क्रियापद की प्रमुखता के आधार पर क्रियापद का ही वाक्य कहा गया है। मन हरि के अनुसार अर्थ की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए वाक्य का आश्रय लिया जाता है। वस्तु के अस्तित्व और अनस्तित्व दोनों का स्पष्ट भान वाक्य के प्रयोग से होता है और वाक्य से स्पष्ट प्रतीति तभी होती है जब उसमें क्रिया पद हो। क्रिया पद श्रूयमाण भी हो सकता है और अनुमेय भी। दोनों रूप में वाक्यार्थ के स्पष्ट आभास के लिए क्रिया की सत्ता अनिवार्य है।<sup>३</sup>

मन हरि के अनुसार एकत्व और नित्यत्व के पक्षपाती आचार्य विगिष्ट क्रिया को ही वाक्य का प्रतिपाद्य मानते हैं। एक शब्द है वह क्रिया है। एक ही अर्थ है

१ न लक्षणैः पदकारा अनुवर्तन्ते । पदकारै नाम लक्षणमनुवर्त्यम्—

—महामाध्य ३।१।१०६ भाग २ पृ० ६५ कोलहान म०

२ यत्र पदा यस्यैवाति तत्र प्रतिभास ते तत्र एवमभिहितमिति भाष्यकारस्याप्यपक्षेऽभिप्रेत इति दर्शितम्—

—पुरयराज वाक्यपदीय २।४६

३ तन्मात्र श्रूयमाणक्रियापदम् अनुमयमान क्रियापद वाक्यमेव सर्वस्यैवधारणपक्षेति ।

—वाक्यपदीय २।४३० हरिवृत्ति, इस्तलेख

वह क्रिया है। अपोद्धार पद्धति से, व्यवहार के लिए एक वाही प्रत्यय विभाग किया जाता है। क्रियापद वाल कारक, पुष्प, उपग्रह आदि से यथावसर अनुगत रहता है और उगवा अथ एक होता है उसमें विगणविगणमाय परितन्विता होत हैं—

एकत्वनित्यस्ययादिनस्तु ममते विगिष्टा हि क्रिया यथासमय वाससापन द्वयपुरुषोपग्रहादिभि अनुगता वाक्येनाभिधीयते । स चक गदो व्यवहाराय प्रथिमवतोद्देशे सयविगणविगिष्ट परिकल्पितविगणविगणमेवे एक स्मि नये यतते । तस्य गतिरपोद्धारव व्यापहारिको विभागोऽनुगम्यते ।

—वाक्यपटीय २।४४७ ६८ हरिवृत्ति, हस्तलेख

कुछ क्रियाएँ नियत साधन वाली होती हैं। उनका प्रयोग से उनका अनुकूल कर्ता कम आति वा भान आप से आप हो जाता है। जग—वपति क्रिया है। वपति क्रिया के प्रयोग से देव जल वपति इस रूप में कर्ता और कम का मध्याहार स्वत हो जाता है। यहाँ केवल आख्यात पद वाक्य का काम कर रहा है। आख्यातपद—वाक्यवाद का यह भी एक पक्ष है।

जिस तरह से एक क्रियापद संपूर्ण वाक्य है उसी तरह से कुछ विगण पद भी अकेले वाक्य माने जाते हैं किन्तु [एक स्थला में क्रिया चरित (गर्भीभूत छिपी) मानी जाती है।<sup>१</sup>

क्रिया के अनुपग के बिना पदार्थ के भी अस्तित्व का ज्ञान नहीं होता। व्यवहार में क्रियापद के उपसहार से ही यथाथ का बोध होता है।<sup>२</sup>

यद्यपि जिस नाम पद सामान्य होते हैं वस क्रिया पद भी साक्षात् हात हैं। बिना कारक के क्रिया की आकाशा नहीं मिलती। फिर भी क्रिया साध्य के रूप में प्रधान मानी जाती है। वाक्य से उपसगृहीत अर्थ के लिए पदल क्रिया का विभाग किया जाता है, पश्चात् कारका का किया जाता है। इसलिए क्रिया प्रधान और कारक अगभूत माने जाते हैं।<sup>३</sup>

आख्यात पद के मुख्य होने से वह वाक्य है। साथ ही वह विगिष्ट पद है वह अथ कारक पदा से भिन्न होता हुआ भी उसी गतिया से युक्त है। वह उन पदा के अर्थों का स्वत आक्षेप कर सकती है। फलतः संपूर्ण वाक्याय की अभिव्यक्ति

१ वाक्य तदपि भयत यपद चरितक्रियम् ।

अन्तरेण त्रिणशब्द वाक्यादेव हि दर्शनात् ॥

वाक्यपटीय २।३२६

इमं श्लोक का द्वितीय चरण प्रकाशित वाक्यपटीय में नहीं है किन्तु हस्तलेख में मिलता है और कुछ असमन्वित है।

२ क्रियापदोपसंहारे तु सत्यासत्यभावेन प्रतिपत्तु व्यवहारोऽवतिष्ठते ।

—वाक्यपटीय २।४३१ हरिवृत्ति, हस्तलेख

३ विभागेन सर्वथा साकाक्षमुपलभ्यते । सायस्वर्था मा स्वफलप्रयुक्त प्रधानान् सवय वाक्यो पसग्रहत्याधरय पूर्व प्रविभज्यते । तेन तु प्रविभज्य साधनप्रलभ्य वादा मलाभय साम याद्विज्ञानानि साधनानि प्रतीयन्ते ।

—वाक्यपटीय २।४३४ हरिवृत्ति, हस्तलेख

म समय है। इसलिए वही वाक्य है। 'म' मत म वाक्य म आध्यातवात् क अनिरिक्त म कारक पद की मत्ता केवल नियम अथवा अनुवाद के लिए होती है। सामान्य क आगे म विरोध पद का उपादान नियम कहना है। जैसे 'पानु व परमज्यानि' इस वाक्य म सामान्य के आगे म विरोध का प्रयोग किया गया है। विरोध क आगे म सामान्य का उपादान अनुवाद कहना है। 'वपति' श्रिया से देव का जलवपन अथ रक्त आभासित हो जाता है। यदि देव जल वपति कहा जाय तो देव और जल पद केवल अनुवाद का काम कर रहे हैं।

आध्यातवात् क विवरण म नत ररि न समवन निरमाय अनुवादाय वा 'म' वाक्यांग का प्रयोग किया था। इस प्रयुक्त वाक्य क दो अर्थ किए जाते हैं— मनुष्य और त्रिलय। मनुष्य अथ मानव वाता क मत म आध्यातवाद पद म कारक पद नियम और अनुवाद लाना का काम करते हैं। नाम पद म अत्रयव्यतिरिक्त क आधार पर प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना की जाती है। इनम प्रकृति अंग प्राणिप त्रि रूप है। प्राणिपत्ति गति कारक का प्रतिरूप है। आध्यातवात् वाक्यवात् के अनुसार श्रिया म ही कारक पद का अर्थ माना जाता है किन्तु यह सामान्य रूप म होता है विरोध रूप म नहीं। प्रयुक्त कारक पद का प्रकृति अंग सामान्य म व्यवस्थित का विरोध म विधान करता है। इस तरह पद का प्रकृति अंग नियामक हो जाता है। कारक पद म प्रकृति अंग के अनिरिक्त विभक्ति अंग है। विभक्तियाँ उपात गति का ही जो अर्थ दूसरे उपाय से व्यक्त हो गया है उसी का ही प्रतिपादन करती हैं। इस रूप म कारक पद प्रकृति द्वारा नियामक और प्रत्ययों द्वारा अनुवादक भी हैं। फलतः नियम और अनुवाद दोनों साथ साथ काम कर रहे हैं।

जो लोग वा का अर्थ यहाँ त्रिलय मानते हैं उनका मत म कारक पद या तो नियामक होता है या अनुवाक्य। आध्यात पद म व्यवहार योग्य गति का अभिधान होता है गति के आधार विरोध का नहीं। इसलिए उसका नियम के लिए नामपदा का वाक्य म व्यवहार किया जाता है। जैसे आश्रयति श्रिया पदसं किभी के आश्रय रूप म कम गति का अवबोध हो जाता है किन्तु आश्रयविरोध म उसे नियंत्रित करने लिए मानव कम जैसे पद जाना जाता है। कवन आश्रय श्रिया में आश्रय सामान्य का अधिकरणत्व अथवा कर्तृत्व भनकता है मानवक आश्रयति इस वाक्य से मानवक विशेष सामन आ जाता है और सामान्य अर्थ छूट जाता है। अतः पूरा नाम पद नियामक का काम कर रहा है। अथवा वपति श्रिया पद से जन वरमन का बोध होता है 'नेव जल वपति' इस वाक्य का भी वहाँ अर्थ है। अतः देव और जन शब्द व्यक्त अर्थ का ही पुन विधान करते हैं अतः अनुवादक हैं। इस तरह कारक पद या तो नियामक होता है या अनुवादक।

आध्यात पद का आधार कायायन का आध्यात माध्यकारकविरोधण वाक्यम यह वातिक ही जान पड़ता है। यद्यपि सम्प्रतः व्याकरणसम्प्रदाय म ऐसा प्रसिद्ध नहीं है। कायायन न आध्यात को ही वाक्य माना था परन्तु आध्यात क विशेषण के रूप म अव्यय और कारक का भी स्वीकार किया था। व्याख्याकार न सुक्ता-



म समय है। इसलिए वही वाक्य है। इस मत में वाक्य में आख्यात-पद के अनिश्चित अर्थ-कारक-पद की मता के-अनु-नियम अथवा अनुवाद के लिए होती है। सामान्य के आशेष में विशेष-पद का उपादान नियम कहलाता है। जैसे 'पातु व परम-याति' इस वाक्य में सामान्य के आशेष में विशेष का प्रयोग किया गया है। विशेष के आशेष में सामान्य का उपादान अनुवाद कहलाता है। 'वपति' क्रिया से देव का जलवपण अर्थ स्वतः आभासित हो जाता है। यदि 'देव जल वपति' कहा जाय तो देव और जल शब्दों के-अनुवाद का काम कर रहे हैं।

आख्यातवाद के विशेषण में भक्त-हरि ने सम्भवतः शिष्याय अनुवादार्थ का 'स वाक्यान्त' का प्रयोग किया था। इसमें प्रयुक्त वा 'स' के दो अर्थ किए जाते हैं—समुच्चय और विकल्प। समुच्चय अर्थ मानने वाला के मत में, आख्यातवाद पक्ष में कारक-पद नियम और अनुवाद दोनों का काम करते हैं। नाम-पद में अव्ययतिरक के आधार पर प्रवृत्ति और प्रत्यय की कल्पना की जाती है। इनमें प्रवृत्ति अर्थ प्रातिपदिक रूप है। प्रातिपदिक 'गक्ति' कारक का प्रतिरूप है। आख्यातवाक्यवाद के अनुसार क्रिया से ही कारण-पदों का अर्थ भलक आता है किन्तु यह सामान्य रूप में होना है विशेष रूप में नहीं। प्रयुक्त कारक-पदों का प्रवृत्ति अर्थ सामान्य में व्यवस्थित का विधान में विधान करता है। इस तरह पद का प्रवृत्ति अर्थ नियामक हो जाता है। कारक-पद में प्रवृत्ति अर्थ के अनिश्चित विभक्ति अर्थ है। विभक्तियाँ उपात्त गक्ति का ही, जो अर्थ दूसरे उपाय से व्यक्त हो गया है, उपाय का ही प्रतिपादन करती हैं। इस रूप में कारक-पद प्रवृत्त्यर्थ द्वारा नियामक और प्रत्ययार्थ द्वारा अनुवादीक भी हैं। फलतः नियम और अनुवाद दोनों साथ-साथ काम कर रहे हैं।

जा लागू वा का अर्थ यहाँ विकल्प मानते हैं उनका मत में कारक-पद या तो नियामक होते हैं या अनुवादीक। आख्यात-पद से व्यवहार योग्य शक्ति का अभिधान होता है गक्ति के आधार-विशेष का नहीं। इसलिए उसके नियम के लिए नाम-पदों का वाक्य में व्यवहार किया जाता है। जैसे आश्रयति क्रिया-पद से किसी के आश्रय रूप में कम गक्ति का अवबोध होता है किन्तु आश्रय-विशेष में उसे नियत करने लिए माणवक में जहाँ पद-जाड़ दिए जाते हैं। केवल आश्रय-क्रिया में आश्रय-सामान्य का अधिकरणत्व अथवा कमत्व भ्रमरता है। माणवक आश्रयति इस वाक्य से माणवक विशेष सामने आ जाता है और सामान्य अर्थ छूट जाता है। अतः पूरा नाम-पद नियामक का काम कर रहा है। अथवा वपति क्रिया-पद से जल-वर्षन का बोध होता है 'देव जल वपति' इस वाक्य का भी वही अर्थ है। अतः देव और जल शब्दों के-अर्थ का ही पुनः विधान करते हैं अतः अनुवादीक हैं। इस तरह कारक-पद या तो नियामक होते हैं या अनुवादीक।

आख्यात-पक्ष का आधार का-या-यन का आख्यात-सा-य-कारक-विशेषण वाक्य में यह वाक्य ही जान पड़ता है। यद्यपि ससृजन-या-करण-मन्त्र-दाय में ऐसा प्रसिद्ध नहीं है। का-या-यन ने आख्यात को ही वाक्य माना था परन्तु आख्यात के विशेषण के रूप में अव्यय और कारक को भी स्वीकार किया था।

एक विशेषण और सन्ध्याविशेषण को भी बीच में ले लिया था। बाद में 'आख्यात सविशेषण' यही वाक्य का रूप निष्कण्ठ रूप में सामने लाया गया था। जिस आचार्य ने 'आख्यात अथवा आख्यातशब्द' को वाक्य के रूप में स्वीकार किया उसने सविशेषण पद को भी उड़ा दिया। क्योंकि सविशेषण पद के बिना भी आख्यात के सम्बन्ध से अव्यय कारक आदि विशेषका का अध्याहार स्वभावतः ही हो जायगा। और जहाँ विशेषण नहीं है, वहाँ उसकी आवश्यकता भी नहीं है केवल आख्यात पद भी वाक्य माना जायगा।

## सघातवाद

सघातपक्ष वाले आचार्यों के अनुसार एक अथपरक पञ्च समुदाय वाक्य है।

पदसघातज वाक्यम्

वणसघातज पदम्

यह एक प्राचीन उक्ति है। मत हरि ने इसे उद्धृत किया है। वाक्यपदीय के टीकाकार रूपभ के अनुसार यह उक्ति सग्रहकार की है।<sup>१</sup> शौनक के बृहदश्वेता में भी मिलती है।<sup>२</sup> पदसघातवाला पक्ष शबरस्वामी की भाष्यता में भी अनुरूप है। इस मत के अनुसार सभी पद एक में मिलकर एक अथ की अभिव्यक्ति करते हैं। एकाथपरक पदममूह ही वाक्य है। जिस तरह तीनों ग्रावा मिलकर उखा को धारण करते हैं जैसे चारों पहार मिलकर पालकी ढाते हैं जैसे सभी साधन एक साधन पाक किया में सहायक होते हैं<sup>३</sup> उसी तरह सभी पद मिलकर वाक्याय व्यक्त करने हैं— सन्न यथा अयोऽपि ग्रावाण उखा धारयति चत्वारोऽप्युद्यत्तार शिबिकाम उद्यच्छति, सर्वाण्यपि कारकाणि पाक साधयति तथा पदाद्यपि सर्वाणि वाक्यायमवबोधयति ।

—शृंगारप्रकाश, पृ० २७७

सघातवादी मन में पञ्च की स्मृत-व्रता और अस्मृत-व्रता के रूप में दो तरह के विवाद थे जो आग चलकर भीमागा दान में अभिहित-व्यवाह और अजिनाभिधान वात् से प्रगिद्ध हुए। किन्तु ये विचार कुमारिल और प्रभाकर से बहुत पहले मत हरि के समय में भी सामने आ चुके थे। सघात परावृत्त है इस वाक्य के अनुसार पञ्च वाक्य के लिए ही हैं उनका पृथक् कोई व्यक्तित्व नहीं है। समुदाय समुदायी से भिन्न होता है इस आधार पर पञ्च पदसघात (वाक्य) से भिन्न हैं। समुदाय और समुदायी में अभिन्नता के आधार पर पञ्च वाक्य से अभिन्न भी हैं।

सघातवाद के अनुसार कबल वक्षः पञ्च वक्षः जाति का सक्तक है। वक्षः अस्ति वक्षः नास्ति वक्षः छिन्न जल वाक्या में भी वक्षः पञ्च वक्षः जाति का प्रमाणक है। भाव (वक्षः की सत्ता) अभाव छिन्न आदि का वह नहीं व्यक्त करता है और न

१ वाक्यपदीय भा० ३, मन्त्राभिधान (जानी संस्कृत)

२ बृहदश्वेता २।११७

भाव अभाव, ऐश्वर्य आदि का जाति के साथ सम्बन्ध है। किसी अर्थ आधार पर प्रतिष्ठित वस्तु किसी अर्थ का प्रत्यायक नहीं होती। वीर पुरुष जिस वाक्य में एक पद का दूसरे पद के साथ सामानाधिकरण्य होने से विरोध विरोधभाव रूप में अर्थ का आधिक्य प्रतीत होता है। यह आधिक्य वाक्यार्थ है। भाव यह है कि वीर शब्द से प्रथमा विभक्ति जड़ होती है स्वाध्याय से होती है उस समय दूसरे पद के सत्त्व की या विरोध विरोध भाव की अपेक्षा नहीं होती। इसी तरह पुरुष नाम से भी प्रथमा विभक्ति निरपेक्ष रूप में होती है। वाद में आकाशा आदि के आधार पर विरोध विरोध भाव सामन्य होता है। वाद में भावित होने के कारण यह बहिर्ग माना जाता है। बहिर्ग अन्तरगन्धमस्कार में बाधक नहीं हो सकता। भाष्यकार ने इस स्पष्ट किया है कि वाक्य में पदार्थ सम्बन्ध की उपनिधि होती है। देवदत्त नाम अभ्याज 'गुस्ताम' इस वाक्य में यदि बसल देवदत्त मात्र कहा जाय तो कर्ता का निर्देश होगा, कम, क्रिया और गुण अनिर्दिष्ट रह जायेंगे। यदि नाम मात्र का उच्चारण किया जाय कम निर्दिष्ट होगा किन्तु कर्ता, क्रिया और गुण अनिर्दिष्ट रह जायेंगे। अभ्याज मात्र कहने से क्रिया का बोध होगा शेष अनिर्दिष्ट रह जायेंगे। किन्तु यदि देवदत्त नाम अभ्याज शबलाम इस पूरे वाक्य का उच्चारण किया जाय तो इसका अभिप्राय होगा कि देवदत्त ही कर्ता है दूसरा नहीं। गौ ही कम है अर्थ नहीं। अभ्याज ही क्रिया है दूसरा नहीं। गुल रगवाली का ही काली की नहीं। यह पद पहले नामाद्य अर्थ की प्रतिपत्ति करते हैं वाद में जिस विशेष अर्थ की अभिपत्ति होती है वह वाक्यार्थ है—

एषा पदानां सामान्ये वतमानानां मद विरोधे अवस्थान स वाक्यार्थः ।

—महामाध्य ११२।४५ भाग १ पृ० २१८ कीलहान सम्भरण

कथन के अनुसार इसका अभिप्राय है कि पदार्थ ही आकाशा आदि के सहारे सत्त्व रूप में वाक्यार्थ है। कथन यह भी मानते हैं कि ध्वनिव्यय नित्य वाक्य पदार्थसत्त्वरूप विनिर्दिष्ट अर्थ का वाचक है। यदि ऐसा गौ माना जाय तो वाक्यार्थ अनाद्य होगा—

पदार्था एव त्वाकाक्षायोप्यतासि निधिवन्ता परस्परसंयुक्ता वाक्यार्थ इत्यर्थः ।

ध्वनिव्यय नित्य वाक्य विनिर्दिष्टस्यायस्य पदार्थसत्त्वरूपस्य वाचकम् ।

अथवा ह्यशाब्दो वाक्यार्थः स्यात् ॥<sup>१</sup>

—कथन प्रमाण ११२।४५

१. नागेश ने अशाब्द पर टिप्पणी करने हुए लिखा है कि शब्द प्रयोज्यत्व के रूप में शाब्दिक नहीं माना जा सकता। अथवा प्रत्यक्ष देखे हुए धूम के आधार पर भी प्रमाण होने लगेगा। साथ ही सुने हुए धूम शब्द में उपस्थित धूमायवीय बह्वि की भाषावापत्ति होने लगेगा। यदि शब्दत्व से अभिप्राय पदसमन्वितारूप आवाजा और उसके कारण ब्रह्म शब्दवाच में कारण है तबसे ही पदों की पदार्थों में भाषित भिन्न नहीं होगी। अतएव 'अशाब्दो यदि वाक्यार्थ पदार्थाऽपि तथा भवेत्' (वाक्यपदीय २।१६) ऐसा (अन्यत्र) कहा है। यदि ऐसा माना जाय कि असम्बन्ध में बोधानकता नहीं माननी जा सकती तबलिय पदार्था के



महाभाष्य के उपयुक्त आधार पर सघातवादियों ने पद का पहले सामान्य में पश्चात् विशेष में वृत्ति माना है। अर्थात् पद जिस अर्थ का बोधक है वाक्य में भी उसी अर्थ को जताता है। पुनः समुदाय में पदों के परस्पर अवयव होने पर जो आधिन्य (ससंग रूप) भासित होता है वह वाक्यार्थ है। वाक्यार्थ की अनेकपक्षधर्मता सघात का प्रतीक है। सघात पक्ष में भी तीन विकल्प भेद हरि न दिखाए हैं। एक मत में वाक्यार्थ की जाति की तरह प्रत्येक में परिसमाप्ति है। जाति अनेकाश्रित होते हुए भी प्रति आश्रय में पूर्ण रूप से रहती है। ब्राह्मणत्व जाति जिस अनेक में वसे ब्राह्मण समुदाय के एक अंग एक ब्राह्मण में भी अपने संपूर्ण व्यक्तित्व के साथ रहती है। उसी तरह वाक्यार्थ भी अनेक पक्षाश्रित होते हुए भी एक पदाश्रित भी है। उसमें एक पदाश्रित होने के कारण आवृत्ति-यूनता नहीं आती और न वह खण्डित होता है। दूसरे मत के अनुसार सघात पक्ष में वाक्यार्थ की समुदाय परिसमाप्ति मानी जाती है। जैसे बीस सख्या की पूर्णता बीस समुदाय में है प्रत्येक एक में नहीं। किंतु सख्या के प्रयोग में प्रत्येक अंक निमित्त है। उसी तरह वाक्य का समुदाय परिसमाप्ति होती है किंतु वाक्यार्थ प्रत्येक पक्ष में प्रत्याय्य है। तीसरे मत के अनुसार गत्यापार सामान्य अभिधानपूर्वक विशेषाभिधान करता है। स्वायत्त मात्र व्यवहृत करने वाले सभी भेदों में सामानाधिकारण्यमयी योग्यता हानी है वही सामान्य है तथा अथवा अथवा सवधा रूप में सामान्य की कोई नियत अवस्था नहीं है। जो कुछ है वह विषय ही है। उस सामान्यावस्था में किसी भेद के अनिरूपण से और गत्यापार से अर्थ की सवधता का संग्रहीत करने वाली योग्यता के द्वारा सवधतामयी कल्पना की जाती है उस अर्थकल्पना को सम्भव विषयान्तर से हटकर विशेष विषय में नियमित करना है। इस तरह से अर्थ की योग्यता मात्र के अवच्छेद करने से अध्यापननियम नहीं होता अर्थरूप में अनुपातान योग्यता भी उहा हानी और न वह अर्थरूप से भिन्न ही हानी है।<sup>१</sup> पुण्यराज के अनुसार तीसरा मत अविताभिधानवाद के समीप है जो पक्षों को ही वाक्यार्थ मानता है। उनमें अनुसार यहाँ पहले दो मतों से तीसरे मत का भेद स्वरूप में है कि पूर्व मत में पक्ष का वाक्य में भी वही अर्थ होता है जो उनका अर्थ (वचन) में होता है और सगग सघात वाच्य होता है। तीसरे मत के अनुसार पद का अर्थ सामान्य रूप में जो विषय के सम्पद से विषय रूप में जान पड़ता है—

साध पक्षों के शक्तिरूपमन्त्रों की कल्पना कर ली जाती है। समन्वितान्तर में समन्वितान्तर का भी इसमन्त्र में बहुत समन्वितान्तर है। अतः वाक्य में सामान्य मन्त्र मानना चाहिए।

—नागरी, भाष्यप्रणीताचार्य १।२।६५

नागरी ने भाष्यकार के वाक्यार्थ शब्द का भाष्य के अर्थ में दिया है—वाक्यार्थ वाक्यान्तर । विशेषतानामि शब्द व मन्त्रावयवमुक्तिनाम—मन्त्रावयवप्रणीताचार्य १।२।६५  
द्रष्टव्य मन्त्रा ५० ६।८

१ वाक्यान्तर १।४।३४५ हरिवृत्ति ५० ३०

पूषत्र पदाना वाक्ये तावानेवार्थो यावानेव केवलानाम ससगस्तु सघातवाच्य ।  
इह तु तथाभूत एष सामान्यरूप पदस्याथ यस्तत तत विशेषसन्निधौ तन  
तद विशेषविभ्रात ।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।४५

सघातपक्ष में, सम्बन्ध रूप में जो वाक्याथ अवगत होता है उस सम्बन्ध का कोई नियत रूप नहीं है । वह अनुसृत है । असत्त्वभूत है । उसे यह ऐसा है आदि शब्दों द्वारा नहीं व्यक्त किया जा सकता । वह विशेष शब्द के सन्निधि में विशेष हो जाता है और सभी जाना में विनिष्ट रूप से आभासित होता है । साधन और साध्य भी परस्पर नियत हैं । केवल आकाश आदि के सहारे अन्य पदार्थ के सन्निधान से नियम के रूप में व्यक्त होता है । भाव यह है कि वाक्याथ क्रियाकारकसग रूप है । क्रिया सम्बन्ध के बिना कारक की उपपत्ति नहीं होती । केवल विशेष में सम्बन्ध मानने में आनन्द्य अति दोष आ जाते हैं । इसलिए क्रिया सामान्य अवित ही होती है । कारक पक्ष का सम्बन्धग्रहण कारक में होता है और सम्बन्धग्रहण के अनुसार अभिधान होता है । सामान्य में अविनाभिधान घटित होता है क्योंकि व्यवहार काल में क्रिया विशेष से अवित रूप में ही कारक की उपलब्धि होती है । क्रिया की भी प्रतीति विशेष कारक से अवित रूप में होती है ।

## सघातवाद की समीक्षा

यद्यपि पुण्यराज ने सघात पक्ष को अभिहितवाक्यवाद के अनुकूल माना है किन्तु कुमारिल भट्ट ने स्वयं सघातवाद की समीक्षा की है और उनका अनुयायी सुचरित मिश्र और पायसारथि मिश्र आदि ने उनका अनुमोदन किया है । कुमारिल के अनुसार पदसघात को वाक्य इसलिए नहीं माना जा सकता कि पदों में परस्पर अनुग्रह नहीं है—

एवमाद्यत सर्वेषा पथक सघातकल्पने ।

अयोयानुग्रहमावान पदाना नास्ति वाक्यता ॥<sup>१</sup>

—श्लोकवार्तिक वाक्याधिकरण, ४६

भत हरि ने भी सघातवाद की आलोचना की है । यदि पद पहले सामान्य अर्थ व्यक्त करते हैं बाद में विशेष की अभिव्यक्ति करते हैं इस नियम का माना जाय तो सामान्य के तिरोहित हो जाने पर विशेष की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती । देवदत्त गाम अभ्याज इस वाक्य में देवदत्त शब्द के उच्चारण करते ही सामान्य अर्थ सम्बद्ध देवदत्त की अभिव्यक्ति होगी और उसके विलोप हो जाते ही विशेष अर्थ की उपलब्धि न हो सकेगी । जो शब्द अपने आविर्भाव काल में विशिष्ट अर्थ न व्यक्त

१ इस पर सुचरित मिश्र का टिप्पणी है—पदाना पृथक्भूताना सघातवर्तिना वा न वाक्यत्वम् । पृथक्भूतेषु हि तावद् वाक्यबुद्धिरेव नोत्पद्यते । सघातकल्पनेऽपि न पृथक्स्यो विशेषे तदाना मय्यन्योन्यानुग्रहस्य तत्त्ववगमान् । अमति चाग्रहे वाक्यवे कल्पनामात्रम् । पदैकस्यापि तत् प्रसमान् । श्लोकवार्तिक काशिका ७।४६ हस्तलेख

अव्यपदेश्य हो जायगा ।<sup>१</sup>

किंतु भक्त हरि ने सघात पक्ष के समर्थन में भी कहा है कि जिस तरह सावयव वण स्वयं निरवयव हात हुए भी समुदित रूप में साधक हो जाते हैं वैसे ही पद भी समुदित रूप में वाक्य बन जाते हैं साधक हो जाते हैं—

यथा सावयवा वर्णा विना वाच्येन केनचित् ।

अथवात् समुदिता वाक्यमप्येवमिष्यते ॥

—वाक्यपदीय २।५४

## सघातवर्तिनी जाति

कुछ आचार्य शब्दजाति को ही वाक्य मानते हैं । शब्दाकृतिवाद के पक्ष में जो तक दिए जाते हैं वे ही जाति वाक्यवाद में भी उपस्थित किए जाते हैं । इस मत में सम्पूर्ण वाक्य एक गठन है और वह गठन जातिनिबन्धन है । शब्दाकृति वाक्यवाद का उपपत्ति भ्रमणत्व जाति का आधार पर की जाती है । भ्रमण आश्लेषविशेषजनित होता है । उसमें कम्पन रचन उत्श्लेषण आदि भेद हो सकते हैं किंतु भ्रमणत्व जाति एक ही है । भ्रमणत्व में उन भेदों का ग्रहण नहीं होता । यदि भ्रमण की आवृत्ति की जाय तो प्रत्येक आवृत्ति में भ्रमणाति त्रिया द्वारा भ्रमणत्व जाति अभिव्यक्त होती है । वण, पद वाक्य भी ध्वनियों से व्यजित होते हैं । इनमें भेद तुल्य और अतुल्य ध्वनि उप व्यजित हैं । वण अपचित ध्वनिव्यक्त है । उसका सदा दूरी ध्वनिया से निरवयव पद व्यजित होता है । उसी तरह तुल्य अतुल्य प्रचिततम ध्वनिया से वाक्य व्यजित होता है ।<sup>२</sup>

पुण्यराज ने शब्दाकृति वाक्यवाद को जातिस्फोट माना है ।<sup>३</sup>

दवत्त गाम अम्याज इस वाक्य में दवत्त गाम वण से भिन्न अनेक आधारवाली किंतु एक जाति है । वह विभिन्न वणध्वनियों से अभिव्यक्त होती है । निय है । निरवयव है । वही वाक्य है ।

## निरवयव वाक्यवाद

वाक्य एक है निरवयव है । वाक्य में अवयवों का कल्पना बात में की जाती है । मूल

१ वाक्यपदीय २।२८, २९ । पुण्यराज ने अनुसर इन श्लोकों में अभिव्यक्ति-वचन और ध्वनि-विभाजन-रूपों का आलोचना का है ।—“द्वयस्मिन्मयो दूषणं पदार्थो वाक्यं तन्मयं इत्यस्मिन् श्लोकद्वयनिमित्तम् ।”

—पुण्यराज वाक्यपदीय २।२८

२ शब्दवाचक वाक्य में भ्रमणत्व-वा-रूपों का आलोचना । अपचित-निरवयवत्व का वण । तन्मय-निरवयवत्व । शब्दवाचक वाक्य में भ्रमणत्व-वा-रूपों का आलोचना । अपचित-निरवयवत्व का वण । तन्मय-निरवयवत्व । शब्दवाचक वाक्य में भ्रमणत्व-वा-रूपों का आलोचना ।

—वाक्यपदीय २।२९ ध्वनि-विभाजन

३ इन निमित्त-वाक्य-विभाजन-रूपों का आलोचना । अपचित-निरवयवत्व का वण । तन्मय-निरवयवत्व । शब्दवाचक वाक्य में भ्रमणत्व-वा-रूपों का आलोचना ।

रूप म वाक्य एक अविच्छिन्न, अपने आप म पूर्ण वस्तु है। वाक्य के निरवयव रूप को स्पष्ट करने के लिए वैयाकरणानि चित्रबुद्धि, पानकरस मयूराण्डरस आदि का सहारा लिया है। चित्र एक है। अनश है। चित्र को हम सवप्रथम उसकी समग्रता म ही देखते हैं, वह अपने पूर्णरूप म हमारे सामने रहता है। बाद म चित्र क भिन्न भिन्न भाग म दृष्टि जाती है और उसे समझन अथवा समझने के लिए उसमें भिन्न भिन्न अवयवों और रंगों आदि पर हम विचार करने लगते हैं। इसी तरह से वाक्य भी अपने आप म पूर्ण है। निराकाङ्क्ष है। अवयवरहित है। उस समझने के लिए हम उस शब्दों म बाँटते हैं, तोड़ते हैं शब्दों का एक-दूसरे से सम्बन्ध जाँचकर हम वाक्य का विश्लेषण करते हैं और इस तरह उसके भाग प्रस्तुत करते हैं। किन्तु मूलरूप म वाक्य म भाग नहीं है। वह निर्भाग है।<sup>१</sup>

पानकरस-पाण्डव शवत म अपने आप म विलक्षण रस है। निरश है। किन्तु उसके विश्लेषण करते समय मधुर तिक्त अम्ल, कटु कषाय आदि रसों अथवा औषधियाँ को सामने लाया जा सकता है। इसी तरह वाक्य अभिन्न है। किन्तु वण, पद आदि के रूप म उस विभक्त दिखाया जा सकता है।<sup>२</sup>

जिस तरह मयूर के अण्डे म—उसके रस म भावी मयूर के अग प्रत्यय चक्र आदि अविभक्त रूप म पड़े रहते हैं बाद म विभक्त होकर अलग अलग अवयव के रूप म प्रत्यक्ष होते हैं उसी तरह वाक्य म पद आदि अविभक्त रूप म होते हैं। उनकी अलग अलग सत्ता अवाक्यान्त के सहारे सामने आती है।

अथवा जिस तरह पद के सम्यक् ज्ञान के लिए हम उसे प्रकृति प्रत्यय म विभक्त करते हैं। किन्तु प्रकृति प्रत्यय काल्पनिक हैं, वास्तविक नहीं। उसी तरह वाक्य का समझाने के लिए हम अपोद्धार पद्धति से उसे पदों म विभक्त करते हैं, किन्तु पद भी प्रकृति प्रत्यय की तरह कल्पित अथवा असत्य हैं। वास्तविक नहीं। वास्तविक केवल वाक्य है। ऋषभ, वपम उदक यावक शब्दों म कुछ ध्वनियाँ समान हैं किन्तु अर्थ की दृष्टि से निरर्थक हैं। केवल दूसरों को समझाने के लिए अवयव अतिरेक दिखाने के लिए उनकी सत्ता मान ली जाती है। सब तरह के विभाग, प्रक्रियाभेद न जानने वालों को जानने के लिए कल्पित रूप म मान लिए जाते हैं। वस्तुतः वाक्य का विभाग नहीं होता। विभाग का आश्रय यथासम्भव गीघ्र बोध कराने के लिए लिया जाता है। अविभक्त का विभक्त के आश्रय से जान करना लघुप्रश्नमा पद्धति है। गुरुप्रश्नमा पद्धति प्रतिपद पाठ की तरह दर म बोध कराने वाली है। कुशल व्यक्ति वह है जो भेद को अभेद के

१ चित्रयैक रूपस्य यथा भेदनिदर्शनैः ।

नीनादिभिः समाख्यानं त्रियने भिन्नलक्षणैः ॥

तथैवैकस्य वाक्यस्य निराकाङ्क्षस्य सत्तम् ।

शब्दान्तरैः समाख्यानं साक्षादनुगम्यते ॥ वाक्यपदीय २। ८, ९

२ पानकरस का उदाहरण पुण्यराज ने रखा है जो उपयुक्त नहीं है। इससे तो यह भी कहा जा सकता है कि जिस तरह मधुर तिक्त, अम्ल, लवण आदि रसों के योग से विश्लेषण पानकरस की निष्पत्ति होती है उसी तरह पदों के योग से विलक्षण वाक्य की सिद्धि होती है।

आश्रय से देगा है।

परप्रतिपत्तिपूर्विका हि सामान्यविशेषावग्रहोपाया सद्यप्रकृता विभागेना  
विभक्तस्य प्रतिपत्तिः प्रकृतिप्रत्ययादि प्रतिपत्तिवत् । मुख्यप्रकृता स्वयं सामान्य  
रूपस्य प्रतिपत्तिरविभागेन प्रतिपरिपाठवत् । कुत्सस्तु प्रतिपत्ता तयमेव भेदम  
भेदानतिशयेन पश्यति । प्रक्रियामेवमुक्तं तत्र विभागनिबन्धनम् ।

—वाक्यपदीय २।१२ हरिवंति

ब्राह्मणशब्दस्य दण्ड म यन् ब्राह्मण शब्द का अन्तर्गत उद्धारण किया जाय  
श्रोता को ब्राह्मण शब्द का गुण पर भी और एक तरह म अर्थ का प्रतीयमान ज्ञान पर  
भी उगव अभिप्राय की प्रतीति नहीं होगी और इसीलिए उगव लिए ब्राह्मण शब्द  
अनर्थक ही होगा । यही तरह दण्डस्य नाम अर्थात् जस वाक्य म भी दण्ड का  
शब्द का अन्तर्गत प्रत्यक्ष होत पर भी उनका अलग अलग अर्थ नहीं है और  
इसलिए वे एक ही रूप म अनर्थक हैं ।

अतः हरि व अनुसार अन्तर्गत रूप म जान पड़ता है जो अविभागा है यह  
विभागापन्न सा हो जाता है । वाक्य का मूल स्वरूप अविभागा है, एक है इसीलिए  
पूण वाक्य एक शब्द है । अण्ड है । अविभागा का विभक्त अर्थभागा इति मध्यमा  
और विलम्बिता वस्तुता का आधार पर दण्ड उच्च उपांग परमोपांग और महत्तम  
के रूप म हो सकता है । अन्तर्गत वाक्यात्मक शब्द का अन्तर्गत उच्च रूप ता परमवच  
है किन्तु उपांग परमोपांग और महत्तम दूसरा द्वारा नहीं जान जा सकत । उपांग  
म प्राणवत्ति का योग ता रहता है किन्तु शब्दध्वनि का अर्थ कोई सुन नहीं सकता ।  
परमोपांग दण्ड म शब्द बुद्धिसमाविष्ट रहता है उसम प्राणवत्ति का समावेश अभी  
नहीं होता । महत्तम दण्ड म बुद्धि म शब्द अन्तर्गत रूप म समाविष्ट मान जात हैं ।  
नद भी अव्यक्त रूप म रहत हैं यन् अन्तर्गत सभावित हैं ता अर्थात् शब्द का रूप म ही ।  
अतः हरि के अनुसार यका जब कुछ कहना चाहता है अन्तर्गत रूप म अर्थवा मसष्ट  
रूप म अवस्थित शब्द पहले उसकी बुद्धि म पुन प्रयत्न प्राण करण अर्थात् सहाये  
अन्तर्गत रूप म परिणत हो जात है और श्रोता को भी अन्तर्गत रूप म जान पड़त है । किन्तु  
अन्तर्गत रूप म शब्द के उपलब्ध होने से और उसी का 'वाक्यार्थिक' होने पर भी शब्द के  
मूल अन्तर्गतस्वरूप का विघात नहीं होता । जस अर्थात् के अलग अलग विभाग  
आश्रयभेद से सभव हैं किन्तु मूल अर्थात् एक है वसे ही बुद्धिगत मूल वाक्य एक है  
एक शब्द रूप म है निरवयव है

ससष्टशक्तयश्च क्रमसहारेण समाविष्टवाचा प्रयोक्तव्या शब्दा बुद्धौ प्रयत्ने  
करणेषु च क्रमवर्तितानुभूय प्रतिपत्तयपि क्रमप्रत्यस्तमयेनैव समावेश  
प्रतिपद्यते । तत्रोपलब्धुपायानुपातो क्रमवर्तितक्षितो भेदो 'वाक्यार्थिकमपि  
शब्दतत्त्व नानुपपत्तिः । क्रमसहाराभाषण ( ? ) हि 'वाक्यार्थिक एव विच्छिद्यते ।  
तस्माच्च नमागादिवत् ( ? ) प्राप्तदेशविभागका यत्र बुद्धि स एताद्यतयोरेको  
वाक्यार्थिक शब्द इति ।

—वाक्यपदीय २।१६ हरिवंति

पुण्यराज ने इस अक्रम रूप का स्फोट नाम दिया है और अनवयव पक्ष को व्यक्त स्फोट का रूप माना है

परमाथतस्त्वसावक्रम एव स्फोटात्मा प्रतिभास । उपाधिवशात्तु तत्र बुद्धि विततेवानुगम्यत इति बोद्धव्यम् । अनेन एकोनवयव शब्द इत्युद्दिष्टस्य व्यक्तस्फोटस्य स्वरूपमुक्तम् ॥

—पुण्यराज वाक्यपत्नीय २।१३

मल्लवान् ने वाक्य के अनवयव स्वरूप का आधार भवन (द्रव्य) का अनवयव होना माना है । भवन अर्थात् भाव एक और अखण्ड होता है । वाक्य भी भाव है अतः वह भी अनवयव होगा

एकोनवयवनादो वाक्याथ । भवनस्यानवयवत्वात् । इह तु द्रवति भवतीति द्रव्य भवन भाव ।

—द्वान्तारनयचक्र प० ३०३

वाङ्मय मूरि न किसी मत के आधार पर, आकार के आश्रय से अखण्ड-वाक्यवाद को उद्धृत किया है । इस मत में वण पद कल्पित हैं । वाक्य निर्विभाग है अर्थात् तु ओडकारानवयव शब्द परिकल्पितवणपदविभागो वाक्यमित्याहुः ।

—स्यादवात्तरत्नाकर प० ६४५

वाचस्पति मिश्र ने निरवयव वाक्य का उल्लेख माया द्वारा वण और पद की मिथ्या प्रतीति के रूप में किया है

अनवयवमेव वाक्यम् । अनाद्यविद्योपदर्शितालीकवणपदविभागमस्या निमित्त मिति केचित् ।

तत्त्वविदुः प० ६ मद्रास संस्करण

अनवयव वाक्य की समीक्षा में धमकीति न कहा है

एकत्वेऽपि ह्यमिन्नस्य त्रयशो गत्यसमवात—१।२५० (२।३)

कालभेद एव न युज्यते । मह्येकस्य त्रयेण प्रतिपत्ति युक्ता । गहीतागहीतयोरभेदात् । गहीतागहीताभावात् । त्रयेण च वाक्यप्रतिपत्ति दृष्टा । सववाक्य-याहारश्च वणस्मरणकालस्यानेकक्षणनिमेषानुक्रमपरिसमाप्तः । वणरूपा सत्पनिश्चकबुद्धिप्रतिभासिता शब्दात्मनो प्रतिभासनात् । वणानुक्रमप्रतीतेः । तद्विरोधेऽप्यनुक्रमकृतत्वाद् वाक्यभेदस्यानुक्रमवतो वाक्यप्रतीतिः । वणानुक्रमोपकारानपेक्षेण त यथाकथञ्चित् प्रयुक्तरपि यत् किञ्चिद् वाक्य प्रतीयत । विना वा वणं । त अनुक्रमवदभि अक्रमस्योपकारायोगात् । अत्रमेण च व्याहृतु अशक्यत्वात् । यद्यप्यत्राभावाच्च । न च वाक्ये यणं सति । तदकमेव शब्दरूप यजकानुक्रमवशादनुक्रमवद वणविभागवच्च प्रतिभातीति चेत् अनुक्रमवता यजकेनाक्रमस्य व्यक्त प्रत्युत्पत्ता । यक्ता यक्तविरोधात् । अवणभागे च वाक्येऽसकलश्राविणो सकलवाक्यगति न स्यात् । एकस्य शक्ताभावात् । सकलश्रुतिवाक्यचित् ।

—प्रमाणवातिक—प० १२८।१२९ रोम संस्करण ।

धमकीति का अभिप्राय है कि यदि वाक्य को निरवयव माना जाय, उससे

क्रम का आभास संभव नहीं होगा। काल भेद ही नहीं सिद्ध होगा। एक ही वस्तु का क्रम से ज्ञान संभव नहीं है क्योंकि गृहीत और अगृहीत के अभाव होने से यहाँ गृहीत और अगृहीत में अभेद है। वाक्य के ज्ञान में क्रम देखा जाता है। पूर्णवाक्य के उच्चारण, श्रवण, स्मरण में काल अनेकगुण व्याप्त हो सकता है। ऐसा शब्द नहीं होता जिसमें वण सस्पृश का आभास न होता हो। (शब्द में) वण का अनुक्रम की प्रतीति होती है। यदि वण के स्पृश अस्पृश प्रश्न छोड़ भी दें तो भी अनुक्रम के आधार पर वाक्यभ्रंश होता है और इसलिए वाक्य की प्रतीति में अनुक्रम रहता है। यदि वण का अनुक्रम के आधार पर वाक्य प्रतीति न मानी जाय तो वणों के प्रयुक्त होने पर भी वाक्यप्रतीति नहीं के बराबर होगी। अथवा अथवा प्रतीति होने लगगी। अथवा बिना वणों के भी होने लगगी। अनुक्रम वाले वणों का अक्रमवस्तु के साथ कोई सहयोग संभव नहीं है। अक्रम रूप में तो वाक्य का उच्चारण भी संभव नहीं है कोई दूसरा उपाय भी नहीं है।

यदि ऐसा मान लिया जाय कि वाक्य में वण नहीं है वाक्य अविच्छिन्न है एक शब्द रूप है, केवल व्यञ्जक ध्वनियाँ के अनुक्रम के कारण वाक्य भी अनुक्रमवाला और वण विभागवाला-सा ज्ञान पड़ता है तो यह भी उपयुक्त नहीं है क्योंकि अनुक्रम वाले व्यञ्जक से क्रम रहित वाले अक्रम की अभिव्यक्ति नहीं मानी जा सकती। क्योंकि व्यक्त और अयक्त में परस्पर विरोध है। यदि वाक्य में वण विभाग न माना जाय उसे अखण्ड माना जाय तो वाक्य का केवल एक भाग के सुनने वाले को केवल उसी भाग के अर्थ का ज्ञान न हो सकेगा (जा कि होता है) अथवा अपूर्ण वाक्य के श्रवण में पूर्ण वाक्य का ज्ञान होने लगेगा (जो कि किसी को नहीं होता)।

निरवयव वाक्यवाद पर किए गए धर्मकीर्ति के उपयुक्त आक्षेपों के समाधान की चेष्टा मण्डन मिश्र ने की है। मण्डन मिश्र ने पहली धर्मकीर्ति का आभेदा का उत्तरेख विस्तार से किया है और इसका बाद उनका उत्तर अति संक्षेप में दिया है। उनके शब्द निम्नलिखित हैं

एकत्वेऽपि त्रयशो गतिरनुपाख्येयोपाख्येयाकारप्रत्ययभेदेन पुरस्तात् प्रपञ्चिता।

व्यञ्जकसादृश्यात्तु शब्दात्तरग्रहणाभिमान, तेन नाश्रवण सकलश्रवण वेति।

—स्फोटसिद्धि पृ० २३८।२३६

मण्डन मिश्र का अभिप्राय यह है कि वाक्य को अखण्ड मानकर भी त्रय प्रतीति का निवारण अनुपाख्यय आकार और उपाख्यय आकार वाले ज्ञान भेद के आधार पर हो जायगी। वह ज्ञान अनुपाख्यय माना जाता है जिसे बुद्धि निश्चित रूप से (इदं तत् रूप में) ग्रहण नहीं कर पाई होती है। ध्वनियाँ से पहले अनुपाख्येय आकार वाले प्रत्यय (ज्ञान) उत्पन्न होते हैं और वे पुनः स्वयं अनुपाख्येयवाक्य वाले प्रत्यय बार-बार घटित होने से अग्राह्य आदि से, उपाख्येयवाक्य प्रत्यय हो जाते हैं। वण या पञ्च के त्रय रूप स्वीकार करने पर ध्वनियाँ का समुचित रूप में एक साथ न होने का कारण अन्तर्गत बुद्धि से उनका ग्रहण भी ठीक से नहीं हो पाएगा। संपूर्ण भी वस्तु स्वरूप अभिव्यक्त होकर भी जब तक बुद्धि में आविष्ट न हो पाया

हो तब तक वह अनुपलब्ध सा रहेगा और उसमें व्यवहार न हो सकेगा। इसलिए वणक्रम को मानकर अनुपादययाकार और उपादययाकार प्रत्यय भेद के आधार पर अखण्ड वाक्य की प्रतिपत्ति संभव है।

धमकीर्ति के दूसरे आक्षेप—अवगणन में वाक्य के केवल एक भाग के सुनने पर उस भाग का अर्थ न भासित होना अथवा अपूर्ण वाक्य के श्रवण में पूर्ण वाक्य का ज्ञान हो जाना—के उत्तर में मण्डन मिश्र का करना है कि व्यञ्जक ध्वनियाँ के सादृश्य से वण पद आदि का आभास होता है वस्तुतः वाक्य एक अव्यञ्ज है। इसलिए अव्यञ्ज अथवा सकलश्रवण का प्रश्न नहीं उठता। स्फोटसिद्धि के टीकाकार ऋषिपुत्र परमेश्वर (द्वितीय) के अनुसार वाक्य के निर्माणपथ में भी भ्रांति में भाग की प्रतीति होती है अतः अव्यञ्ज या सकलश्रवण का आरोप असंगत है।

तत्र कारणेन परमार्थभागपक्षेऽपि भाग्यो ग्रहणमुपपद्यत एव न पुन अव्यञ्ज वा सकलश्रवण चापद्यतेति ।

—स्फोटसिद्धि टीका पृ० २३६

वणकगोमी ने मण्डन मिश्र के उपयुक्त तक की महत्त्व नहीं दिया है। उनके मत में सकल असकल वण भाग के ज्ञान के समय अखण्ड वाक्य का श्रवण ही नहीं होता। दूसरी बात यह है कि वाक्य के ग्रहण के अवसर पर वण ग्रहण की बात भी अयुक्त है। वर्णात्मक और अवर्णात्मक महत्त्व नहीं माने जा सकते इसलिए व्यञ्ज और व्यञ्जक में भी सादृश्य नहीं हो सकता।

तेनयदुच्यते मण्डनेन 'यञ्जकसादृश्याच्च वाक्ये तदात्मग्रहणामिमान तेन नाश्रवण सकलश्रवण वेति तत्पास्तम् । सकलासकलवणभागप्रतिपत्तिकाले निष्कलस्य वाक्यस्याश्रवणात् । न हि 'यञ्ज' यञ्जकयो सादृश्य वर्णावर्णात्मकत्वेन विसदृशत्वात् । ततश्च वाक्ये वर्णात्मग्रहणामिमान इति यत् किं चिदेतत् ।

—वणकगोमी प्रमाणवातिक टीका, पृ० ८६८, ४६६

जयन्त भट्ट ने वाक्य के निरवयववाद के विरोध में निम्नलिखित तक उपस्थित किए हैं वाक्य निरवयव नहीं है। भावयव है। प्रति वाक्य में पद और उसके अर्थ का अलग अलग आभास स्पष्ट रूप से होता है। और जब अवयव विभाग का ग्रहण नहीं होता वाक्य और वाक्यार्थ का भी आभास नहीं होता। इसलिए मान लेना चाहिए कि अवयव प्रतीति होती है। उस प्रतीति को भ्रांत नहीं कहा जा सकता क्योंकि भ्रांति का कोई आधार होना चाहिए। सादृश्य को भ्रांति का आधार नहीं माना जा सकता क्योंकि किसी किसी साथ सादृश्य है यह स्पष्ट नहीं है। यदि कोई मुख्य अवयव प्रसिद्ध हो उनके सादृश्य से अन्यत्र सादृश्य के न रहते हुए भी सादृश्य ज्ञान भ्रम हो सकता है, किन्तु ऐसी बात नहीं है। पूर्ववाक्य भी आपके मत में भाग रहित हैं। नरसिंह में भी नर के अवयव और सिंह के अवयव अलग अलग दिखाई देते हैं ऐसा ही यहाँ भी माना जाय तो किसी वाक्य में अवयवों की सत्ता माननी पड़ेगी। चित्र आदि के जो उदाहरण निरवयव पथ के समर्थन में दिए गए हैं वे भी





कुमारिल भट्ट के अनुसार निरवयव वाक्यवादी को महावाक्य और अवान्तर वाक्य में भेद नहीं मानना पड़ेगा। यदि भेद माना जायगा तो दो वाक्यों से दो अर्थ स्वतंत्र रूप से सामने आयेंगे।<sup>१</sup>

किन्तु इसका उत्तर व्याकरण यह देते हैं कि जिस तरह स अपोद्धार पद्धति पर पद की सत्ता स्वीकार कर ली जाती है उसी तरह उसी पद्धति से अवान्तर वाक्य की भी सत्ता मान ली जायगी। यथायु दृष्टि से वाक्य में जैसे पद की सत्ता नहीं है महावाक्य में अवान्तरवाक्य की भी सत्ता नहीं है।

## क्रम-सिद्धान्त

क्रम की वाक्य माननेवाले आचार्य का अभिप्राय यह है कि क्रम के अतिरिक्त वाक्य की सत्ता नहीं है। वस्तुतः इस मत में वाक्य की सत्ता ही नहीं स्वीकृत है। ध्वनि समूह से अथवा पत्र समूह से जो कुछ अर्थ भासित होता है वह क्रम के कारण होता है। अतः क्रम ही मुख्य है। उससे भिन्न वाक्य नाम का किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। क्रम क्या है? क्रम शब्द से भिन्न वस्तु है। क्रम का सम्बन्ध काल से है। काल में प्रतिपत्ति और अभ्यनुत्ता ये दो प्रकार की गतिविधियाँ हैं। गति की ग्राह्य अभिव्यक्ति इन दोनों गतिविधियों की सक्रियता से होती है। इसलिए शब्दों को शब्द का श्रवण और अर्थ का अनुगमन कालवृत्ति के अधीन है। शब्दों में जो क्रम है उसे काल गति का उनमें सन्निवेश समझना चाहिए। अतः क्रम कालगति से भिन्न वस्तु नहीं है। क्रमों ही शब्देषु कालगतिरूपविशेषस्य निवेष्ट इति। स कालात्मनो न व्यतिरिच्यते।

—वाक्यपदीय २।५० हरिवृत्ति

पदों के नियम सन्निवेश में एक विशेषता आ जाती है। यदि विशेष ही वाक्य है तो यह विशेष क्रमजय है। अतः क्रम ही वाक्य है। इस मत में पत्र में अर्थ सत्ता मानी जा सकती है किन्तु वाक्य एक प्रतीति मात्र है।

तेन वाक्यमित्यवस्तुक्रमेवेद अभिलापमात्र पदमेवाथवदिति।

—वाक्यपदीय २।५० हरिवृत्ति

क्रमशक्ति का आविर्भाव पदों के सन्निवेश में होता है केवल वर्णों के सन्निवेश में नहीं होता। यद्यपि अक्षरों की सत्ता वर्णों में भी है किन्तु अर्थवाचक केवल वर्ण से नहीं होता, पद से होता है। वर्णक्रम को पद और पत्रक्रम को वाक्य कहा जा सकता है किन्तु वे वाचक नहीं हैं। वाचकता केवल क्रम में है।

सन्तानवृत्ति का नाम क्रम है। पद चाहें वे अनर्थक रूप में माने जाएँ अथवा स्वार्थ के कारण साधक रूप में स्वीकार किये जाय, सब तरह से क्रम से उच्चरित होकर ही अपने से कुछ भिन्न वाक्यार्थ का प्रतिपादन करते हैं। इसलिए क्रम वाक्य है।<sup>२</sup>

१ श्लोकवार्तिक ७।१४० पृ० ८८६ चौखम्बा संस्करण

२ वाक्यपदीय २।५५

## क्रमवाद की समीक्षा

पञ्चमवाक्य यात्र म, कुमारिल व मन म मुख्य लोग यत्र है कि पञ्चम का वाक्य मानन पर पञ्चम व भेद स वाक्य म भी भ्रम होन लगगा । गो गुप्त का जात्रम है वही गुप्तो गो का नहीं है । यदि पञ्चम को वाक्य माना जाय तो यहा २१ वाक्य मानन पडग और वाक्य भेद स भ्रम भेद भी होन लगगा ।<sup>१</sup> वायसारथि न इस स्पष्ट करत हुए कहा है कि वणत्रम का पञ्च मान लता तो टीका भी हो सक्ता है क्योंकि वह भ्रम के पान म साधन है यदि वण वत्रम वस्तु स्थि जाय तो वही भ्रम नष्ट भनवगा । किंतु पदत्रम साधन नही है । समूत म पञ्चम व वस्तु न पर भी भ्रम वही हागा । वाक्याथ पान म पञ्चम उपायभूत नही है । उपायभूत मानन पर त्रमभेद से वाक्याथ भेद हागा ।<sup>२</sup>

किंतु जसा कि ऊपर कहा गया है त्रमसिद्धान्त व समर्थन प्रापाय पञ्चम को वाक्य न मानकर वाक्य की सत्ता ही नहीं मानत हैं । तत्र वाक्य न विद्यत ।<sup>३</sup>

पदाख्या वाक्यमन्ता व गान्धर्व नप्यत तयो ११ प्राप्ति वक्तव्या द्वारा भन हरि न स्पष्ट कर दिया है कि त्रम का नाम वाक्य नहीं है किंतु त्रम वनी वाम वक्ता है जो अथ दशन म वाक्य करता है । और इसी दृष्टि स त्रम को वाक्य कहा जाता है । अथथा त्रम और वाक्य भिन्न भिन्न वस्तु है । वाक्य का सम्बन्ध गान्धर्व म है । त्रम का सम्बन्ध बाल से है । दूसरे गान्धर्व में वाक्य गान्धर्व धम है त्रम बालधम है । त्रम अपने आप म अत्र द है ।

## बुद्धयनुसहारवाद

शब्द का मुख्य स्वरूप बाह्य नहीं है आन्तरिक है । लिपि शब्द नहीं है । किंतु शब्द का प्रतीक अथवा सकेतक है । और इसलिए अक्षर चिह्नो को शब्द कह दिया जाता है, किंतु अक्षर चिह्न स्वयं शब्द नहीं है । वे वास्तविक भी नहीं है । इसी तरह बाह्य ध्वनि शब्द का सकेतक है । शब्द का वास्तविक रूप आन्तरिक है । बाह्य ध्वनि अक्षर चिह्न की तरह अगात्त्विक है । अन्त शब्दतत्त्व अक्रम है । यद्यपि वह त्रम बाल भागो (वण अथवा नाद) स व्यक्त किया जाता है किंतु अपने आप म वह अत्रम है त्रम रहित है । त्रम वाले वण या नाद या भाग अक्षर चिह्नो जस हैं और उही की तरह अथथाथ है । ये आन्तरिक शब्द को अभिव्यक्त करते हैं । उस अत्रम रूपवाले आन्तरिक शब्द का दूसरा नाम बुद्धयनुसहार है । उसमें पदरूप विभक्त नहीं है । वह एक शब्द है । और एक शब्द शब्द को एक वाक्य कहते हैं

१ श्लोकवार्तिक वाक्याधिकरण ५५

२ श्लोकवार्तिक यात्रया, याथारत्नाकर ७५५

३ वाक्यपदीय २।५०

४ २।५२

स च य बुद्ध्यनुसहारलक्षण आंतर शब्दात्मा तत्र समाम्नात ।

तस्यचेत्यभावे विच्छिन्नपदरूपप्रविभागदर्शन एक एवाय वाक्याख्य ।

—वाक्यपदीय २।३० हरिवृत्ति

भत हरि के मत में आंतर शब्द दो शक्तियों से संपन्न है—अनपायिनी शक्ति और अपायिनी शक्ति। उस शब्दात्मा में प्रकाशक और प्रकाश्य दोनों संपन्न हैं। शब्द प्रकाशक है। अथ प्रकाश्य है। यद्यपि प्रकाशक और प्रकाश्य आंतर शब्द में परस्पर संपन्न हैं, अविभक्त है, फिर भी प्रकाशक में प्रकाश्य विभक्त जसा जान पड़ता है। इसी तरह से काय और कारण दोनों आन्तर शब्द में मशिल्लुप्त हैं। कारण और काय एक दूसरे के आधित हैं। और अपने मूल रूप में उभय शब्दात्मा में अभिन्न रूप से अवस्थित हैं। किंतु व्यवहार दशा में एक दूसरे से विभक्त जान पड़ते हैं। मिथ्याभ्यास भावना के कारण अभेद में कल्पित भेद की सृष्टि होती रहती है और इस तरह जो अविरोध है वह विरोध जान पड़ता है। आंतर शब्द की अनपायिनी शक्ति का सबंध उसके अविभक्त स्वरूप में है और अपायिनी शक्ति का सबंध उससे प्रतिभासिक विभक्त स्वरूप से है। वस्तुतः अंतर शब्द तत्त्व में भाव अभाव का विभाग नहीं है। शक्ति भेद से भेद का आभास होता है।

उस आन्तर शब्द में अस्तित्व और व्यस्तित्व भाव और अभाव उसके एकत्व का अतिरमण नहीं करते। दोनों एक ही की दो शक्तियाँ हैं। अक्रम में उभय का संवेदन अभाव से भाव दशा का उन्मीलन है। बुद्ध्यनुसहार पक्ष में शब्दाद्यतत्त्व अन्तर्मात्रा भिन्नविशेषी है। पुण्यराज ने बुद्ध्यनुसहार को ही आंतरस्फोट माना है

आख्यतरस्य स्फोटस्य तु बुद्ध्यनुसहृतिरित्यनेनोददेशः ।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय टीका २।१

शब्द का मुख्य रूप शब्द की आत्मा वाक्यतत्त्व एक है अभिन्न है अतिरमणशील है, अव्यपदेश्य है। जिस तरह से शब्द, मुख्य रूप में, बुद्धिगत है उसी तरह अथ भी बुद्धिगत है। बुद्धिगत अथ भी अव्यपदेश्य है किंतु उभय से उपचित होकर प्रत्ययनियत रूप में उत्पन्न होकर बाह्य वस्तु रूप में व्यवहार का विषय बनता रहता है। शब्द निर्यत्व पक्ष में, बुद्धिगत अथ क्रमशः शक्ति के सहारे विवर्त रूप में प्रकट होता है। जब तक बुद्धि में अथ का स्वरूप स्थान न प्राप्त कर लिया हो वह बाह्य वस्तु के रूप में व्यावहारिक अथ क्रिया में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए सभी बाह्य व्यवहार का आधार अन्तर्निविष्ट अथ है। शब्द और अथ एक ही वाक्यात्मा के दो स्वरूप हैं। अथ भाग के द्वारा आन्तरिक अथ की अभिव्यक्ति होती है। पुण्यराज ने इस आन्तरिक अथ को प्रतिभात्मक अखण्ड वाक्याय माना है। (वाक्यपदीय २।३१)

जैन ग्रन्थ में बुद्ध्यनुसहृति को विज्ञान के सहारे स्थापित किया गया है। विज्ञान शब्द है। विज्ञान ही शब्दाय है। रूप रस घट पट आदि बाह्य वस्तु विज्ञान से उद्बुद्ध होते हैं। विज्ञान कल्पना है अभिजल्प है बुद्ध्यनुसहृति है। वही वाक्य है।

वही वाक्याप है ।<sup>१</sup>

प्रभाचद्र न बुद्धयनुसहृति को दो षण म विमान कर बुद्धिवाक्यपण और अनुसहृतिवाक्यपण की कलना की है ।<sup>२</sup> किन्तु यह विभाग भत् हरि द्वारा अभिप्रेत नहीं है ।

पुण्यराज ने बुद्धयनुसहारवात् को बौद्ध दान न वाक्यस्वरूप न सदन माना है । उनके अनुसार गान्य सिद्धात में वाक्य आतरिण आकार विनोप का बाह्य अध्यास मात्र है । बौद्ध आकार अनात्ति वाक्यवागना न प्रवाध स उदबुद्ध होना है और क्रम रूप में भासमान किन्तु अक्रम रूप में अवस्थित पदा स विनिष्ट रूप म उभरता है । उसका बाह्य अध्यास वाक्य है । और इस तरह बुद्धयनुसहृति का सहाय-सा है ।<sup>३</sup>

किन्तु धमकीति ने वाक्य की बुद्धिप्राप्तिता को नहीं माना है । समस्त षण सस्कारवाली अन्त्य बुद्धि स वाक्य का भवधारण कपोलउत्पना मात्र है । अक्रम एक बुद्धिप्राप्त वाक्य सभव नहीं है । षणों का क्रम स ही भान होता है और बिना षण के सस्पश किए किसी को प्रतिपत्ति नहीं होती । जब कमी पद वाक्य का स्मरण होता है षण सत्ता क्रम रूप म ही भासित होते हैं । अक्रमा बुद्धि म पूर्वापर का भान सभव नहीं है । अथवा पद वाक्य भे म कोई भेद न रह जाय ।<sup>४</sup>

किन्तु बुद्धयनुसहार पक्ष का आधार अत्य बुद्धि-प्राप्तता वाला सिद्धान्त नहीं है । अत धमकीति की आलाचना युक्तिसंगत नहीं है ।

### आदिपदवाद

आद्य पद वाक्य है । जिस पद का वाक्य म सवप्रथम प्रयोग किया जाना है वह पद ही वाक्य है । उसी पद से अय पदा का आक्षेप हो जाया करता है । जो पद आरभ म प्रयुक्त होत है वे मा तो क्रिया पत् होत है या कारक पद । क्रिया और कारक परस्पर अविनाभत हात हैं उनम साहचय होता है । उनमे जो भी पहले प्रयुक्त होता है अपने अर्थ की सिद्धि के लिए अय पद के अर्थ का आक्षेप कर लिया करता है । जैसे धूम स वह्नि का आक्षेप हा जाता है । और इस आधार पर प्रथम पद को कुछ आचार्य वाक्य मानते हैं । प्रथम पद को ही वाक्य मान लेने पर अय पद, इस मत म व्यर्थ नहीं हाते । वे नियम अथवा अनुवाद के लिए होते हैं जसा कि आख्यात-वाक्य वाद वाले भी माने हैं ।

भन हरि ने एक अय प्रकार से भी इस मत का सकेत किया है । इस मत म

१ विज्ञान शब्दाथ । विज्ञानमेव हि शब्द तच्च विज्ञान कल्पना बुद्धयनुसहृति वा-याथ । द्वात्शारनयचत्र प० ११५१  
 २ बुद्धि वाक्यम् । अनुसहृति वाक्यम् । प्रमयकमलमानण्ड प० ४६०  
 ३ पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१  
 ४ प्रमाणवर्तिक आधानुमानपरिच्छेद पृ० ८३ कारो सरकरण

विशेष शब्द सामान्य के प्रतिरूपक मान जाते हैं और वे शब्दांतर के सबध से किसी आगतुक अर्थ से जुटकर केवल अनुवाद के रूप में शब्दांतर के अर्थ को व्यक्त करते हैं।<sup>१</sup>

पुण्यराज ने इस मत का सम्बन्ध अविताभिधानवाद से जोड़ा है। उनके अनुसार 'देवदत्त गाम् अग्न्याज' इस वाक्य का देवदत्त शब्द 'देवदत्त गाम वधान' इस वाक्य के देवदत्त शब्द से विशिष्ट अर्थ में ही वक्ता द्वारा प्रयुक्त होता है किन्तु भ्रम से सकल साधारण जान पड़ता है। वाद में (उत्तरकाल में) गो आदि पद के सम्बन्ध से विशिष्ट अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। आरम्भ में ही संपूर्ण विवक्षित अर्थ को मन में रखत हुए वक्ता विशिष्ट पद का व्यवहार करता है। अतः आद्य पद में ही सकल वाक्य और सकल वाक्यार्थ की परिसमाप्ति हो जाती है

तेषामेवोपगहीतसर्वविशेषे एकस्मिन् अर्थे

बहुशब्दानाम्युपगच्छतामविकल्प कृत्स्न

वाक्याय प्रतिपद प्रतिबन्ध वा समाप्यते ॥

—वाक्यपदीय २।१८ हरिवृत्ति

इस मत की समीक्षा में प्रायः सभी आलोचकों ने यही कहा है कि एक ही पद से यदि समस्त वाक्यार्थ की अवगति हो जाय, अथ पद व्यर्थ मान जायेंगे। भक्त हरि ने इस आक्षेप के दो उत्तर दिए हैं। एक तो यह कि एक पद से सकल अर्थ का अभिव्यक्ति होना पर भी दूसरे पदों के सांनिध्य से उन अर्थों का जो पुनः ज्ञान होगा वह ज्ञान वह आवृत्ति, नियम के लिए होगी। अथवा आदि पद से उक्त अर्थ को अर्थ पद और अधिक स्पष्ट कर देता है। यही अनुवाद है। अतः दूसरे पदों की अव्ययता नियम और अनुवाद रूप में मान लेनी चाहिए। दूसरा यह कि आदि पद में संपूर्ण अर्थ व्यक्त करने की क्षमता होना पर भी अर्थ पद अभिव्यक्तक है। उनके साहचर्य से ही संपूर्ण अर्थ व्यजित हो पाता है (व्यक्तोपव्यजना सिद्धि — वाक्यपदीय २।१८)<sup>२</sup>

पुण्यराज ने नियम और अनुवाद वाले पक्ष से सतोप नहीं व्यक्त किया है। व्यक्तोपव्यजना वाले पक्ष के विषय में एक स्थान पर उन्होंने निराशा व्यक्त की है किन्तु दूसरे स्थान पर उसका समर्थन किया है।<sup>३</sup>

आद्यपन्वाक्यवाद के आधार पर अन्त्य पद वाक्यवाद की भी कल्पना की गई थी। यद्यपि अन्त्यवाद का उल्लेख या संकेत भट्ट हरि ने नहीं किया है किन्तु इस वाद की

१ वाक्यपदीय २।१७

२ वाक्यपदीय २।१६

३ पदानां नियमाद्यनुवादाय बोधवारण भवेत् । न चैतन् युक्तमिति वक्ष्याम । व्यक्तोपव्यजना इत्यसमाधानमेव ।

—पुण्यराज वाक्यपदीय २।१८

‘यदा पुनः सहभूतेष्वेवासौ प्रत्येकं समाप्तोऽथ इत्युक्ते । यथोक्तं “व्यक्तोपव्यजना सिद्धिरथैव प्रतिपत्तिर्यु” (वा० प० २।१८) इति । तदा नास्त्येव सहभूतानामुपान्ताने कश्चिद वैकल्यम् — पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१६

आलोचना कुमारिल भट्ट ने की है। सुचरित मिथ और पायसारथि ने स्पष्ट कहा है कि किसी (वाक्यकरण) ने अत्यवाक्यवाद का उल्लेख नहीं किया है फिर भी उसरी सभावना कर कुमारिल ने समीक्षा की है।

जो हेतु आद्यपदवाक्य पक्ष में दिए जाते हैं वे ही अन्त्यपद वाक्य पक्ष में भी दिए जाते हैं। मुख्य होने का कारण आद्यपद वाक्य है। इसी आधार पर अन्त्य पद भी वाक्य है।

अत्यपदवाक्यता पररपठिताऽपि यावत् समवमुपपासादुपदर्शिता। एष हि ते मन्त्रे, मुख्यत्वाद् आद्यमेव पद वाक्यमिति। अत्यञ्च। तदनन्तरमप्यवगतः।

—सुचरितमिथ श्लोकवातिरवागिका ७।४६ हस्तलेख

मल्लवादि क्षमाश्रमण ने अत्यपदवाक्यवाद का उल्लेख पूर्वपदनाम हितसंस्कार के आधार पर किया है। भर्तृहरि का अत्य ध्वनि से बुद्धि परिष्कार वाला सिद्धांत इस विचार का मूल हो सकता है।<sup>१</sup>

भोजराज एक पद में, चाहें वह आदि का हो या अंत का, वाक्य गति मानने के पक्ष में नहीं हैं। उनके मत में यदि एक शब्द में सभी पदों का अभिधेय व्यक्त करने की शक्ति मान ली जायगा, उसीसे व्यवहार होने लगेगा। किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। यदि गो शब्द के उच्चारण से सकल गोगत गुण और उसकी सभी क्रियाओं की अभिव्यक्ति हो तो श्रोता को किसी एक गुण या क्रिया को अवगत करने में कठिनाई होगी। ऐसा कोई हेतु नहीं है जिससे नियत गुण अथवा क्रिया का ग्रहण हो सके। पदांतर सन्निधान को नियामक नहीं माना जा सकता। वह भी जप, मंत्र आदि के सदृश केवल स्वरूप मात्र से सन्निहित होता है अतः उसमें कोई वशिष्ट्य नहीं है।<sup>२</sup> किन्तु जसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कुछ आचार्यों के अनुसार साध्य (क्रिया) नियत साधनवाला है। और साधन (कारक) नियतसाध्यवाला है। क्रिया कारक का यह नियत स्वरूप प्रति पद में अभिधेय की भांति स्थित रहता है। यह नित्य नियतत्व नियम का हेतु हो जाता है। इसलिए दूसरे शब्दों के प्रयोग के सान्निध्य मात्र से बोधकर्ता को आदि पद से (अथवा केवल अत्य पद से) समग्र वाक्यार्थ भलक उठता है। अतः आद्य पद वाक्य है।

नियत साधन साधये क्रिया नियतसाधना।

स सन्निधानमात्रेण नियम सन प्रकाशते ॥

—वाक्यपदीय २।४७

## पृथक् सर्वपद वाक्यवाद

पृथक् सर्वपद वाक्य हैं। कुछ आचार्यों के मत में सभी पद अलग अलग वाक्य हैं यद्यपि

१ अतः च पद वाक्याथ । स च पूर्वपदज्ञानाद्विमतम्कारापेक्षोऽत्यपदप्रत्ययः ।

—आदर्शरत्नचन्द्र, पृ० ६११

२ १ गार प्रकाश, पृ० २७७ मैमूर संस्करण

वे परस्पर साक्षात् होते हैं। इस पक्ष में प्रायः वे ही हतु उपस्थित किए जाते हैं जो सघात पक्ष में वहे जाते हैं। जिस तरह से तीना आवा उत्ता को धारण करते हैं जैसे चारा वाहक शिविका को वहन करते हैं वैसे ही सभी पद वाक्य हैं और सभी पद अपने अपने अर्थ से युक्त रहते हैं।<sup>१</sup> 'देवदत्त गाम् अभ्याज शुक्लाम्' इस वाक्य में इस मत में, प्रत्येक पद वाक्य है। क्योंकि सभी पद सर्वात्मक हैं। देवदत्त भी गवात्मक है, अभ्याजात्मक है क्योंकि वह प्रवक्तृ है और इसलिए उन उन रूप वाला हो जाता है। इसी तरह गो भी देवदत्त आदि के रूप में ढल जाता है अभ्याज भी तदात्मक हो जाता है।<sup>२</sup> भत हरि की शब्दावली में, देवदत्त आदि पद की प्रत्येक परिममाप्ति है। पथक सवपद वाक्य पक्ष में प्रत्येक शब्द संपूर्ण व्यापार वाला (वृत्स्तव्यापारकारि) है। एक एक के रहने से संपूर्ण व्यापार संपन्न होता है, एक के भी न रहने से व्यापार संपन्न नहीं हो पाता है। अतः पथक सव पद का वाक्य मानना चाहिए।

सघातवाद और पथक सवपदवाद में यह भेद है कि सघात पक्ष में पद सघात परतत्र है जबकि पथक सवपद पक्ष में पद स्वतंत्र हैं। सघातपक्ष में पद की स्थिति शकट के अवयव के रूप में है। शकट (गाड़ी) के सभी अंग, मिलकर काम करते हैं किंतु प्रत्येक अंग शकट से अलग अपना काम नहीं कर पाता है। पथक सवपदवाद में पद की स्थिति शिविकावाहिका जैसी है। वाहक मिलकर पालकी ढोते हैं पर स्वतंत्र भी अपना काम कर सकते हैं। यदि देव सूरि के अनुसार 'पथक सवपद साक्षात्तम' में पथक विशेषण इसे सघातपक्ष से अलग करता है और सब विशेषण इसे आभ्यातवाद से और आद्यपदवाद से अलग करता है

पथगिति सघातादवच्छिन्नति । सवमिति आद्य पदात् आभ्याताच्चावच्छिन्नति ।

तेन सर्वाण्येव पदानि अयोयसापेक्षाणि प्रत्येक वाक्यमित्यथ ।

—स्यादवादरत्नाकर पृ० ६४५

पुण्यराज ने पथक सवपदवाक्यवाद का भी सम्बन्ध अवितामिधानवाद से जोड़ा है। वाक्य में कारक सदा क्रिया का मुख देखते हैं क्रिया भी कारक का विरह नहीं सह पाती है। इस परस्पर सम्बन्ध के आधार पर पद स्वतः वाक्य का अर्थ अवगत करा देते हैं। क्रिया और कारक की परस्पर उन्मुखता सन्निधान मात्र से व्यक्त हो जाती है। इनमें परस्पर मुख्य या गौण भाव आकाक्षा पर निर्भर करता है। आकाक्षा व्यपेक्षाश्रित है। भत हरि के अनुमान व्यपेक्षा अथ में हो या न हो, शब्द में सत्ता सन्निविष्ट सी रहती है।<sup>३</sup> उसे शब्द व्यक्त करता है। कारक पद क्रिया में

१ पृथक् खेन खेनार्थेन युक्तानि पदानि वाक्यम् ।

—द्वादशारनयनम् पृ० १०७८

२ वाक्य च पृथक् सवपदम् । यथा देवदत्त गाम् अभ्याज शुक्लाम् इत्यत्रैक पद वाक्यम् । तस्मादेव देवदत्तोऽपि हि गवात्मकोऽभ्याजात्मकश्च । तथा प्रवक्तृनात् तत्तापत्ते । तावपि तथा पत्तेरिति ।

—द्वादशारनयनम् पृ० ४२६

३ अर्थेषु सत्ताममर्ती वा शब्दवृत्त्यनुकारेण पुरुषो व्यपेक्षां समीहते । ता शब्द एव प्रकाशयति । सा हि नित्यनिविष्टरूपव शब्दात्मनि ।



गुणभक्त होकर अथ पद की भावांता करता है। त्रिया प्रधात रूप में रहकर कारक पदा की अपेक्षा रखती है।<sup>१</sup>

मत्त्ववाचि क्षमाश्रमण ने मत्त्ववाचि की एक दूसरी व्याख्या भी प्रस्तुत की है। वाक्यपदीय २।१२१ वं आधार पर उक्त कहना है कि सभी दातृ का मत्तामात्र अर्थ है। दातृ का अर्थ केवल प्रत्याप्य होता है। उस निश्चित रूप से नहीं ध्याता किया जा सकता। अपूर्व देवता, स्वर्ग जस दातृ व जा अर्थ भागित होता है व प्रत्यय नहीं हैं, उनका निरूपण संभव नहीं है। इसी तरह गा माति दातृ को भी सम्भनना चाहिए। गमन, आगमन, गजन जस दातृ का अर्थ है इतना ही सत्य है उस अर्थ व्यस्त्या का निरूपण विशेष रूप में संभव नहीं है। इस सिद्धांत व आधार पर सभी पद वाक्य हैं।<sup>२</sup> इस दृष्टि से पथक सवपद साकाशम् व दो भाग हो जाते हैं—पथक मत्त्ववाचि और साकाश सवपदवाद। सुचरित मिश्र भी इस दो भागों में विभक्त करत जान पड़ते हैं।<sup>३</sup>

बौद्ध सम्प्रदाय में भी वही-वही पद की वाक्य सत्ता दी गई है। पद ही वाक्य है। किंतु उनकी पद की परिभाषा एक तरह से वही है जो एवाचपरत पद समुदाय वाक्यवादियों की है

पदपर्यायो वाक्यम् । यावदभि अथवदभि पद विवक्षिताथपरिपूरि (पूर्ति) भवति तावता समूह पदम् इत्यभिधायिका । —अभिधमनोप ५० १०६

कणकगोमी ने भक्त हरि व नाम से एक उद्धरण दिया है जिसके अनुसार सभी पद अलग अलग अर्थवान् हैं और उनमें प्रत्येक में संपूर्ण अर्थ की परिसमाप्ति होती है। सभी पदों में से जिस किसी का भी प्रथम ग्रहण हो उसमें दूसरे पदों व अर्थ समाविष्ट रहते हैं वे दूसरे पद केवल नियम या अनुवाद व लिए होते हैं

यदाह भक्त हरि —सर्वेषां पृथक् अथवत्ता सर्वेषु प्रतिशब्द कृत्स्नाथपरिसमाप्ते । तथा यदेव प्रथम पदमुपादीयते तस्मिन् सवरूपार्थोपप्राप्तिं नियमानुवाद निव धनानि पदांतराणि विज्ञायते ।<sup>४</sup>

—प्रमाणवार्तिक टीका पृ० ४६४

इस उद्धरण से भी ऐसा जान पड़ता है कि पथक सवपद और साकाश य अलग अलग भेद हैं।

यागदशन भी सवपदवाक्य सिद्धांत का पोषक है। उसके अनुसार सभी पद में वाक्य की शक्ति है। पद वाक्य है। वक्ष इतना कहने पर भी वक्ष है ऐसा बोध देखा जाता है। पदार्थ सत्ता निरपेक्ष नहीं होता। सवपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिः<sup>५</sup>

१ वाक्यपदीय २।४७ ४८

२ द्वादशारण्यचक्र पृ० १३३

३ एकैकापायेऽपि वाक्यार्थोदशानां सवाणि वाक्यम् । परस्पररोहितानि पृथक् कल्पना वन्ति ।

श्लोकवार्तिक काशिका ७।४६ हस्तलेख

४ इस उद्धरण से भी स्पष्ट हो जाता है कि भक्त हरि ने वाक्यपदीय पर स्वयं वृत्ति लिखी थी। यह अर्थ वाक्यपदीय २।१ पर होगा जो आज अनुपलब्ध है।

वक्ष इत्युक्ते अस्तीति गम्यते । न सत्ता पदार्थो ध्यमिचरति । तथा न ह्यसाधना क्रिया अस्ति इति ।

—योगसूत्र व्यासभाष्य ३।१७

उपयुक्त वाक्य विकल्पा के अतिरिक्त पुण्यराज ने भीमामक, नयायिक और शाक्य मत में भी वाक्य के स्वरूप का निर्देश किया है और उनका उपयुक्त बान्ते में अतर्भाव दिखाया है । उनके मत में जमिनि का वाक्यलक्षण लौकिक वाक्यलक्षण है और उसका अतर्भाव सघात पक्ष में हो जायगा । वातिककार के वाक्यलक्षण का भी अतर्भाव, पुण्यराज के अनुसार, सघात पक्ष में हो जायगा ।<sup>१</sup>

पायदशन में पुण्यराज के अनुसार, पूत्र पूर्व पदस्मृति सचित अन्त्यपद नष्ट होता हुआ भी अनुभव का विषय बनकर वाक्य का स्वरूप लेता है । इसका भी अतर्भाव प्रायः सघातपक्ष में हो जाता है । वाक्य दशन में गृहीत वाक्य का लक्षण बुद्धयनुमहति पक्ष के समकक्ष है ।<sup>२</sup>

ऊपर जितने वाक्य विकल्पा का उल्लेख किया गया है इन्हें किसी की विशेष प्रतिष्ठा नहीं हुई । लोक व्यवहार में एकाधिक पदसमुदाय को वाक्य माना जाता रहा और अनेक विचारणा न और व्याकरणों में भी उस स्वीकार किया । इस दृष्टि से कुछ प्रसिद्ध वाक्यलक्षण यहां लिए जा रहे हैं ।

१ पदसघातत्र वाक्यम् ।—याडि ।

२ पदसमूहो वाक्यमथपरिसमाप्ती ।—कौटिल्य अर्थशास्त्र पृ० १७६

त्रिवे द्रम सस्वरण

३ एकाय पदसमूहोवाक्यम् ।<sup>३</sup>—काशिका ८।१।८

४ सुपनिडन्तचयो वाक्य क्रिया वा कारकाविता ।

—अमरकाश, प्रथमकाण्ड, शब्दाविभाग

५ पदसमूहो वाक्यम् ।—पास ४।४।१

६ विशिष्टकाथप्रतिपादकनिराकाशपदसमूहो वाक्यम् ।

—वचनाथ पायगुण्ड चन्द्रालोकटीका पृ० ८

पुण्यराज के अनुसार इन सभी वाक्य विकल्पो में भक्त हरि का भुक्ताव एक निरवयव शब्द वाक्यवाद की ओर था । पुण्यराज ने इसकी दूसरी सना स्फोट दी है । स्फोट बाह्य रूप में और आंतरिक रूप में वाक्य है

टीकाकारश्चामुमेव पक्ष सूत्रकारस्याभिप्रायसमाश्रयेण युक्तियुक्त मयमान बाह्यरूप आतरो वा निविभाग शब्दाथमयो बोधस्वभाव शब्द स्फोटलक्षण

१ अथवा मयानानेऽतर्भाव । वाक्यपदायटीका २।१

२ पुण्यराज वाक्यपदीय २।१,२

३ हरदत्त के अनुसार यहां काशिका में पाठ भेद था—क्वचित् एकानि पदसमूहो वाक्यमिति पठ्यते क्वचित्तु न निविदिपि वाक्यलक्षण पठ्यते ।

एव वाक्यमिति ।

—गुण्यराज, वाक्यपदीय २।६

किन्तु भन्तु हरि । स्वयं वाक्य विचार के प्रसंग में शब्दों का प्रयोग प्रयोग नहीं किया है ।

हेलाराज भी निरवयव वाक्यवाक्य के समर्थक हैं वाक्यस्थित निरवयव वाक्य त्वादांतरापदप्रतिपत्ति विश्रम इति ।

—हेलाराज वाक्यपदीय ३।१

## वाक्य के भेद

व्यावहारिक वाक्य लक्षण को सामान्य रखकर वाक्य भेद पर भी विचार मिलन हैं । वाक्य भेद के मुख्य आधार क्रिया पद हैं । एक क्रिया हो तो एक वाक्य, अनन्त क्रिया हो तो अनन्त वाक्य मानने चाहिए । किन्तु राजशेखर शब्द इससे सहमत नहीं हैं

आख्यातपरतया वाक्यवत्ति । अतः यावदाख्यातमिह वाक्यानि—इत्याचार्या ।  
एकाकारतया कारकग्रामस्यकायतया च यच्चोक्तं एकमेवेदं वाक्यमिति  
प्रायवरीय ।

—वाक्य भोमासा पृ० २३ बड़ीया स०

फिर भी आख्यात के आधार पर दस तरह के वाक्यों का उल्लेख वाक्य भोमासा में मिलता है

एकाख्यात । अनेकाख्यात । आवताख्यात । एकाभिधेयाख्यात । परिणताख्यात ।  
अनुवताख्यात । समुच्चिताख्यात । अयाहताख्यात । कृदभिहिताख्यात और  
अनपेक्षिताख्यात ।

भोजन इसमें एकान्तराख्यात नामक एक और भेद जोड़ कर वाक्य के ग्यारह भेद माने हैं ।<sup>१</sup> इनमें व्याकरण के विचार क्षेत्र में एकाख्यात और अनेकाख्यात इन दो रूपा पर अधिक विचार है । क्रिया विचार के प्रसंग में कहा जा चुका है कि इस विषय में पाणिनि और वातिककारों में मतभेद दिखाई देता है । पाणिनि के अनुसार अनेकाख्यात के योग में भी यदि पद साक्षात् ही एक वाक्यत्व रहता है ।

तत्रमन्त्रं सत्यं बहुष्वपि तिङ्तेषु येषु अथलक्षणा काचिद आकांक्षा विद्यते  
तेषाम् एकवाक्यत्व न यावत्पते ।

—वाक्यपदीय २।४५० हरिवृत्ति, हस्तलेख

वाक्यायन एक तिङ्ग वाले मत के प्रवर्तक हैं । फलतः

पश्य मृगां धावति ।<sup>२</sup>

अथ दण्डं हरानेन

जस वाक्य एक भी है और नाना वाक्य भी है ।

अस्ति स म रोचत ।

नास्ति रम ।

भवेदपि भवत ।

स्यादपि स्यात् ।

अपि भवदनत भवत देवदत्त ।

अभिजानासि देवदत्त यत् कश्मीरपु वस्याम् तत्रौदन भाष्यामह ।

‘स स्वपिबति एष बुद्धयत

जैसे वाक्य विचार भेद से एक वाक्य भी है और नाना वाक्य भी हैं । अनेक क्रिया पद होने से नाना वाक्य हैं । परस्पर साक्षात् होने से, क्रिया में परस्परलभ्य लक्षण भाव होने से अथवा काल विशेष के लक्षण होने से एक वाक्य है । जो लोग वाक्य भेद का आधार बुद्धि में अर्थ का उल्लेख मानते हैं, उनके मत में भी उपयुक्त वाक्यों में एकवाक्यता है ।<sup>१</sup>

महाभाष्यकार का एक वाक्य है

भवति च किञ्चिद्वाच्यार्थं क्रियमाणमपि चोदयति

—महाभाष्य २।४।६२, ६।१।६७

कैयट ने इस एक वाक्य भी माना है और दो वाक्य भी माना है

भवति च किञ्चिदित्येक वाक्यम् । अथवा चोदनक्रिया भवति क्रियाया

कर्त्री भवताति एकमेव वाक्यम् ।—कैयट प्रदीप ६।१।६७

विशेष उदाहरणा का छोट दों तो संस्कृत में वाक्य के प्रकृत स्वरूप पर विशेष विवाद नहीं है । वाक्य के विषय में दो तत्त्व संस्कृत में सदा से परिगृहीत हैं । पहला यह है कि वाक्य में पदक्रम का कोई नियम नहीं है । केवल निपातो के प्रयोग पर कुछ नियम हैं । दूसरा यह कि वाक्य की कोई सीमा नहीं है वाक्य लम्बे-से लम्बे हो सकते हैं

न च वाक्यरूपावधिपरिग्रहे नियमोऽस्ति ।

—वाक्यपदीय २।७६ हरिवर्त्ति

प्रधान वाक्य और अप्रधान वाक्य के रूप में भी वाक्य पर विचार है । प्रधान वाक्य को केवल वाक्य, अथवा महावाक्य कहते हैं । अप्रधान वाक्य को अवयव वाक्य अथवा अवान्तर वाक्य कहा जाता है ।

संस्कृत में द्विप्ल अथवा द्विगत वाक्य को भी वाक्य के एक रूप में माना गया है

वाक्यापि द्विगतानि दृश्य ते

न्येतो धावति । अलम्बुसाना यातेति ॥

—महाभाष्य ८।२।३ पं० ३८८ बीलहान सं०

१ तत्र हि सलु वाक्यभेद उपेयते यत्रासौ परामृश्यमान अर्थो बुद्धिरुल्लिख्यति ।

दो अथ अथवा दो प्रयोजन व्यक्त करने वाले वाक्य द्विष्ट वाक्य कह जाते हैं ।  
 'श्वेत धावति' को दो वाक्यों में बंटता जा सकता है—

१—चेत धावति ।

२—श्वेत इत धावति ।

ससृजत में कतिपय ऐसे भी पद हैं जो वाक्य के अथ में प्रयुक्त होते हैं । उन्हें अवचन वाक्य कहा जाता है ।

श्रोत्रिय = जो श्रुति पढ़ता है ।

क्षेत्रिय = जिसका राग किसी अथ में माध्यम में चित्रित होता है ।

इस तरह के शब्द पद होकर भी वाक्य का काम करते हैं ।

## वाक्यार्थ विचार

वाक्य के साथ साथ वाक्यार्थ पर भी विचार गुरु प्राचीन काल में प्रारम्भ हो गया था । एक तरह से वाक्यार्थ को सामने रखकर ही वाक्य पर विचार प्राचीन आचार्यों ने किया था । सग्रहकार व्याडि ने वाक्यार्थ की प्रतिष्ठा की थी और स्पष्ट सिद्धांत स्थापित किया था कि पद के स्वरूप और उसके अर्थ का ज्ञान वाक्यार्थ पर ही निर्भर करता है

पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थः न जायते ।<sup>१</sup>

महाभाष्य में वाक्यार्थ सम्बन्धी दो महत्त्वपूर्ण वक्तव्य मिलते हैं । एक तो यह कि पद पहले सामान्य अर्थ व्यक्त करते हैं बाद में विषय अर्थ व्यक्त करते हैं । पद का सामान्य से विषय में अवस्थित होना ही वाक्यार्थ है

पदानां सामान्ये वक्तमानानां यदविशेषे अवस्थानं स वाक्यार्थः ।

—महाभाष्य १।२।४५, भाग १ पृ० २१८, कीलहान संस्करण

कैयट ने इसका अभिप्राय निकाला है कि वाक्यार्थ पञ्चसम रूप है । वाक्य ही मुख्य शब्द है और वाक्यार्थ ही मुख्य शब्दावली है । किन्तु भाष्यकार का यह वक्तव्य अभिहित-व्यवाद का बीज माना जा सकता है ।

महाभाष्यकार का वाक्यार्थ के विषय में दूसरा वक्तव्य यह है कि जो कुछ आधिक्य रूप में सामने आता है वह वाक्यार्थ है । प्रातिपदिकार्थों में क्रिया के योग में क्रियाकृत विशेष उत्पन्न हो जाते हैं । वही आधिक्य है । वही वाक्यार्थ है ।<sup>२</sup>

गबर स्वामी का वाक्यार्थ निरूपण महाभाष्यकार के वक्तव्य के सदृश है । पद सामान्य वृत्ति वाला है । वाक्य विशेष वृत्ति वाला है । सामान्य में प्रवृत्त पदार्थों

१ वाक्यपदीय १।२४ हरिवर्च में सग्रहकार के नाम से उद्धृत पृ० ४२ लाही संस्करण

२ अद्वैताधिक्य वाक्यार्थः स

—महाभाष्य २।३।४५, पृ० ४६२ कालहान संस्करण

प्रातिपदिकार्थानां क्रियाकृतविशेषोऽप्यजायते ।

—महाभाष्य २।३।५० पृ० ४६४

का विशेष मे अवस्थान वाक्याथ है ।<sup>१</sup>

हेलाराज ने भी ऐसे सम्बन्ध को वाक्याथ माना है

वाक्याथश्च सामान्ये वतमानानां विशेषेऽवस्थापक सम्बन्ध ।

—हलाराज, वाक्यपदीय गुणसमुद्देश १

वाक्याथ सत्यभूत है । उसकी आत्मा किसी विशेष म स्थित नहीं है । पुण्यराज

के अनुसार पानकरस की भांति अथ विभागरहित है । पदाथ लोहे की छड़ (अथ शलाका) की तरह है । वाक्याथ के सपक से उनम प्राण प्रतिष्ठा हो जाती है ।<sup>२</sup>

पदाथ मे अथवा समुदाय म वाक्याथ की कही भी परिसमाप्ति नहीं होती ।

शृंगग्राहिक ढग से उसके स्वरूप का विवचन नहीं हो सकता । केवल अवाख्यान के लिए वाक्य के पदा म साक्षात्त्व की कल्पना कर वाक्याथ का निरूपण किया जाता है । वाक्याथ अपने आप म एक है अखण्ड है ।<sup>३</sup>

अभिनवगुप्त न भी नियत एकघनाकार वाक्याथ का अवग्रोह एकाकार रूप में ही सहज माना है । इसी दृष्टि से अनुपदकार आदि ने 'हनेभूते विषय मे चार तरह के अवधारण का आश्रय लिया है । 'याख्यान के लिए एक वाक्य के भीतर अवान्तर वाक्य के उत्थान से वाक्य भेद नहीं हाता ।<sup>४</sup>

जैसे वाक्य एक है अखण्ड है । वैसे अथ भी एक है अखण्ड है । वाक्याथ का अनुगम चित्र परिचान के सदन है । जमे शब्द का कोई विभाग नहीं होता अथ का भी कोई विभाग नहीं होता ।<sup>५</sup> केवल समझन समझाने के लिए अथ के स्वरूप पर विचार किया जाता है ।

वाक्याथ ससग रूप म अथवा भेद रूप म अथवा भेद ससग उभय रूप म गहीत होता है । ससग सम्बन्ध को कहा जाता है । भेद से तात्पर्य व्यावृत्ति स, अथ से अलग करने से है । राज पुरुष कहने से पुरुष विशेष का स्वामी विशेष से स्वामी-विशेष का पुरुष विशेष स जो सम्बन्ध है वही ससग है । अपन से अय से और स्वामी से अय से जो व्यावृत्ति भासित होती है वह अथसिद्ध है । दो वस्तुआ का सम्बन्ध जब तक अय सम्बन्धियों से अलग रूप म न दिखाया जाय, ससग नहीं कहनाता । यह ससगवादियों का मत है ।

जो लोग भेद को वाक्याथ मानत हैं उनके मत मे व्यावृत्ति ही वाक्याथ है । जब तक अथ रूप म गहीत ससग का सम्बन्धांतर से व्यावृत्तन न हो वह स्वरूप ही नहीं ग्रहण कर सकता । अतः अय से व्यावृत्तन की प्रमुखता होने के कारण भेदवाक्याथ

१ शाबर भाष्य ३।१।१२, पृ० १५१ काशी संस्करण

२ वाक्यार्थे योऽभिसम्बन्धो न तस्यात्मा पृथक् स्थितः । व्यवहारे पदाधाना तस्मात्मानं प्रचक्षते ॥ वाक्यपदीय २।४४५

३ एकार्थत्व हि वाक्यस्य मात्रयापि प्रतीयते । वाक्यपदीय २।४४८

४ शबरप्रत्यभिज्ञाविवर्तिविमर्शिनी, भाग १ पृ० २१७

५ शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽर्थस्य भविष्यति ।

की दृष्टि में भेद वाक्याय है।

कुछ आचार्य दोनों मतों को जोड़कर भेद और ससग दाना का वाक्याय रूप में स्वीकार करते हैं।

वाक्य से अर्थ की प्रतिपत्ति होनी है किन्तु उस प्रतिपत्ति का वाद निश्चित प्रकार नहीं है। किसी को किसी रूप में प्रतिपत्ति होती है किसी का किसी रूप में। कोई आचार्य पाणिनि की प्रक्रिया के आश्रय से अर्थ का अवगोचर करता है कोई किसी अर्थ व्याकरणसम्मत प्रक्रिया से। श्रोत्रिय शब्द से वचन पढ़ने वाला व्यक्ति का बोध होना है किन्तु इस बोध की प्रक्रिया भिन्न भिन्न हो सकती है। किसी मत से श्रोत्रिय शब्द श्रोत्र गन्ध से घ प्रत्यय से बना है और शब्द स्वतः छन्द गन्ध का आरोपित रूप है। किसी के मत में श्रोत्रिय शब्द श्रोत्र से बिना गन्ध वचन व अर्थ में निष्पन्न होना है। गवायान की प्रक्रिया भिन्न भिन्न होती है। भेद वाक्य विभाग के आधार पर हात है। रानपुष्ट कहते हैं ससृष्ट रूप अर्थ की प्रतिपत्ति होती है रान पुष्ट कहने से विभक्त रूप में। भत हरि के अनुसार भेद और ससग अध्यारोपसिद्धात, नियमसिद्धात अथवा अपराट सिद्धात की प्रक्रिया से भिन्न भिन्न व्यक्तियों को वाद कराने के उपाय मात्र हैं।

वाक्याय एक है अग्रण्ड है। जैसे पदार्थ के ज्ञान में वण के अर्थ पर ध्यान नहीं जाता वैसे ही वाक्य के अर्थ के लिए पदार्थ के ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती।<sup>१</sup>

इसके विपरीत कुछ आचार्य मानते हैं कि वाक्याय पदार्थ में सन्निविष्ट रहता है, पदार्थ वण के अर्थ में सन्निविष्ट रहता है। वण और पद भी अर्थवान हैं। इनके अर्थ के द्वारा ही वाक्य भी अर्थवान होता है। वाक्य और पद के अर्थ तो स्पष्ट प्रतीत होते हैं किन्तु वण के अर्थ सूक्ष्म है अप्रत्यक्ष से है किन्तु वण वाचक अवश्य हैं। जिस हेतु के बल पर पक्षवादी पद में अर्थ की कल्पना करते हैं उसी हेतु के बल पर वणवादी वण में अर्थ की कल्पना करते हैं।<sup>२</sup>

बुद्धयनुसहार वाक्यवाचक के समर्थक जैसे आन्तर शब्द की सत्ता मानते हैं वैसे ही आन्तरवाक्याय की भी सत्ता स्वीकार करते हैं। संपूर्ण वाक्य एक शब्द है, उस शब्द के दो भाग हैं। एक भाग से अन्त शब्द तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है दूसरे भाग से अन्त अर्थ तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है।

अर्थाभागतया तथामा तरोथ प्रकाशते

—वाक्यपदीय २।३१

सभी व्यवहार पहले अन्त बुद्धि में बद्धमूल होते हैं इसलिए सभी अर्थ आन्तरिक हैं।

भत हरि ने इस विचारधारा के पोषक किसी प्राचीन सारथ अथवा आचार्य पक्षिण का मत उद्धृत किया है। इस मत में अर्थ के ज्ञान की प्रक्रिया या है—विषय

(वस्तु) का बुद्धि में सक्रमण होना है बुद्धि आत्मा से संपृक्त होती है बुद्धि में जिस वस्तु का विम्ब है पुरुष भी तदामक हो जाता है, फलतः पुरुष को अथ ही उपलब्धि होती है। उस उपलब्धि का भोग (विभाग ?) विषय का भोग, अथ का परिचान होता है। इसमें सहायक दो शक्तियाँ हैं। भोक्तृ शक्ति और भोग्य शक्ति। ये दोनों शक्तियाँ असंकीर्ण हैं अलग अलग हैं फिर भी अविभक्त ही होकर भोग का निष्पादन करती हैं। यह भोग बुद्धि में घटित होता है। बुद्धि प्रकाशमयी है। उसमें चतुर्ध पुरुष और वस्तु दोनों ही प्रतिबिम्बित हैं। दूसरे शब्दों में बुद्धि पुरुषरूप और वस्तुरूप दोनों हो जाती है। इसलिए जो विभक्त है वह अविभक्त-सा हो जाता है। विभक्त का अविभक्त सा हो जाना ही भोग है। भोक्तृ शक्ति अपरिणामी है और सक्रमणशील नहीं है। वस्तु परिणामी है। किंतु भाग्यशक्ति वस्तु में सक्रमण सी होकर वस्तुगत धर्म का अनुभव करती है। ज्ञान की प्रवृत्ति इस चतुर्ध युक्त बुद्धि वृत्ति से अविच्छिन्न है। भोग और ज्ञान समान है। भोग की तरह अथ ज्ञान भी बुद्धिमत्ताविष्ट है। भोक्तृ और भोग्य शक्ति की तरह प्रतिपादक और प्रतिपत्तय शक्ति बुद्धि में अविभक्त सी रहती हैं। हमारे शब्दों में शब्द और अर्थ दोनों बुद्धि में एकत्र अविभक्त संपृक्त रहते हैं। ये एक ही शब्दात्मा ने दो भेद हैं।<sup>१</sup> विषय भेद से उनका विभाग कल्पित है।

वाक्याथ की सत्ता बौद्ध है बुद्ध्यामक है। अथ मत्ता एक बुद्धि से अवमष्ट होता है। वह आंतरिक है। बाह्य नहीं है। किंतु अबाह्य बाह्य रूप में प्रतीत होता है और अपाद्वार के सहारे उसका विभाग किया जाता है। यो अर्थ विज्ञानमय है, बौद्ध है वह बाह्य रूप में प्रतिभासित होता है। बाह्य रूप में, हो चाहे वह सत्ता या असत्ता, उपचार के सहारे अपाद्वार पद्धति पर उस अर्थ का विभाग किया जाता है

सप्रत्ययार्थाद बाह्योऽथ सानसत्त्वा विभज्यते ।

बाह्योऽवृत्त्य विभागस्तु शक्त्युपोद्धारलक्षण ॥

—वाक्यपदीय २।४४६

पुण्यराज ने इस कारिका के सप्रत्यय शब्द का अर्थ बुद्धि या विज्ञान किया है। उनके अनुसार निष्कप यह है कि यदि अर्थ विज्ञानाकार है किंतु विकल्प वासना के प्रभाव से बाह्य अर्थ के साथ एकाकार होकर सत्य रूप से बाह्य रूप में अवस्थित होता है शब्दाथ बाह्य है। यदि असत्य रूप में अवस्थित होता है, शब्दाथ बौद्ध है।

अर्थ के बौद्ध या बाह्य दोनों रूप में अपाद्वार समान है। वाक्यवादी वाक्य की ही सत्ता स्वीकार करने वाले अवगण वाक्य की 'युत्पत्ति' में पद 'युत्पत्ति' को उपाय (माधन) मानते हैं। पदवादी प्रकृति प्रत्यय आदि की 'युत्पत्ति' को उपाय मानते हैं।

१ वाक्यपदीय २।३१ हरिवृत्ति। भक्त हरि ने यहाँ तीन वाक्यों का प्रयोग किया है वे वाक्य योगमधु-यास माधु २।३ और धार २ में व्यों के तर्क मिल जाते हैं। वाक्यपदीय मिश्र के अनुसार ये विचार पश्चिम के हैं भक्त हरि ने इस दर्शन का उल्लेख वर्तमान मुद्रा ३३५ में भी किया है—

अच्युतनेषु सप्रज्ञानैर्नैतन्यमिदं दृश्यते ।

प्रतिबिम्बरूपेण यथा ह्यदनिव बन्धम् ॥



वाक्यो के मान्य होने से उनको व्युत्पत्ति सम्भवात् न कहा जा सकती। अतः आदेश पद्धति का आश्रय लिया जाता है। अतः पाठ में आदेश भी सम्भव है। आदेश में भी पाठ आदेश की अतः तत्त्व आदेश अधिक गुण है। अतः बुद्धि से पाठ का गुणवत्तन आदेश कहना है। जो पाठ में प्रतिविम्बित है वही वाक्य सत्य रूप में आभासित होता है। वाक्य में पाठ का आदेश वाक्यान्तर परितोष का आधार पर होता है। वाक्यान्तर सत्य विरक्त है। अतः पाठ है। वाक्य गुण विद्या सम्भव है।

अतः वाक्य के अर्थ में वाक्यान्तर के अर्थ में भी सम्भावित विचार वाक्यान्तर में है। पुष्कराज के अनुसार वाक्यान्तर में विचारविम्बित वाक्यान्तरों का निम्नलिखित है—

१—ससग वाक्यान्तर

२—ससष्ट वाक्यान्तर

३—तिराकाश पदाथ वाक्यान्तर

४—प्रयोजन वाक्यान्तर

५—प्रिया वाक्यान्तर

६—प्रतिभा वाक्यान्तर

इन छ प्रकार के वाक्यान्तर के अनिश्चित मीमांसाज्ञान की दृष्टि से विधि वाक्यान्तर, नियोगवाक्यान्तर और भावना वाक्यान्तर तथा वाक्य दान और बौद्ध दर्शन में गहीत वाक्यान्तर पर भी पुष्कराज ने कुछ प्रमाण डाला है और उनका उपयुक्त भेदा में अतर्कित दिखाया है।

## ससग वाक्यान्तर रूप में

जो आचार्य पदसंघात के वाक्य मानते हैं उनके मत में ससग वाक्यान्तर है। अतः हरि ने इस मत के आधार के लिए महाभाष्यकार की आधिक्यवादी उक्ति उद्धृत की है। पदा में परस्पर सम्बन्ध होने पर जो आधिक्य अवगत होता है वह अनेकपदवित्त ससग है वही वाक्यान्तर है।

सम्बन्धे सति यत्त्व यदाधिक्यमुपजायते ।

वाक्यान्तरमेव त प्राहुरनेकपदसम्प्रथम ॥

—वाक्यपदीय २।४२

ससग का वाक्यान्तर के रूप में स्वीकार करने वालों के भी तीन विनियम हैं। एक जाति के सदृश वाक्यान्तर का प्रत्येक में परिसमाप्ति मानता है। दूसरा सरया की

१ ज्ञानप्रतिविम्बितय हि वाक्यानुकारित्वेन सादृश्य सत्रैव प्रकारात् । सकल्पितसादृश्यस्य बह्व्यस्य निवृत्तत्वात् । वाक्य च्चाणोन्मेषमात्रस्य पदस्य वाक्यान्तरपरिकल्पनस्य अश्वत्थ एवापोद्धारो युक्तः । अथापोद्धार एव हि पदपोद्धारस्य निमित्तम् । अनिमित्तो ह्यतस्मिन् वृत्तापोद्धारस्यापि प्रसंगान्तेषामपि व्युत्पत्त्या तस्यात् । वाक्यान्तरश्च स्थिररूपज्ञाननिराश कारका कलितशरारत्रियारवभावः ॥

तरह वाक्याथ की परिसमाप्ति समुदाय में मानता है। तीसरा, सामान्य विरोधी विगेष विभ्रात पक्ष का समर्थन करता है। इनका उल्लेख सघात वाक्यवाद के अवसर पर किया जा चुका है।

वाक्याथ का विगेष स्वयं ससग है। जो आचार्य वण या पद को साथक नहीं मानत, उनके मत में भी पद समुदाय से विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है

यथवानथक वर्णे विशिष्टोऽर्थोऽभिधीयते ।

पदरन्थकरेव विशिष्टोऽर्थोऽभिधीयते ॥ —वाक्यपदीय २।४१६

वाक्य की असमाप्ति तथा पदों से जो ज्ञान होता है वह इस मत में, प्रतिपत्ति का उपाय मात्र है।

अपरिसमाप्ते यद वाक्ये सामान्यमात्रे

पदभिधेये देवदत्तादिध्रुते ज्ञानमुत्पद्यते ।

प्रतिपत्त्युपायएवासी पुरस्तात् व्याख्यात ।

—वाक्यपदीय २।४१७ हरिवृत्ति हस्तलेख

पद चाह अनथक हा अथवा उपाय के रूप में साथक हा, मदा जम से उच्च रित होने पर एक विगेष अर्थ के जनक होते हैं। वह विशेष ससग है

अनथकापुपायत्वात्पदार्थेनाथवत्ति वा ।

क्रमेणोच्चारितायाहुर्वाक्याथ सिन्नलक्षणम् ॥

—वाक्यपदीय २।५५

कुछ विचारका के मत में अर्थ का निर्धारण अशक्य होता है। शब्द अर्थ के स्वभाव का ज्ञान नहीं करा सकता। शब्द अर्थ के अवधारण में उपायभूत नहीं है। शब्द केवल एक प्रकार की स्मृति मात्र जगाते हैं जो अर्थ के अवभास रूप होती है। घट पट आदि शब्द बुद्धि में घट पट आदि के आकार से व्यक्त करत ज्ञान पडत हैं किन्तु इन शब्दों में आकार की अभिव्यक्ति की क्षमता नहीं है। शब्द तो अर्थ को दूर हटाता है, बल्कि अर्थ के अश्वबोध में विशेष सा उत्पन्न करता है। अर्थ का परिज्ञान अशक्य व्यापार है। वह निर्विकल्प है। अभिज्ञाह हिमदाह शस्त्रदाह जैसे शब्दों में दाह शब्द से भिन्न भिन्न अर्थ भक्तकते हैं। इसलिए मान लेना चाहिए कि शब्द में अर्थ के अवधारण का सामर्थ्य नहीं है। शब्द स्मृतिकल्प है।

सर्वत्र अशक्यमर्थानां स्वभावावधारणम् इत्येकेषां दग्नम् ।

—वाक्यपदीय २।४२४ हरिवृत्ति हस्तलेख

पुण्यराज ने, इस मत में पदार्थ को विपरीताभ्यातिरूप अथवा असत्प्रातिरूप माना है। पदार्थ असत्य हैं। वाक्याथ सत्य है। पदार्थ अपना पथक अर्थ रखत हा तो भी वाक्य में बिना अवस्थित हुए वे अर्थ के प्रयायक नहीं होत। इन्द्रिया में गति होती है किन्तु शरीर के आश्रय से ही वे अपन अपन व्यापार को कर पाती हैं। वाक्य से अलग पद में अर्थवत्ता नहीं है। वाक्य में अथवा पद में ससग रूप प्रतीति ही होता है। इसलिए वाक्याथ का स्वरूप पदार्थ से विलक्षण है और वह ससग रूप है

ससगरूप ससष्टेऽवयवस्तुषु गृह्यते ।

—वाक्यपदीय २।४२८

## ससृष्ट वाक्यार्थ रूप में

पुण्यराज के अनुसार जो आचार्य आद्यपत्या और पुनः गात्रांग मवदत्या के समर्थक हैं उनके मत में ससृष्ट वाक्याथ है। ससग वाक्याथ और सगृष्ट वाक्याथ में कतल यह भेद है कि ससग वाक्याथ पक्ष में वाक्यार्थ में पत्तार्थों में विगिष्ट्य माना जाता है। ससृष्ट वाक्याथ पक्ष में पत्तार्थों का परस्पर भाव ही वाक्याथ है, वाक्याथ में कोई आधिन्य नहीं आता। दूसरे शब्दा में ससग पक्ष में पत्तार्थों का विगिष्ट्य वाक्याथ है। ससृष्ट पक्ष में विगिष्ट पदाथ ही वाक्याथ हैं। एक पक्ष अपने अर्थ से पक्ष अनुगत होकर दूसरे पक्ष से जुड़ता है। अतः पक्ष पहले ही विगिष्ट हो गया रहता है। वह सदा विगिष्ट रूप में ही पत्तान्तर के सन्ति ध्ययन में आता या अवगोदा को अपना बोध कराना है

पूर्वैरर्थैरनुगता यथार्थात्मा पर पर ।

ससग एव प्रकातस्तथाप्यवयवस्तुप ॥<sup>१</sup>

—वाक्यपदीय २।४१८

## निराकाक्षपदार्थ वाक्यार्थ रूप में

कुछ आचार्यों की मान्यता है कि निराकाक्ष किन्तु विनोप विश्रान्त पत्तार्थ ही वाक्याथ है। यह मत ससगवाद का ही एक पक्ष है। ससगवाद में और इसमें भेद यह है कि उसमें पक्ष परस्पर साक्षात् होते हैं इसमें निराकाक्ष। ससगपक्ष में पदाथ ही वाक्याथ नहीं है। इस मत में पदाथ ही वाक्याथ है। पदाथ त्रिशप विश्रान्त अवश्य हैं किन्तु उनका सम्बन्ध ससग न होकर असत्त्वभूत है उस ठीक-ठीक कहा नहीं जा सकता। वह प्रत्यक्ष नहीं है। वह अनुमेय है। वह सम्बन्ध अभिधेय के स्वरूप का अतिव्रमण नहीं करता।

कार्यानुमेय सम्बन्धो रूप तस्य न दृश्यते ।

असत्त्वभूतमत्यन्तमतस्त प्रतिजानते ॥

—वाक्यपदीय २।४६

## प्रयोजन वाक्यार्थ रूप में

जिसा दर्शन में पद का अर्थ अभिधेय माना गया था और वाक्य या अर्थ प्रयोजन था। इस मत में प्रयोजन वाक्याथ है।

१ पुण्यराज के अनुसार इस कारिका में ससृष्ट पक्ष का प्रतिपादन है जो अन्विताभिधानवाद के अनुकूल है—

अनेन श्लोकेनान्विताभिधानसमाख्येण ससृष्ट वाक्याथ दर्शनं प्रियतम् । तथा हि अभिहितार्थे वादिनः पूर्वपूर्वाभ्यानुगतः ससग वाक्याथः । अन्विताभिधानान्तिरुत्तरोत्तरपदाथानुगतः प्रथमतरमव ससृष्ट एव ॥

अभिधेय पदस्यार्थो वाक्यस्यार्थः प्रयोजनम् ।

—वाक्यपदीय २।११४

यह मत अभिहितायवाद का ही एक पूर्व रूप जान पड़ता है । तात्पर्यार्थ और प्रयोजन समान हैं । वाक्यपदीयकार न इस मत की स्वयं समीक्षा की है । प्रयोजन को वाक्यार्थ मानने पर वाक्या में परस्पर सम्बन्ध दिखाना कठिन होगा । वाक्य लोहे की गलाका की तरह होते हैं । उनमें परस्पर सम्बन्ध अग्नि जेय के द्वारा संभव है । किन्तु पद का अर्थ अभिधेय मानने से और वाक्य का अर्थ अग्नि जेय न मानने से, वाक्या में सम्बन्ध दुष्ट होगा ।

## क्रिया वाक्यार्थ रूप में

आख्यात शब्द को वाक्य मानने वाला के मत में क्रिया वाक्यार्थ है । बिना क्रिया के अनुपग के वाक्यार्थ की प्रतीति नहीं होती । कुछ के मत में क्रिया सत्ता गणित विशेष (कारक) से युक्त होकर तुल्य रूप में और अनुल्य रूप में भी विनिष्ट स्वरूप वाली ही होती है । कारक केवल बोध में उपायभूत होता है

इह केचित् भय ते तुल्यरूपा चातुल्यरूपा च वाक्येषु विनिष्टव फलरूपाभ्याम्  
गणितविशेष भुक्ता क्रिया मुण्डि कुटि चचित्तवत् प्रज्ञाता प्रतिपत्तणाम् ।

—वाक्यपदीय २।४२१ हरिवर्त्ति हस्तलेख ।

मुण्डयति माणवकम्—गालक के सिर के बाल काट रहा है—इस वाक्य में मुण्डयति की व्युत्पत्ति मुण्ड करोति के रूप में की जाती है । कुछ लोगों के मत में मुण्ड गन्ध सामाग्य प्रवृत्ति को व्यक्त करता है किन्तु निश्च करोति विशेष में होता है सामाग्य में नहीं । कुछ आचार्यों के अनुसार मुण्ड धातु के गच्छेत्तन के अर्थ में प्रयुक्त होता है । मुण्डयति से क्रियाविशेष का स्वभावतः अभिधान होता है

यद्यपि क्रियाविशेषामिधापित्व मुण्डादीना भवोपात्त तथापि स्वामाविक्त्वादर्था-  
मिधानस्य प्रयोगादेव तदवसीयते ।

—कण्ट, महाभाष्य प्रदीप २।१।८

मुण्डयति के अर्थ में कुटयति का प्रयोग होता है किन्तु मुण्ड करोति की तरह कुट करोति प्रयोग नहीं होता । अतः क्रिया तुल्य रूप में है और अनुल्य रूप में । दूसरे शब्दों में क्रिया क्रियांतर में भिन्न विधाय है ।

जा आचार्य एकत्व और नियत्व दोनों के अनुगामी हैं वे भी मानते हैं कि वाक्य में विनिष्ट क्रिया का ही बोध होता है । वह क्रिया काल, कारक वचन आदि से अनुगत होती है

एकत्वनित्यत्वदग्निरस्तु भयते विनिष्टा हि क्रिया यथा सन्नव कालसाधन  
द्रव्यपुरयोपग्रहाग्नि अनुगता वाक्येनानिधीयते ।

—वाक्यपदीय, २।४८७ हरिवर्त्ति, हस्तलेख

कुछ आचार्यों के मत में क्रिया में भी गणित भाग होता है अतः क्रिया और गणित भाग । क्रिया कभी व्यक्ति भाग में अर्थ को व्यक्त करती है कभी सामाग्य भाग में ।

इसके विपरीत कुछ आचार्य त्रिया म जानि व्यक्तित्व भाव नहीं मानते हैं। जानि और व्यक्तित्व वस्तु के धर्म हैं त्रिया के नहीं। त्रिया पूर्व और अपर रूप म पत्नी हुई इत तत जस सवनाम से बोध्य नहीं है। इसलिए उमम जानि व्यक्तित्व नहीं गमय है। हो उसके सत्त्वभावापन्न जान पर बात दूसरी है। त्रिया म जानि व्यक्तित्व धर्म व गमयका का मत है कि त्रिया म भी सामान्य और विशेष भाव देगा जाना है—तोता ही धर्मो रूप्य हैं। अतिगमयोग, समुच्चय आदि म भेद व्यवहार म त्रिया का व्यक्तित्व धर्म देगा जाता है। अभाववत्ति अभेदकत्व सग्या आदि म सामान्य धर्म देगा जाता है

इह केचित्त त्रियायामाकृतियव्यक्तियव्यवहारो नास्त्येत्यय प्रतिपन्ना पदात्तर धर्मभेद त प्रतिजानते। विप्रकृता पूर्वपरिभूता साध्यावस्था त्रिया। तस्या इद तत इति प्रतिप्लवमानकल्पनया व्यपदेश्यमन्यवस्थात जातियव्यक्तिधर्मो नास्ति। केचित्तु मयते तस्यामपि सामान्यविशेषव्यतिरिक्ततामात्रमस्ति हेतु। सा तु अवचित्त व्यक्तिभागेनोपकरोति। अवचित्त सामान्यभागेन।

—वाक्यपदीय २।४६५ हरिवत्ति हस्तलेख

त्रियावाद की छाया म एक दाननिक्वा भी खड़ा हो गया था। वह मानता था कि जगत वस्तु गूँय ह। बुद्धि ही भिन्न भिन्न व्यवहार का मूल कारण है। बुद्धि ही साध्य (त्रिया) रूप मे अथवा सिद्ध (कारण) रूप म व्यक्त होती है और गान से उसी की प्रतीति होती है। जो कुछ बाह्य व्यवहार है वह माया इन्द्रजाल सा है। बुद्धि अपनी महिमा से उलसित होकर काल्पनिक आकार म परिणत हो हाकर भेद का जनक होती है। वस्तुतः बुद्धि के अतिरिक्त अथ किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं है जिसम सिद्ध और साध्य का विवाद खड़ा हो। कुछ लोग बुद्धि की आकार भेदवाली त्रिया मानते हैं। उनके मत म बाह्य अथत्रिया की सिद्धि अन्तः सत्त्व स गठित होती है जो अपनी मात्राया से किंचित्त विषय का निर्मास कराते है।

भत हरि न अथ को सबशक्तिमान माता है और प्रयोग करने वाल की विवक्षा के आधार पर वही अथ कभी सिद्धि रूप म और कभी साध्य रूप म प्रधान दिखाई देता है

सब शक्तेरथस्य य प्रदेगी यथा प्रक्रम्यते सिद्धरूपेण साध्यरूपेण वा गम्यमावेन वा।

—वाक्यपदीय २।४३५ हरिवत्ति हस्तलेख

वाक्यपदीय म विधि वाक्याथ नियोग वाक्याथ और भावना वाक्याथ पर विचार नहीं मिलता। य तीना ही मीमासा दशन के विचार क विषय हैं। इनम विधि और नियोग लिङ लोट और कृत्य प्रत्यय के अथ हान के कारण केवल एक देग के छूने के कारण इन पर विचार नहीं किया गया है। भावना वाक्याथवाद क्रियावाक्याथवाद के समान है। केवल प्रकृत्यथ और प्रत्ययाथ की लेकर व्याकरण और मीमासक म विवाद है। इनके स्वरूप म विशेष अन्तर नहीं है। भावना सम्भव होती है त्रिया सम्भव भी

होती है किन्तु दोनों ही साध्य हैं । और इस साध्य की एकता के आधार पर त्रियावाक्याथवाद भावना वाक्याथवाद को समेट लेता है ।<sup>१</sup>

## प्रतिभा वाक्यार्थ रूप में

जो वाक्याथ को अखण्ड अनस, मानत हैं उनका ही एक वग प्रतिभा को वाक्याथ मानता है । भक्त हरि का एक अपना प्रतिभा दर्शन है । उन्होंने प्रतिभा को वाक्याथ रूप में भी लिया है

विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभायैव जायते ।

वाक्याथ इति तामाहु पदार्थे रूपादिताम् ।—वाक्यपदीय २।१४४

त्वेदत्तादि के अलग अलग अर्थ ग्रहण के अवसर पर उन पदा से एक विशेष प्रतिभा उदबुद्ध होती है । वही वाक्याथ है । पुण्यराज के अनुसार शब्द स्फोट है और अर्थ प्रतिभा है । स्फोट लक्षण शब्द में कोई विभाग नहीं है । वाक्याथ लक्षण प्रतिभा में कोई विभाग नहीं है, वाक्य और वाक्याथ में अध्यात्मलक्षण सम्बन्ध है । पुण्यराज के अनुसार यह मत व्याकरणा का है

तत्र व्याकरणस्याखण्ड एवकोनवयव शब्द स्फोटलक्षणो वाक्य, प्रतिभव वाक्याथ अध्यात्मसम्बन्ध इति ।

पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१

अस्त्यभूत पदार्थों से प्रतिभा की अभिव्यक्ति होती है । पदार्थों का परिचय अलग अलग भल ही हो भावाथग्रहण के समय एक ही प्रतिभा उत्पन्न होती है वह पदार्थों से प्रतिरिक्त नहीं होती । वस्तुतः पुण्यराज के अनुसार, प्रतिभा में एक अखण्ड भाव का परिचय अभिप्रेत है इसलिए अभिहितवाक्यवाद अथवा अविताभिधानवाद जैसे पदार्थ वाक्याथ विचारपरक किसी वाद का प्रतिभा वाक्याथ में कोई स्थान नहीं है

प्रतिभाया त्वेकरसव्यभिचरितिरिति न तत्र काचिदभिहिताव्यावृत्ताभिधान-  
चर्चा ।

पुण्यराज वाक्यपदीय २।१

वस्तुतः वाक्याथरूप प्रतिभा से भक्त हरि का अभिप्राय एक तरह की आन्तरिक बुद्धि से है । भक्त हरि इस बात को मानते हैं कि उस प्रतिभा को किसी अर्थ से ठीक-ठीक रूप में बताया नहीं जा सकता । वह स्वसन्दनसिद्ध है । प्रतिभा बल में ही पदार्थों में परस्पर सन्निवेश सा होता है । मानो प्रतिभा ही सब विषयों का आकार सा धारण कर लेती है । वह कभी किसी शब्द से अभिव्यक्त होती है और कभी अनादि-वासना-संस्कार से उदभूत होती है । लोक प्रतिभा को प्रमाण मानता है । पुण्यराज के अनुसार कालिदास की मता हि सदेह पदेषु वस्तुषु प्रमाणमतकरणप्रवृत्तयः यह उक्ति प्रतिभा के प्रामाण्य का संकेत करती है । जिस तरह विषय द्रव्या के परिपाक से किसी

इसके विपरीत कुछ आचार्य त्रिया म जाति व्यक्ति मात्र नहीं मानते हैं। जाति और व्यक्ति वस्तु के धर्म हैं त्रिया के नहीं। त्रिया पूर्व और पश्चिम रूप में फटी हुई है तब तब जैसे रावनाम से बोध्य नहीं है। इसलिए उगम जाति व्यक्ति नहीं समझा है। हो उसके सत्त्वभावापन्न ज्ञान पर बात दूसरी है। त्रिया म जाति व्यक्ति धर्म व समयका वा मत है कि त्रिया म भी सामान्य और विषय भाव होगा जाना है—ज्ञान ही धर्म स्वरूप है। अतिशययोग समुच्चय आदि म भेद व्यवहार म त्रिया का व्यक्ति धर्म रखा जाता है। अथावति अभेदकत्व सत्या आदि म सामान्य धर्म दिया जाता है।

इह केचित त्रियायामाकृतिव्यपितव्यवहारो नास्तीत्यय प्रतिपन्ना पदान्तर धर्ममेव त प्रतिजानते। विप्रकृता पुर्यापरीभूता साध्यावस्था क्रिया। तस्या इद तत इति प्रतिप्लवमानकल्पनया व्यपदेष्टुमशक्यत्वात् जातिव्यक्तिधर्मो नास्ति। केचित्तु मन्यन्ते नस्यामपि सामान्यविशेषवतिरूपतामात्रमस्ति हेतु। सा तु अवचित व्यक्तिभागेनोपकरोति। अवचित सामान्यभागेन।

—वाक्यपदीय २।४६५ हरिवर्ति हस्तनख

त्रियावाद की छाया म एक दार्शनिकवाद भी खड़ा हो गया था। वह मानता था कि जगत वस्तु गूँथ है। बुद्धि ही भिन्न भिन्न व्यवहार का मूल कारण है। बुद्धि ही साध्य (क्रिया) रूप म अथवा सिद्ध (कारक) रूप म व्यक्त होती है और गान्त उसी की प्रतीति होती है। जो कुछ बाह्य व्यवहार है वह माया इन्द्रजाल सा है। बुद्धि अपनी महिमा से उल्लसित होकर काल्पनिक आकार म परिणत होकर भेद का जनक होती है। वस्तुतः बुद्धि के अनिरिक्त अथ किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं है जिसम सिद्ध और साध्य का विनाश खड़ा हो। कुछ लोग बुद्धि को आकार भेदवाली क्रिया मानते हैं। उनके मत म बाह्य अथत्रिया की सिद्धि अन्त तत्त्व स गठित होती है जो अपनी मात्राओं से किंचित विषय का निर्मास कराते हैं।<sup>१</sup>

भत हरि न अथ को सवशक्तिमान माना है और प्रयोग करने वाले की विवक्षा के आधार पर वही अथ कभी सिद्धि रूप म और कभी साध्य रूप म प्रधान दिखाई देता है

सवशक्तेरथस्य य प्रवेशो यथा प्रक्रम्यते सिद्धरूपेण साध्यरूपेण वा शेषभावेन वा।

—वाक्यपदीय २।४३५ हरिवर्ति हस्तलख

वाक्यपदीय म विधि वाक्याथ नियोग वाक्याथ और भावना वाक्याथ पर विचार नहीं मिलता। ये तीनों ही भीमासा दान के विचार के विषय हैं। इनम विधि और नियोग लिङ लोट और कृत्य प्रत्यय के अथ हाने का कारण केवल एक देश के छूने के कारण इन पर विचार नहीं किया गया है। भावना वाक्याथवा त्रियावाक्याथवाद का समान है। केवल प्रकृत्यथ और प्रत्ययाथ को लेकर व्याकरण और भीमासक म विवाद है। इनके स्वरूप म विशेष अंतर नहीं है। भावना सक्रमक होती है त्रिया अक्रमक भी

होती है किन्तु दोनों ही साध्य हैं । और इस साध्य की एकता के आधार पर त्रियावाक्या-  
यवाद भावना वाक्यायवाद को समेट लेता है ।<sup>१</sup>

## प्रतिभा वाक्यार्थ रूप में

जा वाक्याथ को अखण्ड अनग, मानत हैं उनका ही एक वग प्रतिभा को वाक्याथ  
मानता है । भन हरि का एक अपना प्रतिभा दशन है । उ हान प्रतिभा को वाक्याथ रूप  
म भी लिया है

विच्छेदग्रहणेऽर्थात् प्रतिभायव जायते ।

वाक्याथ इति तामाहु पदार्थे रूपपादिताम् ।—वाक्यपदीय २।१४४

देवदत्तादि के अलग अलग अर्थ ग्रहण के अवसर पर उन पदों से एक विशेष प्रतिभा  
उदबुद्ध होती है । वही वाक्याथ है । पुण्यराज के अनुसार शब्द स्फोट है और अर्थ  
प्रतिभा है । स्फोट लक्षण शब्द में कोई विभाग नहीं है । वाक्याथ लक्षण प्रतिभा में  
कोई विभाग नहीं है । वाक्य और वाक्याथ में अध्यासलक्षण सम्बन्ध है । पुण्यराज के  
अनुसार यह मत व्याकरण का है

तत्र व्याकरणस्याखण्ड एवकोनवयव शब्द स्फोटलक्षणो वाक्य, प्रतिभव  
वाक्याथ अध्यासद्वय सम्बन्ध इति ।

पुण्यराज वाक्यपदीय २।१

असत्यभूत पदार्थों से प्रतिभा की अभिव्यक्ति होती है । पदार्थों का परिचय अलग  
अलग भवे ही हो भावाथग्रहण के समय एक ही प्रतिभा उत्पन्न होती है वह पदार्थों  
से व्यतिरिक्त नहीं होती । वस्तुतः, पुण्यराज के अनुसार प्रतिभा में एक अखण्ड भाव  
का परिचय अभिप्रेत है इसलिए अभिहितवाक्यवाद अथवा अविनाभिधानवाक्य जस  
पदार्थ-वाक्याथ विचारपरक किसी वाद का प्रतिभा वाक्याथ में कोई स्थान  
नहीं है

प्रतिभाया त्वेकरसव प्रनिपनिरिति न तत्र काचिदभिहिताव्याचिताभिधान-  
चर्चा ।

पुण्यराज वाक्यपदीय २।१

वस्तुतः वाक्याथरूप प्रतिभा से भन हरि का अभिप्राय एक तरह की आन्तरिक  
बुद्धि से है । भन हरि इस बात को मानते हैं कि उस प्रतिभा का किसी अर्थ से ठीक-  
ठीक रूप में बताया नहीं जा सकता । वह स्वैकान्तसिद्ध है । प्रतिभा बल से ही पदार्थों  
में परस्पर सम्बन्ध सा होता है । मानो प्रतिभा ही सब विषयों का आकार सा धारण कर  
लेती है । वह कभी किसी शब्द से अभिव्यक्त होती है और कभी अनादि-वासना  
संस्कार से उदभूत होती है । लाक प्रतिभा का प्रमाण मानता है । पुण्यराज के अनुसार  
कालिदास की 'सता हि सदह पद्मपु वस्तुपु प्रमाणमत करणप्रवर्तय' यह उक्ति  
प्रतिभा के प्रामाण्य का संकेत करती है । जिस तरह विषय द्रव्या का परिचायक किसी



विशेष अथ यत्ता के बिना ही उम द्रव्य म मन् गति स्वभावित रूप म सा जाती है उसी तरह प्रतिभा भी स्वाभावित रूप म मन्दार के घटिरित अथ बिनी गायन के बिना ही प्रबुद्ध हो जाती है । यत्ता म गायन की कृत् म माधुरी गीत भरता है ? पशिया का घामन बनान की गिता गीत गता है ? यन् मर प्रतिभा का नाय है । पश पशिया म आहार रूप तरना आति घात स घात घाति प्रतिभा वग ही होत है ।' इस तरह भत हरि न भूत प्रवति (इम्पिट) और आन्तरिक गान-वति (अन्तः गान) को प्रतिभा भेद माना है । अभिवागुण न भत हरि की 'प्रतिभा' की परिभाषा निम्नरूप म दी है जा उपयुक्त तथ्या का निष्पन्न गा है

समाधान नमत्यात्मिका प्रतिभा इति तत्रभवद भत हरिप्रभतय ।

— ईश्वरप्रत्यभिभाविविनिविगिनी, ततीय भाग, पृ० २०६

### प्रतिभा के छ भेद

भत हरि के अनुसार प्रतिभा के निम्नतिगित छ भेद हैं —

- (१) स्वभावजया (स्वाभाविकी) प्रतिभा
- (२) चरणजया प्रतिभा
- (३) अभ्यास निमित्ता प्रतिभा
- (४) योग निमित्ता प्रतिभा
- (५) अदण्णोपपादिता प्रतिभा
- (६) विशिष्टोपहिता प्रतिभा

### स्वाभाविकी प्रतिभा

पुण्यराज के अनुसार वत्तर आदि म जो प्रतिभा देखी जाती है वह स्वाभाविकी प्रतिभा है (स्वभावेन यथा कपि वाक्यपदीय २।१५३) । यहा का खण्डित हरिवृत्ति स ऐसा जान पडता है कि भत हरि स्वाभाविकी प्रतिभा का आधार सत्ता को मानत हैं । भावना अभ्यासवग सभी तरह के ज्ञान गदात्मरूप से सत्ता अथवा परा प्रकृति' म लीन रहत है । उन पूर्व सस्कार का उदबोध स्वभावत होता है । स्वभावजय ज्ञान ही स्वाभाविकी प्रतिभा है । जिस तरह सुपस्तावस्था म जान की सत्ता होने हुए भी वह अप्रबुद्ध मा होता है पर नाक टूट जान पर स्वभावत वह अभि व्यक्त हो उठता है उसी तरह स्वभावजय प्रतिभा भी सस्कार रूप म अनाति अभ्यास वग सत्ता म पडी रहती है और सत्ता क भावविकार क रूप म विवत होने पर वह भी उदबुद्ध हो जाती है । पशिया आदि के घासले बनान की कला एक तरह की पनक प्रवति अथवा चिर अभ्यास सस्कार है । ऐसे सस्कार स्वभावजय प्रतिभा के उत्पहरण के घातक हो सकत है ।

अथवा स्वभावजय प्रतिभा स अभिप्राय स्वत प्रकट आत्मज्ञानमयी प्रतिभा

से है। वाक्यपदीयकार ने स्वभाव शून्य का आत्मा के अर्थ में अनन्त बार प्रयोग किया है। उनके अनुसार कुछ ऋषि प्रतिभात्मा में विवर्त प्राप्त करते हैं अर्थात् अपनी सृष्टि के साथ ही उन्हें प्रतिभा का भी परिचान हो जाना है। परिचान की प्रक्रिया को मन हरि ने 'स्वप्नप्रबोध वन्ति' कहा है। अर्थात् स्वप्न में बिना किसी शब्द के सुने ही ज्ञान होना है वैसे ही उन ऋषियों को बिना किसी के बताये आपस आप जान हो जाता है। अविद्या की यानि सत्ता स्वरूप महान् आत्मा का देखत हुय व प्रवाध प्राप्त करते हैं। स्वाभाविकी प्रतिभा से तात्पर्य इस तरह स्वतन्त्र ज्ञान वर्गन वाली शक्ति से है। कुछ ऋषि विद्या में विवर्तित होते हैं अर्थात् विश्व का अविद्यामय समस्त व्यवहार उनके लिये औपचारिक रूप में ही सत्ता रखता है वस्तुतः व विद्या के नित्य तत्त्व को स्वभावतः समझते हैं। जिस तरह स्वप्न से बिना सुने शब्द का भी परिचान होना है वैसे ही व अपनी प्रज्ञा के वन से बिना किसी के बजाये ही सभी वन, सब जान समझ जात ह। इस तरह की प्रतिभा स्वाभाविकी प्रतिभा है

येषां तु स्वप्नप्रबोधवृत्त्या नित्य विभक्तपुरुषानुकारितया कारण प्रवर्तते तेषां रूपय केचित् प्रतिभात्मनि विवर्तते, सत्तालक्षण महात्मात्मानम अविद्यायोगेन पश्यन् प्रतिबोदेनाभिसमवर्ति। वचित्तु विद्याया विवर्तते ते च स्वप्न इवाश्रोत्रगम्य शब्द प्रज्ञयन् सवमाप्नाय सवभेदशक्तियुक्त अभिन गतियुक्त च पश्यति।

—वाक्यपदीय १। १४६ दृग्विति

## चरण निमित्ता प्रतिभा

पुष्पराम ने चरण निमित्ता आदि प्रतिभा की व्याख्या नहीं की है। यह कह कर छोड़ दिया है कि इनके उदाहरण अवलम्बनीय हैं (चरणादिपूजाहरणाभूत्यानि)। छपी हरिवंश में इस पर यह वाक्य है चरणनिमित्ता काचित् प्रतिभा। तद्यथा। कारणेनैवावधतप्रकाशविशेषाणां वसि (पडादीनाम्)। इस कठिन वाक्य का अभिप्राय क्या है? जान पड़ता है चरणनिमित्ता प्रतिभा का सम्बन्ध आचरण या तपस्याजय ज्ञान से है। ज्ञान को प्रकाश रूप में व्यक्त करना भक्त हरि की शक्ती है। निष्ट जना को अतीत और अनागत का भी प्रत्यक्ष सा देखने की शक्ति आ जाती है

आदिभूतप्रकाशानामनुपप्लुततत्तमा

अतीतानागतज्ञान प्रत्यक्षान्विनिर्णयते।

अतीन्द्रियानसवेद्यान् पश्यत्यापेण चक्षुषा।

ये तावान् वचन तेषां जानुमानेन बाध्यते ॥<sup>२</sup>

१ टाकाकार वपमने प्रलय से मग तक का अवस्था को स्वप्नवृत्ति और सग से प्रलय तक की अवस्था को प्रबोधवृत्ति माना है (प्रलयान् मग यावन् मातयायदशानान् स्वप्नवृत्ति। सर्गान् प्रलय यावन् भावव्यवधानं प्रबोधवृत्ति — बृहम-सामयपदीय १। ११६ टीका)।

२ वाक्यपदीय १। ३७ ३८। भक्तमूर्ति के निम्नलिखित श्लोक में भी इसी की

निष्ठा या वसिष्ठ आदि जैसे मुनियों की यह अद्भुत शक्ति ही चरण निमित्ता प्रतिभा का प्रतीक है। परन्तु ऐसा अर्थ करने में एक कठिनाई है। एक योग निमित्ता प्रतिभा भी है। चरणनिमित्ता प्रतिभा को उपयुक्त रूप में ग्रहण करने पर योग निमित्ता से उसका भ्रम दूर हो जाता है। किसी किसी प्रज्ञाचक्षु में एक अद्भुत गति दृष्टी जाती है गहन स्थल में छिपी वस्तु को भी वे कभी कभी बता देते हैं। इसी तरह बधिर में भी स्वप्न में शब्द श्रवण का उत्सर्जन मिलते हैं (?)। मन हरि न अर्थन बधिर और अर्थ की इस गति का उत्सर्जन या किया है

स्वप्ने हि बधिरादीनां शब्दादिप्रतिपादनम् घनसनिदिष्टावयवानां च कुड्यादीनामवयवविभागमन्तरेणातयैःमादिषु सूक्ष्माणामर्थानां दानं सवप्रधादेष्टुमिदम् ।<sup>१</sup>  
 काय से कारण गति का ग्रहण किया जाता है। अर्थ शक्ति में अद्भुत दान क्षमता दानर उनमें प्रकाशमयी प्रतिभा रूप कारण का अनुमान करना सहज है। चरण निमित्ता प्रतिभा का अभिप्राय ऐसी ही प्रतिभा से जान पड़ता है।

### श्रम्यासनिमित्ता प्रतिभा

हरिवर्ति मन्त्र प्रयोग पर लिखा है— श्रम्यास निमित्ता वाचित प्रतिभा। तद यथा कपलाशरीराम् । कूपनशक्तानां पाठ मगुद्ध जान पड़ता है। मरी नम्र सम्मति

अभ्यास के संगीत से परिचय रखने वाले भी ठीक से उह नहीं समझ पाते । इमे भत हरि ने स्पष्ट कर दिया है

परेषामसमाख्येयमभ्यासादेव जायते ।

मणिरूप्यादिविज्ञान तदविदा नानुमानिकम् ॥<sup>१</sup>

अतः अभ्यासजय प्रतिभा का उदाहरण सौवर्णिक आदि की प्रतिभा को समझना चाहिये ।

## योग निमित्ता प्रतिभा

योगनिमित्ता प्रतिभा स तात्पर्य योगिया की उस शक्ति से है जिसके बल से वह दूसरे मनुष्या व अभिप्राय आदि तुरन्त ठीक ठीक अवगत कर लेता है—जिसके बल से उनमें सवक्तता आती है ।

## अदृष्ट निमित्ता प्रतिभा

भूत, प्रेत पिशाच आदि में दूसरे पर सवार होने (परावेश) और अतधान होने की क्षमता देखी जाती है । उनमें एक तरह की अदृष्ट शक्ति देखी जाती है । अदृष्टनिमित्ता प्रतिभा स भत हरि का अभिप्राय ऐसी ही शक्ति से है ।

## विशिष्टोपहिता प्रतिभा

कभी कभी कोई विशिष्ट व्यक्ति अपनी ज्ञान राशि का सन्निमण किसी अथ म कर देता है । इसमें दूसरा व्यक्ति भी उस विशेष ज्ञान का वाहक हो जाता है । कृष्ण द्विपायन (व्यास) ने सजय म ऐसी शक्ति का सन्निमण किया था जिससे सजय को दिव्य दृष्टि मिल गई थी । इस तरह की शक्ति द्वारा अथ म आहित प्रतिभा का नाम विशिष्टोपहिता प्रतिभा है ।

इस तरह प्रतिभा के अनेक भेद हैं । वह वाक्य प्रतिपाद्य है और सभी वाक्या का अधिष्ठान भी वही है । वह व्याकरण से परे की वस्तु है । व्याकरण के काल क्रम स विनष्ट हो जाने पर भी और अथ शक्तियों के नाश हो जाने पर भी उसमें शब्द बीज सनिविष्ट रहते हैं और समय पाकर वही प्रतिभा विवत प्रक्रिया के आधार पर वण पद वाक्य रूप म पुन आभासित होती है

एव प्रतिभा बहुविधापि सर्वैवागमिकवाक्यनिबन्धना वाक्यप्रतिपाद्या व्याकरणा त्ययेपि सवशक्तिप्रत्यस्तमये प्रत्यस्तमितनिविष्टशब्दशक्तिबीजकारणात्तभूता निबद्धबीजा धृत्तिकाले प्रथम सूक्ष्मेणापि वरत्मना विवतमात्रामनुभूय क्रमेण वणवाक्यनियतामिरवस्थामि समुच्छती प्राप्तिबीजपरिपाकाकारा पुन पुन व्यक्तेन रूपेण प्रत्यवभासते ।

—वाक्यपदीय २।१५३ हरिवर्त्ति ।

भन हरि के अनुसार करण, स्थान, प्रत्यय आदि का परिमाण व्यक्ती की प्रतिभा के द्वारा ही बिना किसी ग्रन्थ के बताया आपसे आप हो जाता है। क्योंकि शब्द भावना अनादि है वह पौरुषेय नहीं है

अनादिश्च वा शब्द भावना । न ह्येतस्या कश्चित् पौरुषेयत्व सम्भवति ।  
तथा ह्यनुपदेशाद्या प्रतिभागम्या एव करणविन्यासादयः ।

—वाक्यपताय, १।१२३ हरिवर्ति

प्रतिभा के सम्यक् अवगोचर से क्षेम की प्राप्ति होती है  
तदभ्यासाच्च शब्दपूर्वक योगमधिगम्य प्रतिभा तत्त्वप्रभवा भावविकार प्रकृति  
सत्ता साध्यसाधन शक्तियुक्ता सम्यगवबुध्य नियता क्षेमप्राप्तिरिति ।

वही पृष्ठ ११८

भन हरि के आधार पर भोज ने भी प्रतिभा का स्वरूप दिया है  
स्व स्वमथमभिधापोपरतेषु पदेषु पदार्थप्रतिपत्त्यनंतरमुपजायमाना इदं तदिति  
व्यपदेशयानुपदेशमिद्धा हिताहितप्राप्तिपरिहारहेतु प्रवर्त्यनुकूला बुद्धि प्रतिभा ।  
तथाहि पदनिबधनाना पदार्थवदनिबधनाना चाथप्रत्ययभासमात्राणा अविच्छे  
देन प्रवर्तते पदार्थ क्रमेण गृह्यमाण आहितसंस्कारासु बुद्धिषु सर्वाथप्रत्यवभास  
ससर्गानुगृहीता प्रत्ययमितभेदप्रत्यवभासा प्रवर्त्तिफलप्रसवानुमेया अभिन  
जातीयव प्रतिभा प्रत्यात्म विवर्तते ।

—शृंगार प्रकाश प० २१३

प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय में भी प्रतिभा सहायक है। जब तक प्रतिभा  
शब्द के माध्यम पूर्व अपर का प्रत्यवमश नहीं करती प्रत्यक्ष शयवा अनुमान अपना  
काम नहीं कर पाता है। सभी प्रमाण प्रतिभा से उपगृहीत होकर प्रमाणता प्राप्त  
करते हैं।

प्रत्यक्षानुमानविषयेऽपि यावत् पूर्वापरप्रत्यवमश शब्दोल्लेखवान् प्रतिभया न  
श्रियते तावत् प्रत्यक्षमनुमान वा स्रकाय न प्रसाधयति । प्रतिभोपगृहीतानि  
सर्वप्रमाणानि प्रमाणता लभते ।

—शृंगार प्रकाश प० २१३

भाज न पट प्रकार की प्रतिभा का काल, अभ्यास योग ध्यान और अनुध्याय  
के आधार पर विभाजन किया है और इन्हें पूज्य म क ग श्रवण जनित संस्कारों का  
उदबोधक माना है। नभा वाक्य के उच्चारण मात्र से ही प्रतिभा रूप श्रय का उन्मी  
लन हो जाता है सभी निमित्तांतर के साभिध्य में चिर यवहित भी विनिष्ट प्रतिभा  
भावनाबीज के सनिवर्ण से वही वाक्य परंपर्या प्रतिभा रूप स्वाथ का आविभाव करता  
है। प्रतिभा वाक्याय है। (शृंगार प्रकाश प० २१४)

कुमारिण भट्ट ने प्रतिभा वाक्यायवाक्य का आगिज रूप में स्वीकार किया है और  
आगिज रूप में इसकी समीक्षा की है। वाक्य के प्रयोजन अथवा जयत्व रूप में  
प्रतिभा का स्वीकार करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं है किंतु यदि प्रतिभा किसी-न  
किसी रूप में बाह्य श्रय से सम्बद्ध है तो इस वाद में आपत्ति है। बाह्य श्रय नियत-

स्वभाव वाला होता है। किन्तु गर ही प्रभु न चरित, वीर पुष्प म ह्य ओर भी  
म भय उत्पन्न करता है। प्रतिभा वाक्याध्याय म इसकी उपपत्ति नहीं बटनी (इति  
वाक्य, वाक्याध्याय ३२५ ३३०)।

## वाक्यार्थ के अनुग्राहक वाक्य के धर्म

भत हरि न पन्थाधनिवधन वाक्यधर्मों का उल्लेख किया है। वाक्य के एमे धर्म लक्षण  
नाम स भी उन दिना जात थ। भत हरि ने वाक्यपत्नीय के तनीय काण्ड म इन पर विनोप  
विचार किया था। किन्तु वह भाग (लक्षण समुद्देश) दगावी शताब्दी तक लुप्त हो  
चुका था। लक्षणा के एक भेद बाधा पर विनोप विचार 'बाधा समुद्देश' म भत हरि  
न किया था। वह भी आज अनुपलब्ध है। किन्तु वाक्यकाण्ड म लक्षणा की एक लम्बी  
मूची वाक्य के धर्म के रूप म मिलती है। पुण्यराज ने उह स्पष्ट करन का प्रयत्न  
किया है। भोज न भी शृंगार प्रकाश म वाक्यपत्नीय के आश्रय स इन वाक्यधर्मों पर  
विचार किया है। डा० बी० राघवन का ध्यान इस पर गया था और उहानि भत हरि,  
पुण्यराज और भोज द्वारा व्यवहृत वाक्यधर्मों का तुलनात्मक उल्लेख अपन महत्वपूर्ण  
ग्रंथ भोज के शृंगार प्रकाश' म किया है।<sup>१</sup>

लक्षण अनुपपत्ति के विचार के आधार पर कहा जा चुका है कि भत हरि ने  
लक्षणा की सख्या विचार भेद मे छ, बारह अथवा चौतीस बताई है। किन्तु य छ  
बारह अथवा चौतीस लक्षण कौन-कौन हैं इसका सकेत वाक्यपत्नीय म नहीं है।  
भत हरि न जिन नामा को गिनाया है व चौतीस से अधिक हैं। पुण्यराज ने इस समस्या  
का सुलझाने की चेष्टा की है। उनके अनुसार इन लक्षणा का सम्बन्ध मूल रूप म  
मीमामा दान स है। पद पन्था के विचार के अवसर पर इन लक्षणा पर विचार उप  
योगी समझ कर भत हरि ने इह अपनाया है।

जमिनि का मीमामादर्शन बारह अध्यायों म विभक्त है। इसके पहले छ  
अध्यायों मे प्रत्यक्षविहित धर्म-वर्णनों की इतिवृत्तयता पर विचार है। दूसरे छ अध्यायों  
म अविहित इतिवृत्तयता पर विचार है।

मीमासादर्शन के पहले छ अध्याय को प्रवृत्ति पटव कहा जाता है। इहे उपन्यस  
पटव भी कहते हैं।

प्रथम अध्याय म विधि अथवा मन्त्र और स्मृति पर विचार है गुणविधि  
और नामधेय का उल्लेख है सदिग्ध अर्थों का वाक्यनोप के सहारे अर्थनिर्णय की प्रक्रिया  
बताई गई है। इनका वर्णन का प्रास्ताविक (विधि) मुख्य है और अर्थ प्रासंगिक हैं।

द्वितीय अध्याय म प्रधान अप्रधान भिन्न अभिन्न पर विचार है। पदविधि कम  
भेद का विवेचन है। मुख्य प्रतिपाद्य भेद है।

तृतीय अध्याय म श्रुति लिङ्ग वाक्य, प्रकरण स्थान और समाख्यान द्वारा  
शेषविनियोगलक्षण वर्णित है। शेषोपनिभाव प्रतिपाद्य है।

भक्त हरि के अनुसार करण, स्थान, प्रयत्न आदि का परिचय व्यक्ति की प्रतिभा के द्वारा ही बिना किसी अन्य के बताय आपसे आप हो जाता है। क्योंकि यदि भावना अनादि है वह पोष्य नहीं है

अनादिश्चया शब्द भावना । नह्येतस्या कथञ्चित पोष्यत्व सम्बन्धि ।  
तथा ह्यनुपदेशसाध्या प्रतिभागम्या एव करणविद्यासाधय ।

—वाक्यपदीय, १।१२३ हरिवर्त्ति

प्रतिभा के सम्यक् अवबोध से क्षेम की प्राप्ति होगी है  
तदभ्यासाच्च शब्दपूर्वक योगमधिगम्य प्रतिभा तत्त्वप्रभवा भावविकार प्रकृति  
सत्ता साध्यसाधन शक्तियुक्ता सम्यगवबुध्य नियता क्षेमप्राप्तिरिति ।

वही, पृष्ठ ११८

भक्त हरि के आधार पर भाज ने भी प्रतिभा का स्वरूप दिया है  
स्व स्वमयमभिधापोरनेषु पदेषु पदाथप्रतिपत्त्यन्तरमुपजायमाना उद तदिति  
व्यपदेशयानुपदेशमिद्धा हिताहितप्राप्तिपरिहारहेतु प्रवर्त्यनुक्ता बुद्धि प्रतिभा ।  
तथाहि पदनिष्ठ धनाना पदायवन्निब धनाना चाथप्रत्यवभासमात्राणा अविच्छे  
देन प्रवर्ती पदार्थे क्रमेण गृह्यमाण आहितसंस्कारामु बुद्धिषु सर्वाथप्रत्यवभास  
ससर्गानुगहीता प्रत्यस्समितभेदप्रत्यवभासा प्रवर्त्तिफलप्रसवानुमेया अभि न  
जातीयव प्रतिभा प्रत्यात्म विवर्तत ।

—शृंगार प्रकाश प० २१३

प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय में भी प्रतिभा सहायक है। जब तक प्रतिभा  
ज्ञान के माध्यम पूर्व अपर का प्रत्यक्ष नहीं करती प्रत्यक्ष अथवा अनुमान अपना  
काम नहीं कर पाते हैं। सभी प्रमाण प्रतिभा से उपगृहीत होकर प्रमाणता प्राप्त  
करते हैं।

प्रत्यक्षानुमानविषयेऽपि यावत् पूर्वापरप्रत्यक्षमश शब्दोल्लेखवान प्रतिभया न  
क्रियते तावत् प्रत्यक्षमनुमान वा स्वराय न प्रसाधयति । प्रतिभोपगृहीतानि  
सर्वप्रमाणानि प्रमाणता सभ ते ।

—शृंगार प्रकाश, प० २१३

भाज ने पट प्रसार की प्रतिभा का काल अभ्यास योग, ध्यान और अनुध्यान  
के आधार पर विभाजन किया है और इह पूज्य क ग श्रवण जनिम संस्कारा का  
उद्बोधक माना है। उमा वाक्य के उच्चारण मात्र से ही प्रतिभा रूप अथ का उन्मी  
लन हो जाता है कभी निमित्तान्तर के साग्निक म चिर व्यवहित भी विगिष्ट प्रतिभा  
भावनाबीज के निर्वण में वही वाक्य परंपरया प्रतिभारूप स्वाय का आविभाव करता  
है। प्रतिभा वाक्याय है। ( शृंगार प्रकाश प० २१४ )

कुमारिन भट्ट ने प्रतिभा वाक्यायवाक्य का आगिष्ट रूप में स्वीकार किया है और  
आगिष्ट रूप में इसकी समीक्षा की है। वाक्य के प्रयोजन अथवा जयत्य रूप में  
प्रतिभा का स्वीकार करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं है किन्तु यदि प्रतिभा किसी-न  
किसी रूप में बाह्य अथ से सम्बद्ध है तो इस बात में आपत्ति है। बाह्य अथ नियत-

वभाव वाला होता है। किन्तु एक ही अङ्गुल चरित, वीर पुष्प म हृष और भीरु म भय उत्पन्न करता है। प्रतिभा वाक्याथवा म इसकी उपपत्ति नहीं बैठती (शान्तिक, वाक्याधिकरण ३२५ ३३०)।

## वाक्यार्थ के अनुग्राहक वाक्य के धर्म

भत हरि ने पद्यानिबन्धन वाक्यधर्मों का उल्लेख किया है। वाक्य के ऐसे धर्म लक्षण नाम से भी उन जिना जात थे। भत हरि ने वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड म इन पर विशेष विचार किया था। किन्तु वह भाग (लक्षण समुद्देश) दशवी शताब्दी तक लुप्त हो चुका था। लक्षणों के एक भेद वाक्य पर विशेष विचार बाधा समुद्देश' मे भत हरि ने किया था। वह भी आज अनुपलब्ध है। किन्तु वाक्यकाण्ड म लक्षणों की एक लम्बी सूची वाक्य के धर्म के रूप म मिलती है। पुण्यराज ने उन्हें स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। भोज ने भी शृंगार प्रकाश म वाक्यपदीय के आश्रय से इन वाक्यधर्मों पर विचार किया है। डा० बी० राघवन का ध्यान इस पर गया था और उन्होंने भत हरि, पुण्यराज और भोज द्वारा व्यवहृत वाक्यधर्मों का तुलनात्मक उल्लेख अपने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ भोज के शृंगार प्रकाश म किया है।

लक्षण अनुपपत्ति के विचार के आधार पर कहा जा चुका है कि भत हरि ने लक्षणा की सख्या विचार भेद से छ, बारह अथवा चौबीस बताई है। किन्तु ये छ बारह अथवा चौबीस लक्षण कौन-कौन हैं इसका सकेत वाक्यपदीय म नहीं है। भत हरि ने जिन नामों को गिनाया है वे चौबीस से अधिक हैं। पुण्यराज ने इस समस्या का सुलभाने की चेष्टा की है। उनके अनुसार इन लक्षणा का सम्बन्ध मूल रूप म भीमामा दशन से है। पद पदाथ के विचार के अवसर पर इन लक्षणा पर विचार उपयोगी समझ कर भत हरि ने इन्हें अपनाया है।

जमिनि का भीमामादान बारह अध्यायों म विभक्त है। इसके पहले छ अध्यायों म प्रत्ययविहित धर्मधर्मों की इतिवृत्तयता पर विचार है। दूसरे छ अध्यायों म अविहित इतिवृत्तयता पर विचार है।

भीमामादान के पहले छ अध्याय को प्रकृति पटव कहा जाता है। इन्हें उपपत्ति पटव भी कहते हैं।

प्रथम अध्याय म विधि, अथवा, मन्त्र और स्मृति पर विचार है गुणविधि और नामधेय का उल्लेख है सन्निध अर्थों का वाक्यगोप के सहारे अर्थनिर्णय की प्रक्रिया बताई गई है। इनमें वत् का प्रामाण्य (विधि) मुख्य है और अन्य प्रासंगिक हैं।

द्वितीय अध्याय में प्रधान अप्रधान, भिन्न अभिन्न पर विचार है। पदविध के भेद का विवेचन है। मुख्य प्रतिपाद्य भेद है।

तृतीय अध्याय म श्रुति, निज्ञा, वाक्य प्रकरण स्थान और समाख्यान द्वारा गोपवित्तियोगलक्षण वर्णित है। गोपवित्तियोग प्रतिपाद्य है।



चतुर्थ अध्याय में ऋत्वय, पुरुषाय पर विचार है। प्रयोजनाप्रयोजक भाव (प्रयुक्ति) प्रतिपादित है।

पचम अध्याय में श्रुति, अथ पाठ प्रवृत्ति काण्ड और मुख्य के रूप में क्रम नियमलक्षण पर विचार है। नम प्रतिपाद्य विषय है।

षष्ठ अध्याय में अर्थी समय अधिकारी का निरूपण है।

इस तरह प्रथम छ अध्यायों में नम से विधि भेद, शेषशेषिभाव प्रयुक्ति क्रम और अधिकारी का प्रतिपादन किया गया है। षष्ठ लक्षण से तात्पर्य इहा छ लक्षणा से हो सकता है

एव विधिभेद शेषशेषिभावप्रयुक्ति क्रमाधिकारिणा प्रतिपादनाद्याध्याया षडिति षष्ठ लक्षणानि।

—पुण्यराज वाक्यपदीय २।७७

जो आचार्य वेदल छ लक्षण मानते होंगे और बारह अथवा चौबीस लक्षण के पक्ष में नहीं होंगे उनका अभिप्राय संभवतः यह होगा कि मीमामसासूत्र के प्रथम छ अध्यायों में ही मौलिक लक्षण आ जाते हैं। वा० के छ अध्यायों में उनके मत में, मौलिक लक्षण प्रतिपादित नहीं है। सातवें अध्याय में ऐन्द्राग्न आदि के धर्म बताए गये हैं। आठवें अध्याय में ये धर्म इसके हैं बताया गया है। नवम अध्याय में उनकी प्रयोग प्रक्रिया समझाई गई है। दशवें ग्यारहवें और बारहवें अध्यायों में उनकी इयत्ता, इतने प्रयोग किए जान चाहिए इससे अधिक नहीं का वर्णन है। अतः प्रवृत्तिपटक — प्रथम छ अध्याय से प्रतिपाद्य लक्षण ही षष्ठलक्षण हैं।

द्वादशलक्षण के पक्ष में बारहो अध्याय से प्रतिपादित लक्षण द्वादश लक्षण माने जाते हैं। इनमें प्रथम छ अध्यायों से प्रतिपाद्य छ लक्षण और शेष छ अध्याय से प्रतिपाद्य छ लक्षण कुल मिलाकर बारह लक्षण हो जाते हैं। शेष छ अध्यायों में सातवें अध्याय में सामान्यानिर्देश पर विचार है। आठवें में विनोपातिर्देश की चिन्ता है। नवम अध्याय में ऊह पर उहापोह है। दशम अध्याय में बाधा का निरूपण है। ग्यारहवें अध्याय में तत्र विचार है और बारहवें अध्याय में प्रसंग की चर्चा है। इन छ अध्यायों को अतिदेश पटक कहा जाता है। इस तरह इनमें नम से सामान्यातिर्देश विनोपातिर्देश ऊह बाधा तत्र और प्रसंग—य छ लक्षण प्रतिपादित हैं। षष्ठ के छ लक्षण और य छ लक्षण मिलकर कुल द्वादश लक्षण हो जाते हैं।

चौबीस लक्षण कौन-कौन हैं? इनकी समीक्षिष पट्टिचान पुण्यराज को भी नहीं थी। चौबीस लक्षण के नामों का स्वरूप निर्धारण करने के लिए उन्होंने एक कल्पना की है। उनके मत में जो द्वादश लक्षण द्वादश अध्यायों के अंत पर स्वीकृत हैं इनका प्रतिपक्ष रूप में भी दूसरे द्वादश लक्षण इन अध्यायों में वर्णित हैं।<sup>२</sup> पूर्व के मूल बारह लक्षणों में पुण्यराज के अनुसार प्रमाण (विधि) का प्रतिपक्ष संभव नहीं है। सामान्या

२ पञ्च प्रतिपक्षभूतान्यन्येभिः द्वारा दशयोगनान्यव्याख्यपुनरिति—

तिदेश और विशेषातिदेश के प्रतिपक्ष का सकेत भन हरि ने नहीं किया है। शेष के प्रतिपक्ष अथवा अपवाद होते हैं जो निम्नलिखित हैं

लक्षण	प्रतिपक्ष / अपवाद
प्रमाण (विधि)	—
भेद	अभेद
शेषशेषिभाव	गुणप्रधानभावाविवक्षा
प्रयुक्ति	अप्रयोजक
क्रम	अविवक्षा
अधिकारी	क्रियातरव्युत्पन्न
सामान्यातिदेश	—
विशेषातिदेश	—
ऊह	सम्बन्धवाध
वाध	(क) समुच्चय (ख) विक्ल्प
तत्र	आवृत्ति
प्रासगिक	भेद

इस तरह से प्रतिपक्ष अथवा अपवाद रूप में अभेद गुणप्रधानभावाविवक्षा, अप्रयोजक अविवक्षा, क्रियातरव्युत्पन्न सम्बन्धवाध समुच्चय विक्ल्प आवृत्ति और भेद। ये दस लक्षण और हो जाने हैं। सब मिलकर २२ लक्षण हो जाते हैं। अवशेष दो लक्षण के विषय में पुष्कराज की कोई निश्चित धारणा नहीं है। उन्होंने लिखा है कि शेष दो लक्षण 'लक्षणसमुद्देश' में ढंढा चाहिए। अथवा सामान्यातिदेश का भी अपवाद सामान्यातिदेश का अभाव मान लेना चाहिए। इसी तरह विशेषातिदेश का प्रतिपक्ष सामान्यातिदेश अथवा विशेषातिदेश मानकर अवशेष दो लक्षणों की पूर्ति कर लेनी चाहिए। इस तरह से २४ लक्षण हो जाते हैं—

इत्येवमादिभि सह द्वाविंशतिलक्षणानि भवन्ति । द्वे लक्षणे समुद्देशादूहे । अथवा सामान्यातिदेशस्य तदभाव एवापवाद । विशेषातिदेशस्य सामान्यातिदेश एव विशेषातिदेशो वेत्यनयो सप्रतिपक्षत्वमात्रित्य चतुर्विंशति सम्पद्यन्त इत्येवमनेन क्रमेणतानि लक्षणानि । एतदेव मनसिकृत्य षड द्वादश चतुर्विंशतिर्वा लक्षणानीत्युक्तम् ।

—पुष्कराज वाक्यपदीय २।७७

भन हरि ने वाक्यपदीय २।७७ में जिन वाक्य धर्मों का उल्लेख किया है वे निम्न लिखित हैं प्रासगिक, तत्र, आवृत्ति भेद, वाध समुच्चय, ऊह सम्बन्ध, वाध, सामान्यातिदेश विशेषातिदेश, अधिकार, सामर्थ्य, अर्थभेद अधिकार क्रियातर व्युत्पन्न, श्रुत्यादिभ्रम भ्रमप्रलम्ब अविवक्षितभ्रम पराङ्ग अप्रयोजक प्रयोजक नान्तरीयक प्रधान, शेष त्रिनियागक्रम साक्षात्पकारी, आराध विगपक शक्ति-यापार भेद, फलभेद सम्बन्धजभेद, अविवक्षितभेद प्रसायप्रतिषेध पयुदास, गौण मुख्य

व्यापि गुरु, साधय, अष्ट गान्धिभाय, विकल्प, नियम वाच्यता विगाद्भे<sup>३</sup> अगोदर ।

भोज के अनुसार वाच्य के धर्म निम्न निमित्त हैं प्रमाण, गण, प्रयोजक अप्रयोजक आन्तरीयक मुख्य गौण व्यापक तथे गुरु, अग्रज, अनुज भेदविधा, अभेदविधा, व्यवस्थितता अप्रवृत्तता तद्भावावृत्ति, वाच्यतावृत्ति सम्बन्धा बाधन, विकल्प समुत्पन्न नियम निषेध प्रतिनिधि उक्त वाच्य तत्र प्रमाण सावृत्ति भेद समावाहितेय विपत्तिनिमित्त, अधिहार अध्याहार निमित्तानाम् वाच्यताप, अग्रधि, अपोदर अनिमानप्रश्न विगात्तरपुत्राग विगाद्भे<sup>४</sup> विगात्भि<sup>५</sup> वाच्यताभि<sup>६</sup>, गतियादिभ<sup>७</sup> श्रुत्यादिनिमित्तोप श्रुत्यान्त्रिलापन श्रुत्यान्त्रिम प्रमगभ<sup>८</sup> ।<sup>९</sup>

भोज द्वारा लिए हुए वाच्य के धर्मों का भी उत्तरण वाच्यपत्नीय और उमरी स्वोपन वृत्ति में यत्र तत्र मिल जाता है । भाज न उनका एकत्र चयन कर लिया है । हम पहले भक्त हरि द्वारा लिए हुए वाच्यधर्मों पर पुण्यराज और भाज के महार विचार करेंगे ।

प्रासंगिक भक्त हरि ने वाच्यधर्मों में सत्र प्रथम प्रासंगिक की खचा की है । भीमासाङ्गान में प्रसंग पर विचार अन्तिम अध्याय में किया गया है, वह अन्तिम लक्षण है । प्रमाण (विधि) आन्त्रि लक्षण हैं । आन्त्रि का प्रथम न लेकर अन्तिम के प्रथम ग्रहण में क्या हनु है ? पुण्यराज के अनुसार भक्त हरि 'वाच्य मात्र का प्रामाण्य मानते हैं । वाच्य मात्र का चाह वह जिस किसी भी दगन-ग्रन्थ का हो विचार के लिए अपने दर्शन में स्थान देते हैं । यहा सामान्य रूप से वाच्य के धर्मों पर विचार अपेक्षित है जा पद-पन्थाय की व्यवस्था में उपयोगी है, वेदविधि के प्रमाण्य अप्रामाण्य से यहा कोई प्रयोजन नहा है ।<sup>१०</sup>

शबरस्वामी ने प्रसंग की एक प्राचीन परिभाषा उद्धृत की है एवमेव प्रसंग स्यात् विद्यमाने स्वके विधौ—अथत्र किया गया का अथत्र आसक्ति प्रसंग है । जैसे किसी प्रासाद पर किया गया आलोक राजमाग को भी प्रकाशित करता है ।<sup>११</sup> भक्त हरि ने महाभाष्य विपत्ती में प्रसंग की परिभाषा या दी है यदर्थो प्रयोजक (यदर्थ-प्रयोजक) अथद्वारेणाथ प्रतिपद्यते स प्रसंग इत्युच्यते ।<sup>१२</sup> अर्थो अप्रयोजक यदि किसी दूसरे के आश्रय से अथ की प्राप्ति करता है प्रसंग कहलाता है जैसे 'आम्नाश्च सिक्ता पितरश्च प्रीणिता इस वाक्य में आम्ना सचन क्रिया के प्रयोजक हैं पितर अप्रयोजक है आम के लिए डाल गये जल को वे भी प्रसंग से पा लेते हैं ।

पुण्यराज ने, सम्भवत हरिवृत्ति के आधार पर प्रसंग का लक्षण दिया है द्वयोरर्थिनो कार्येण समाविना प्रयोजकत्वेन निज्ञातिसामर्थ्यो यत्र अथतर-

३ शृ गारप्रकाश, पृष्ठ ३०७ मैसूर सरकारण ।

४ यद्यपि परपा चोत्तमैव प्रमाण प्रमिद्ध तथापी-टीकाकारो 'वाच्यमात्रस्य प्रामाण्यमङ्गीकरोति । अतएव 'तदनायामेव प्रामाण्यथाभा' । १२ प्रथममव लक्षणनिर्देशन न कृतम् ।

—पुण्यराज, वाच्यपत्नीय २।७७

५ शाबरभाष्य १२।१।७ पृ० ३०६ काशी संस्करण ।

६ महा १।५ विपत्ती पृ ४५ पूना संस्करण ।

प्रयुक्तेन अर्थेन अपरोऽभिसम्बध्यमान कृत्यत्वात् पृथक् प्रयोजकत्वोपपत्तिः  
स प्रसङ्गः । तत् प्रयोजनकं प्रासङ्गिकम् ।<sup>७</sup>

जहाँ दो वाक्य होने वाले हों जिनका प्रयोजक रूप में सामान्य बात हो यदि  
एक के प्रयोग से दूसरा भी सम्बद्ध रूप में गहरा होकर प्रयोजक नहीं बनता है  
उसे प्रसङ्ग कहते हैं । प्रसङ्ग के प्रयोजनक को प्रासङ्गिक कहते हैं । भाव ने भी पुण्यराज  
वाला लक्षण दिया है । प्रासङ्गिक का लौकिक उदाहरण सघाताध्ययन है । 'य' अन्वयापक  
हमारे अध्यापन के लिए है तुम भी इसी में पढ़ो । व्याकरण में प्रसङ्ग का उदाहरण  
सवादीनि सवनामानि १।१।२७ सूत्र में णत्व का अभाव माना जाता है

सवादीनि सवनामानित्यत्र णत्वाभाव प्रासङ्गिकमुदाहरति ।<sup>८</sup>

भोज ने प्रासङ्गिक की एक दूसरी भी परिभाषा दी है

यच्चाद्यद आचक्षानोऽप्यद्याच्चष्टे तदपि प्रासङ्गिकम् ।<sup>९</sup>

दूसरी बात कहते हुए यदि कोई अथ वात का भी साथ ही उल्लेख हो जाय  
वह भी प्रासङ्गिक है । जैसे कुमारसम्भव में कालिदास ने काम के वाणप्रहार के समय  
का चित्र लेते हुए धनुर्विद्या के रूप पर भी प्रकाश डाला है ।<sup>१०</sup>

तत्र दूसरा वाक्यधर्म तत्र है । एक ही अर्थ की निश्चिन्ता रखने वाले  
कई अर्थों के प्रयोजक के अभेद से अथवा आवृत्ति द्वारा सभब की दृष्टि से और लाघव  
की दृष्टि से उस अर्थ का एक ही प्रयोग करते हैं । वह तत्र है ।

यत्रार्थिन सर्वे प्रयोजकाभेदेनावस्था वा योऽयं प्रतिपत्तव्यस्तमथम एकमेव  
सम्भवात् लाघवाच्च प्रयोजयति तत् तत्रम् ।<sup>११</sup>

भोज ने भी ऐसा ही लक्षण दिया है । पतने वाले सभी छात्र गाला में एक ही  
दीप से काम ले लेते हैं । अथवा जैमि कठाध्यायी शतपथिका की गाला में जलाया गया  
दीप व्याकरण पतने वाला के भी काम आता है । जहाँ एक ही वस्तु से कई प्रयोगनार्थी  
एक साथ काम निकालते हैं वहाँ तत्र माना जाता है । भक्त हरि ने श्वेतो धावति  
वाक्य में तत्र माना है । गत की गति का तत्र द्वारा गति अवच्छेद मात्र किया  
जाता है । एक ही पुरा शब्द पुरा के अर्थ में भी आता है सह वचन भी है एक ही  
आरात गद्द सनिवृष्ट अर्थ में दखा जाता है और विप्रवृष्ट अर्थ में भी । इसी तरह  
श्वेत शब्द अनन्त गति से युक्त है । प्रतिपत्ता यत्किं गति अवच्छेद के द्वारा अथ-

७ पुण्यराज—वाचस्पदीय २।७७

८ तुलना कीति—चोऽप्ययं अन्तरहित एव प्रयुज्यते ।

तस्यात्र प्रमगेन सामुह्य प्रतिपाद्यते ॥

—कयत्, प्रदापोद्योत १।१।२७

सम्भव पुण्यराज और कैयट दोनों ने भाष्यत्रिणादी से इस तथ्य को निर्या है ।

९ शृंगार प्रकाश ५० ३१६

१० कुमार सम्भव ३।७०

११ वाक्यपदीय, पुण्यराज, २।७७

बोध करते हैं। अर्थात्तर म मातो णा णा का उच्चारण किया गया हो। जैम एत ही प्रतीप अर्थो व्यक्तियो को आश्रयित से (तत्र से) आश्रयित कर काम निदान होता है। तत्र म भी एगो शक्ति है कि वह तत्र म णा णा का उच्चारण जान पड़ता है।<sup>१२</sup> जम अथ द्विगत होता है तत्र भी द्विगत होता है। तत्र म तत्र का प्रयोग म वभी त्रम और कभी योगपठ का आश्रय देगा जाता है। जम म मय्यताम अथ मय्यताम् अथ नीव्यताम्। एत वाच्य म मय्यताम क्रिया का अर्थ म त्रम म मय्यताम दित्वाया गया है। 'मया मय्यता मय्यता नीव्यताम् इम वाच्य म त्रम उगमता है। मय्यता आति ता अथ म एक माय अथय हा जाता है। यह भी तत्र का एक रूप है। अभेदकत्व मय्या दूसरी मय्या का साथ तत्रिणी मानी जाती है। आस्यत भवत्याम 'आस्यत भवति।' इसम आस्यत म एतत्त्व का सम्बन्ध द्वित्व मय्यता से भी हा जाता है। प्रश्न म भी बहुत्व मय्या एतत्त्व और द्वित्व की तत्रिणी होनी है। 'कति भवन पुत्रा' इस प्रश्न म बहुत्व का सम्बन्ध एतत्त्व और त्रित्व से भी है। इसी तरह नपुसक का स्त्री और पुरुष म तत्र सम्बन्ध सम्भव है जम त्रिम जातमस्य का उत्तर 'पुत्र जान' 'पुत्री जाना दाता हो सकता है। गोस्वामी व्रजति और गवा स्वामी व्रजति जस वाक्या म विभक्ति भी तत्रिणी हाती है। गोस्वामी व्रजति वाच्य स कम अरण्य का आश्रय सम्बन्धविशेष का रूप म हो जाता है 'गवा स्वामी व्रजति कहने से पट्टीविभक्ति द्वारा स्वस्वामिभाव के व्यक्त हो जाने के कारण व्रजति क्रिया से कम का भान अनियत ही रह जाता है। कभी-कभी प्रधान क्रियाविषयक धातु स उत्पन्न प्रत्यय अप्रधानक्रियाविषयक शक्ति को भी तत्र द्वारा समेट लेता है। इष्यते ग्रामो गतुम् जसे वाच्य मे 'इष्यते प्रधान क्रिया का प्रत्यय अप्रधान गमन क्रिया को भी साथ ले लेता है। पक्त्वा अन्न ओदनो भुज्यते एत वाक्य म भोजन क्रिया प्रधान और पाचन क्रिया अप्रधान है। अप्रधान का भी तत्र द्वारा, पहले पकाना है बाद म भोजन करता है के रूप म, ग्रहण हो जाता है। अथवा गुण-विषयक शक्ति अन्तर्निहित होती हुई भी प्रधान क्रिया का अनुरोध से अभिहित के सत्त्व जान पड़ती है। भोज ने पद और वाच्य की तरह दो प्रयोजन का सिद्ध करने वाले प्रकरण और प्रबन्ध को भी तत्र माना है।

व्याकरण शास्त्र मे तपरस्ततकालस्य १।१।७० म तपर तत्र तत्र का आधार पर बहुव्रीहिसमास के रूप मे (त परो यस्यात सोऽय तपर) और पचमी तत्पुरुष के रूप मे (तादपि पर तपर) दोनों तरह से गृहीत होता है। लम्बे प्रसारितत तु को तत्र कहा जाता है। जस वह अनेक तिरछे किए हुए तत्पुरुष का अनुग्राहक होता है वसे ही शास्त्र मे जब एक अनेक लक्ष्य अनुग्राहक होता है तत्र कहलाता है—तत्र प्रधान को भी कहा जाता है। सिद्धांत भी तत्र शब्द से अभिप्रेत होता है। महाभाष्यकार ने निर्देश और विवक्षित के सम्बन्ध मे तत्र शब्द का अनेक बार प्रयोग किया है।<sup>१३</sup>

१२ महाभाष्य त्रिपादो पृ० ४५ पृ० सरवरण

१३ तत्र तरनिर्देश महाभाष्य १।१।३३, तत्र य प्राध्याये वतते तत्रशब्द, तस्यहग्रहणम्—

शवरस्वामी ने तत्र को साधारण धम समूह के अथ म ग्रहण किया है ।<sup>१४</sup>

आवृत्ति एक क्रिया पदार्थ अथवा कारक पदार्थ का अपने अभिन्न रूप से पचाय रूप म अनन्यस्थला म उपस्थित होना आवृत्ति कहनाता है । एक साथ न भोजन करने वाले यदि कई व्यक्ति हा और थानी एक ही हो बारी बारी से एक ही थाली सत्रक भोजन का पात्र बन जाती है । एक ही वस्त्र या भूषण रंगमंच पर अनक नटा के लिए बारी बारी से उपयोगी हो जाता है । वाक्विकार न आवृत्तिसम्यान क रूप मे आवृत्ति का व्यवहार किया है । महाभाष्यकार ने इसक लौकिक उदाहरण म कहा है कि एक ही कपिला गाय को सहस्र ऋषिया न बारी बारी से सहस्र बार दवर सहस्र दक्षिणा का फल प्राप्त किया था ।<sup>१५</sup> व्याकरण शास्त्र म एकाच्—अनन्यच ग्रहणा म आत्रनिसम्यान क आश्रय से घटेन तरति जमे स्थला म द्वयचलक्षण ठन प्रत्यय होता है । कैयट के अनुसार आवृत्तिभेद स भी भेदाश्रयकाय की प्रवृत्ति देखी जाती है ।<sup>१६</sup> इत्यण सप्रसारणम १।१।४५ सूत्र म तत्र अथवा आवृत्ति क आधार पर वाक्याथ और वग दोनों के प न म दो तरह स अथ किए जात हैं । भाषा म त्रिषापद की आवृत्ति और कारक पद की आवृत्ति के उदाहरण अलकृत रचना मे बराबर मिलत है । जैसे—

शशिना च निशा निगया च शशी विभाति ।

सीता विस्मयते निरीक्ष्य हरते दष्टि भदित्याकुला ।<sup>१७</sup>

भेद जहा पर वस्तु अपने स्वरूप मामथ्य से अनकत्व प्राप्त करती है भेद माना जाता है । जस पात्र सहभोजी यकिनया के लिए भेद रूप म ही भोजन क आधार होत ह ।<sup>१८</sup> वेत् म भी 'ग्रह समार्षिटि जमे स्थला म ग्रह विषयक समाजन भेद रूप म किया जाता है । व्याकरणशास्त्र म भी न वेति विभाषा १।१।४४ इस सूत्र के प्रत्यारपानप न म उभयत्रविभाषा का कभी विधि रूप म कभी प्रतिषेध रूप म, भेदाश्रित प्रवृत्ति हती है । भाज न इस भेद का क्रियाभेद और न भेद के रूप म दिखाया ह । शब्द भेद भी पद और वाक्य भेद स दो तरह का और वाक्यभेद भी प्राकृत, वकृत भेद से दो तरह का होता है । 'जाग्रते च म्रियते च मविधा क्षुद्रजतव वाक्य मे 'क्षुद्रजतव म क्षुद्र और जतव रूप म पदभेद माना जाता है ।

बाध अर्थित्वमामाय के आधार पर अथवा उपपत्ति के आधार पर प्रवृत्ति के सभव होत पर भी दष्टि अर्थात् अर्थों म तुल्यबल वाल विरोधी अथवा अविरोधी

१४ तत्र साधारणो धमग्राम , शवरभाष्य १ । १।१

१५ महाभाष्य, पृ० १७ कोलहान सस्वरण ।

१६ गोद्वयच इत्यत्राश्चशब्दप्रतिषेधान लिगात् आवृत्तिभेदेनापि भेदाश्रयकायप्रवृत्ति ।

कैयट—प्रदाप, शिवसूत्र १

१७ मृ गाग्रप्रकारा, पृ० ३१६

१८ भोज ने उत्तरभारत का किमा परपरा को लक्ष्य कर भेद का लौकिक उदाहरण दिया है—  
गहस्थान पत्य आयावर्ने मभोगमपादनाय भेदेनैवोपामवे इति'

अर्थों का अप्राप्त्यनुमान बाध है। उसे बाधा भी कहते हैं। बाध अथवा बाधा वचन, असंभव, चरितायता, फलाभाव, विशेष प्रत्यक्षश्रुति परिसरया आदि कारणा से उद्बुद्ध होता है। 'अभक्ष्यो ग्राम्य कुक्कुट' इसमें बाध वचनसामर्थ्य से उद्बुद्ध है। बुभुक्षित का भक्षण में प्रवृत्ति अर्थित्व साधक है। उसका बाध उपयुक्त वाक्य से किया जाता है। यहाँ बाध वचनाश्रित है। मत हरि न इस वाक्य में प्राप्त्यनुमानबाधा न मानकर केवल बाधा माना है।<sup>१६</sup> 'गुरुत्वं गुरुपुत्रे वर्तितव्यम् अ यनाच्छिष्टभोजनात्' इस वाक्य में सामान्य उपदेश के आधार पर गुरुपुत्र के प्रति गुरुमदन व्यवहार करने की प्रवृत्ति है किन्तु उच्छिष्ट भोजन में गुरुसत्त्व व्यवहार का निषेध है अतः यहाँ भी बाध वचनाश्रित है। 'अप्याश्रि यूपोभवति' इस सामान्योपपत्ते का 'चतुरश्रा वाजपयसूप' इस उपपत्ते का एक साथ घटित होना असंभव है अतः यहाँ बाधा असंभव के आधार पर है। व्रीहीन अवहति में सामान्योपपत्ते और अर्थित्व के आधार पर प्रवृत्ति प्राकृत अवहनन 'नखनिभिर्नाना नखापूताना चरन्भवति' इसमें नख द्वारा ही अवधान प्रयोजन के सिद्ध हो जाने के कारण चरिताय रूप से बाधित है। इसी तरह 'गनकृष्ण लश्चरुभवति' इसमें कृष्ण में फलाभाव के आधार पर अवधान नहीं होना है।

ब्राह्मणभ्यो दधि दीयता तन्न कौण्डिन्धाय' इसमें औत्सर्गिक दधिदान तन्नदान से विनोप में प्रत्यक्ष श्रुति से बाधित है। अर्थित्व के आधार पर पाँच नख वाले और बिना पाँच नख वाले दोनों के भक्षण में प्रवृत्ति का पञ्चपञ्चनखा भक्ष्या' इस परि संख्या से बाध किया जाना है। यहाँ पञ्चनखांतरा की निवृत्ति मत हरि के अनुसार शब्दवृत्ति नहीं है किन्तु सामर्थ्य लक्षण है।<sup>१७</sup> व्याकरण शास्त्र में उत्सर्ग नियम का अपवाद से बाध निरूपित होता है। जैसे कमण्ठ ३।२।१ सामान्यनियम है उसका आन्तोनुपसर्ग के ३।३।३ इस विनोप नियम से बाध होता है। कम उपपत्त हो धातु से अण प्रत्यय होता है—यह उत्सर्ग वाक्य है। कम उपपद रहते भी आकारात् और उपसर्गरहित धातु से के प्रत्यय होता है। यह अपवाद वाक्य है। उत्सर्ग वाक्य का अपवाद वाक्य से बाध माना जाता है। मत हरि के अनुसार उत्सर्ग वाक्य अपवाद वाक्य की परिकल्पना में ही प्रवृत्ति होता है। उनमें मत में यहाँ उत्सर्ग वाक्य का रूप है आकारात् त वर्जित धातुमा से कम में अण होता है।<sup>१८</sup> इस सम्बन्ध में दो तरह के सिद्धांत गृहीत हैं। सबविनोपस्वीकारपूर्वक उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है अथवा कतिपय विनोप स्वीकार पूर्वक प्रवृत्ति होती है। पहला मत में उत्सर्ग के विषयविभाग के लिए पहले अपवाद की प्रवृत्ति होती है उसके बाद त्यक्त विषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है।

१६ अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुट' इति। अथमुक्त्य प्रतिषेध इति। न ह्यत्र प्राप्त्यनुमानाभा। किं तर्हि। बाधवचनम्।

सामान्यविधाना, पृ० १६

१७ इसी न शब्दवृत्ति। किं तर्हि। सामान्य लक्षणम्।

सामान्यविधाना पृ० १७

१८ आकारान्तरात् तन्मा धातुमा कमण्ठस्य सवनायकभूतमेव लुप्तस्यवाच्यम्।

वाक्यविधानाय ३।३।३, हरिवृत्ति, हलन्त्यम्।

हमारे मन में, अपवाद विषय की कल्पना कर उत्तर प्रवृत्त होता है।<sup>१२</sup> इस सम्बन्ध में भूत हरि ने कई प्रकार से विचार प्रस्तुत किए हैं। कुछ आचार्यों का कहना है कि गान्धर्व से प्रापित का गान्धर्वान्तर से बाध नहीं होता। दाना के अथ के परित्याग में बाध भेद नहीं है। अवश्य ही लोक में गम्यता (जाया) भुज्यमान (उपभोग करो) कहकर कुछ दोष देखकर स्थीयनाम (ठहरो) कहा जाता है। ऐसे स्थल पर गान्धर्वान्तर से प्रापित का गान्धर्वान्तर से निषेध है। किंतु यहाँ अप्राप्त्यनुमान गती है। अप्राप्त्यनुमान बाध्य प्राधक रूप में दया जाता है। वस्तुतः इस प्रसंगा में शास्त्र में अनन्त विचलन दस्य जाते हैं जसा कि कहा जाता है—यदि प्राप्ति कारण तुल्य हो प्रतिषेध विचलनाय हाता है अति। गम्यता भुज्यता जस उ सग वाक्य में दाप यदि न हो जाओ ऐसा छिपा हुआ है। बाध में दोषान्तर के दयन से अथवा प्रयाजन के अभाव में, अथवा किसी अथ प्रयाजन से अपवाद के सम्पन्न से दोषाभाव के रूप में विशेष अनुमित होता है।<sup>१३</sup>

‘कौण्डिन्य की छात्रांतर ग्राह्यता की दधि दो’ इस वाक्य में यद्यपि तत्प्रधान का गान्धर्व उल्लेख नहीं है फिर भी वह वाक्य नेपथ्य है और कौण्डिन्यश्रुति से उसका अनुमान हो जाता है। अथवा अनिरिक्त भी ग्राह्यता गन्ध है जिसकी वृत्ति कौण्डिन्य वजित ग्राह्यता में है। प्रत्येक सामान्य अन्तः प्रकार का होता है। जैसे ग्राह्यता ही कोई गाय दस्य हो। दधितान में अनुमय कौण्डिन्य के लिए दधितान गान्धर्व उन्मूल है तत्प्रधान गान्धर्व से प्रतीत है। हम यह नहीं कहते कि दधितान का कौण्डिन्य त्व प्राप्त है ग्राह्यता उन्मूल की तरह है। यदि माना जाय कि प्रतिषेध उपयुक्त है क्योंकि अयायक है। अप्राप्त्यनुमान का निरर्थक है। आत्मरूप की कल्पना में चरिताय हा जान के कारण उपस्थित दूसरे विधि को विकल्प रूप में ही कल्पना करेगा। क्या अप्राप्ति का कम अनुमान संभव है? अनुमान की पहुँच संवधा नहीं है। कस, ऐसा नहीं है कि प्रतिषेध जहाँ कही प्रवृत्त हो जाता है। वह स्वाभाविकी निवृत्ति का द्योतक है। नित्यपरतन्त्रता के कारण उसका अथ अयसमवायिनी निवृत्ति को द्योतित करता हुआ अनुमान की कल्पना करता है। जहाँ जहाँ प्रतिषेध इस रूप में रहता है वहाँ वहाँ सामान्यविशेषभाव सहचारि रूप में रहता है। वह अनुमान के लिए पर्याप्त है। जस आग के लिए घस। सम्बन्ध से और सम्बन्ध सम्बन्ध से भी अनुमान

१२ इह दशनन्त्यम् भवति शेषादीकारणं बोधगम्य प्रवृत्ति कतिपय शेषादीकारणं वा। तत्र पूर्वमिन्तर्गने, उत्तरगम्य विषयविभागाय पूर्वमपवाद प्रवृत्ते। पश्चान्तर्गतं मुक्तं विषये वस्य। द्वितीयं तु दशने, अपवादविषय परिकल्पयो सग प्रवृत्ते।

कैयट, महाभाष्य प्रदीप, २।३।४६

१३ अथ केचिन्तु, न शब्देन प्रापितय शब्दान्तरस्य दायनं भवति। समयोरथपरिधाने भेदमाभात्। ननु च तात्पर्य गयता भुज्यता त्व्युत्वा दोष किंचित् दृष्ट्वा स्थीयतामिति। न च तात्पर्यादनुमानम् अप्रापितं। न च (तच्च ?) वाक्यबाधकभावेनावतिष्ठत। एव प्रकारेण तादृककल्पितावकाशात्तरपु शास्त्रेषु विकल्पा दश्यन्त। ‘प्रतिषेधो विकल्पायस्तु तच्च चन् प्रातिकारणम्’ इति। अपि च गयता भुज्यतामिति दोषश्चल्ला तात्पर्यतु सग वाक्ये प्रसङ्ग्ये। तच्च दोषान्तरदर्शनात् प्रयोजनाभावाच्च प्रयोजनान्तरस्य बाधबाध प्रक्रियमाणेऽस्ति दाषाभावव्यप्य विशेषोऽनुमीयत—

—वाक्यपदीय २।२५ ? हरिवर्षा, हस्तलेख।



होना है। वहीं सामान्य में प्रयुक्त होते हुए भी विशेष में वही प्रातिप्रसंग नामक वर स्वभावनिवृत्त वाच्योपपन्न द्वारा ध्वन्यास्वाभाविक वाच्यत्व प्रयोजन द्वारा विशेष में प्राप्त करता हुआ सम्भव हो पर भी विद्यानिधान अनुभागे उक्त विषय बुद्धि प्रगति का हाना हुआ वाच्य बन जाता है।<sup>२४</sup>

कुछ भाषाय उद्देश्य और प्रयोजन में तब वाच्यत्व स्वीकार करता है जो कुछ विचारक इनमें तानात्व मानते हैं। वाच्य प्राधान्य माना जाता है। सामान्य पक्ष का सबत वाच्यत्व स्वीकार करता है तब स्पृहादि प्रातिप्रसंगी तानात्वप्रत्यय तब वाच्यत्व में लिया है। प्रयोजन के द्वारा उद्देश्य का वाच्य सामान्यत्व में होता है। जहाँ तानात्व प्रत्यय है वहाँ वाच्य नहीं होगा। तब वाच्यत्व की प्राप्ति करने समय तन्त्रति न एकवाच्यत्व का निर्देश लिया है। उन अनुसार तब भूत के आधार पर वाच्य भूत नहीं होता।

न विद्वत्स्थमिति कृत्वातो नाना वाच्य भवति विद्वत्स्थमपि सद्वच्यत्व  
भवति।<sup>२५</sup> —महाभाष्य १।४।६७

जो तानात्व के समर्थक हैं उनका अनुसार निराकाश प्रधान वाच्यत्व में एकत्व सम्भव नहीं है वही तानात्व ही मानना चाहिए।

इह साकाक्षाणां ससर्गां परस्परमुपकारे दत्तमानानाम् एकवाच्यत्वमपपद्यत ।  
प्रधानानि तु पृथगात्मनिवृत्तौ व्यावृत्तानि । तेषां निराकाशत्वात् सत्युपकारे  
नास्त्येकवाच्यत्वम् ।<sup>२६</sup>

२४ कौण्टि य न दधि ब्राह्मणोऽथो नोयतामित्येतत् उक्तवाच्ये प्रज्ञान तन्त्रानुयमाणायापि  
वाच्यशपस्य तत्रदानविषया कौण्टिन्यश्रुतिरनुमानम् । अथवा विद्वत् श्वापरो ब्राह्मण शब्द  
कौण्टि-यवर्जितेष्वेव ब्राह्मणेषु यस्य वृत्तिः । प्रदेशसामान्य हि बहुप्रकारम् । यत् यथा, ब्राह्मणो  
ऽस्ति, अत्र वाचिन्त्वा पश्यस्यति । ननु च दधिदाने कौण्टि-यवानुमेयशब्द प्रत्येक दधि  
दान, तन्त्रानु शब्दप्रतीतम् । न ब्रूम कौण्टि य व दधिदानस्य प्रापकम्, ब्राह्मणत्वं तच्छब्द दधिदेव  
ननु युक्त प्रतिषेधोऽप्यथकचात् अप्रा युमानमन्यकम्, आ मरूपप्रकृतये तु कृतायम् विद्यन्त  
मुपजायमान सामान्यान् विकल्पमेव प्रकलयत । तत्र कथमप्यतिरनुमीयते । सवधा नास्त्यनुमानस्य  
यावत्ति (यावत्ति १) । कथं न तावत् प्रतिषेध क्वचित्पि प्रवर्तत इत्यभ्युपगम्यते ।  
किं तर्हि, स्वाभाविकत्वा निवृत्ते द्योतका स सलु नि यपरतत्त्वादयथा तानान्यसमवायिनी निवृत्ति  
द्योतयन् अनुमान प्रकल्पयति यत्र यत्र च प्रतिषेध इति भूत, तत्र तत्र सामान्य विशेषभावोऽन्य  
दृष्ट यमिचार सहचारिप्रतीतिवतो विद्यते । सचानुमानायाजम् । यथाग्ने धूम पतगात् धूमका  
इति सम्प्रधान सम्बन्धमन्वधा चानुमान भवति । सामान्ये प्रयुज्यमान विशेषे क्वचित् प्राप्ति  
प्रमगमिव बुद्ध्या स्वभावनिवृत्त वाच्यशपस्य आभावेन वा वाच्यशपस्यावच्छेदेन विशेषे प्राप्यमाण  
सयपिमभवे विद्यानिधानानुमानत्वात् तद् विषय बुद्धिप्रसंग यावत्तयत् वाच्य इत्युच्यते ।  
वाच्यपक्षो २।३५२, हरिवृत्ति, हस्तलेख

२५ कैय ने देश शब्द काल का उपलक्षण माना है—न कालभेदान नानावाच्यत्व भवति । शास्त्रे  
विदेशस्थानामन्यन्तरवाक्यानामाकाक्षावशादेकवाच्यत्वदर्शनात् । देशग्रहण चात्र काचरयोरल  
क्षणम् ।

—कैय महाभाष्य पदोप १।४।६७

२६ वाच्यपक्षो २।३५४ हरिवृत्ति, हस्तलेख

आख्यात क भिन भिन हात हुए भी उत्सर्ग और अपवाद में एकवाक्यता के समर्थक अपने पक्ष में नियम प्रतिषेध का विधिशेष आदि की उपपत्ति बनलात हैं। इन्हीं गुणवल्ली १।१।३ सावधानतुकाधधातुक्रयो ७।३।८४ क गुणविधि का गण है और उसके साथ एकवाक्यता से साथक हाता है। प्रतिषेध भी विधि के साथ एकवाक्यता से सफलता पाता है। भिन आधार में भी एक शक्ति की कल्पना से एकवाक्यता की उपपत्ति हो जाती है। पुण्यराज न आकाक्षा योग्यता और सन्निधि क आश्रय से एकत्वपक्ष का समर्थन किया है।<sup>२</sup>

भोज न भाषा के व्यवहार में वाक्य के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

वामेन अग्ना एष पश्यति

किमस्य यत्न रोचत ।

आदि वाक्य विशेष क वाचक हैं।<sup>२८</sup>

समुच्चय तुल्यबलवाने अविरोधिया का एकाधपरक उपादान का नाम समुच्चय है। जस दवन्त भोज्य लवणेन मषिषा शाकन — इस वाक्य में लवण धी गाक का उपादान एक भोजन क्रिया के लिए किया गया है। भाज क अनुसार अविरोधिया का तुल्यविधान भिन प्रयाजन वाला का एक काय क लिए ग्रहण समुच्चय कहलाता है। गुण आदि का समुच्चय भेद रूप में और अभेद रूप में दाना तरह से देखा जाता है।

व्याकरणशास्त्र में प्रत्यय कृत कृत्य सनाया का प्रत्यय तद्धित, तद्राज सना का एतत् समुच्चय अविरोध और फलभेद के आधार पर, दंगा जाता है।

जयान्तिय ने अनक क्रिया के अध्याहार को समुच्चय माना है (अनेक क्रियाध्याहार समुच्चय — कानिका ३।४।३)। समभिहार से समुच्चय में भेद यह है कि समभिहार तीन पुत्र अथवा एक ही की पुनरावृत्ति है वह एक ही क्रिया में होता है समुच्चय अनक क्रिया में होता है। यामकार ने समुच्चयि को समुच्चय माना है। एक साधन अथवा क्रिया के प्रति क्रियाया की चीयमानता अनकता समुच्चय है। समुच्चय तुल्यबला में और जिनका नियतक्रमयोगपक्ष नहीं है उही में हाता है जस, गाम अश्व पुरुष अहरह नययानो व्यवस्वत — इस वाक्य में एक नयन क्रिया से गाम अश्व आदि का सम्बन्ध है।<sup>२९</sup>

ऊह ऊह का सम्बन्ध लिंग, वचन विभक्ति आदि क विपरिणाम से है। दो तरह के याग होत हैं प्रकृति और विकृति। जिसमें इतिवृत्तयता आदि संपूर्ण अंग समूह का उपपन्न हाता है वह प्रकृति है। जस दानपूणमात्र आदि। जहा सम्पूर्ण अंग का उपपन्न नहीं होता वह विकृति है। जस सोय आदि। प्रकृति की तरह विकृति

२७ वानुसवाकाद्यायोग्यता सन्निधिवशादकवाक्यतागत वाक्य बोद्धव्यम्।

—पुण्यराज, वाक्यशास्त्र २।३५३

२८ गार प्रकाश पृ० ३१७

२९ काशिकाविवरण पत्रिका २।२।२६ कैट और मन्त्राजिनीधित क भा सम्मन नत ई। द्रष्टव्य महाभाष्य दाय २।२।२६ तथा शब्दकान्तुम २।२।२६

करती जाति। यह भीमांग का चयन है। प्रकृति में निम्न मंत्र का जो अभिप्राय है यदि वह विवृति में सामर्थ्य रूप में नहीं है। मनुष्य मंत्र की नियति होती है। यदि उसमें एक देव का अभिप्राय नहीं है तो उसमें एक देव की नियति होती है।

भक्त हरि ने महाभाष्यत्रिपाठी में ऊपर लिखे प्रमाण लाया है। भाष्य का वाक्य के धर्मों पर विचार करते हुए ऊपर जो कुछ लिखा है वह मंत्र महाभाष्यत्रिपाठी से लिया है। उसका आधार पर यहाँ ऊपर का कुछ विवेक किया जा रहा है। ऊपर प्रकृति में समर्थ मंत्र का विवृति में सामर्थ्य के अभाव के कारण प्रकृति स्वरूप वचनांतर के उपादान के रूप में लिया जाता है। दूसरे मंत्र में प्रकृति मंत्र के एक प्रकृति लिग, वचन विभक्ति आदि का दूसरे एक प्रकृति, लिग वचन, विभक्ति रूप में यथावत् उपादान ऊपर कहलाता है। जैसे प्रकृति याग में अग्नय त्वा जुष्ट निवपामि (प्राप्तामि) <sup>३०</sup> — इसमें अग्नि मंत्र अगार के अर्थ में समर्थ देगा गया है। विवृति याग में अग्नय के स्थान पर सूर्याय ऊपर कर लिया जाता है।

विवृत याग में एक मंत्र की नियति हो जाने पर भी किया में मुख्यवृत्ति में उलटफेर के कारण (बाध) और अर्थांतर के प्रसक्ति के कारण मंत्रांतर का अर्थांतर के ग्रहण के रूप में किया जाता है। यदि विचार मीन रूप में, उपागुप्रयोग के रूप में, किया जाय प्रकृति मंत्रवती होगी जबकि विचार अगार हो जायगा। यदि अगार न कर अग्नि मंत्र का ही ग्रहण किया जाय अग्नि मंत्र अपने मुख्य अगार अर्थ में परिनिष्ठित होने के कारण सूय अर्थ का प्रत्यायन नहीं कर सकेगा। यदि मुख्यवृत्ति (अभिधा) का आश्रय न लेकर और गौणी वृत्ति के सहारे अग्नि मंत्र का सूय के अर्थ में प्रयोग मान लिया जाय प्रकृति के विपरीत शास्त्रवृत्तिधर्म का आश्रय अपनाता हो जायगा। इसलिए उसी विभक्तिवाले दूसरे मंत्र का उपादान कर लिया जाता है, अग्नय त्वा जुष्ट निवपामि के स्थान पर 'सूर्याय त्वा जुष्ट निवपामि' कहा जाता है। चतुर्थी विभक्ति दोनों में समान है बस प्रकृति में परिवर्तन हुआ है। अग्नि के स्थान पर सूय का उपादान किया गया है। इस तरह यह प्रकृति ऊपर है।

लिङ्ग का भी ऊपर होता है। जैसे 'देवीराप गुद्धायम्' <sup>३१</sup> देव आश्रय शुद्ध त्वम्। पहला वाक्य आप (जल) देवता के विनियोग में है। इसलिये गुद्धा में स्त्रीलिङ्ग है। इस वाक्य को आज्ञा के साथ रखने में गुद्धा के स्थान पर गुद्ध करना पड़ा है। यह लिङ्ग का ऊपर है।

विभक्तियों का भी ऊपर होता है। जैसे आयुरागास्ते <sup>३२</sup> के लिए आयुरागासाते अथवा आयुरागासते। जिनका प्रकृति में ही अथवा बिना प्रकृत्यर्थ के सामर्थ्य नहीं है उनका असामर्थ्य के कारण विवृति में ऊपर नहीं होता है। जैसे वायव स्थ <sup>३३</sup>

३० वाचस्पत्यो महिता १।१।२०

३१ मन्त्राधिकारी महिता १।१।११।७५

३२ तत्तिराय महिता २।६।१७

३३ तत्तिरीय महिता १।१।१

‘उपायव स्थ मे प्रकृति म ही बहुवचन के द्वारा एक वत्स का अभिधान होता है । इसलिये विकृति मे यहा ऊह नही होता । इसी तरह ‘अदिति पाशान प्रमुमाक्तु’<sup>३४</sup> इसमे प्रकृति म ‘पाशान’ म बहुवचन एक प्रकृतिपाग के लिए व्यवहृत हुआ है । यहा भी विकृति मे ऊह नही होता है । किसी वाजसनयी शाखा मे ‘अदिति पागम’ इस रूप म एकवचनात् रूप म पढा जाता है, इस दृष्टि स यहा ऊह प्राप्त हो सकता है । यदि ऐसा नही है अदितिरशना पाग म ऊह नही होता । अथवा यहा नगमविभाषा—वदिक विनल्प है । बहुवचा के प्रयोग म यथेष्ट प्रयाग होता है । भत हरि न निग ऊह क कई उदाहरण यागभेद और शाखाभेद स लिखाए ह । वेद म जूरसिधता मनसा जुष्टा<sup>३५</sup> इस रूप म स्त्रीलिंग पाठ मिलता है । इसका साद्यस्त्री मे स्त्रीगन वक्ति की उपेक्षा कर, वद म पुल्लिंग रूप में दष्ट न होने पर भी पुनर्द रूप म ऊह हाता है फलत जूरसि धनो मनसा जुष्टो आदि रूप म पढा जाता है । इसी तरह राजक्यणी-सस्तव म चिदसि भनासि धीरसि दक्षिणासि सुप्राची सुप्रतीची भव<sup>३६</sup> रूप म स्त्रीलिंग रूप म पढा जाता है । इसी को साद्यस्क मे पुल्लिंग रूप म ऊह होता है—चिदसि भनोसि धीरसि दक्षिणासि सुप्राच सुप्रत्यक मत्र आदि । वाजसनयी शाखा वाल भी इसी रूप म इनका ऊह किया करते है । इसी तरह सोमक्यणाभ्यन मत्र म स्त्रीलिंग पद पढे जाते हैं जैसे वस्यसि रुद्रासि चद्रासि ।<sup>३७</sup> इनका साद्यस्त्री मे पुल्लिंग रूप म ऊह होता है । वसुरसि, रुद्रोसि चद्रासि । इसी तरह पशुप्रकृति म पुन्नित्ग रूप म मत्र पढा जाता है—‘अस्मिन प्रतिभुञ्चति’ । इसका ‘अस्यै प्रतिवदय’ रूप म स्त्री प्रत्यय के रूप मे ऊह होता है यदि उस स्त्रीगवी का आलभन मूर्धा स हा । ‘हुतो याहि पथिभि देवयान’<sup>३८</sup> का ऊह हुता याहि के रूप म स्त्रीप्रत्यय के रूप मे देसा जाता है ।

पाणिनि का घसह्वरणश २।४।८० सूत्र घस ह्वर, णश आन्ति से, छन्द म सिच (लि) क लुक् का विधान करता है । ऊह्य मत्रो म ऐसे मूत्रो की प्रवृत्ति होगी कि नही इस प्रश्न पर विचार भेद था । कुछ आचार्यों क मत म ऊह्य मत्र नही है, इसलिये छादम नियमा की प्रवृत्ति इनमे नही होनी चाहिए । ‘अघस्ताम’ जस प्रयोग की उप पत्ति पठित के आधार पर कर लनी चाहिए । कुछ आय आचार्यों के मत म ऊह विप यक मत्र मत्रांतर हैं—एक प्रकार के मत्र हैं । अघसत अघसताम अघसन अभीपु अशन य सब ऊह प्रकरण म पढे जात हैं । वही कही स्वय वद म ही तपध्वम तप्यम्ब तप्यथाम जस ऊह प्रयोग निर्दिष्ट है । इसलिए ऊह्य और अनूह्य की ‘याय से व्यवस्था समव होने पर लिंग वचन और विभक्ति क विनियोग के लिए ऊह क विषय म व्याक

३४ मैत्रायिणी संहिता १।२।१५ २६।७, तैत्तिरीय संहिता ३।१।६।४

३५ वाजसनेयी संहिता ४।१७, तैत्तिरीय संहिता १।२।४।१

३६ तैत्तिरीय संहिता १।२।४

३७ वाजसनेयी संहिता ४।२१

३८ मैत्रायिणी संहिता १।५।१०।—६।१।१

रण शास्त्र की अपेक्षा की जाती है। ऊह म प्रनिषेध क विषय म भन हरि न एष वारिणा उद्धत की है

अट्टगानि जातिनामा युपमा चेद्रियाणि च ।

एतानि नोह गच्छन्ति मभिगो विषम हि तत ॥

अधिगु से अयत्र अगा का जातिनामा का उपमा का इद्रिया का उह नही हाना । अधिगु म होता है । अग के अनूह क उपाहरण म 'यत पशुर्मायुमकृतोरो या पदिम राहते । अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान मुञ्चत्यहस' <sup>३६</sup> यह मत्र उपाधा किया जाता है । इस मत्र म प्रवृत्ति याग म उर का उरमी रूप म विपरिणाम नही हाना जयकि पग का पगू रूप म होता है । इसी तरह वटपशुन विट्टनियाग म पशु का विपरिणाम पगव हाना <sup>३७</sup> किन्तु उर का उराणि नही होता । भन हरि क वक्तव्य स जान पडता है कि उह परि गणित हो चुक थ और गणपाठ की तरह उनका भी एष नाम्ना था । अगा म पाणिपा गिर गीव आदि जातिनामा म माना जाता भाता आदि, उपमा म कश्यपवा साच्छिन्द्रे श्रोणी कबयारू स्त्रोत्रगा आदि इद्रिया म चय श्रोत्र आदि परिगणित थे ।<sup>३८</sup>

भन हरि क अनुसार इतिवक्तव्यता और गीति क उह म व्याकरण की गति नही है । उसकी व्यवस्था लोक से लक्षणान्तरा स और प्रातिगाम्या आदि म समभव है । किन्तु गत्रविषयक ऊह म—विभक्ति आदि के विपरिणाम म व्याकरण की प्रवृत्ति है । ऊह का विषय वस्तुतः प्रवृत्तिविकृतिभाव से ही है ।<sup>३९</sup>

पुण्यराज के अनुसार सबध याग और विभक्त्यन्तर के योग जहा व्याकरणशास्त्र म दिखाया गय हैं वे ऊह के विषय हो सकते हैं । जैसे भूवाप्यो धातव १। ३। १ सूत्र मे धातव प्रथमात्त है । अनुदात्तङित आत्मनेपदम १। ३। १२ म इसकी अनुवृत्ति होती है । वटा धातो पञ्चम्य न अपक्षित है फलतः प्रथमात्त का पञ्चम्यत्त म विभक्ति विपरिणाम कर लिया जाता है । इसी प्रकार उपदेशेऽजनुनासिक इत् १। ३। २ तथा तस्यलाप १। १६ मे भी विपरिणाम का आश्रय लिया जाता है । जो विभक्ति जिस रूप म श्रुत है उसी रूप म जब अवय की उपपत्ति नही होती है तो अयथानुपपत्ति के आधार दूसरे के साथ सम्बन्ध की चरिताथता के लिए विभक्ति विपरिणाम कर लिया जाता है । यह विपरिणाम सामर्थ्य से अनुमित होता है अथवा क्षीर दधि के विपरिणाम की तरह भिन्न होता हुआ भी प्रत्यभिमान के बल स अभि न माना जाता है । अथवा तदेव इदम इस रूप म उपचरित होना है ।<sup>४०</sup>

३६ तत्तिराय संहिता ३। १। ४३

४० कश्यपकवचवेकाया कच्छपमस्वतानीयकरवीरवाचिना यथोपमेयलिग सस्यान्तरविपरिणामो न भवति—  
हेलाराज, तिसमुदेश ५६०

४१ महाभाष्य त्रिपादी, पृ० ५८

४२ वाचस्पदीय, वृत्तिसमुदेश ४५६ ४६०

भाज ने मत्र क अतिरक्त भाषा म भी ऊह के प्रयोग दिखाए हैं।<sup>४३</sup>

सम्बन्धाबाध—पुण्यराज के अनुसार सम्बन्धाबाधन ऊह का प्रतिपक्षी है। 'देवन्तस्य उच्चाणि गह्राणि युक्ता तानि अभिजातस्य' इसम पहले वाक्य के विभक्त यत्त पदा का वाक्यान्तर के तदनुकूल पदा से संबन्ध हो जाता है। इसी तरह 'वदरी सूक्ष्मकण्टका मधुरा वक्ष पचाला जनपद आदि म सम्बन्धाबाधन माना जाता है। वदरी के विक्षेपण मधुर और सूक्ष्मकण्टक शब्द हैं, वदरी के स्त्रीलिङ्ग स उनका भी योग मान कर मधुरा सूक्ष्मकण्टका कहा जाता है। यदि वृक्ष से संबन्ध हो तो वृक्षगत लिङ्ग सत्या याग होता चाहिए। महामाष्यकार ने ऐसे स्थला पर आविष्टलिङ्गा-जाति का सहारा लिया है। जाति क सहारे उसक विक्षेपणा म भी युक्तवदभाव नहीं होता है। फलत पचाला जनपद प्रयोग उपपन्न होत हैं।

ध्याकरण शास्त्र म बहुगणवतुडति सख्या १।१।२३ सूत्र म बहु और गण गन्ध का वपुत्य या मध के अर्थ म ग्रहण न होकर मत्वावाची के अर्थ म ग्रहण होता है। और उनकी सत्या सत्ता की जाती है। पणा ता पट १।१।२४ म पणाता म स्त्रीलिङ्ग निदेश मे सत्या से उमका संबन्ध हो जाता है। वेद म भी यजमान दण्डेन दीपयति जम वाक्या म यजमानम् का संबन्ध अबाधित रूप म हो जाता है।

भोज न संबन्धाबाधन की दूसरे रूप म लिया है। उनके अनुसार विनियम श्रुति के द्वारा भी सामान्यश्रुति का अबाध संबन्धाबाधन है। जम ब्राह्मणा भुञ्जता माठरकोण्डियौ परिविविष्टाम, इस वाक्य म विनियमश्रुति माठरकोण्डिय से सामान्यश्रुति ब्राह्मण भुञ्जताम का बाध नहीं होता।<sup>४४</sup>

सामान्यानिदेश सामान्यातिदेश अनिदेश का एक भेद है। अर्थ धर्म का अर्थत्र प्रापण अनिदेश है। सामान्य का भी अनिदेश होता है और विशेष का भी अनिदेश होता है। सामान्यातिदेश म अर्थत्र जो धर्म रह्य हैं उनका प्रसिद्ध अथवा अनुमयभेद सभव संबधिया द्वारा निर्जात भेद वाले वस्तुआ (अर्थों) म प्रापण किया जाता है। ब्राह्मणवत् अस्मिन् क्षत्रिय वर्तित-यम्' इस वाक्य स ब्राह्मण शब्द के जितन प्रसिद्ध अर्थ हैं उनसे सम्बद्ध जो प्रसिद्ध वाक्य है अन्नभोजन आदि उन सबका क्षत्रिय म, जिसम ब्राह्मण शब्द की वृत्ति नहीं है, अनिदेश किया जाता है। सामान्य मे

४३ चूडाचुम्बिन कङ्क कपत्रमभिगन्तूणीद्वय पृष्ठतो,

भस्मस्तोत्रपवित्रनाज्जदनसुरोधरो खन्व रौरवाम् ।

मौव्या मरुतया नियन्त्रिमथो वामश्च माञ्जिष्ठकम्

पाणी वासु वमच्चसूत्रवनयं दण्टोऽपर पैपल ॥

(उत्तररामचरित ४।१०)

इत्युत्तररामचरिते त्वमेवमुदीश्य भवभूतिनकमेतद्वलोक पाठितवान् । तमेव पश्चाद्द्वोरचरिते (४।२२) धत्तस्त्वच रौरवामित्पुष्टयिन्वा रामलक्ष्मणौ द्वाडुद्विश्य कुरा वपमपपठन् । अत्रायुर पाणिवायु वासु कादोनामामूहो न भवति । सर्वधिमैदनेव मेदसिद्धे । भदन् हि प्रतिपत्त्याऽर्थो यावाभेदेऽपि भवति तावन् भिद्यते ।



होता है एक के पर होने से शय से बाध भी नहीं होना, फलतः उपसरयान की आवश्यकता भी नहीं हानी। शास्त्रातिदेश और कायातिदेश में भेद यह है कि शास्त्रातिदेश में काय उन उन शास्त्रा (सूत्रा) से होता है जबकि कार्यातिदेश में काय अतिदेश वाक्य से ही होता है।<sup>४५</sup>

सभी अतिदेशों में कार्यातिदेश प्रधान माना जाता है।<sup>४६</sup>

पुण्यराज के अनुसार व्यपदेशातिदेश व्याकरणशास्त्र (पाणिनिशास्त्र) में सम्भव नहीं है। वह सनापक्ष से भिन्न नहीं है और वत ग्रहण भी विफल हाने लगेगा।<sup>४७</sup> किन्तु कयट आदि ने अनेकस्थल पर व्यपदेशिवन्भाव का आश्रय लिया है

य शब्दो यवान् तस्यार्थोपादानपरित्यागाम्या

व्यपदेशिवन्भावो भवति बुद्ध्या नानात्वकल्पनात् ।

—कयट, महाभाष्य प्रदीप ६।१।४५

भोज में व्यपदेशमान को अतिदेश का काय माना है।<sup>४८</sup> अतिदेश वत्यादि के बिना भी देखा जाता है। जैसे अब्रह्मदत्त के लिए ब्रह्मदत्त का प्रयोग किया जाता है। इसकी व्याख्या इस रूप में की जाती है कि ब्रह्मदत्त में जो गुण या क्रियाएँ थी उनका अब्रह्मदत्त में समारोप कर लिया जाता है। अथवा ब्रह्मदत्त में जो गुण आदि अभी होंगे उनका बुद्धि से आकलन कर उपमानोपमेय सम्बन्ध के सहारे उपचार से अब्रह्मदत्त के लिए ब्रह्मदत्त शब्द का प्रयोग किया जा सकता है।

उशीनरवन मन्त्रेण यवा ' इस वाक्य में अतिदेश है कि नहीं ? भोज के अनुसार यहा भी अतिदेश है। यहा उशीनर के यवा का भाव अथवा अभाव रूप में प्रसिद्धो का मद्र जनपद के यव में अतिदेश किया जाता है। यद्यपि वति प्रत्यय का स्वरूप समान है। किन्तु दो नियमों से प्रवर्तित होने के कारण ये दो भिन्न भिन्न काय करत हैं। तेन तुल्य क्रिया चत वति १।१।१५ से प्रवर्तित वति प्रत्यय प्रकृत्यय धम का अयत्र अतिदेश करता है। तत्र तस्यव २।१।१६ से विहित वति प्रत्यय आधेय सम्बन्धि धर्मों का अयत्र अतिदेश करता है। तन्हम् ५।१।१७ से विहित वति प्रत्यय सम्भवतः सभिन्न बुद्धि वाला यह लिए नियम विधायक है। आपिणल और कागदृत्स्न व्याकरण में तदहम् नियम नहीं था।<sup>४९</sup>

४५ शास्त्रकार्यातिदेशयोश्चाय विराय । शास्त्रातिदेश तेन तन शास्त्रेण कायाणि भवन्ति । कार्यातिदेश तु अतिदेशवाक्येनैवेति—  
पदमजरी ७।१।६५, पृ० ७४०

४६ सर्वान्तिदेशानां कायातिदेशस्य प्राधान्यात् तद्वैवेदाश्रयणम् ।

महाभाष्यप्रदीप १।१।२१

४७ व्यपदेशिवन् भावस्तु व्याकरणे नैव सम्भवति संज्ञा  
पञ्चविंशतान् वत् करणवैषम्यप्रसङ्गात् ।

पुण्यराज, वाक्यपदीय २।७८

४८ व्यपदेशमात्रमपिकायमतिदेशस्य

अ गार प्रकाश ५० ३०१

४९ तन्हमिति तारक्य मध्य व्याकरणान्तरे ।—वाक्यपदीय वृत्तिसमुद्देश ५६१

आपिणल कागदृत्स्न सूत्रमेतन् नाशेयम् ।

—हेलाराज, वृत्तिसमुद्देश



भोज न उपमान के प्रसिद्ध धर्मों का उपमय व आरोप व रूप म प्रतिदेन की ग्रहण किया है । यह प्रसिद्धि कभी लोक कभी प्रयोक्ता और कभी प्रत्येक आत्मा प्रमाण की अपेक्षा रखती है ।

सावर स्वामी ने नाम और वचन के आधार पर पांच प्रकार के आतिदिगिमाने हैं कमनाम, सस्वारनाम योगिन, प्रत्यक्षधुन और आनुमानिक । उन्होंने प्रतिदेन के स्वरूप के धानव निम्नलिखित प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है ,

प्रकृतात् कमणो यस्मान् तत्समानेषु कमसु ।

धर्मोपदेन येन स्यात् सोऽतिदेन इति स्मृत ॥

—सावरभाष्य ७।१२

अथित्व सामर्थ्य और अर्थभेद—न तीन को पुण्यराज ने वाक्यधम नहीं माने हैं । किन्तु वाक्यधम के सम्बन्ध म मनुहरि ने सामर्थ्य और अर्थभेद का उल्लेख स्वयं किया है

वाक्येऽपि नियता धर्मा केचित् वत्तो द्वयोस्तथा ।

तेऽर्थभेदेन (त्वभेदेन) सामर्थ्यमात्र एवोपवर्णिता ।<sup>५०</sup>

अथित्व स अभिप्राय एवार्थीभाव से जान पड़ता है । सामर्थ्य से अभिप्राय भेद ससग अथवा भेदससग दोनों स है । यदि वक्ति म भेद और ससग न हा, सामर्थ्य नहीं हो सकता । सामर्थ्य भेद ससर्गात्मक होता है । कभी भेद सामर्थ्य होता है और ससग अनुमेय होता है । कभी ससग सामर्थ्य होता है और भेद अनुमेय होता है अथवा युगपत् आश्रित होकर दोनों सामर्थ्य कहलाते हैं । महाभाष्यकार न भेद और ससग की उपपत्ति यहा अवयवव्यतिरेक के सहारे की है । भोज ने भी ऐसा ही दिखाया है ।<sup>५१</sup> अर्थभेद वाक्य और वक्ति के अर्थ के अभेदत्व का प्रतीकमात्र जान पड़ता है ।

अधिकार पुण्यराज और भोजराज ने अथित्व और सामर्थ्य को स्वतंत्र वाक्यधम के रूप म न लेकर इनका सम्बन्ध अधिकार अथवा अधिकारी से जोड़ा है ।

अथित्व सामर्थ्य शास्त्रपटु दासयोगित्वमधिकार ।<sup>५२</sup> मीमांसादशन मे यन क्रिया मे उसी का अधिकार माना जाता है जो अर्थी हो, जो दूरफल की इच्छा रखता हो । साथ ही जा अधिकृत वण का हो, निषिद्ध जाति का न हो । अदृष्ट के विषय मे सामर्थ्य असामर्थ्य का निर्णायक शास्त्र है

त्रियासु योग्यत्वमधिकार । क पुन योग्य अर्थी समथ शास्त्रेण पटु दस्त इति ।<sup>५३</sup>

५० वाक्यपदीय ३ वक्तिसमुद्देश ३६

५१ किं पुनरिदं सामर्थ्यं नाम । भेद ससर्ग उभय वा । तत्र राक्ष पुरुष इत्यत्र तावदेतदवधत्तपरायत्त वक्तिरयं पुरुष न स्वतंत्र तदा स्वामिससगस्यावगतत्वात् स्वामिविशेषज्ञानोपादीयमानो राजशब्देभ्य स्वाम्यन्तरेभ्य पुरुष व्यावयवनि । सोऽयं स्वाम्यन्तरवच्छेदो भेद इत्युच्यते ।

—शृ गार प्रकाश अध्याय ३४ हरतलेख

५२ पुण्यराज वाक्यपदीय २ ७१

५३ शृ गार प्रकाश, पृ० ३२३

अदष्टाथविषये (विशेषे) हि सामर्थ्यासामर्थ्ये शास्त्रादेव समधिगम्येते ।<sup>५४</sup>

अर्थित्व, सामर्थ्य और अधिकार को साथ रखकर इनकी एक दूसरी व्याख्या भी संभव है अर्थात् एकार्थीभाव सामर्थ्य और अधिकार अथवा व्यपक्षा, सामर्थ्य और अधिकार । इन दोनों पक्षा का महाभाष्य में समर्थ सूत्र २।१।१ में विवेचन मिलता है ।

व्याकरणशास्त्र में अधिकार का सम्बन्ध पुण्यराज के अनुसार, शब्द, अर्थ और पुरुषधर्म से है । यहाँ प्रसंग से पुण्यराज ने शब्द और अर्थ के भेदों पर विचार किया है जो निम्न लिखित है ।

शब्द छ तरह के हैं । साधु और असाधु । साधु शब्द भी दो तरह के हैं शास्त्रीय और प्रायोगिक । शास्त्रीय शब्द भी तीन तरह के हैं । प्रतिपाद्य, प्रतिपादक और उभय रूप । प्रायोगिक भी लौकिक और बौद्धिक भेद से दो प्रकार के होते हैं । इस तरह कुल छ प्रकार के शब्द हैं ।

अर्थ अठारह प्रकार के होते हैं

- १ वस्तुमात्र—जिसके बारे में कहा जा सके जो प्रतिपादन का विषय बन सके वह अर्थ का वस्तुमात्र रूप है अर्थात् जो कुछ वस्तु है, चाहे उसकी यथाय सत्ता हो अथवा कल्पित सत्ता हो वह वस्तु मात्र अर्थ है । दूसरे शब्दों में, शब्द निरपेक्ष वस्तु की सत्ता वस्तुमात्र है ।
- २ अभिधेय—अभिधेय वह अर्थ है जो शब्द का अर्थ है । बाह्य यथाय अर्थ नहीं । जो समीहित है वह अभिधेय है । अभिधेय ही शब्द-व्यापार का विषय है । यह दो प्रकार का होता है । शास्त्रीय और लौकिक ।
- ३ शास्त्रीय वह अर्थ है जो पौरुषेय है कल्पित है, व्यभिचरित भी होता है फिर भी जो परंपरा से अव्यभिचरित माना जाता है और जो परिकल्पित होता हुआ भी अविकल्पित-मा शब्दसाधुत्व के निमित्त के रूप में प्रतिपाद्य माना जाता है । उसकी नियत अवधि नहीं है इसलिए व्याख्याता उसकी बहुधा विभक्त कर अवाम्यान किया करते हैं । इसलिए वह आवापोद्धारिक भी है उसका विश्लेषण आवाप उद्धार पद्धति से किया जाता है ।
- ४ लौकिक अर्थ अखण्ड अर्थ है । लौकिक अर्थ में ही शब्द का अधिकार माना जाता है शास्त्रीय अर्थ में शब्द का अधिकार नहीं होता है ।
- ५ विनिष्ठावग्रहसप्रत्ययहेतु—जब अर्थ विनिष्ठाकार रूप में नान विरोध का प्रत्यायक होता है वह विनिष्ठावग्रहसप्रत्यय हेतु माना जाता है । कम धातयति बलि वधयति जस वाक्या से भूतकाल के व्यापार नर आदि के माध्यम से वर्तमान काल में दिनाए से जाते हैं । इस तरह के अर्थ के लिए विनिष्ठावग्रह सप्रत्ययहेतु शब्द का व्यवहार पुण्यराज ने किया है ।

५४ पुण्यराज, वाक्यसागर २।७९, ४ गार प्रकारा ५० ३२३ पुण्यराज और भोज के इस प्रसंग के कई वाक्य समान हैं । या तो दोनों ने भवु हरि से लिया है अथवा भोज ने पुण्यराज से लिया है । द्वितीय पक्ष में पुण्यराज के समय का अन्तिम सीमा ६० १५० हो जाता है ।

६ अविशिष्टावग्रहसप्रत्ययहेतु—वाह्य रूप म जो वस्तु जैसी है उसी रूप म उसका उदभावन अविशिष्ट अवग्रह सप्रत्यय हेतु अथ है जैसे गौ शुक्ल ।

७ मुख्य—शब्द के उच्चारण स जिस अर्थ का साक्षात्बोध होता है वह मुख्य है । जैसे गौ शब्द स सास्ना आदि युक्त गौ व्यक्ति ।

तस्मात् श्रुतिमात्रेणशब्दस्य येषामर्थेषु तादर्थ्यमवगोप्यते तेषां मुख्यमथमाचक्षते । यत्रश्रुतिमात्रविषय प्राकृत यत्नमतिक्रम्य निमित्तांतरात् प्रतिपत्ति त गौणमित्याहुः ।<sup>१५</sup>

८ परिकल्पितरूपविपर्यास—किसी निमित्त के आधार पर जिसका रूप विपर्यास कल्पित होता है वह अर्थ परिकल्पितरूपविपर्यास है । दूसरे शब्दा म गौण अर्थ का एक नाम परिकल्पित रूपविपर्यास है । किसी आचार्य के मत म शब्द का अपना स्वरूप ही उसका मूल अर्थ है । उसी के साथ उसका नित्य संबंध है । शब्द के स्वरूप का अर्थ म अंगारोप किया जाता है । जो यह गौ शब्द है वही यह गौ पिण्ड है । श्रवण तो शब्द रूप का होता है किंतु उसका अर्थ म विपर्यास हो जाता है । कल्पित होने के कारण इसे कल्पितरूपविपर्यास कहा जाता है । सत्र लोक व्यवहार इस विपर्यास से ही परिचालित होते हैं । यह विपर्यास द्वितीयस्थानापन्न है । इसलिए इसे गौण कहा जाता है—

अग्ने त्वाचार्या मयते स्वरूपे शब्दो नित्य वतते स एव तस्यांतरगो व्यभिचारी (अर्थव्यभिचारी) शब्दांतरइचासाधारणाऽथ । तत्र चानुपदेश प्रतिपत्ति सर्वेषाम् । रूप तु शब्दानामर्थेष्वेवाध्यारोप्यते । यो गौ शब्द सोऽयं पिण्डोऽथ । तथा यो वृद्धि शब्द त आदेच इति । तत्र स्वरूपे-ष्वेव श्रुतयो नित्यावरुद्धा । अर्थस्वरूपयोस्तु रूपविपर्यासमात्रेण सर्वो-सोऽव्यवहार त्रियते । नित्यत्वाच्चेद्य सवविषया गुणरूपना गौणव्यप-देने निमित्तत्वेनापादीयते । (नियतस्वरूप भूयते) द्वितीयस्थानापन्न विपर्यासस्वरूप गौणव्यपदेशनिमित्त प्रतिपद्यते ।<sup>१६</sup>

९ व्यपदेश्य—प्रवाप उद्धार पद्धति के आधार पर जाति अथवा द्रव्य व्यपदेश्य अर्थ कह जाते हैं ।

१० अध्यपदेश्य—वाक्यायतल तण अग्रण्ड अर्थ का अध्यपदेश्य माना जाता है ।

११ सत्त्वमावापन—प्रवाप उद्धार पद्धति वाला व्यपदेश्य अर्थ ही सत्त्वमावापन अर्थ है ।

१२ असत्त्वभूत—वाक्यायतल तण अर्थ जत्र सत्त्वमावापन न हो, असत्त्वभूत माना जाता है । व्यपदेश्य और सत्त्वभूत अर्थ म तथा अध्यपदेश्य और असत्त्वभूत अर्थ म कवन उक्ति न म भन है ।

१३ स्थितनगण—जो अर्थ कमा अपन सम्बन्ध का नहो छोड़ना वह स्थितलक्षण

कहा जाता है अथवा जिसका लक्षण (स्वरूप) स्थित रहता है वह स्थित लक्षण है। राजपुरुष म पुरुष का राजसम्बन्धित्व सदा अव्यभिचरित रहता है। वह स्थितलक्षण है। स्थितलक्षण पन्था भी होता है वाक्याथ भी होता है।

१४ विवक्षाप्रापितसन्निधान—जिस अथ का सम्बन्ध विवक्षाधीन है वह विवक्षा-प्रापित सन्निधान अथ है। जैसे राज पुरुषस्य म विशेषणविशेष्य विवक्षाधीन है, फलतः सम्बन्ध अनियत है।

१५ अभिधीयमान—जो अथ जिस रूप में कहा जा रहा है उसी रूप में उसका ग्रहण अभिधीयमान कहा जाता है। राजसख गन्त स यह राजा का सखा है—एसा अथ अभिहित होता है।

१६ प्रतीयमान—अभिधीयमान से एक कोटि आगे का अथ प्रतीयमान माना जाता है जिस राजसख से यह राजा का सखा है—पुन राजा इसका मखा है यह अथ भन्वत्ता है। यही प्रतीयमान अथ है। वात् म इसे ध्वनिवादिवा ने अपनाया।

१७ अभिसहित—शब्द स सपक्व जो अथ रहता है उसे अभिसहित कहा जाता है। जैसे गो शब्द स जाति अथवा द्रव्य तानो दशनभेद से अभिसहित हैं।

१८ नातरीयक—शब्द के सहचरित वणसघटना आदि नातरीयक अथ हैं। पुरुषधर्म व भीतर वक्तृत्व और प्रतिपत्तृत्व दानो गहीत हैं।

उपयुक्त अठारह प्रकार के अथ भत हरि न स्वयं किए हागे। पुण्यराज ने वहीं से इन्हें लिया हागा। इनका कही अथवा उत्पन्न नहीं मिलता। अवश्य अथ नाम से उल्लिखित उपयुक्त गन्त भत हरि की कृतियां म बहुधा मिलत हैं। भोज ने अथ द्वादश प्रकार के गिनाए हैं जो व्याकरण की दृष्टि से हैं और वे हैं—क्रिया, काल कारक, पुरुष, उपाधि प्रधान उपस्काराथ, प्रतिपत्तिकाथ, विभक्तयथ वक्तृयथ पदाथ और वाक्याथ।<sup>५७</sup>

वस्तुतः पुण्यराज ने जिन अठारह प्रकार के अथों का उल्लेख किया है वे अथ के भेद न होकर अथ के विभिन्न स्वरूप के प्रत्यायन हैं। एक ही अथ विभिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न भिन्न रूप से गनीत हो सकता है। भत हरि के अनुसार गन्त म विणिष्ट-अविणिष्ट दाना व अभिवेय की शक्ति रहती है विणिष्टाविणिष्टाभिधेयनिबन्धनत्वात् गदानाम।<sup>५८</sup> पुण्यराज ने भत हरि के विणिष्टाभिधेयनिबन्धन के लिए विणिष्टावग्रह सप्रत्यय अनु गन्त का व्यवहार किया है और अविणिष्टाभिधेयनिबन्धन के लिए विणिष्टावग्रह सप्रत्ययविपरीत गन्त का व्यवहार किया है। भत हरि ने विणिष्टाभिधेय का उदाहरण चन्दन गन्ध दिया है। चन्दन गन्त विणिष्टसन्निधान स युक्त रूप रमादि को व्यक्त करते हैं। वक्त्र रूप रस आदि गन्त सवपन्था साधारण ज्ञान म अविणिष्टा-

भिधेय है। दशन भेद से व्यपदेश्य अत्र्यपदेश्य का भी यही उदाहरण है। चन्दन से गंध का व्यपदेश होता है रूप स नहीं होता। अपोद्धार और स्थितलक्षण की चर्चा मत हरि न अपोद्धार पदार्थों के ये चर्चा स्थितलक्षणा (वाक्यपदीय १।२४) में स्वयं की है। अपोद्धारपदार्थ के लिए ही, पुष्कराज ने आवापोद्धारिक शब्द का व्यवहार किया है। अपोद्धार की प्रक्रिया शास्त्रव्यवहार के लिए है लौकिक व्यवहार में उसका अनुगमन करता है। किंतु अपोद्धार एतत् पद से अवाच्य है। क्योंकि सत्य अथवा असत्य सत्ता अथवा अमत्ता का बोध नहीं हो पाता है

सो यमपाद्धारपदार्थ शास्त्रव्यवहारमनुपतति ।

शास्त्रव्यवहारसदृश च लौकिकभेदव्यवहारम् ।

स चकपदनिबन्धन सत्यासत्यभावेनानुपाख्येयम् ।

—वाक्यपदीय, १।२४ हरिवर्ति

स्थित लक्षण अत्र भी उद्गाप्रविभाग विलिप्त होत है। सग्रामयति, नमस्यति जसी क्रियाएँ अविवक्षित रूप में अर्थात् अर्थ व्यक्त करती हैं वस ही स्थितलक्षण अविवक्षित, असङ्ग अर्थ है।

मुख्य गीर्ण आदि की चर्चा हो चुका है यथावसर अभी आगे भी होगी। मत हरि न त्रिविध प्राप्ति मतिधान अर्थ का व्यवहार अविवक्षित अर्थ के लिए किया है। जस घट के लिए प्रकाशित दीप घट के समीप के अर्थ पदार्थों का भी बोध होता है वस ही अर्थ भा विवक्षित अर्थ में सम्यक् अर्थ का प्रत्यायन होता है

नदस्य त्वविवक्षिताप्रतिपादने किमप्यत कारणम्

विवक्षाप्राप्तिसिद्धान्त एव व्यवहारस्य अर्थात्मा ।

—वाक्यपदीय २। ०१ हरिवर्ति हस्तलख

त्रियांतरयुदात्त पुष्कराज के अनुसार शब्द के अथवा शास्त्र के जो धर्म अनधिकार के रूप में रह गये हैं वे त्रियांतरयुदात्त मान जाते हैं। भोजन इसी को दूसरे शब्द में कहा है। सामान्य अविवक्षित की निम्नी स्थिति पर अभावता का नाम त्रियान्तरयुदात्त है। अभी आधारे पर कविता की ये लक्षणाएँ प्रसिद्ध हैं

व्यवहित कश्चित् प्रगल्भतः । न सद्यः सद्यः जानाति ।

किमपि कर्मविदो रोचते । मितमविविह लोके ।

श्रुत्यान्वितम् पोषाणम् के आधार पर नियत ज्ञानम् है। पुष्कराज ने ज्ञान के पाठ प्रकार दिए हैं—श्रुतिज्ञान अथवा पाठज्ञान वाक्यज्ञान प्रवृत्तिज्ञान प्रतिपत्तिज्ञान, प्रमाणज्ञान और बुद्धिज्ञान।

अविज्ञान अर्थ के आधार पर पदार्थों का परिपाटी का अवस्थापन श्रुतिज्ञान है। स्नानाद्विज्ञान वाक्य मत्वा प्रत्यय ज्ञान का निर्णय करता है। वह पहचान स्नान कारण है वाक्य में जाना है। व्याकरणशास्त्र में वाक्यनिर्णय यथावस्थानुत्पन्न समानां १।२।१० ज्ञान निमित्त ज्ञानाग्न्याः के दानक है। सामान्य अर्थारम्भ युवान निर्दिष्टान् श्रुतिर्योऽविवक्षितः —१।२।१०। ज्ञान सामान्य में स्थित प्रत्यय पूर्वज्ञान में है। विज्ञान और परिमाण में ज्ञान निर्णय प्रत्यय द्वारा व्यक्त किया गया है।

अथक्रम सामर्थ्य के आधार पर मठित क्रम अथक्रम कहलाता है। 'भुक्त्वा स्नात्वा व्रजति' इस वाक्य में अथक्रम के अनुसार पहले स्नान क्रिया, इसके बाद भोजन क्रिया, तत्पश्चात् गमन क्रिया—य क्रम है किन्तु शब्दों में क्रम व्यवहरित नहीं है। अथक्रम का आधार अर्थ-स्वरूप की पर्यालोचना है। 'अग्निहोत्र जुहोति यावगू अयपयति' इस विधि में यावगू के अर्पण का बाद में उल्लेख है किन्तु व्यवहार में पहले यावगू का अर्पण होता है बाद में अग्निहोत्र होता है।

पाठक्रम उच्चारण क्रम का दूसरा नाम पाठक्रम है। यथापठित का यथापठित से सम्बन्ध पाठक्रम है। यथासंख्य नियम ही एक तरह से पाठक्रम है। विप्रतिपेधे परकायम् १।८।२ पूर्वश्रामिद्धम् ८।२।१ ये सूत्र पाठक्रम से सम्बद्ध हैं

इदु स्वर्णमातगपु स्कोकिलकलापिन ।

वक्त्रका तीक्ष्णगतिस्वरकेशस्त्वया जिता ।

इस श्लोक में इदु का वक्त्र से स्वर्ण का कान्ति आदि में यथान्तम सम्बन्ध है। भाज न कालिदास के निम्न निम्नित श्लोक में पाठक्रम दिखलाया है।

अनेन पाणौ विधिवन्महीते महाकुलीनेन महोव गुर्वी ।

रत्नानुविद्धाणवमेखलाया दिग् सपत्नीभव दक्षिणस्या ॥४६॥

अत्र पथिवी सामर्थ्यात् दक्षिणासाधर्म्याच्च पूर्व पतित्व पश्चात् करग्रहणमित्यर्थे प्राप्ते पाठसामर्थ्यात् पूर्व करग्रहण तत् पतित्वमिति क्रम ।

—शृंगार प्रकाश अध्याय २६ हस्तलेख

काण्डक्रम वदिक साहित्य में वण आचार सम्बन्धी जो आत्म जिस प्रकरण में उद्दिष्ट है उसी प्रकार से उनका अभिमान होता है। कर्मों का विधान कारिका क्रम से ग्रहणप्रयोग में देया जाता है। 'याकरण शास्त्र में भी अधिकार के रूप में काण्डक्रम सम्भव है। अष्टाध्यायी ६।१।१० से ६।१।१२ तक द्विवचन काण्ड तथा ६।१।१३ से ६।१।४८ तक सप्रसारण काण्ड माना जाता है। भाज न काण्डक्रम का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु शावर भाष्य में काण्डक्रम का व्यवहार है।<sup>५</sup> भोजन स्थान क्रम का उल्लेख सम्भवतः काण्डक्रम के स्थान पर किया है। स्थानक्रम का उदाहरण शृंगार प्रकाश के नवें अध्याय में भू भुव स्वर्गोक्तान तपयति क्रिया है किन्तु २६ वें अध्याय में प्राकृत गाथा उद्धृत कर लिखा है अत्र त्वि त्वि सापि वृशायने रणायत च इति क्रम ।<sup>६</sup>

प्रवृत्तिक्रम प्रतिपत्ता क इच्छावश प्रवृत्त क्रम का प्रवृत्तिक्रम कहा जाता है। महाभाष्यकार ने कहा है—जिस आनुपूर्वी में अर्थों का प्रादुर्भाव होता है उसी तरह

५६ भोजन क्रम श्लोक के प्रथम पाठ का पाठ 'अनेन कृत्याणि करे गृह्णते' इस रूप में दिया है।

यह पाठ अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। भोजन की टिप्पणी भी कर अन्त्य को लक्ष्य कर है।

शृंगार प्रकाश पृ० ३० पर भी यन्त्रे पाठ है।

६० तत् (क्रम) श्रुयथवात्प्रवृत्तिकाणामुक्तं वक्ष्यते—शावरभाष्य ५।१

६१ शृंगार प्रकाश, अध्याय २६, हस्तलेख। अतः हरि ने स्थानक्रम का उल्लेख महाभाष्यदायिका में किया है।

गन्ता का भी होता है। पठव्या, मन्त्र्या इनमें पहले स्त्री प्रत्यय लगते हैं इसके बाद एक वचन आदि की उत्पत्ति होती है। भोज के अनुसार प्राग्वन्तोऽघमपणानि जपति म प्रवत्तित्रम है।

**प्रतिपत्तित्रम** अवगोच के त्रम को प्रतिपत्तित्रम कहा जाता है। जैसे राज पुष्प के स्थान पर पुष्प राज के उच्चारण करने पर भी राज सम्प्रदायी पुरुष के त्रम से ही बोध होता है। वदिक साहित्य में प्रतिपत्ति का उदाहरण दीक्षणीयादि का सोम यन से सम्प्रदाय है। सोमयन प्रधान है। फिर भी दीक्षणायादि यामनिवतन पूर्वक ही सोमयन की प्रतिपत्ति होती है। भक्त हरि के अनुसार प्रतिपत्ति त्रम आता अथवा अभिधाना में व्यग्रस्थित नहीं है।<sup>१२</sup> भोज ने प्रतिपत्तित्रम का नाम नहीं लिया है।

**प्रयोग त्रम** प्रयोग त्रम का उल्लेख न ता जगत्स्यामी न और न भोज ने किया है। पुरुषराज ने द्रमक उच्चारण में हुज्ज करने जग धातुघाता से संकत किया है। द्रम धातु में गिग त्रम से अनुप्रधा का प्रयोग है उगी त्रम से व गता पात है।

**बुद्धित्रम** बुद्धित्रम प्रतिपत्तित्रम का ही एक रूप जाना पड़ता है। व्याकरण में व्याकरण ६।१।७७ आदि में बुद्धि द्वारा पीडापय की कथना की जाती है। यणमन्त्र आदि में बुद्धित्रम की कथा की जाती है। भक्त हरि के अनुसार त्रम बुद्धि में आदिष्ट यन्तु का वदयन्त्र से प्रतिभाग होता है। प्रतिभाजन का भी एक दूसरे में सम्प्रदाय बुद्धि द्वारा स्थापित है तथा अथ त्रिया संभव हो पाती है। तब सब में बुद्धित्रम नाम करता है। एक ही भाषा में बुद्धियति से विभाजित की जाती है।<sup>१३</sup>

पराङ्ग पराङ्ग से अभिप्राय समवत पराङ्गवत्भाव से है।

**अप्रयोजक** जो पराथ उत्पन्न है उसी के काम करता हुआ पर का उपकार करता है वह पर उसका अप्रयोजक माना जाता है। दूसरे शब्दा में स्वयं प्रयोग करने में असमर्थ किन्तु दूसरे द्वारा किये गए काम से जिसका सम्बन्ध हो वह अप्रयोजक है। उस मांस के पाक में घृत आदि के साथ अन्ध्र का सम्बन्ध अप्रयोजक रूप में होता है। स्नान करने वाले के द्वारा स्नानीय द्रव्य से स्नानशादी का अप्रयोजकरूप में सम्बन्ध है। छत्रच्छाया के प्रयोजक राजा है किन्तु छत्रच्छाया में सम्बन्ध हस्ती का है हस्ती अप्रयोजक है। तत्र, अप्रयोजक और प्रसंग तीनों का स्वरूप निम्नलिखित वाक्यों में है

साधारण भवेत्तत्र पराथ त्वप्रयोजक ।

एवमेव प्रसंग स्यात् विद्यमाने स्वके द्विती ॥ —शास्त्र भाष्य १११

**प्रयोजक** जिसके द्वारा प्रयत्न होने पर प्रवृत्ति होनी है उसे प्रयोजक माना जाता है। स्वयं यत्न का प्रयोजक है। ग्राह्य अर्थात्पाजन का प्रयोजक है। राजा छत्रच्छाया का प्रयोजक है। कभी प्रयोजक और अप्रयोजक साथ साथ सम्पट रहते हैं और उनका निणय सामर्थ्य के आधार पर किया जाता है।

अर्थानां सन्निधानेऽपि भति चषा प्रयोजने ।

प्रयोजनोऽथ गदस्य रूपाभेदेऽपि गम्यते ॥१४

**नातरीयक** प्रधान क्रिया के निवर्तन में अनिवार्यता साथ नगे धम अथवा अथ नातरीयक कहे जाते हैं। पाक क्रिया के लिए प्रज्वलित अग्नि के साथ धूम नातरीयक है। भाज के अनुसार जिम सम्बन्ध के साथ क्रिया प्रधान से जुटती है वह नातरीयक है (यत् सम्बन्धमन्तरेण क्रिया प्रधानेन सम्बन्धयत् तन्नातरीयकम् अङ्गारप्रकाश, पृ० ३०८) ।

**प्रधान** जो साथ है अपराथ है वह प्रधान है। व्याकरण में क्रिया और विनेप्य प्रधान है। प्रधानभाव विषय पर भी निर्भर होता है।

**नेप** जो पराथ होता है उस नेप कहा जाता है। शत्रु स्वामी ने अत्यन्त पराथ को नेप माना है। आचार्य ज्ञानरि ने द्रव्य, गुण और सम्कार को नेप माना था, याग फल और पुष्प का नेप नहीं माना था। द्रव्य क्रिया के लिए होता है। अतः द्रव्य पराथ है। गुण भी द्रव्य के आश्रय में क्रिया का उपकारक है। अतः वह भी पराथ है। जिसके हाने से कोई वस्तु किसी क्रिया के योग्य होती है उसे सम्कार कहा जाता है। क्रिया के लिए सम्कार के प्रयोजन होने से वह भी पराथ है। नेप है। जमिनि ने धर्म और फल को भी पराथ माना है।

व्याकरणशास्त्र में प्रधान और नेप भाव विवक्षावधान होता है। श्रेष्ठ विवक्ष्य जाना है। भेदक विनेपण जाना है। द्रव्य का साक्षात् क्रिया से सम्बन्ध है। अतः वह प्रधान है। गुण का द्रव्य द्वारा क्रिया से सम्बन्ध होता है अतः वह अप्रधान है



विशेष्य स्यादनिर्ज्ञान निर्ज्ञातार्थो विशेषणम् ।

परायत्वेन शपत्वं सर्वेषामुपकारिणाम् ॥ ६५

इसी तरह साध्य होने के कारण क्रिया प्रधान है । सिद्ध होने के कारण कारक अप्रधान है गेप है । विवक्षावशात् कही गिया भी गेप होती है ।

विनियोगक्रम गेपशेषिभाव की इतिकतव्यता का नाम विनियोगक्रम है । भोज ने श्रुत्यादिविनियोग का उल्लेख किया है । श्रुति लिङ वाच्य, प्रकरण स्थान और समाख्या का प्रधान और अगत्वं निर्धारण श्रुत्यादिविनियोग है । श्रुत्यादि का कही व्यस्त रूप और कही समस्त रूप में विनियोग दसा जाता है । भत हरि ने विनियोग क्रम का एक बौद्धिक रूप भी दिखाया है । श = विनियोग क्रम के सहारे अथ के प्रकाशक होते हैं । ज्ञानि व्यक्ति अथवा क्रिया के रूप में वाच्य वाचक का—बुद्धिस्थ गन्त का—बुद्धिस्थ अथ के साथ विनियोग होता है । अनकाथ में से अभिप्रेत अथ विशेष का परिग्रहण होता है ।<sup>६६</sup>

साक्षादुपकारक जो प्रत्यक्ष रूप में अपने आपका उपकारक हो उस साक्षात् उपकारक कहा जाता है । जम अलकार आदि अपने लिए साक्षात् उपकारक हैं । व्याकरण शास्त्र में प्रत्यय का साक्षात् उपकारक प्रकृति है । वेत्त में भी दशपूणमासयाग में अवघात आदि साक्षात् उपकारक मान जाते हैं ।

आरादुपकारक जो साक्षात् उपकारक न होकर कुछ दूर से उपकारक हैं वे आरात् उपकारक कह जाते हैं । अलकार अपने आप के लिए साक्षात् उपकारक है पुत्र-पौत्र के लिए दूर से उपकारक है । प्रकृति प्रत्यय का साक्षात् उपकारक है । प्रकृति व विगण आरात् उपकारक है । प्रयाज आदि दशपूणमास के आरादुपकारक हैं । अथवा आरात् गन्त की तरह जो परस्पर विरोध के रूप में भी उपकारक हो । आरात् गन्त कभी समीप अथ वा वाचक होता है कभी दूर अथ वा वाचक होता है ।<sup>६७</sup>

भत हरि ने आरादुपकारक के लिए आरादविगणक गन्त का व्यवहार किया है । विशेषतः अन्न में वाच्यधर्म नहीं जान पड़ता । भोज ने साक्षात् उपकारक और आरात् उपकारक का भेद नहीं किया है ।

गवितस्थापारभेद गवित और यापार के आश्रय से उपस्थित भूत गवित-स्थान पर भूत है ।

यत्ताह्वात विद्योतते ।

यत्ताह्व विद्योतते ।

यत्ताह्वो विद्योतते ।

६१ वाच्य ४३ वाच्यपुरुष ७

६२ विनि = विनियोग क्रम प्रकाशक ।

अथ वाच्यक गुरु १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १०० १०१ १०२ १०३ १०४ १०५ १०६ १०७ १०८ १०९ ११० १११ ११२ ११३ ११४ ११५ ११६ ११७ ११८ ११९ १२० १२१ १२२ १२३ १२४ १२५ १२६ १२७ १२८ १२९ १३० १३१ १३२ १३३ १३४ १३५ १३६ १३७ १३८ १३९ १४० १४१ १४२ १४३ १४४ १४५ १४६ १४७ १४८ १४९ १५० १५१ १५२ १५३ १५४ १५५ १५६ १५७ १५८ १५९ १६० १६१ १६२ १६३ १६४ १६५ १६६ १६७ १६८ १६९ १७० १७१ १७२ १७३ १७४ १७५ १७६ १७७ १७८ १७९ १८० १८१ १८२ १८३ १८४ १८५ १८६ १८७ १८८ १८९ १९० १९१ १९२ १९३ १९४ १९५ १९६ १९७ १९८ १९९ २०० २०१ २०२ २०३ २०४ २०५ २०६ २०७ २०८ २०९ २१० २११ २१२ २१३ २१४ २१५ २१६ २१७ २१८ २१९ २२० २२१ २२२ २२३ २२४ २२५ २२६ २२७ २२८ २२९ २३० २३१ २३२ २३३ २३४ २३५ २३६ २३७ २३८ २३९ २४० २४१ २४२ २४३ २४४ २४५ २४६ २४७ २४८ २४९ २५० २५१ २५२ २५३ २५४ २५५ २५६ २५७ २५८ २५९ २६० २६१ २६२ २६३ २६४ २६५ २६६ २६७ २६८ २६९ २७० २७१ २७२ २७३ २७४ २७५ २७६ २७७ २७८ २७९ २८० २८१ २८२ २८३ २८४ २८५ २८६ २८७ २८८ २८९ २९० २९१ २९२ २९३ २९४ २९५ २९६ २९७ २९८ २९९ ३०० ३०१ ३०२ ३०३ ३०४ ३०५ ३०६ ३०७ ३०८ ३०९ ३१० ३११ ३१२ ३१३ ३१४ ३१५ ३१६ ३१७ ३१८ ३१९ ३२० ३२१ ३२२ ३२३ ३२४ ३२५ ३२६ ३२७ ३२८ ३२९ ३३० ३३१ ३३२ ३३३ ३३४ ३३५ ३३६ ३३७ ३३८ ३३९ ३४० ३४१ ३४२ ३४३ ३४४ ३४५ ३४६ ३४७ ३४८ ३४९ ३५० ३५१ ३५२ ३५३ ३५४ ३५५ ३५६ ३५७ ३५८ ३५९ ३६० ३६१ ३६२ ३६३ ३६४ ३६५ ३६६ ३६७ ३६८ ३६९ ३७० ३७१ ३७२ ३७३ ३७४ ३७५ ३७६ ३७७ ३७८ ३७९ ३८० ३८१ ३८२ ३८३ ३८४ ३८५ ३८६ ३८७ ३८८ ३८९ ३९० ३९१ ३९२ ३९३ ३९४ ३९५ ३९६ ३९७ ३९८ ३९९ ४०० ४०१ ४०२ ४०३ ४०४ ४०५ ४०६ ४०७ ४०८ ४०९ ४१० ४११ ४१२ ४१३ ४१४ ४१५ ४१६ ४१७ ४१८ ४१९ ४२० ४२१ ४२२ ४२३ ४२४ ४२५ ४२६ ४२७ ४२८ ४२९ ४३० ४३१ ४३२ ४३३ ४३४ ४३५ ४३६ ४३७ ४३८ ४३९ ४४० ४४१ ४४२ ४४३ ४४४ ४४५ ४४६ ४४७ ४४८ ४४९ ४५० ४५१ ४५२ ४५३ ४५४ ४५५ ४५६ ४५७ ४५८ ४५९ ४६० ४६१ ४६२ ४६३ ४६४ ४६५ ४६६ ४६७ ४६८ ४६९ ४७० ४७१ ४७२ ४७३ ४७४ ४७५ ४७६ ४७७ ४७८ ४७९ ४८० ४८१ ४८२ ४८३ ४८४ ४८५ ४८६ ४८७ ४८८ ४८९ ४९० ४९१ ४९२ ४९३ ४९४ ४९५ ४९६ ४९७ ४९८ ४९९ ५०० ५०१ ५०२ ५०३ ५०४ ५०५ ५०६ ५०७ ५०८ ५०९ ५१० ५११ ५१२ ५१३ ५१४ ५१५ ५१६ ५१७ ५१८ ५१९ ५२० ५२१ ५२२ ५२३ ५२४ ५२५ ५२६ ५२७ ५२८ ५२९ ५३० ५३१ ५३२ ५३३ ५३४ ५३५ ५३६ ५३७ ५३८ ५३९ ५४० ५४१ ५४२ ५४३ ५४४ ५४५ ५४६ ५४७ ५४८ ५४९ ५५० ५५१ ५५२ ५५३ ५५४ ५५५ ५५६ ५५७ ५५८ ५५९ ५६० ५६१ ५६२ ५६३ ५६४ ५६५ ५६६ ५६७ ५६८ ५६९ ५७० ५७१ ५७२ ५७३ ५७४ ५७५ ५७६ ५७७ ५७८ ५७९ ५८० ५८१ ५८२ ५८३ ५८४ ५८५ ५८६ ५८७ ५८८ ५८९ ५९० ५९१ ५९२ ५९३ ५९४ ५९५ ५९६ ५९७ ५९८ ५९९ ६०० ६०१ ६०२ ६०३ ६०४ ६०५ ६०६ ६०७ ६०८ ६०९ ६१० ६११ ६१२ ६१३ ६१४ ६१५ ६१६ ६१७ ६१८ ६१९ ६२० ६२१ ६२२ ६२३ ६२४ ६२५ ६२६ ६२७ ६२८ ६२९ ६३० ६३१ ६३२ ६३३ ६३४ ६३५ ६३६ ६३७ ६३८ ६३९ ६४० ६४१ ६४२ ६४३ ६४४ ६४५ ६४६ ६४७ ६४८ ६४९ ६५० ६५१ ६५२ ६५३ ६५४ ६५५ ६५६ ६५७ ६५८ ६५९ ६६० ६६१ ६६२ ६६३ ६६४ ६६५ ६६६ ६६७ ६६८ ६६९ ६७० ६७१ ६७२ ६७३ ६७४ ६७५ ६७६ ६७७ ६७८ ६७९ ६८० ६८१ ६८२ ६८३ ६८४ ६८५ ६८६ ६८७ ६८८ ६८९ ६९० ६९१ ६९२ ६९३ ६९४ ६९५ ६९६ ६९७ ६९८ ६९९ ७०० ७०१ ७०२ ७०३ ७०४ ७०५ ७०६ ७०७ ७०८ ७०९ ७१० ७११ ७१२ ७१३ ७१४ ७१५ ७१६ ७१७ ७१८ ७१९ ७२० ७२१ ७२२ ७२३ ७२४ ७२५ ७२६ ७२७ ७२८ ७२९ ७३० ७३१ ७३२ ७३३ ७३४ ७३५ ७३६ ७३७ ७३८ ७३९ ७४० ७४१ ७४२ ७४३ ७४४ ७४५ ७४६ ७४७ ७४८ ७४९ ७५० ७५१ ७५२ ७५३ ७५४ ७५५ ७५६ ७५७ ७५८ ७५९ ७६० ७६१ ७६२ ७६३ ७६४ ७६५ ७६६ ७६७ ७६८ ७६९ ७७० ७७१ ७७२ ७७३ ७७४ ७७५ ७७६ ७७७ ७७८ ७७९ ७८० ७८१ ७८२ ७८३ ७८४ ७८५ ७८६ ७८७ ७८८ ७८९ ७९० ७९१ ७९२ ७९३ ७९४ ७९५ ७९६ ७९७ ७९८ ७९९ ८०० ८०१ ८०२ ८०३ ८०४ ८०५ ८०६ ८०७ ८०८ ८०९ ८१० ८११ ८१२ ८१३ ८१४ ८१५ ८१६ ८१७ ८१८ ८१९ ८२० ८२१ ८२२ ८२३ ८२४ ८२५ ८२६ ८२७ ८२८ ८२९ ८३० ८३१ ८३२ ८३३ ८३४ ८३५ ८३६ ८३७ ८३८ ८३९ ८४० ८४१ ८४२ ८४३ ८४४ ८४५ ८४६ ८४७ ८४८ ८४९ ८५० ८५१ ८५२ ८५३ ८५४ ८५५ ८५६ ८५७ ८५८ ८५९ ८६० ८६१ ८६२ ८६३ ८६४ ८६५ ८६६ ८६७ ८६८ ८६९ ८७० ८७१ ८७२ ८७३ ८७४ ८७५ ८७६ ८७७ ८७८ ८७९ ८८० ८८१ ८८२ ८८३ ८८४ ८८५ ८८६ ८८७ ८८८ ८८९ ८९० ८९१ ८९२ ८९३ ८९४ ८९५ ८९६ ८९७ ८९८ ८९९ ९०० ९०१ ९०२ ९०३ ९०४ ९०५ ९०६ ९०७ ९०८ ९०९ ९१० ९११ ९१२ ९१३ ९१४ ९१५ ९१६ ९१७ ९१८ ९१९ ९२० ९२१ ९२२ ९२३ ९२४ ९२५ ९२६ ९२७ ९२८ ९२९ ९३० ९३१ ९३२ ९३३ ९३४ ९३५ ९३६ ९३७ ९३८ ९३९ ९४० ९४१ ९४२ ९४३ ९४४ ९४५ ९४६ ९४७ ९४८ ९४९ ९५० ९५१ ९५२ ९५३ ९५४ ९५५ ९५६ ९५७ ९५८ ९५९ ९६० ९६१ ९६२ ९६३ ९६४ ९६५ ९६६ ९६७ ९६८ ९६९ ९७० ९७१ ९७२ ९७३ ९७४ ९७५ ९७६ ९७७ ९७८ ९७९ ९८० ९८१ ९८२ ९८३ ९८४ ९८५ ९८६ ९८७ ९८८ ९८९ ९९० ९९१ ९९२ ९९३ ९९४ ९९५ ९९६ ९९७ ९९८ ९९९ १०००

इन वाक्यों में वलाहक शब्द क्रमशः उपादान, अधिकरण और कर्तृशक्ति के साथ भिन्न भिन्न रूप में व्यक्त किया गया है। यह शक्तिभेद है। विवक्षावशात् इन वाक्यों में व्यापारभेद भी है इसलिए शक्तिव्यापारभेद कहा जाता है

व्यापार याति भेदाख्यस्ततः स्वरथयव क्वचित् ।

आत्माभेदानपक्षोऽस्य क्वचिदेति निमित्तताम् ॥<sup>१८</sup>

'विध्यति धनुषा' इस वाक्य में करण शक्ति अपादान शक्ति को अपने भीतर समेट कर विध्यति के अर्थ में साथ मिल जाती है। धनुष में करणत्व तब तक नहीं आ पायगा जब तक अपादान शक्ति का वह न अपना ले। पुण्यराज के अनुसार शुद्ध व्यापार भेद संभव नहीं है। शक्तिभेद के बिना व्यापार भेद संभव नहीं है। भोज के अनुसार वास्तव शक्ति भेद का उदाहरण निम्नलिखित हैं—

अग्निं काष्ठानि वहति श्रोत्रं पचति पदार्थानि प्रकाशयति ।

सपि अग्निं द्रोपयति पित्तं शमयति, शरीरमाप्यापयति ॥

वास्तव शक्ति व्यापार का उदाहरण में आभ्या कीर्तन—आभ्या पत्र आभ्या दत्तम् है। इनमें आभ्या पद का ल २ आदि पदों के साथ अपादान करण कर्तृ संप्रदान आदि के रूप में अभिधा व्यापार भिन्न भिन्न है।

पयः पयो जरयति वाक्य में कर्तृ कर्मविशेषविषय व्यापार है। इसी तरह 'गावो गावो श्रयते', 'पयः पयोऽप्रेषयति' कुण्ड कुण्डे निधेहि' जैसे वाक्यों में नमस द्वित्व बहुत्व कर्माधिकरण विषय से व्यापार भेद है।

फलभेद फल का आधार पर भेद फलभेद कहलाता है। एक ही दान किया का आयु आरोग्य और ऐश्वर्य में भिन्न भिन्न फल हो सकता है। इन सबमें एक ही फल-प्रीति विशेष है। वस्तुतः क्रियाओं का भी एक फल हो सकता है। भिन्नकर्म का भी क्रिया वहाँ आलस्य की तरह प्रभक्त होती हुई भी अविकृत सी समुदित रूप में स्वाध की मिद्धि करती है।<sup>१९</sup> एक याग किया का फल यजमान को धर्मरूप में तत्त्वज्ञ का अर्थ रूप में औदारिक का भोजन रूप में विभिन्न हो सकता है। क्रियाभेद औपाधिक भी हो सकता है जैसे

उष्टासिका आस्य ते

हृत्पायिका शम्यते

रपोष पृथयति ।

समूलकाप कर्षति ।

सम्बन्धभेद धातु से उपात्त क्रिया के सम्बन्ध भेद संभेद की प्रतीति सम्बन्धभेद है। पचत पचन्ति में धातु से उपात्त पाक क्रिया एक है किन्तु कर्म भेद से

१८ वाच्यपदीय ३, वृत्तिगमुद्देश १ १

१९ क्वचित् भिन्नकर्म कापि क्रिया प्रविभक्त्यवयवरूपा वेगालेख्यादिप्रविभागन प्रत्यासमसाधारण शक्तिगन्निवेशात् समुदायमवयवो विभागमिव प्रात वाद्य साधयति । तामपि स्मृत्यायमसं-  
यिनी कर्षित् मन्यन्ते । किञ्चित् भिन्नानां क्रियाणामव प्रभानविषयक व्याचक्षत ।

भिन्न जान पड़ती है। सम्बन्धभेद औपाधि भी होता है जस,

सम्पन्नोपयो यथनेषु गुणस्तुष्टुसु विष्ट सुराष्टेषु ।

परतन्मथान पदुरासीत पदुतर एवम् ।

पुण्यराज न सम्बन्धजभेद का एक प्रतिपत्ति लियाया है जहा सम्बन्धजभेद भेद नहीं होता, जस 'आस्यत देवदत्तेन' इस वाक्य में भाव में लकार, साधन भेद के अभिव्यक्ति न हाने के कारण त्रिया भेद के भी बतान में असमर्थ है। भाज न सहाचारि भेद का भी उल्लेख किया है।

अविवक्षितभेद भेद का प्रतिपत्तिभूत अभेद अविवक्षितभेद से अभिप्रेत है। जहा शक्ति में अभेद है वहा भेद की अविवक्षा माननी चाहिए। परन्तु आन्तर्भुक्त इस वाक्य में कर्ता और क्रम के त्रियाभेद से शक्तिभेद समर्थ है कि तुल्यता द्वारा वह विवक्षित नहीं है। इसी लिए इस वाक्य में समानकृतत्व उपपन्न होता है। भोज ने अङ्गाङ्गिभाव के आधार पर भेद विवक्षा और उसका विषय में अभेदविवक्षा लिखाया है। अधिग्रहण दत्ते पाञ्चाला में भेद विवक्षा और 'तान एव गालीन भुञ्जमहे य मगधेषु' में अभेदविवक्षा है।

इस तरह शक्ति आदि के भेद से भेद अनेक प्रकार का होता है और अभेद भी कई प्रकार का होता है। भेद और अभेद कही वास्तविक बात हैं कही केवल विवक्षा धीन बात हैं। विवक्षा भी कही लौकिकी होती है कही प्रायोगिकी होती है।

प्रसज्यप्रतिषेध जहा नञ् का सम्बन्ध त्रिया के साथ होता है और वाक्यभेद होता है वहा प्रसज्यप्रतिषेध माना जाता है। जस याकरण शास्त्र में अन्तरिचकारके ३।२।१६ सूत्र में नञ् का सम्बन्ध त्रिया से है। 'असूय पश्या राजदारा अभानु भेद्य तम आदि में प्रसज्य प्रतिषेध है।

पयुदास जहा नञ् का सम्बन्ध त्रिया के साथ नहीं होता और एकवाक्यता होती है वहा पयुदास होता है। पाणिनि के आतोऽनुपसर्गों के ३।२।३ सूत्र में अनुपसर्ग में पयुदास है। अत्राह्णम आनय वाक्य में अत्राह्णम में पयुदास है।

गौण तत्पुरुष समानाधिकरण १।२।४२ में अवयवा के समानाधिकरण से तत्पुरुष का भी समानाधिकरणत्व माना जाता है। गौर्वाहीक सिंहो माणवक आदि गौण के उदाहरण हैं।

मुख्य गूर माणवक जस प्रयोग मुख्य के उदाहरण है। मुख्य और गौण पर विरतत विचार इस ग्रन्थ में पहले किया जा चुका है।

व्यापि अनेक विषय का रूप बन वाला व्यापि है। एक श्रुति द्वारा सम्बुद्धी १।२।३ में लौकिक साधन की व्यापकता के कारण उसी का ग्रहण होता है। भोज न इसमें लिए व्यापक रूप का प्रयोग किया है और उस त्रियाविषय तथा कारक विषय के रूप में द्विविध माना है।

गुह्य असाक्षित अभिधान गुह्य है। 'साहित्यालिमान अयं ग्राम' जस प्रयोग में कर्मधारय और मत्वर्थीय का एकत्र समावेश गुह्यप्रथमा है। आवृत्ति में गुह्यप्रथमा होता है।

लघु (लाघव) सम्प्लित अभिधान लघु है। शास्त्र में एक शेष, सत्ता आदि का विधान लाघव के लिए किया जाता है। तब और प्रसंग में लघुप्रश्नमा हाती है।

अङ्गाङ्गिभाव सयुक्तविधान होने पर अगाङ्गिभाव हाता है। एफ का भी अवयव वाक्यान्तर से व्यवहित होने पर भी दूसरे में सम्बन्धमान होकर सम्बन्ध प्राप्त करता है। बहुता में भी अगाङ्गिभाव हाता है। एक क्रिया का अनेक वाक्यांश सम्बन्ध में भी अगाङ्गिभाव होता है। पुष्कराज ने तस्यापत्यम् ४।१।६२ कनरिक्तम् ३।८।६७ जैसे सूत्रों में अगाङ्गिभाव माना है। दीपक अलंकार में भी अगाङ्गिभाव माना है।

विकल्प तुल्यप्रमाण वाले वाक्यों में विरोध होने पर विकल्प हाता है। वेद में ब्रीहिभि यजेत। यवै यजेत जैसे विधान तुल्यप्रमाण विनिष्ट हैं। और इनमें साथ लेने पर विरोध है। लोक में भी 'दक्षितके कीर्णाय दीपताम् वाक्य में दक्षिण और तक्षान का एक साथ विरोध है। 'पाकरण शास्त्र में भी पञ्चुलनचौ ३।१।१३३ जस सूत्रों में विरोध उपस्थित होता है।

विधि और प्रतिषेध के तुल्यबल होने पर भी विकल्प हाता है। वेद में पौड-  
शिन गृह्णाति न गृह्णाति लोक में किञ्चित्स्थ दीयता न दीयताम् य उदाहरण है। विभाषा का व्यवहार भी विकल्प के रूप में होता है। विभाषा तीन प्रकार से देखी जाती है प्राप्तिविभाषा अप्राप्ति विभाषा और उभयविभाषा। वाक्य में उत्प्रेक्षा विकल्प का ही एक स्वरूप है। समुच्चय और विकल्प का साथ साथ निर्देश समुच्चयों विकल्पों का प्रसार सब एक वा जैसी कारिकाओं में प्राय मिलता है।

नियम —अनर्क की प्राप्ति होने पर अयोग, अययोग व्यवच्छेद के आधार पर निर्धारण नियम कहनाता है। व्याकरणशास्त्र में पनि मधास एव १।४।८ त प्राग-  
धानो १।४।८० जस सूत्र नियमविधायक हैं। वेद में काल की दृष्टि से नभश्च दृष्ट्वा वाच विमज्जत नियम है। भाषा में पाथ एव धनुधर गख पाण्डुरेव जैसे प्रयोग नियम के ही स्वरूप के श्रोतक है।

योग्यता —अधिकारित्व का ग्रहण योग्यता है। भीमासा दान में अर्थी समय और शास्त्र से अनिषिद्ध योग्य माना जाता है। लोक में भी समय के साथ योग्यता का सम्बन्ध जाड़ा जाता है। धुरि धुर्यो नियुज्यते लाकोविन प्रसिद्ध है। वैदिक क्रिया में भी दम्ब के स्थान में गार द्वारा प्रस्तरण अतिवज का लाहित उष्णीष विधान आदि योग्यता के निदर्शक हैं। व्याकरण में भी एक पद में एक उदात्त और शेष का अनुदात्त विधान योग्यता से सम्बन्ध रखता है।

लिङ्गात् भेद शब्दान्तरोपलब्ध वस्तु के सामर्थ्य से सामान्य रूप में आति न का विशेष रूप में अवस्थापन लिङ्गात् भेद कहा जाता है। वेद में 'अकना शकरा उपदधाति श्रुति है। जिससे अकन की जिनामा होने पर तब वे घृतम् इस वाक्यान्तर लिङ्ग के बल से घृत स अकन रूप में विशेष की प्रतीति हाती है। भाषा में भी रामा यो भुवनपु इसके अवयव से राम और परशुराम के संह में भाग के एक बाण से तमानन्ध के विवरण रूपी वाक्यान्तर लिङ्ग से दानरूपुन राम का बोध होता है। व्याकरण शास्त्र में भी पुष्पण्यपरे ७।४।८० सूत्र में पुष्पण्यपर यह वचन द्विवचन

विमिश्रक नि गये शानिषमाय का भावक होता है। काय म विमिश्रक का उपाहरण मात्र म किया है।

उत्तीर्णम जयति शानभुजगपादितम्य मात्रा हरे।

विष्णुतागसकाय विमिश्रकपादितमोऽयम कथा।

इसम तागमूत्रक घोर अश्वकन क पायन म समुताहृत क उत्तीर्ण क अथ विमिश्र की उपलब्धि हुआ है। भोज। अर्थ प्रकरण धीमेय पादि क भाषाएँ पर सामा यकाया दत्त का विमिश्रक म अष्टममाय को निरूपित किया है।

अपोद्धार विभाग को अपोद्धार कहा जाता है। अष्टम मृग का अनुमम अथवा कथित रूप म प्रकृत रूप का विमिश्रक अपोद्धार कहा जाता है। अष्टममी यथाय पड़ा जाता है। इसम यथाय दत्त म अपोद्धार कर विभाग का भाव यथाय इस रूप म विभाग किया जाता है। यम म यथाय दत्तमायमम अष्टम यथाय म वायव्य पद स अपोद्धार कर वायुविष्टा दत्ता इस रूप म विभाग किया जाता है। लोक म भी किम राजा का पुत्र क उत्तर म युद्ध का कहा जाता है। काय म अपोद्धार का उपाहरण कामिनाय क निम्नलिखित मार म है।

पत्यु गिरञ्चद्रकसामनेन स्तृणेति सस्या परिहातपूयम।

सा रञ्जयित्वा घरणी कृतामीर्मत्येन सा नियचन जघान ॥<sup>३०</sup>

इसम अने इस सवनाम के द्वारा रञ्जयित्वा इस धृति म समयन चरणराग पृथक् किया जाता है।

अतु हरि न उपयुक्त वाक्यधर्मों का एकत्र उत्तरण किया है। भोज द्वारा दिए गये वाक्यधर्मों म अथवा अनुवाद अवहित कल्पना उपचार कल्पना, तन्मावापति प्रतिनिधि, अष्टमाहार विरिणाम वाक्योप अथधि अनिर्गतिप्रश्न इन पर पुष्कराज ने जहा तहा विचार किया है और य अतु हरि द्वारा भी प्रमगत् वर्णित है। इनम प्रति निधि और अनिर्गति प्रश्न की चर्चा अविताभिधानवाद के प्रसंग म की गई है। शेष पर संक्षेप म विचार किया जा रहा है।

अथवाद स्तुति अथवा निंदा के लिए प्रतिपाद्योक्ति का आशय अथवाद के नाम से विदित है। अतु हरि के अनुसार अथवाद प्रवक्तव्य भी होता है और निवक्तव्य भी होता है।<sup>३१</sup>

अनुवाद सिद्धि का विधि अथवा निषेध के लिए उच्चारण अनुवाद कहलाता है। पुन स्पर्शकरण के लिए सिद्ध वस्तु का पुन उपात्त भी अनुवाद माना जाता है।

३० तैत्तिरीय संहिता २।१।

३१ कुमार सभव ७।१६

३२ अथवास्तु प्रवक्तको निवक्तको वा। सत्राय प्रवक्तको निरुद्ध। सर्वा वा इमा दिश पशुया इ च्यभि जयति सर्वान् लोकान् सर्वा प्वारयेमा विशोभिजिता भवति सर्वे लोका। निवक्त न दत्तो गमयेत् दत्तो गमयेत् सर्वा एनं धातुका एव सर्वाणैव शमयत्यहिसायै।

प्रमाणांतर से नात अय का शब्द द्वारा उल्लेख मात्र भी अनुवाद है।<sup>७३</sup> 'कय एव विधायास्तव एव विध पति' इस वाक्य में भोज के अनुसार अनुवाद है।

**व्यवहितकल्पना** सनिहित पण्य की अयोग्यता के कारण जब व्यवहित का आश्रय लिया जाता है व्यवहितकल्पना होती है। 'प्रविण पिण्डी' कहने पर प्रवेश क्रिया के सानिध्य में स्थित पिण्डी में इसका सम्बन्ध अनुपपन्न होने से व्यवहित भी गृह आदि की अपेक्षा होती है। इसी तरह पिण्डी का सनिहित प्रवेश क्रिया से अयोग्यता के कारण भक्षण क्रिया का आश्रय हो जाता है।

**उपचार कल्पना** किसी निमित्त के आधार पर अय के धर्म का अयत्र अध्यारोप उपचारकल्पना है। इसके लिए जयादित्य ने गुणकल्पना शब्द का व्यवहार किया है।<sup>७४</sup> उपचार निर्वहन धर्म यहा गुण शब्द से अभिप्रेत है। गुणनिमित्त कल्पना गुणकल्पना है। वह उपचारात्मक होती है इसलिए उसे उपचारकल्पना कहते हैं। जो वस्तु जसी न हो उसमें वसा आरोप अथवा आरोपित भाव जान, उपचार कहा जाता है। मञ्चा क्रोशति, जैसे वाक्या में अय के धर्म का अयत्र आरोप है।

**तदभावापत्ति** भोज ने विषय सञ्ज्ञा में तत्त्व के व्यपदेश का तदभावापत्ति कहा है। 'गुप्ति म रजत का, मृगतणिका म जल का व्यपदेश तदभावापत्ति है।

**अध्याहार** वाक्य के गूढ़ होने पर आकाशा की निवृत्ति के लिए विशिष्ट क्रिया कारकपद आदि का उपादान अध्याहार कहलाता है। द्वारद्वार के मुने से आकाशा की पूर्ति के लिए यथावसर निव्रियताम अथवा आन्रियताम क्रिया का अध्याहार कर लिया जाता है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण निम्नलिखित श्लोक है

यच्च निम्ब परगुना यच्चन मधुसपिषा ।

यच्चन गन्धमाल्याम्मा सवन्न कटुरेव स ।

इसमें परगुना (छिनत्ति), मधुसपिषा (सिञ्चति) आदि रूप में अलग अलग क्रियापद का अध्याहार अथसामञ्जस्य की दृष्टि से कर लिया जाता है।

ध्याकरण में सोपस्कार सूत्रा में जिन सूत्रा में क्रियापद के प्रयोग सूत्रकार ने नहीं किए हैं क्रिया का अध्याहार लक्ष्य के अनुसार कर लिया जाता है। वक्तिकार ऐसे सूत्रा में क्रियापद के माय ही अय करत हैं जैसे धातोरण भवति कतरि कृत भवन्ति आदि। इको गुणवद्धी १।१।३ सूत्र के लिये 'यत्र गुणवद्धी श्रूयात तत्रैक इत्युपस्थित द्रष्टव्यम्' इस रूप में अध्याहार किया जाता है।

**वाक्यशेष** जहा वाक्य से मात्मात विधि अथवा निषेध न कहा गया हो— अश्रुत हो वहा उसकी परिकल्पना वाक्यशेष मानी जाती है। यह श्राय निवास है' इतना कहने से यही टहरन की कल्पना हो जाती है। यही वाक्यशेष है। इसी तरह 'इस नदी में ग्राह है' इस वाक्य में स्नान का निषेध वाक्यशेष के रूप में उपस्थित होता है।

मनू हरि ने अध्याहार और वाक्यशेष का समान अर्थ में भी प्रयोग किया है

सोपस्कारेषु सूत्रेषु वाक्यशेष समस्यते ।

तेन यत् तत् ततोपात्तं विधाचेत सति गम्यते ॥१८॥

अध्याहार और वाक्यशेष म भेद यह है कि अध्याहार नामाभावा का निवर्तक होता है । जबकि वाक्यशेष अर्थात् नामाभावा का निवर्तक होता है ॥<sup>१८</sup> अतः हरि की इस सम्बन्ध म दो बारिकारों हैं

स्वाध्यायमात्र प्रकाश्यासौ साक्षात्सौ विनियतते ।

अथस्तु तस्य सम्बन्धी प्रकाशयति सानिधिम् ॥

पाराध्यस्याविनिष्टत्वात् न शब्दाच्छब्दसन्निधिः ।

तार्थाच्छब्दस्य सानिध्यं न शब्दादथसन्निधिः ॥१९॥

पुण्यराज और भोज दोनों ने इस प्रसंग म श्रुतार्थापत्ति का प्रश्न उपस्थित किया है । पीन देवत्त तिन म नहा भोजन करता है । इस वाक्य म पीनत्व भोजन के बिना अनुपपन्न है इसलिए वह उपयुक्त शब्द द्वारा सति भोजन का गमक माना जाता है । पुण्यराज के अनुसार यहा चार सभावनाएँ हो सकती हैं—शब्द द्वारा शब्द का आक्षेप अथ द्वारा शब्द का आक्षेप शब्द द्वारा अथ का आक्षेप, अथ द्वारा अथ का आक्षेप । इनम शब्द द्वारा शब्द का आक्षेप पक्ष उपयुक्त नहीं है । स्वाध्याय प्रतिपादन के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है । अपन अथ के प्रकाशन तक ही उसका व्यापार है । अथ द्वारा शब्द का आक्षेप भी संभव नहीं है । अथ से शब्द का सानिध्य नहीं है । जिस अश्रुत का अथ सानिध्य अपेक्षित है वह भी परतत्र है । प्रयोजक सानिध्य के बिना उसका सन्निधान संभव नहीं है । अन्य अथ का और अथ शब्द का वाच्य वाचक भाव न होने से अथ द्वारा शब्द का आक्षेप युक्ति सगत नहीं है । शब्द के उच्चरित होने पर श्रुतार्थापत्ति से परिकल्पित शब्दवाच्य अथ का आक्षेप भी अनुपपन्न होगा क्योंकि वाच्य वाचकभाव के न होने के कारण यहा भी शब्द से शब्दांतर वाक्य अथ की उपस्थिति न हो सकेगी । यदि अथ-से अथ का आक्षेप स्वीकार किया जाय तो शब्द एकत्व की उपपत्ति नहीं हो पाती है । पुण्यराज के मत म चतुर्थपक्ष कुछ दूर तक ठीक है । उनके मत मे एक पदों के प्रयोग म श्रुतार्थापत्ति से शब्दांतर का आक्षेप से वाक्याथ निष्पत्ति मानने की अपेक्षा एक पद का ही प्रकरण आदि के बल से अथ प्रत्यायन की क्षमता मान लेना अधिक उपयुक्त है ।

भाज न अध्याहार और वाक्यशेष दोनों के लिए श्रुतार्थापत्ति आवश्यक माना है । पद का ही बोध बोध व्यापार का रूप म सब तरह के अथ प्रत्यायन सामर्थ्य मानने के पक्ष म व नहीं हैं । क्योंकि पद या ता अभिधा के द्वारा उन अर्थों का बोध कराएगा अथवा तात्पर्य शक्ति का द्वारा उनका प्रत्यायन कराएगा । अभिधापदाथप्रतिपादन म ही

७५ वाक्यशेष ३ वृत्तिसमुच्चय ४६३

७६ क पुनर्याहारवाक्यशेषोक्तिरिति । शब्दाकाक्षानिवर्तकोऽध्याहार, अर्थाकाक्षानिवर्तको वाक्यशेष इति ।—१ गार प्रकाश ५०३२४

७७ वाक्यशेष २३४१ ४२

क्षीण हो जाती है। तात्पर्य शक्ति का सम्बन्ध प्रतीयमान अर्थ से पवश्य है किन्तु वह तभी काम करती है जब वाक्य और वाक्यार्थ दाना परिपूर्ण हों, जैसे 'विष भुज्ज मा चाम्य गृह भुज्ज' इस वाक्य में वाक्य और वाक्यार्थ की पूर्णता है। जहाँ वाक्य आदि पूर्ण नहीं हैं वहाँ अर्थाहार वाक्यशेष आदि की कल्पना करनी पड़ती है और इनकी सिद्धि के लिए श्रुतायापत्ति स्वीकार करनी चाहिए।<sup>१८</sup>

**विपरिणाम** लिङ्ग, वचन, विभक्ति आदि जिस रूप में उपात्त हों उसी रूप में पुन उच्चरित होत हुए भी यदि अर्थान्तरवत्ता उनका दूसरे रूप में सबध दिखाया जाय—वह विपरिणाम कहलाता है। यह एक तरह से ऊह ही है। केवल यही भेद है कि ऊह प्रकृति विकृति को लक्ष्य कर हाना है जबकि विपरिणाम के लिए इस तरह का कोई बंधन नहीं है। विपरिणाम में विषयान्तर की अपेक्षा अवश्य की जाती है

विविभक्ति प्रकृत्यथ प्रत्युपाधि कथ भवेत् ।

विभक्तिपरिणामे च प्रकल्प्य विषयात्तरम् ॥ वाक्यपदीय ३, ४५८

तेन तुल्य क्रिया चेन्न वति ५।१।११५ इस सूत्र में तेन में तृतीया समय प्रकृति प्रधान है। क्याकि विनोप्य है। उसको लक्ष्य कर क्रिया शब्द का प्रथमात्त रूप में व्यवहार किया गया है। दाना पञ्च मित्र विभक्ति वाले हैं। इनमें सामानाधिकरण्य कसे समझ है? ऐसे स्थलों में सबध की अन्यथानुपपत्ति के कारण विभक्ति विपरिणाम कर लिया जाता है। अथवा वाक्याध्याहार से उपपत्ति की जाती है। अथवा उपाधि के आश्रय से विभक्तिविपरिणाम नहीं माना जाता है

अत्यन्तानुगमात् तत्र सूत्रे न च विग्रहे ।

विभक्तिविपरिणामेन किञ्चिदस्ति प्रयोजनम् ॥

—वाक्यपदीय ३, वति समुद्देश ४६६

**अवधि** इयत्ता निर्धारण का नाम अवधि है। इस शब्द का यह अर्थ है अथवा इस अर्थ में यह शब्द है इस तरह की एक बौद्धिक सीमा अवधि कहलाती है। महामाप्यकार आदि ने जहाँ द्विष्ट शब्द का व्यवहार किया है उसी के लिए भोजने अवधि नाम दिया है। यह श्लेष अलंकार का विषय है।

काले नदन्ति नागा यह वाक्य दो रूप में विभक्त किया जा सकता है—

१—काल (समय पर) नदन्ति (गरजत हैं) नागा (साप) ।

२—कालेन (काल) दन्तिना (हाथी पर) अगा (गये हो)

उपयुक्त सभी वाक्यधर्म वाक्यार्थविशेष की प्रतिपत्ति में सहायक माने जाते हैं। एक वाक्य के विभिन्न अर्थों की कल्पना कर अथवा नोक और वेद में उसके विभिन्न अर्थों को देखकर उन अर्थों के निर्णायक कुछ तत्त्वा की कल्पना कर ली गई थी। यही वाक्यधर्म अथवा वाक्य-लक्षण हैं।



## वाक्यार्थ की प्रक्रिया

वाक्य और वाक्यार्थ को अग्रण्ड मानने वाले आचार्य भी व्यवहार में पद पदार्थ की कल्पना करते हैं। जो वाक्य का अग्रण्ड मानते हैं उनके पास पद पदार्थ, वाक्य वाक्यार्थ पर विभक्त रूप से विचार व्याभावित है। पद पदार्थ के अन्वय अन्वय को लेकर प्राचीन आचार्यों में पर्याप्त ऊँचाई मिलता है। महाभाष्यकार ने इस प्रसंगा पर अन्वय-व्यतिरेक पद्धति का आश्रय लिया है किन्तु वही नहीं आगे आदि का भी संकेत किया है। केवल प्रविण से द्वार का अन्त में देवदत्त का, मामा में सत्यभामा का अवबोध देखा जाता है। पतञ्जलि ने वाक्यवत्त्व माना है

अथवा दृश्य ते हि वाक्येषु वाक्यकदेन

प्रयुञ्जाना पदेषु च पदकथनम् ।

—महाभाष्य १।१।४५ पृष्ठ १११ कीलहान सस्वरण ।

## उद्भूत के विचार

वाक्य में पदों में व्यपेक्षा आदि के सहारे परस्पर अन्वय होता है। उदमट के अनुसार वह तीन तरह का होता है शक्त, वभक्त और शक्तिविभक्तिमय।<sup>१</sup>

कर्म आदि शक्तियों से निवृत्त को शक्त कहा जाता है। सबध आदि विभक्तियों से निवृत्त को वभक्त कहा जाता है और दोनों से निवृत्त को शक्ति-विभक्तिमय माना जाता है।

क्रिया और सुप विभक्ति से कर्ता और कर्म के अभिधान में शक्त होता है। कृत और आख्यात से भिन्नकालस्थ कर्म शक्ति के अभिधान में और सुप विभक्तियों से कर्म करण और संप्रदान के अभिधान में भी शक्त होता है। आख्यात विभक्ति से हेतु शक्ति के अभिधान में और सुबविभक्ति से कर्ता कर्म, अपादान और अधि करण शक्ति के अभिधान में भी शक्त होता है। आख्यात द्वारा कर्ता के अभिधान में सुप विभक्ति द्वारा कथित और अकथित कर्म के अभिधान में भी शक्त होता है।

वभक्त अन्वय सबधविभक्ति से, शेषविभक्ति से, उपपदविभक्ति से और सम्बोधनविभक्ति से निवृत्त होता है।

कारकविभक्ति से और सबध उपपद शेष सम्बोधन विभक्तियों द्वारा अभि व्यक्त शक्तिविभक्तिमय है। विभक्तियों के लोप होने पर भी जहाँ शक्ति का उदगमन हो वह भी शक्तिविभक्तिमय है। जहाँ एक ओर शक्ति दूसरी ओर विभक्ति हो वह भी शक्तिविभक्तिमय है।<sup>२</sup>

१ पदानामभिधिमिताथप्रथनाकार सम्मो वाक्यम् ।

तस्य च त्रिगुणविभागा यापार इत्योभयम् । वभक्त शक्त, शक्तिविभक्तिमयश्च ।

वाक्यमामामा पृ० २२ बड़ीला सस्वरण ।

२ १ गारप्रकाश २७५ २७२ ।

## अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद

वाक्याथ प्रक्रिया के विषय में अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद प्रसिद्ध वाद हैं। यद्यपि व्याकरणशास्त्र में इन वादों की प्रसिद्धि नहीं है किन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं, वाक्यपदीय में इन वादों द्वारा स्वीकृत मायताओं की चर्चा है और पुण्यराज ने इन दोनों वादों का खुलकर उल्लेख किया है और इनकी आलोचना की है। नागश ने भी मज्जूषा में इन पर विचार किया है।

अभिहितान्वयवाद के अनुसार पद पहले सामान्य अर्थ का वाद कराते हैं बाद में आकाशा योग्यता और सन्निधि के सहार विशेष का बोध कराते हैं। विशेष वाक्याथ है और वह अपदाथ है। प्राचीन आचार्यों में पतञ्जलि और शबरस्वामी का भी ऐसा ही मत है। साहचर्य के कारण लाघव की दृष्टि से, अवयव्यतिरेक का आश्रय लेकर पद और पदाथ की कल्पना की जाती है। प्रतिवाक्य से व्युत्पत्ति भी सबको समझ नहीं है। अतः व्यवहार की दृष्टि से पद पदाथ की कल्पना कर ली जाती है। वाक्य मुख्य है। सप्तम वाक्याथ है। प्राचीन दृष्टिकोण में और अभिहितान्वयवाद में केवल इतना ही अंतर है कि अभिहितान्वयवाद में वाक्याथ की प्रतीति पदाथ प्रतीतिपूर्वक ही मानी जाती है। जब तक पदार्थ का ज्ञान न हो वाक्याथ का ज्ञान नहीं देखा जाता है।

अन्विताभिधानवाद की दृष्टि में वाक्य से ही व्यवहार होता है पद से नहीं। एकाग्रपरक पदसमूह वाक्य है। सभी पद परस्पर मिलकर वाक्याथ का अवबोध कराते हैं। अन्वित का ही स्वशब्द से अभिधान होता है वाक्याथ की साक्षात् उपलब्धि होती है परम्परया नहीं। वाक्याथ समुष्ट स्वरूप है। इस वाद का मूल भी महाभाष्य में मिल जाता है

न च पदार्थाद्वयस्यायस्योपलब्धि भवति वाक्ये ।

—महाभाष्य १।२।४५ पृ० २१८ कीलहान सं०

इस वाक्य का अभिप्राय कयट के अनुसार यह है कि अपने अपने अर्थ को व्यक्त करने वाले पद वाक्य हैं। पदाथ ही आकाशा, योग्यता सन्निधिवश परस्पर समुष्ट होकर वाक्याथ हैं।<sup>३</sup> भट्ट हरि ने अन्विताभिधानवाद का संकेत निम्नलिखित कारिका में किया है

नियत साधन साध्ये क्रिया नियतसाधना ।

स सन्निधानमात्रेण नियम सन प्रकाशते ॥

—वाक्यपदीय २।४७

अभिहितान्वयवादी अन्विताभिधानवाद की समीक्षा में कहते हैं कि यदि पद

३ पदानि स्वस्वमथ प्रतिपादयन्ति वाक्यम् । पदार्था एव आकाशायोग्यतासन्निधिवशात् परस्पर समुष्टा वाक्याथ इत्यथ

का जो अर्थ होता है, पञ्चार्थात् अन्वित दशा म भी वही होता है अथ की प्रतिपत्ति सम्भव रूप म होगी, पञ्चार्थ का प्रतिभाग न हो सकेगा । आयाप उद्घात पद्धति स यथा अवसर जाति, द्रव्य गुण, क्रिया क रूप म पञ्चार्थ का विषय विभाग अवगन भी हो जाय, सम्भव रूप म अर्थ की प्रतीति बड़ा भी होगी । अन्विताभिधान पक्ष म दो पञ्चार्थों का परस्पर सवध भी कठिनाई स जान पड़ेगा क्याकि प्रतिपत्ति अनन्त है, फलत अवय भी अनन्त होगा । अवय की अनन्तता से अन्वित के अभिधान का सम्बन्ध ग्रहण न हो सकेगा । यदि उससे अनपेक्ष रूप म सवध ग्रहण माना जायगा पढ़ने सुने हुए भी उस अर्थ की प्रतीति होन लगगी । 'गाय' नामो बहन पर अश्व बाधो अर्थ का भान हो सकेगा । वद्व्यवहार म भी वाक्य से होने वाली प्रतीति भी पदपर्यवसायी होती है । अथवा प्रतिवाक्य म व्युत्पत्ति की अपेक्षा होगी और ऐसा सम्भव न हाने से, आनन्त्य और कठिनाई के कारण शाब्दव्यवहार का ही उच्छेद हो जायगा । इसके अतिरिक्त अभिनव कवि की कविता से भी अर्थबोध होता है वह पद और पदार्थ की व्युत्पत्ति के बल पर ही होता है । वाक्याय की व्युत्पत्ति के सहारे नहीं होता । साथ ही अवय अन्वित का विशेषण है पहले अन्वित का अभिधान हो ले तब अवय काम कर सकता है अथवा नहीं । किन्तु यह एक शक्ति स सम्भव नहीं है । इसकी सिद्धि क लिए शक्त्यन्तर कल्पना करनी पड़ेगी । अन्विताभिधान पक्ष म गाम् आनय वाक्य स यदि गो गद् से आनयति क्रिया से विशिष्ट की अभिव्यक्ति मानें गो के अर्थ की प्रधानता होगी । यदि आनयति क्रिया से गो अर्थ की विशेषता मानें तब क्रिया के अर्थ की प्रधानता होगी । इस तरह से, दो प्रधान अर्थ के होने से, वाक्य-भेद होगा ।

अन्विताभिधानपक्ष मे पहले प्रकृति प्रत्यय का अवय, तदनन्तर पदार्थों का अवय—इस रूप मे दो बार अभिधान मानना पड़ेगा ।

यदि यह मान लिया जाय कि पद अन्वित होकर अपना अर्थ व्यक्त करता है तो उस समय दूसरा पदार्थ अभिहित होता है अथवा अनभिहित । यदि दूसरा पदार्थ अनभिहित हाता है एक ही पद से उसके अर्थ से अनुरजित द्वितीय पदार्थ के भी जान हो जाने के कारण पदांतर उच्चारण व्यर्थ होने लगेगा । इस दृष्टि से, एक ही पद अखिल पद अर्थ को प्रकट करने वाला हो जायगा और उसी एन से ही व्यवहार होने लगगा । किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता । केवल गो कहने से सब वशिष्ट्य के बोध होने के कारण यह नहीं सम्भव म आयगा कि किस गुण आदि का उपादान हो । नियत गुण-क्रिया आदि से अनुरूप स्वाय की प्रतीति हाती है इसमें कोई हेतु नहीं है । पञ्चार्थ सनिधान को भी नियम हेतु नहीं माना जा सकता । वह जप मन्त्र आदि पदों की भांति यदि स्वरूप मात्र स ही सनिहित होता है अविशिष्ट है । यदि पदांतर का सनिधान अर्थ प्रतिपादन के रूप म नियम का हेतु होता है वह अभिहित अर्थों के अन्वय का प्रतिपादक हो जाता है जो अभिहितावयवाद के अनुकूल है ।

यदि ऐसा माना जाय कि प्रथम पद के अवय के समग्र दूसरे पद का अर्थ अभिहित रहता है तब मानना होगा कि प्रथम पद पञ्चार्थोत्पत्ति अर्थभिधान की अपेक्षा

रखता है और इस तरह इतरेतराश्रय दोष उपस्थित हो जायगा। यदि दूसरा पद अनवित रूप में अश्रय बाध करा सकता है, पहले का क्या अपराध है। यदि सभी पदों में स्वायत्ता का अभिधान मान लें तो एक तरह से अभिविधित्व पक्ष का समर्थन होता है।

इसके अतिरिक्त, "अगुण्यग्रे हस्तिपूथगतम्" जैसे वाक्य में भी अविताभिधानपक्ष में, अवयव होने लगेगा।

अविताभिधानवादी मानते हैं कि वाक्य कायभूत है। वक्ता के मन में अर्थ का पूर्वविज्ञान कारण भूत है ऐसा अनुमान कर लिया जाता है। अर्थात् बौद्ध अर्थ कारण है बाह्य वाक्य काय है। ज्ञान ज्ञेय से अव्यभिचरित है। इससे नेयभूत अर्थ का निश्चय होता है। वाचकशक्ति में अर्थ का परिज्ञान नहीं होता। अतः जिस दर्शन में वाचकशक्ति का ही निश्चय नहीं है अवित का अभिधान कैसा सम्भव है?

अविताभिधानवाद के समर्थक उपयुक्त आशय के उत्तर दे दते हैं। कदम्बक रूप में अर्थ की प्रतिपत्ति और प्रतियोगिया के अनन्त होने के कारण पदार्थ प्रतिभास की दुष्फरणा के उत्तर में वे अपनी पदार्थावयव प्रक्रिया की दूसरी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उनके मत में गौ शुक्ल में गौ गज का शुक्ल से अवित अर्थ नहीं होता ऐसा मानने पर व्यभिचार होगा क्योंकि कृष्ण से अवित रूप में भी उसके अर्थ की उपलब्धि होती है। सब उद्देश्य से अवित रूप में भी अर्थ नहीं होता क्योंकि ऐसा मानने पर आनन्द के कारण अर्थपरिज्ञान दुर्बोध होगा। वस्तुतः उसका अर्थ आकाशा, सन्निधि और योग्यता के सहारे उपलब्ध अर्थात्तर से अनुरक्त रूप में व्यक्त होता है। यह व्युत्पत्ति पद के अवाप उद्घाप अथवा रचना वचन के कारण वाक्य से ही प्रकट हो जाती है। जो आकाक्षित है योग्य है सन्निहित है उससे अवित होकर पद अपने अर्थ का प्रदिपादन करता है। भट्ट हरि की निम्नलिखित कारिकाएँ भी इस मत का समर्थन करती हैं

नियत साधन साध्ये क्रिया नियतसाधना ।

स सन्निधानमात्रेण नियम सनप्रकाशते ॥

गुणमात्रेण साक्षात् तत्र नाम प्रवर्तते ।

साध्यत्वेन निमित्तानि क्रियापदमपेक्षते ॥\*

सन्निहित, आकाक्षित और योग्य से उपरक्त अपने अर्थ में सम्बन्धग्रहण कर सञ्ज्ञ ग्रहण कर लिया जाता है। इसलिए आनन्द और अभिचार के कारण सम्बन्धग्रहण का दोष नहीं होगा। पुनः पद-पञ्चाय में सम्बन्धग्रहण की उपपत्ति होने के कारण प्रथमश्रुत पदार्थ प्रतीति का जो आरोप किया गया था वह निराधार है और गाय लाओ इसमें गाय बाधो यह अर्थ भी नहीं भलवेगा प्रतिवाक्य में व्युत्पत्ति की अपेक्षा भी नहीं होगी और न अभिनव कवि के श्लोक से वाक्याय प्रतीति होती है। अवितग्रभिधान शक्ति के आधार पर ही अवयव होता है इसलिए दो शक्तियों के

कल्पना गौरव का दोष भी नहीं है। वाक्यभेद सबधी जो आशय किया गया था वह भी युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि अविन सबध कभी प्रधान रूप में और कभी अप्रधान रूप में यथायाग्य उत्पन्न हो जायगा वाक्य भेद नहीं होगा।

प्रकृति प्रत्यय के और पद के अभिधान में दो बार अभिधान हान का जो दोष दिखाया गया है वह भी उपयुक्त नहीं है। क्योंकि प्रकृति से अविन का अर्थ व्यक्त होता है। प्रत्यय प्रत्ययाथ और पदार्थ से अविन स्वाथ का व्यक्त करता है। प्रत्ययाथ के प्रत्ययार्थों के पद की अपेक्षा होने के कारण दो बार अभिधान नहीं माना जायगा।

अभिहित पदार्थों के अविन के अभिधान पक्ष में दूसरे पद के उच्चारण की व्यर्थता का दोष और अनभिहित पक्ष में इतरेतराश्रय दोष—य दाना भी निराधार है। क्योंकि अविताभिधानवाद के मत में प्रथमभूत पद ही अयोय रूप में अन्वित होकर स्वाथ की अभिव्यक्ति करता है—एमी उनकी मायता नहीं है। वे मानते हैं कि जिस पद के जितने अर्थ सम्भव हैं उसका श्रवण से उतने अर्थ स्मृति में भस्कर उठते हैं। पुन आकाशा योग्यता सन्निधि के सहारे परस्पर अन्वित होकर पदों के द्वारा स्मृति आरूढ़ उन अर्थों का बोध होता है। क्योंकि उस व्यक्ति में वाक्याथ की प्रतीति नहीं जगती जिसने सबध ज्ञान नहीं प्राप्त किया है अथवा जिसमें सबध के ग्रहण करने वाले सस्कार नहीं उत्पन्न हुए हैं। अथवा उत्पन्न होकर नष्ट हो गये हैं। जिनके सम्स्कार च्युत नहीं हुए हैं वह पद पद को सुनकर इस अर्थ से यह यह आकाशित सन्निहित और योग्य है इसका स्मरण कर लेता है।<sup>४</sup>

पदों द्वारा अन्वित का अभिधान यदि स्मृतिसन्निधान के सहारे अपनाया जायगा अनेक स्मृति के उद्बुद्ध होने की सम्भावना होगी क्योंकि स्मृति प्रत्यासत्ति से संपृक्त होती है। स्मृति के सन्निहित पदार्थों के किसी विनोय का ग्रहण न हो सकेगा। फलतः उल्लासा पक्ष में वाक्य में उल्ला केवल पक्ष के अर्थ से अन्वित रूप में ही सामने नहीं आयगी अपितु क्लृप्ता निर्वृत्ति आदि से युक्त भी जान पड़ेगी क्योंकि उनका स्मरण भी उल्ला के साथ-साथ होगा। इसी तरह पक्ष के अर्थ द्रष्टा के कम से भी संपृक्त हान के कारण उसका भी स्मरण होने से ओदन अन्वित रूप में सामने नहीं आएगा। इस आक्षेप का उत्तर यह कह कर दिया जाता है कि शब्द से जिनका स्मरण होता है उनका अवयव होता है वह व्यवहार में भी ऐसा दत्ता जाता है।

४ पाथमार्थ ने 'स्मृति' वाल उत्तर को समाप्ता की है। स्मृति तो अनुभूत का होता है। पद रूप कारण के होने से स्मृति मात्र भी नहीं माना जा सकता। अतः उनके मत में अन्विता भिन्नाना अनुभूत है —

अन्विताभिधायिमाति चन् । कदलोन्धारणे पदार्थग्वरूपावगमान । स्मरणे तत् इति । अनुभूतानामना । स्मृतिप्रमाणेन । पदरूपानुपपत्तिकारणसम्भावना । अतः पदरूप तावन्निवेदिनि नाविताभिधानम् । तिर न चत्तमन्विताभिधानं यापरत्नमालायां शास्त्र दानिकाया चनि ।

इसलिए जा अथ गन्ध से स्मारित है उसी से अचित्त का अभिधान होना है। इसलिए उखा गन्ध से कलाय निर्वृत्ति आदि के अथ से अचित्त की ही प्रतीति होती है। स्मृति के द्वारा अनचित्त के स्वरूप का भी स्मरण हो जाता है। इस तरह स्मृति मनिहित अर्थों से अचित्त स्वाद्य को पद प्रकट करता है।

गन्ध के श्रवण से स्वरूप का स्मरण कैसा होता है ? गन्ध में अपने स्वरूप को व्यक्त करने की क्षमता नहीं होती। इसका उत्तर यह है कि जिसका जिसके माय काई लगाव (प्रयासक्ति) देखा गया है वह पूरा सस्फार का जगाकर उसका स्मरण करा सकता है। स्वरूप का शब्द के माथ, अभिधेय मवध के आधार पर प्रयामति है। अन गन्ध स्वरूप की प्रतीति करा सकता है। जैसे अथ कभी अने पद की स्मृति जगा देता है वैसे ही पन् भी अथ का स्मरण करा देता है। अविताभिधानवाद के समर्थक स्वीकार करते हैं कि पन् से नियत अथ से अन्वय लाभ अविताभिधान पन् में ही उपपन्न हो पाता है। पन्तर अभिधेय के रूप में जो स्मरण कराया जाता है उससे अचित्त का ही वद्व्यवहार में वाच्यत्व देखा जाता है। जहा कही अध्याप्ता होता है वहा भी सनिधापित अथ से विनोप अचित्त अभिधान सिद्ध हो जाता है।

अन्विताभिधानपन् में अन्तर्गुण्ये हस्तिगुण्यम्' इस वाक्य में भी अन्वय होने लगा। इस रूप में जो दोष दिखाया गया है वह भी उचित नहीं है। क्योंकि स्मृत पदार्थों में भी यदि योग्यता न हो अन्वय नहीं होता इसलिये उपयुक्त वाक्य में अभिधान सम्भव नहीं है। पन्थ की प्रतिपत्ति ता अवश्य स्मृति से ही होती है। पुष्पवाक्य के प्रमाण के आधार पर पदा में वाचकत्व गक्ति के अनवधारण सबधी जो दाप कहा गया है वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि एक तो अविताभिधानवाद पुष्पवाक्यों का अथ में प्रामाण्य नहीं मानता। यदि किसी तरह प्रामाण्य मान भी लिया जाय फिर भी दाप नहीं है। क्योंकि पद अचित्त के अभिधायक रूप में जाना गया है किन्तु अभिचरित होने की आगका से लोक में वह निदवायक नहीं होता। बाद में पर्यालोचना से अनुमित अथ में अनुवात्क माना जाता है। इसलिए उसमें प्रामाण्य नहीं आ पाता। किन्तु पन् अपना वाचकत्व नहीं छोड़ता है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि अनन्त प्रतियोगी में अचित्त स्वाद्यबोधन विषयक अनन्त गक्ति का कल्पना करनी पड़ेगी। क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रिया की तरह कायभेद की उपपत्ति हो जायगी। आकाशित सन्निहित पदा में स्वाद्य के अभिधान की गक्ति एक ही है। उस गक्ति से प्रतियोगी के भेद से कायभेद हो जायगा। जमे चक्षु में दगन गक्ति एक ही है फिर भी चक्षु घट आदि प्रतियोगी के आश्रय से अनन्त ज्ञान का जनक होती है उसी तरह गन्ध भी प्रतियोगी के भेद से बिना अनेक गक्ति की कल्पना के भी कायभेद का जनक हो जायगा। अविताभिधान पन् में ही पन् का सत्य अर्थभिधान और एकाधपरक पदसमूह में वाक्यत्व उपपन्न होता है। सत्य अर्थभिधान और सधाताय में भेद यह है कि सत्यपन् में पन् के स्वकाय होने हैं सधातपन् में सधातकाय होते हैं। पन् का स्वकाय स्वाद्य की

प्रतिपत्ति है। सहायभाष्य में अभिप्राय वाक्याण्य की प्रतिपत्ति है। सहायभाष्य में एक एक पद अस्मत्पदान्य न व्यापारशील होता है। शृङ्खलाकार होता है। एक एक क होने से संपूर्ण वाक्य काय की गति मिल जाती है और एक क प होने पर नहीं होती। इसलिये पद में शृङ्खलाकारिता मानी जाती है। एक पद में श्रुति मिलती है। पदान्तर अभिव्यजक हैं। अथवा सहायभाष्य में भी पदान्तर के प्रयोग पर इसी तरह का अभियोग सम्भव है यदि दोष है तो दोना पदा में समान है अतः अभिप्रायवाक्याण्य को ही इस आधार पर दोषयुक्त नहीं माना जा सकता।

अभिप्रायवाक्याण्य को भी किसी-न किसी स्तर पर आकांक्षा, मोक्षवा आदि को स्वीकार करना पड़ता है। क्या न अभिहितवाक्याण्य को प्रथम लिया जाय। क्योंकि उसके मत में पद वाक्य की अभिव्यक्ति पर उपरत हो जाते हैं। भाष्य में आकांक्षा आदि के सहारे पदार्थों में प्रथम की प्रतीति होती है। इससे उत्तर में प्रभाकर का सप्रदाय कहता है कि ऐसा सम्भव नहीं है। ऐसा मानने पर ससग का मान नहीं होगा। क्योंकि आकांक्षा किसकी है? शब्द की अथवा अथवा प्रमाता की? शब्द और अथ के अचेतन होने से उनकी आकांक्षा न हो सकेगी। प्रमाता की हो सकती है। किन्तु ऐसा कहा जा सकता है कि शब्द शब्दान्तर की आकांक्षा करता है और अथ अर्थान्तर की। स्वतन्त्र की आकांक्षा प्रमाण नहीं है पुरुष की इच्छा का वस्तुस्थिति से कोई सीधा लगाव नहीं है उसकी आकांक्षा पद प्रमाण के पीछे रहती है। अथ में पुरुष की आकांक्षा अर्थों में ससग का हेतु नहीं हो सकती। फलतः शब्द का ही यह वाण की तरह दीधदीध व्यापार है। शब्द व्यापार के उपरत हो जाने पर पुरुष की आकांक्षामात्र सम्बन्ध का कारण नहीं होती। ऐसा मानने पर वाक्याथ का ज्ञान अशाब्द होने लगेगा। किन्तु यदि साक्षात् शब्दत्व सम्भव हो व्यवधान अयुक्त है। इसलिये पद अचित्त होकर ही अथ का प्रतिपादन करते हैं, ऐसा मानना ही उपयुक्त है। इस मत में ही ससग प्रतीति उपपन्न होती है। 'गाम आनय शुक्लाम्' जैसे वाक्यों में ससग पद का प्रयोग नहीं है जिससे कि ससग का ज्ञान हो। यदि ससग पद का प्रयोग भी होता तो भी दश दाडिम वाक्य की तरह अनचित्त ही अथ होता। वस्तुतः व्यतिपद्म का बोध व्यतिपत्ताय बुद्धि द्वारा होता है। यही भाग ससग बोध का है। इसलिये अचित्ताभिधानवाद की प्रशंसा देना चाहिए।

अभिहितवाक्य का मूल आधार मीमांसका की दृष्टि में शब्द भाष्य का निम्न लिखित वाक्य है

पदानि हि स्व स्व पदार्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि

अथेदानीं पदार्था अवगता सन्तो वाक्याथ गमयन्ति।<sup>१</sup>

पद अपने अपने अर्थ को व्यक्त कर उपरत हो जाते हैं पदार्थ के अवगत हो जाने पर वे वाक्याथ का बोध कराते हैं।

अचित्ताभिधानवादी भी उपयुक्त वाक्य की अपने सिद्धांत के अनुकूल व्याख्या

करते हैं। प्रमाकर ने 'तस्मात् व्यतिपक्ताधामिधानम् व्यतिपत्तेनावगते व्यतिपगस्य' कहा था।<sup>७</sup> अर्थात् पद व्यतिपक्ता का अभिधायक है। वह व्यतिपङ्ग का अभिधायक नहीं है। भाव यह है कि शब्द से आकृति का अभिधान होता है माथ म व्यक्ति का भी मान होता है इसलिए यद्यपि व्यक्ति शब्दजय प्रतीति से ग्राह्य है फिर भी आकृतिगम्य मानी जाती है। आकृति प्रत्यय व्यक्ति प्रत्यय का निमित्त है। जसे आकृति-मात्र शब्द से गम्य है वैसे व्यक्ति भी गम्य है ऐसा न माना जा सकता। क्योंकि केवल जाति का अवगमन समभव नहीं है। यह आकृति का स्वभाव है कि वह बिना व्यक्ति के आश्रय के प्रतीति गोचर नहीं हो सकती। यह व्यक्ति का रूप है। बिना रूपवान् के रूप में बुद्धि नहीं जम सकती। यदि रूप रूपवान् के बिना भी प्रतीत होता, रूपवत्ता का अस्तित्व ही नहीं होता। इसलिए व्यक्ति के माथ ही जाति का मान होता है। शब्द भी अपनी शक्ति से जाति का अभिधान करता है। उसका व्यक्ति के बिना ग्रहण दुष्कर है अतः जाति व्यक्ति का भी प्रत्यायन करती है। इसमें शब्द का आकृति प्रत्यायन स्वाभाविक है और उसका निमित्त व्यक्तिप्रत्यायकत्व है। इसलिए आकृति-प्रत्यय व्यक्ति प्रत्यय का निमित्त माना जाता है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि शब्द से प्रथम अवगत आकृति बाद में व्यक्ति का बोध कराती है। ठीक इसी तरह, अचित्त अभिधायी शब्द द्वारा अवयव के बिना अचित्त का बोध नहीं कराया जा सकता। अतः अवयव का बोध करता हुआ पदार्थ निमित्तक माना जाता है। शायद भाष्य के उपर्युक्त वाक्य में पदार्थ शब्द का अभिप्राय अचित्त से है वाक्यार्थ शब्द का अभिप्राय अवयव से है। पद अचित्त होकर अवयव का अवबोध कराते हैं।

पाथसारथि ने इसे क्लिष्ट भाग माना है।<sup>८</sup> उनके अनुसार भाष्यकार ने वाक्यार्थ में पदार्थ की निमित्तता स्पष्ट रूप में व्यक्त कर दी है। पदार्थ आकाशा सन्निधि और योग्यता के सहारे अचित्त होकर वाक्यार्थ को व्यक्त करत हैं।

वद्व्यवहार वाक्य से परिचालित होता है। व्युत्पत्ति भी वाक्य से होती है। किंतु वह व्युत्पत्ति एकघटनाकारकसहस्रवाक्यायनिष्ठ है अथवा पदार्थ पर्यन्त है? पहले पक्ष में प्रतिवाक्य में व्युत्पत्ति अपेक्षित होगी इससे आनन्द्य व्यभिचार आदि दोष सामने आयेंगे। पदार्थपर्यन्त मानने पर यह निश्चय करना पड़गा कि इस पद का अर्थ इतना है। सहस्रकारिता पक्ष में शकट के अवयव का दृष्टान्त दिया जाता है इस दृष्टान्त के द्वारा भी पदवापार का निर्धारण अभीष्ट है। पदार्थनियम की अनुरेक्षा से 'गाम आनय' कहने की इच्छा रखने वाला अश्वम आनय' कह सकता है। जिस तरह से वैयाकरण पदपदार्थ विभाग की अपेक्षा नहीं रखते वैसे उसकी भी नहीं होती ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसलिए आवाप उवाप की पर्यालोचना में जिनका पद का अर्थ निर्धारित होता है उतना उसका अर्थ है। अवयव-व्यतिरेक के आधार पर पद की अभिधायी शक्ति केवल जाति में है अथवा व्यक्ति में है अचित्त में नहीं है।



साध्य वृत्ति जिताया व्यापक है उताय अभिधानी वृत्ति नहीं है । व्यापक की वृत्ति स पदा म साध्य वृत्ति है अभिधानी वृत्ति नहीं है । अतएव अविताभिधान पदा म अभिहितव्यय । गुरातर है ।

पदायो क साध्य बोध म वृत्ति गौरव नहीं पाया वृत्ति मभी साध्य साधनिक हात है । अभिहितव्यय क मध्य म म मध्य हात क वारण म साधनिक मान जात है । मद्यपि पदाय साधनिक म अभिधाना म म मध्य नही है फिर भी पदा एकवचनता क आधार पर स जना मानी जाती है अविताभूत मध्यय क आधार पर नहीं मानी जानी । बिना अविनाभाव क भी ग्रीहीन प्रवृत्ति जय साध्य म एकवचनता क आधार पर सजना मानी जाती है । एकवचनता कभी प्रमाण नहीं है वही प्रकरण के सहारे अनुमय होती है ।

भोज न उभयवानी का भी उक्तव किया है । उभयवानी अभिहितव्ययवा और अविताभिधानवाद का समन्वय उपस्थित करत है । उनके अनुसार सामान्य की दृष्टि म अविताभिधान होता है विनय की दृष्टि म अभिहितव्यय हाता है । गो साद स्वाथ का सामान्य स अवित रूप म जताना है, विनय का मान नहा हो पाता । यही सामान्य क द्वारा अभिधान है । शुक्ल प्राणि गुण पदातर स प्रयुक्त हात है । यही विनय के द्वारा अभिधान है । वाक्याय हा मत म त्रियाकारक ससग रूप है ।<sup>६</sup>

अविताभिधानवाद और अभिहितव्ययवा दोना म पदाय म वृत्ति कल्पना समान है । पदाय के आश्रय स यदि वाक्याय का बोध न माना जाय तो, जसा कि भत हरि ने लिखाया है निम्नलिखित पाँच दोष उपस्थित होते हैं —

१—प्रतिनिधि कल्पना की अनुपपत्ति

२—पिकादिनिघतपदग्र न की अनुपपत्ति

३—श्रुति और वाक्य के विरोध मे श्रुति की बलवत्ता की अनुपपत्ति ।

४—अवान्तर वाक्यो म अथवत्त्व का प्रभाव

५—लक्षण की अनुपपत्ति ।

मुख्य वस्तु क प्रभाव म यदि उसके सत्त्व किसी अथ वस्तु स उसका काम लिया जाता है तो उस सादृश्य वाली वस्तु को प्रतिनिधि कहा जाता है । जस ग्रीहि के प्रभाव म यदि नीवार से काम लिया जाय नीवार प्रतिनिधि है । ग्रीहिमि यजेत' इसमे यजति क्रिया स देवता को लभ्यकर द्रव्य का त्याग अथ सामने आता है । इस लिय द्रव्य यजति क्रिया से एकतेजभावापन्न होन क कारण उमका भग है और श्रुतिप्राप्त सनिधान है । यहा श्रुतिप्राप्तसनिधान शाब्द है । ग्रीहित्व प्राणि सामान्यविनय है । निविनय सामान्य नहीं होता इसलिए ग्रीहित्व विशेष से परिपोष होता है । ग्रीहि श्रुति अध्यावापाय है । वह शब्दसामर्थ्य प्राप्त द्रव्यत्व मात्र को अपिरोध के कारण नहीं बाधनी । द्रव्यत्व श्रुतिसामर्थ्य प्राप्त है ग्रीहित्व अथसामर्थ्य से आया है वह सामान्य-मात्रप्राप्तसनिधान है । किन्तु जिसक विचार म यजति क्रिया के सामर्थ्य से ही ग्रीहित्व

श्रुति की प्राप्ति है उनक अनुसार ब्रौहिश्रुति नियमायक होगी और यवत्व आदि सामान्य विशेष का निवर्तक होगी। इस दृष्टि में ब्रौहित्व से यवत्व आदि गृहचारी द्रव्या का अग्रमारण होगा। जिस तरह से यन के लिए निषिद्ध पलाण्डु आदि का, अर्थित्व और सामर्थ्य होने पर भी शास्त्र के द्वारा अपयुक्त होने के कारण वचनांतर के न होने के कारण, प्रतिनिधि उपादान नहीं होना उसी तरह नीवार यव आदि का भी ब्रौहादि नियम में निषिद्ध होने के कारण और वचनांतर के अभाव के कारण प्रतिनिधि नहीं होगा। एक दूसरे दगन के अनुसार ब्रौहिगन्, शब्द द्वारा अगावृत्त ब्रौहित्व का अग्र रूप में अधिक कल्पित कर लेता है। फलतः द्रव्यत्व का बोध नहीं कर पाना है। क्योंकि न तो यवत्व श्रुति की वृत्ति में उसका व्यापार है और न अभ्यनुज्ञा में। सामान्य का विशेष के साथ अविराध होने के कारण द्रव्यत्व का बाध न होगा। द्रव्यत्व मात्र के आक्षेप में प्रतिनिधि की उपपत्ति हो जायगी।

यदि ब्रौहिश्रुति नियमायक न मानी जायगी, नीवार आदि का विकल्प प्राप्त होगा। ब्रौहि से होना चाहिए अथवा यव से होना चाहिए इस रूप में विकल्प होगा। फलतः ब्रौहिश्रुति निरर्थक होगी। इसके समाधान में भक्त हरि ने असंभव नियम का उक्त किया है। ब्रौहित्व से द्रव्यत्व के विशेषित होने पर वस्तु सामर्थ्य के बल से यवत्व आदि की संभावना नहीं है। जहाँ पर द्रव्यत्व ब्रौहित्व एकाग्रसमवायी है वही यवत्व-एकाग्रसमवायी संभव नहीं है। यह असंभव नियम है। दो प्रकार का नियम हेतु है। कोई शब्द सामर्थ्य से आ जाता है जहाँ पक्ष में प्राप्ति होने पर श्रुति होती है। जैसे व्यक्ति पदार्थ पक्ष में विप्रतिषेधे परम। कोई नियम, शब्द व्यापार के न होने पर भी पदार्थों के इतरेतररूपसाक्य के अभाव से एक प्रवृत्ति अपने से अतिरिक्त के निवर्तिफलक होती है इस आधार पर पदार्थस्वरूप के विमर्श से आ जाता है। इसे असंभव नियम कहा जाता है।

असंभवो नाम नियम शब्दव्यापारो (अशब्दव्यापार) नियमसदृशफल वचन-  
द्विषयेऽय एव धर्मोऽयमसंभवनियम इति नियम विभागे यायविद कचिदा  
चक्षते।<sup>१०</sup>

—वाक्यपदीय २।६= हरिवृत्ति

यहाँ पर शब्द सामर्थ्य में द्रव्यत्व भी उपस्थित है ब्रौहित्व भी। अध्यावाप शब्द व्यापार है। अण्ड वाक्याथ पक्ष में भी अपोद्धार दगन में भेद, ससग श्रुति विकल्प किए जाते हैं। व्याडि के मत में भेद वाक्याथ है। क्योंकि पद से वाच्य द्रव्या का द्रव्यान्तर से निवर्ति अभिप्रेत रहती है। जातिवादी वाजप्यायन के मत में ससग वाक्याथ है। क्योंकि वाक्याथ सामान्या का, पदार्थों का संश्लेष मात्र है।<sup>११</sup> जहाँ

१० श्री गार प्रकाश में यह वाक्य यों उद्धृत है—

‘असंभवो नाम यन्नियमसदृशफल अय एव वाच्यविशय

यमसंभवनियम इत्यामनन्ति।’

श्री गार प्रकाश ५० ३१४ मैसूर संस्करण।

११ अण्डवैदिक वाक्याथनयेऽपोद्धारदशागतो भेदससगादिविकल्पः।

तत्र ‘यादिमने मेने वाक्याथ। वाजप्यायनस्य तु मत ससगो वाक्याथ।

—हेलाराज। वाक्यपदीय, जन्मिसुद्धं श ५

गन्तव्यता से ग्रीहित्व अधिक रूप में प्रगमाय प्राप्त हो जाता है। यही श्रुति से अप्रतिनिधि होने पर भी यद्यपि न हो सके तो क्या कि ग्रीहित्व का माप उक्त सिद्ध—एवायममाय है। यदि हा भी तो विरोध न होने में, सामान्यप्राप्तगतिमान के रूप में, शब्द व्यापार का विना भी गहीत है। किन्तु यह विरल का विषय नहीं है।

निर्विण्ण सामान्य नहीं होता। इगलित यजि क्रिया से विण्णनिष्ठ द्रव्य का आशेष होता है। इसलिए सभी विण्ण श्रुतिसामान्य से प्राप्त होंगे। फलतः ग्रीहिभिः यह श्रुति श्रुत रूप में भी नियमफल वाली ही हो जाती है अतः श्रुत अर्थ का त्याग कैसे नहीं होगा? इसका उत्तर भन्नुहरि ने यह कहकर दिया है कि प्रतिनिधि का विषय में ऐसा नहीं होता। क्रिया शब्द से सभी विण्ण सङ्गित नहीं होते। शब्द सभी विण्ण का अभिधायक नहीं होता।

न हि सर्वेषां सतां शब्दोऽभिधायकः ।<sup>१२</sup>

शब्द वस्तुचिन्ता का अनुसरण नहीं करता। वस्तु का कोई भाग ही शब्द का विषय होता है। सबल सनिहितविण्ण का अभिधायक शब्द नहीं दसा जाता। यजति क्रिया का केवल द्रव्य मात्र के आशेष में शक्ति है द्रव्य विण्ण में नहीं है। ग्रीहित्व आदि द्रव्य सहचारी विशेष जो क्रियापदाय का एकदेश भूत हैं यजि क्रिया से सङ्गित नहीं होंगे। वस्तु विवक्षानिबन्धन होती है। सत पदाय भी अर्थ रूप में असत हो सकता है। विवक्षा शब्द सामान्य का अनुरूप होती है। द्रव्य के साथ शुक्ल आदि गुण भी रहते हैं किन्तु क्रिया शब्द से गुण की विवक्षा क्रिया का अर्थ रूप में नहीं होती और न उनका प्रत्यायन क्रिया पद से संभव ही है। इसलिए द्रव्यमात्र का ही आशेष शब्द से होता है उसके परिपोष के लिए विशेष का आवाप नियम के लिए नहीं होता। फलतः शास्त्र से अपयुक्त विशेषों के प्रतिनिधि उपपन्न हो जाता है। इस तरह यहाँ असम्भवनियम त्याग का विवरण है।

जिनके मत में क्रियाविण्ण ही वाक्यार्थ है उनके मत में क्रिया स्वसिद्धि के लिए योग्यद्रव्य साधन का आशेष कर लेती है। वही पदांतर से विशिष्ट कहा जाता है। ऐसी दशा में, जहाँ श्रुत साधन संभव नहीं है प्रधानभूत क्रिया की प्रतिपत्ति के लिए किसी अर्थ साधन को प्रतिनिधि रूप में ले लिया जाता है। क्रिया का प्रतिनिधान नहीं होता क्योंकि वह प्रधान होती है। शिष्टो ने गुणभूत साधन को ही प्रतिनिधि रूप में स्वीकार किया है। अतः प्रधानभूत क्रियापदाय से आक्षिप्त साधनमात्र का त्याग नहीं होता अपितु ग्रीहिपद से उपात्त द्रव्यविषयक नियममात्र का बाध होता है। इसे नियम मात्रबाध कहा जाता है।

प्रतिनिधि के प्रसंग में असम्भवनियमत्याग और नियममात्रबाध इन दो दार्शनिक विचारों के अतिरिक्त तीन अर्थ विचारों का भी मत हरि ने उल्लेख किया है। वे हैं—प्राय सामान्य से प्रतिनिधि की उपपत्ति, वाक्यार्थसामान्य से प्रतिनिधि की उपपत्ति और प्रकरण सामान्य से प्रतिनिधि की उपपत्ति।

जातिपदाथ पक्ष में आख्यातवाच्य क्रिया से जाति का सम्बन्ध कस होगा। क्रिया साधन से जुटती है। जाति साधन नहीं है। उसके आश्रय रूप साधन से सम्बन्ध करने पर प्रतिनिधि की अनुपपत्ति का भ्रान्त उठ खड़ा होता है। इनके उत्तर में कुछ भाचार्यों की भायना है कि जाति शक्ति का उपलक्षण है। यदि 'बध्नाति' इस श्रुति के अनुसार कही खदिर में बाधने का संयोग न हो तो उसके सन्तुष्ट कदर में बाधन का कार्य सम्पन्न किया जाता है। जिस तरह कदर खदिर का प्रतिनिधि हो जाता है, उसी तरह द्रव्यान्तरगत शक्ति का भी, आश्रय की सशक्तता की दृष्टि से, परिग्रहण कर लिया जाता है।

जातिपदाथ सिद्धान्त के मानने वालों में कतिपय जाति को अभिधेय मानते हैं, उपलक्षण नहीं मानते। उनके मत में भी प्रतिनिधि की उपपत्ति हो जायगी। बाधन का प्रयोग अस्वातन्त्र्य है। यदि खदिर शक्तिहीन है तो उसको छोड़कर कदर काम में लाया जाता है। इसमें विधि में कोई दोष नहीं माना जाता। इसी तरह जाति के अभिधान के पक्ष में भी शक्तिहीन का ग्रहण नहीं होगा। गाम् आलभेन जसे श्रुतिवाक्य से भी योग्य व्यक्ति के साथ क्रिया का सम्बन्ध होता है।

यदि बाधन का अभिप्राय केवल सश्लेष मात्र हो तो प्रकरण आदि की पर्यालोचना से प्रतिनिधि उपपन्न होता है।

प्रतिनिधि के उपादान होने पर भी अखण्डवाक्याथ का अनुष्ठान सम्भव न होने से नीवारणकयाग के अनुष्ठान से नित्य, काम्य आदि विधि का लाप होना लगता। अखण्ड पक्ष में 'क्रिया का प्रतिनिधान नहीं होना द्रव्य का होता है, यह भाष्य भी विच्छिन्न हो जायगा। अतः पदाथ द्वारा वाक्याथ का अवबोध मानना चाहिए।

प्रसिद्ध पदाथ के अवधारण के लिए अप्रसिद्ध पदाथ का परिग्रह निर्णय प्रश्न कहा जाता है। जिस वनात् पिक आनीयताम् जजरा वरासी वृषनाय दीयनाम्' जैसे वाक्यों के कहने पर सुनने वाले जिन पदों के अर्थ जानते हैं उनके बारे में तो कुछ नहीं कहने किन्तु जिन पदों के अर्थ उन्हें नहीं पता हैं उनके बारे में जिज्ञासा व्यक्त करते हुए देखे जाते हैं। जैसे वन शब्द का अर्थ पता है किन्तु पिक शब्द का नहीं पता है तो पूछते हैं पिक कौन सी वस्तु है जिसे वन से लाना है।<sup>१३</sup> अथवा विरासी (वरागी?) क्या है जिसे वपल को देना है। वक्ष वपभ, काण्डीर आदि प्रसिद्ध भेदा में अतः ऋषभ भाण्डीर आदि अर्थ जिज्ञासा में वकार अथवा ककार के अर्थ के लिए वण विषयक प्रश्न नहीं देना जाता है। यदि निरवयव, अखण्डवाक्य से असंख्य अर्थ की प्रतीति होती वनात् पिक आनीयताम् वाक्य से भी अखण्ड अर्थ भासित होता। किन्तु पथक् पिक पद का अर्थ की जिज्ञासा होती है। अतः वाक्याथ अविभागाश्रित न होकर विभागमय

१३ शबर स्वामी ने पिक शब्द को अनाय माना है। जिन निर्णय यह वाक्य उदाहरण के रूप में आया होगा, बहुत से लोग इस शब्द को नहीं पहचान पाए होंगे। वरासी शब्द भी समुदाय के भाषा का नाम पड़ता है। यों वैदिक साहित्य में वपनविशेष के अर्थ में मिलता है।

है। मीमांसा दर्शन में श्रुति और वाक्य के विरोध में श्रुति बलवती मानी जाती है। यदि वाक्याथ अविभक्त रूप में स्वीकार किया जायगा, श्रुति और वाक्य के परस्पर विरोध में पारदोष्य वाला नियम नहीं लागू हो सकेगा। प्रमाणांतर निरपेक्ष शब्द का श्रुति कहा जाता है। भत हरि के अनुसार श्रुति एक शब्दविषया एकपदनिबधना होती है।

इह श्रुतिर्नामकशब्दविषयकपदनिबधनार्था।<sup>१४</sup>

समभिव्याहार अथवा अपशपि वाचकपदा के सह उच्चारण को वाक्य कहा जाता है। श्रुति का सम्बन्ध साक्षात् प्रापित से होता है, वाक्य का यत्न प्रापित से होता है इसलिए श्रुतिधर्म से वाक्यधर्म विलक्षण माना जाता है। स्वतः छागमालभेत इस वाक्य में द्रव्य का आलम्बन क्रिया के साथ योग द्वितीया श्रुति (द्वितीयाविभक्ति) से साक्षात् प्रतिपादित है। श्वेतगुणका सम्बन्ध सामानाधिकरण्य के आधार पर है। निगुण द्रव्य नहीं हो सकता केवल गुण में क्रिया नहीं हो सकती इस लिए गुण का सम्बन्ध आश्रयप्राश्रयिरूप में है यह सम्बन्ध वाक्यीय है। उसका सम्बन्ध सन्निधान वश है। द्वितीया श्रुति और तिङ् विभक्ति श्रोत सम्बन्ध को प्रकट करती है क्योंकि क्रिया और कारक एक दूसरे के स्वरूप से यहाँ अनुविद्ध है। वाक्य के सम्बन्ध का कोई साक्षात् वाचक यहाँ नहीं है केवल योग्याथ सम वय के लिए पदान्तर सन्निधान से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। इसलिए श्रुति की अपेक्षा वाक्य दुबल माना जाता है। भत हरि ने श्रुति और वाक्य का विरोध और वाक्य से श्रुति की बलवत्ता के लिए निम्न लिखित उदाहरण दिया है

पयसा भुक्ते देवदत्त गतेन

इस वाक्य में पय से उपसर्जन श्रुतिप्रापित है। क्योंकि पयसा से तृतीया श्रुति का क्रिया से साक्षात् सम्बन्ध है। पयविषयक श्रवण वाक्य प्रापित है। क्योंकि उनमें विगणविगण्य भाव है। यहाँ वाक्य प्रापित श्रवण के न होने पर भी श्रुतिप्रापित उपसर्जनत्व का निवर्तन नहीं होता। लोक में उपसर्जन के रूप में अप्रसिद्ध जल आदि हैं उनसे द्वारा श्रवण वाक्य उपयुक्त नहीं माना जाता। अतः पय का ग्रहण कर लिया जाता है किन्तु गत भी उत्क का उपादान नहीं होता। श्रुति और वाक्य के विकल्प में श्रवण ही किया जाता है वाक्याथ नहीं।

भत हरि ने श्रुति का सामर्थ्य प्रापित और व्यक्तयथ—अनुपजन—का रूप में ग्रहण किया है। सामर्थ्य प्रापित से तात्पर्य सामान्य एव शब्द में गृहीत अथरूप से है। इससे अनिर्विकल एक गत्यापात् अथ जब किसी गत्यांतर से अनिव्यक्ति के लिए सम्बद्ध हो जाता है वह भाषा किमी सम्बन्धान्तर के आश्रय न लेने के कारण—अनाधेय सम्बन्ध के कारण—श्रुति माना जाता है। दूसरे गत्या में, श्रुति अपन अथ का मिद्धि

<sup>१४</sup> वाक्याथ २०३-विशति। भोत न वा उक्तं निया है—

विशति। गत्यान्तर गत्या २०३-विशति। विशतिरर्थः।

क लिए कम करण, अधिकरण आदि जिसका आक्षेप करती है वह सब भी श्रुत्य माने जाते हैं। जैसे 'अवहयताम' कहने से ब्रीहि आदि का, मूय उतेति कहने से श्रिवा, वरति कहने से दव का आने का होता है। व्यक्त्वय अनुपग साधन का भी होता है। साधनाश्रय का भी होता है।<sup>१५</sup> यदि वाक्याय अखण्ड रूप में माना जायगा, श्रौत और वाक्यीय का विभाग ही संभव नहीं होगा, पुनः उनमें बाध विचारता संवधा निरर्थक हो जायगा।

यदि पन्थायनिवर्धन वाक्याय नहीं स्वीकार किया जायगा, अर्थात्तर वाक्याय अर्थवत्ता की उपपत्ति कठिन हो जायगी। कभी-कभी एक अर्थ की सिद्धि के लिए वाक्यों के समुदाय एक साथ व्यवहृत होते हैं और वे परस्पर साक्षात् होने हैं, जैसे

“गो दुह्यताम, उवाध्याय पयसा भुक्त्वा मामध्यापयतु।”

“अभिजातासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्याम।”

ऐसे वाक्याय अखण्डपञ्चम, पञ्च की तरह अर्थात्तरवाक्य अनर्थक हो जायेंगे। वाक्य की कोई सामा नहीं है। वे बढ़ाए जा सकते हैं, जैसे,

गाम अभ्याज।

देवदत्त गाम अभ्याज।

देवदत्त गाम अभ्याज शुक्लाम आदि।

ऐसी दशा में स्वतन्त्र रूप में जो वाक्य मायक हैं अर्थात्तर वाक्य के रूप में वही निरर्थक होकर लगते हैं।

वाक्य के अविभाग पञ्च को प्रथम दन से लक्षण की भी अनुपपत्ति होती है। लक्षण एक तरह से वाक्य धर्म है जो वाक्यायविशेष के परिज्ञान में सहायक होते हैं। ये पट द्वादश अथवा चौबीस तरह के माने जाते हैं। भक्त हरि के लिखने से ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने स्वयं लक्षणसमुद्देश में इन भेदों पर विस्तार से विचार किया था

सवयायलक्षणयवस्थाविरुद्धाचारमविभागपक्षः। तत्र द्वादश पट चतुर्विंशतिर्वा लक्षणानीति लक्षणसमुद्देशे सापदेशे सविरोध विस्तरेण व्याख्यास्यते — वाक्यपदीय २।७६ हरिवृत्ति।

लक्षण समुद्देश आज उपलब्ध नहीं है। पुण्यराज के समय में भी उपलब्ध नहीं था

एतेषा च वितत्य सोपपत्तिक सनिदग्न स्व रूप पदकाण्डे लक्षणसमुद्देशे विनिर्दिष्टमिति ग्रन्थकृते स्ववृत्तौ प्रतिपादितम्। आगमभ्रान्तात् लेखक प्रमाणेन वा नमणसमुद्देशाच्च पदकाण्डमध्ये न प्रसिद्धः।

वाक्यपदीय २।८७ ८७ में इनका संकेत किया गया है। इनमें मीमांसा दर्शन में प्रतिपादित प्रसंग तथा बाध आदि हैं कुछ अर्थ भी हैं। इन पर हम वाक्य के

पदायनिवधन धर्म' के रूप में अभी विचार कर चुके हैं। यहाँ बताना यह दिखाना है कि यदि पदाय के आधार पर वाक्याय विचार नहीं होगा तो गुण मुख्य, नान्वरीयक आदि लक्षण विचार भी संभव नहीं हो सकेंगे। यद्यपि ये सब पदायनिवधन हैं।

इस तरह निरवयव वाक्य पर उपयुक्त पाँच प्रतिपत्तियाँ उठाई गई हैं। भूत हरि न इनका परिहार भी किया है। वाक्याय एव है अविभक्त है। विकल्प भावनाश्रित है। पुरुष की आस्त्रवासना के अनुरूप भिन्न भिन्न विकल्प होते हैं

अविकल्पेऽपि वाक्यार्थे विकल्पा भावनाधया ॥<sup>११</sup>

वाक्य को अण्ड मान कर भी अपोद्धार पद्धति से पद-पदाय की कल्पना कर पदायनिवधन धर्मों का निर्वाह किया जा सकता है

अविभक्तेऽपि वाक्यार्थे शक्तिभेदादपोदधते ।

वाक्यान्तरविभागेन यथोक्तं न विरुध्यते ॥<sup>१२</sup>

जैसे एक ही गन्ध का पुष्पगन्ध, चान्दगन्ध, आदि के रूप में विलक्षण किया जाता है। जैसे एक नरसिंह में नर और सिंह के सादृश्य की कल्पना की जाती है। जैसे एक निरञ्ज प्रकाश का नील पीत आदि रूप में भाग किया जाता है। वैसे ही एक निर्विभाग वाक्य का विभाग के रूप में निवचन किया जाता है। वक्ष्य आनीयताम् इस वाक्य से वनात् पिक आनीयताम् यह वाक्य सवथा विलक्षण है। पिक के योग से यह वाक्य सवथा एक नवीन विलक्षण वाक्य बन गया है। वाक्य के एक देश की, अन्तर्वाक्य की अवयवता व्याकरण भी स्वीकार करते हैं। इस तरह उपयुक्त सभी अनुपपत्तियाँ दूर हो जाती हैं

यस्याप्येक सनिविष्टानेकशक्तिरूपसर्वोपाधिविशिष्ट त्रियात्मा व्यावहारिकाभ्या (केन) प्रकल्पितोद्देशविभागेन केन वाक्याख्येन शब्देनाभिधीयते तस्यापि यावानय पदश्रुतिरूपभेदेन च व्यवहार परस्तादुपयस्त स सर्वे एकस्मादर्थति शब्दरूपाणि बुद्धयन्तर कृतप्रविभागानि अपोद्धत्यापोदधृत्य प्रकृतिप्रत्ययादिवन् श्रुतिरूप प्रविभागे क्रियमाणे न विरुध्यते ॥<sup>१३</sup>

अस्तु अभिहितव्यवाद और अविताभिधानवाद दोनों से गृहीत पदायशक्ति व्याकरणदर्शन में भी उपोद्धार कल्पना से चरितार्थ हो जाती है। पुण्यराज ने अनेक स्थल पर इन वादों की समीक्षा भी की है और भूत हरि को भी अपने साथ रखने की चेष्टा की है। पुण्यराज की आलोचना का भी प्रसंगवश ऊपर निर्देश किया जा चुका है। उनका मुख्य वक्तव्य निम्नलिखित है

इति अविताभिधान प्रदर्शनम् । दूषणमस्याग्रे तत्र तत्राभिधास्यति यथा 'नियमाया श्रुति मवेत वा० प० २।२४६ इत्यादि । तथा हि यद्येकेन पदेन

११ वाक्यपदीय, २।११७

१२ वाक्यपदीय २।८६

१३ हरिवृत्ति शृंगारप्रकाश में संप्रति उपलब्ध पृ० ३३३

सकलवाक्यायस्याशेषविशेषणलक्षितस्यावगति तदोत्तरेषा पदानां नियमाधानु-  
वादाय धोञ्चारण स्यात् । न च तत् युक्तमिति वक्ष्याम । एकस्मादेव पदात्  
समस्तविशेषणलक्षितस्य वाक्यायस्य प्रतीतेरुत्तरेषामानवयव स्यादेव । न च  
तस्मादेव वाक्यायप्रतीति दृश्यते । व्यवतोपव्यञ्जना इत्यसमाधानमेव । यत्  
किमेकस्माद् वाक्याथावसायोऽप्येवमुपव्यञ्जकत्वम् । अथ समस्तेभ्य एव तेभ्य ।  
सवधोत्तराणि पदानि वाक्याथप्रतीतये उपादीयत एवेत्यवितामिधानम्  
समञ्जसमेव । एकस्य धापरपदोच्चारण काले तिरोधानादभिहितावयवस्याप्य-  
समव इत्ययमागे दूषणम् । शब्दभागसमाश्रयणेन द्वयोरपि पक्षयो दूषण  
'पदानि वाक्ये तायेव' (वाक्यपदीय २।२८) इत्यादि—श्लोकद्वयेनाभिधा-  
स्यति ।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१८

यदि एक पद स सकल वाक्याथ की अभिव्यक्ति हो, अथ पद व्यर्थ होंगे ।  
अथवा नियम या अनुवाद के लिये होंगे । हम देख चुके हैं कि भक्त हरि ने भी आख्यात  
शब्द वाक्य आदि की व्याख्या में नियम अनुवाद सिद्धांत का आश्रय लिया है । सद्रभूत  
के उपादान में व्यक्तोपयजन वाले मत का पुण्यराज ने स्वयं समर्थन भी किया है ।

भक्त हरि ने आलोचना की है कि यदि वाक्य में वे ही पद होंगे, पद में वे ही  
वर्ण होंगे, वर्णों में वर्ण भाग सम्बन्धी परमाणु सदृश भेद होने लगेंगे । इसका उत्तर  
कुमारिल ने दिया है

सदभावे पदवर्णानां भेदो य परमाणुवत् ।

सर्वमावस्ततश्चेति सेय बालविभीषिका ॥

यह केवल बच्चा को डराना मात्र है । पद और वर्ण का भेद प्रत्यक्ष सिद्ध है ।  
वर्णानि के परित्याग से वर्ण की स्थापना सरल है (श्लोकवार्तिक ७।१५०)

भक्त हरि के अनुसार यदि अखण्डवाक्याथ न मानकर पद-पद के सहारे वाक्याथ  
की उपपत्ति मानी जायगी निम्नलिखित वाक्य के अर्थ का ठीक अवभास न हो  
सकेगा

अनङ्गवाह हरि रिसा या त्व अग्नि साचीन अभिधावन्त कुम्भमद्राक्षी ।

इस वाक्य के प्रथम अर्थ सुनने पर अथ अथ उपस्थित होता है, पूरा वाक्य  
सुनने पर दूसरा अर्थ सामने आ जाता है और पहला अर्थ छूट जाता है । अखण्ड पद  
में पूरे वाक्य से पूरे अर्थ का ज्ञान होता है । इसलिए सामान्य में वतमान का विशेष  
में अवस्थान उपयुक्त नहीं माना जा सकता ।

तथा सति नास्ति सामान्येवस्थितानां विशेषेवस्थानम् ।<sup>१६</sup>

**वाक्य और वाक्यार्थ में सम्बन्ध**

वाक्य और वाक्यार्थ में परस्पर संबंध, दानभेद के आधार पर निम्नलिखित माने



जाते हैं

१—वाच्यवाचक सम्बन्ध (योग्यता)

२—वाच्यकारण सम्बन्ध ।

३—सर्वेत्त सम्बन्ध ।

४—अध्यास सम्बन्ध ।

इनमें वाच्यकारण अध्यास सम्बन्ध को अपनी भाष्यतामा के अनुकूल मानते हैं और उसे स्वीकार करते हैं । सम्बन्ध के विषय में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के अन्तर पर विशेष विचार किया जा चुका है ।

## वाक्यार्थ निर्धारण के साधन

वाक्यार्थ की व्यवस्था में कुछ अल्प उपाय भी काम में लाए जाते हैं । वे प्रायः परिगणित हैं । भक्त हरि ने इनका उल्लेख निम्नलिखित कारिका में किया है

वाक्यात् प्रकरणादर्यादौचित्याद्देशशालत ।

गन्धार्था प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात् ॥<sup>१</sup>

साथ ही किसी दूसरे आचार्य का भी मत दिया है

सप्तर्गो विप्रयोगश्च साहचर्य विरोधिता ।

अथ प्रकरण लिङ्ग शब्दस्यास्य सन्निधि ।

सामर्थ्यमोचितो देव कालो व्यक्तित्व स्वरादयः ।

शब्दाद्यस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥

इनके विवरण नीचे दिए जा रहे हैं ।

एक शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं । एक स्थान पर दो अर्थों की प्राप्ति हो सकती है । उस समय निर्धारण की अपेक्षा होती है । निर्धारण विभाग द्वारा पथक-करण का नाम है । कुछ उपाय जो समस्त अनेकाय गन्ध में समान हैं, वाक्यार्थ के अवच्छेद के लिए काम में लाए जाते हैं । भक्त हरि ने इनका वाक्य, प्रकरण, अर्थ आदि के रूप में उल्लेख किया है ।

वाक्य कभी कभी वाक्य ही विशेष क्रिया से युक्त रहता है और तुल्य श्रुति के हाने पर भी शब्द और अर्थ के प्रविभाग की व्यवस्था में सहायक हो जाता है । जैसे वटवक्ष रोति और 'वटवक्ष स्वादुफल, आरुह्यताम्' इन दोनों वाक्यों में वाक्यार्थ ही वाक्य के प्रविभाग में हेतु है । केगान वपति और केगान नमस्यति दोनों वाक्यों में भी वाक्य का अवच्छेदक वाक्य ही है । वट करोति, भीष्ममुदार दशनीयम् इस वाक्य में द्वितीया विभक्ति वट भीष्म उदार दशनीय सभी शब्दों में है । क्योंकि करोति क्रिया से सबका पथक पथक सम्बन्ध है । वाद में विशेषण विशिष्टभाव हो जाना है । वट विशेष्य है और भीष्म, उदार आदि विशेषण हैं । यहाँ यद्यपि द्रव्य और गुण दोनों के साथ क्रिया का सम्बन्ध है किन्तु ईप्सिततम द्रव्य है इसलिए क्रिया

का सम्बन्ध केवल द्रव्य से होना चाहिए। गुण से नहीं होना चाहिए। इस आधार पर द्वितीया विभक्ति केवल वट शब्द से होनी चाहिए। भीष्म आदि शब्द से नहीं होनी चाहिए। इसका उत्तर है कि यद्यपि भीष्म आदि में स्वयं कमता नहीं है किन्तु वे विरोध्य के सम्बन्ध से द्वितीया विभक्ति का पात्र हैं क्योंकि उसके साथ उनका एवयोग शेष है सामानाधिकरण्य है। केवल प्रातिपदिक का प्रयोग हो ही नहीं सकता। जैसे राजा का सखा स्वयं निधन भी हा फिर भी राज धन से धन का पत्त प्राप्त करता है वम ही गुण भी द्रव्य के घम से तद्रूप होत हैं। अतः भीष्म आदि से द्वितीया विभक्ति सिद्ध होती है। अथवा द्रव्य निगुण नहीं हो सकता गुण भी बिना आधार के नहीं रह सकत, इसलिए आकाशा आदि के आधार पर उनमें वाक्यीय सम्बन्ध सामानाधिकरण्य के रूप में स्थापित हो जाता है। फलतः भीष्म गुण युक्त वट का करना ही अभिप्रेत वाक्याथ होता है। इस तरह यहा शाय निणय वाक्य की पर्यालोचना पर निभर है।

प्रकरण प्रकरण स्वयं अशब्द होता है फिर भी शाय निर्धारण में सहायक होता है। जैसे सघव शब्द का युद्ध के प्रकरण में अश्व अथ होता है भोजन के प्रकरण में लवण अथ हो जाता है। व्याकरणशास्त्र में भी 'कत करणयोस्ततीया' २।३।१८ सूत्र में, कारण के अधिकार क्षेत्र में होने के कारण करण शब्द से क्रिया का ग्रहण अभिप्रेत नहीं होता। इसी तरह 'शब्दवरकलहाभ्रवप्सवेधेभ्यः करणे' ३।१।१७ सूत्र में, धातु-अधिकार के कारण, करण शब्द से क्रिया की प्रतीति होती है।

अथ अथ शब्द से सम्बद्ध होने के कारण शाय निणय में हाथ बटाता है। जैसे अञ्जलिना जुहोति, अञ्जलिना सूयमुपतिष्ठते, अञ्जलिना पूणपात्र हरति। इन वाक्यों में जुहोति आदि शब्द के अथवश अजलि शब्द के भिन्न भिन्न अथ भासित हो जात हैं। व्याकरण शास्त्र में भी पूरणगुण संहित ० २।२।११ सूत्र में अथ ग्रहण के बल से गुण शब्द से अवेड का ग्रहण नहीं होता। इसी तरह न शशददवादिगुणानाम ६।४।१२६ सूत्र में अथ के सामर्थ्य से परतत्र आश्रयी शुक्ल आदि का ग्रहण नहीं होता। वाक्य प्रकाश के टीकाकारों ने अथ शब्द का अथ प्रयोजन माना है जो सगत नहीं है। प्रकरण और अथ में भेद यह है कि प्रकरण अशब्द होता है उसमें प्रयोगदर्शन से प्रतिपत्ति होती है। अथ शब्द श्रुत होता है उसमें श्रुत्यनुपातिनी प्रतिपत्ति होती है।

**श्रीचिन्ता (श्रीचिन्ती)**—भत हरि ने श्रीचित् शब्द का व्यवहार किया है। उन्होंने इस प्रसंग में जो कारिका (सर्गों विप्रयोगश्च) उद्धृत की है उसमें श्रीचिन्ती शब्द है। दोनों समानार्थक ही होंगे। श्रीचित् (श्रीचिन्ती) के द्वारा भी अथ की व्याख्या की जाती है। किन्तु श्रीचित् अथवा श्रीचिन्ती का क्या अभिप्राय है? भत हरि ने श्रीचित् शब्द का प्रयोग सम्भवतः ऐसे वाक्यों के लिए किया है जिनमें निन्दा और प्रशंसा दोनों अर्थ भलकत हैं। उन्होंने उपयुक्त कारिका की अपनी वक्ति में लिखा है

श्रीचित्यादपि ध्यवस्था। तद यथा राशतो

दस्यु भद्रमुखइति। विषमयेण निन्दा प्रशंसा वा गम्यते।

राक्षस दस्यु भद्रमुख है—इस वाक्य में निन्दा अथवा प्रशंसा ध्वनित है।

पुनः श्रीचिती पर टिप्पणी करते हुए भर्तृहरि ने लिखा है  
 श्रीचिती केषाचित् प्रयोक्तृणां निन्दाप्रशंसादिषु किञ्चिदुचितं भवति, भद्रमुख  
 दास्या राक्षसादिव (दस्यु राक्षस इव), वणिजा च वाराणसी जित्वरीत्यु-  
 पचरति (वणिजो वाराणसीं जित्वरीत्युपाचरति) । श्रीचित्यादेव रामस  
 दृशोऽयमजुनसदृश इति प्रयोक्तृभेदादथविशेषं प्रतिपत्तिः ।<sup>१</sup>

इस वक्तव्य से भी भर्तृहरि के मत में श्रीचित्य का सम्बन्ध निन्दा प्रशंसा से  
 है। श्लोकवार्तिककार ने वाराणसी को व्यापारियों द्वारा जित्वरी नाम देने का उल्लेख  
 किया है।<sup>२</sup> कयट आदि ने जित्वरी शब्द को मगल के अर्थ में लिया है। मगलाथ  
 वाराणसी को जित्वरी कहते थे अथवा उनके लिए वाराणसी मगलार्था थी। संभवतः  
 जित्वरी शब्द देशी शब्द था और इसका अर्थ निन्दात्मक था। दोनों तरह से यहाँ श्रीचिती  
 है। भद्रमुख आदि भी संभवतः उभयात्मक था। भर्तृहरि ने श्रीचित्य का सम्बन्ध  
 प्रयोक्तृ से भी दिखाया है। प्रयोक्तृभेद से जहाँ अर्थविशेष की उपलब्धि होती है वहाँ  
 भी श्रीचित्य है। 'यह राम सदृश है यह अजुन सदृश है' जैसे वाक्य के प्रयोग करने  
 वाला की दृष्टि से भी इन वाक्यों का अर्थ बदलता होगा, कहीं प्रशंसात्मक, कहीं निन्दा-  
 त्मक ध्वनि निकलती होगी। अथवा राम और अजुन में विशेष की प्रतिपत्ति होती होगी।

पुष्करराज के सामने भी श्रीचिती शब्द का कोई स्पष्ट अर्थ नहीं था। उन्होंने  
 इसके कई अभिप्राय दिए हैं। उनके अनुसार सीर (हल), असि (तलवार), मुसल  
 आदि का किया निरूपण भी यदि प्रयोग किया जाय तो अमग्न विलेखन (जोतना)  
 युद्ध और भवहनन (कूटना) के रूप में अर्थ का बोध समुचित किया के आशेष से,  
 शब्दाधिनियम के रूप में, हो जाता है। अथवा प्रष्ट आदि शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त  
 पुम में होने के कारण ये पुंलिंग माने जाते हैं। इसमें निमित्त अग्रगामित्व आदि है।  
 पुंयोग के कारण स्त्रीत्व से इनका सम्बन्ध जोड़ा जाता है साक्षात् नहीं। पुंयोगादा-  
 स्यायाम् ४।१।४८ सूत्र में प्रष्ट सम्बन्ध को निमित्त रूप में दिखाया गया है। अतः यहाँ  
 निमित्तत्व श्रीचित्य है।

अथवा नीच निग श्लोक पर विचार कीजिए

यच्च निम्न परगुणा यश्चन मधुसर्पिषा ।

यश्चन शयमात्म्या सयस्य कटुरेव स ॥

इस श्लोक में किन्हीं क्रियापदों का उल्लेख नहीं है। कारकपद ही श्रीचित्य  
 के आधार पर समुचित क्रियापदों का आशेष करा दत्त हैं और इस तरह में एक  
 वाक्यापेक्षामय मनका जात है जिसमें अन्तर वाक्यापेक्षों का समावेश रहता है  
 और जो अग्रस्तुत प्रगमा (अग्रस्तुत का प्रगमा के माध्यम से अग्रस्तुत की निन्दा) का  
 उद्घाटन महा कर देता है। जगत् का व्यक्ति नीम के पत्र को टांगी (कुन्हाड़ी) में  
 बाँधता है और जो हम पर गाय तथा माना घड़ाता है सबक लिए वृत्त, अथवा दुःखज  
 स्वभाव के कारण कटु ही है उनका दुःख ही बनाता है। किसी व्यक्ति का नीच प्रकृति

१. कादम्बर ५।३३६ हरिवंश ४।२२५।

२. कादम्बर ४।३१-४

को लक्ष्य करके यह श्लोक लिखा गया है। उसकी नीचता दिखाना ही यहाँ अभिप्रेत है। यह निन्दामात्र औचित्य से गम्य है। यहाँ पुण्यराज भूत हरि द्वारा गृहीत औचित्य के अर्थ का समर्थन कर रहे हैं। पुण्यराज ने व्याकरणशास्त्र में औचित्य को दिखाते हुए वागिका वक्ति का एक उदाहरण दिया है

गास्त्रे यथा पु योगादाख्यायाम् ४।१।४८ इत्यत्रोक्त पु सि गन्धप्रवृत्तिनिमित्तस्य समवात पुशब्दा एते इति ।

औचित्य अथवा औचित्य का अर्थ भोजराज तथा मम्मट के समय तक अवश्य कुछ बदल चुका था। स्तुति निम्न वाला मूल अर्थ ओभन हो चुका था। भोज ने औचित्य के य उदाहरण दिए हैं—

औचित्याद् यथा करमोर, गिखरिदशना पुण्डरीकमुखी। उपमेयीचिद्यान करमादिशब्द धनु कोटिकुट्टकुडमलकमलानि प्रतापने । न उष्ट्राचलाग्रछत्राणि ।<sup>४</sup>

भोज का अभिप्राय यह है कि करम शब्द का अर्थ धनु कोटि और ऊट दोनों हैं। करमोर कहने पर औचित्य के बत पर धनु कोटि अर्थ निश्चित हो जाता है। इसी तरह गिखरिदशना में गिखरि का अर्थ पर्वत की चोटी न होकर, कुन्दवली है। पुण्डरीकमुखी में औचित्य से पुण्डरीक का अर्थ कमल है क्षत्रक नहीं है। अत्र भी भोज ने औचित्य के उदाहरण में लिखा है

सा घृणगौर रघुनन्दनस्य धात्रीकराम्यां करभोपमोरु ।

आसञ्जयामास यथा प्रदेश कण्ठे गुण भूतमिषानुशासनम् ॥ —रघुव ६।८३

अत्र अङ्गनारूपौचित्यात् करमशब्देन धनु कोटिग्रहण विधीयते नोष्ट्रावयव इति ।<sup>५</sup>

मम्मट ने औचित्य का उदाहरण दिया है पातु धो दयितामुखमिति सामुख्ये । इसके अर्थ में टीकाकारों में मतभेद है। नरसिंह, भास्करभूति, भट्टगोपाल सामेश्वर आदि पातु क्रिया के अनेक अर्थ लिखाकर एक में नियन्त्रित करते हैं। गोविन्द ठक्कुर विद्याचक्रवर्ती, नागेश आदि ने मुख शब्द के अनेक अर्थ देकर उसका सामुख्य अर्थ में औचित्य दिखाया है। काव्यप्रकाश के किसी टीकाकार का ध्यान ऊपर उद्धृत यश्व निम्ब परशुना श्लोक पर अवश्य गया था किन्तु इसमें औचित्य वह ठीक से नहीं दिखा सका था ।<sup>६</sup> किसी भी प्रसिद्ध टीकाकार ने औचित्य के स्वरूप पर प्रकाश नहीं डाला है। सब ने उस उचित सम्बन्ध के रूप में ही लिखा है। किन्तु इस रूप में लेने पर सामर्थ्य से औचित्य का भेद बताना कठिन है। गोविन्द ठक्कुर का ध्यान इस प्रश्न पर गया था किन्तु उनका उत्तर सन्तोषजनक नहीं है

४ शृंगार प्रकाश पृ० २२७

५ शृंगार प्रकाश, अध्याय ७, हस्तलेख मल्लिनाथ ने यहाँ करम शब्द का अर्थ हथेली का किनारा माना है ।

६ अत्रपरशुनेत्यस्य परशुकरणकच्छेदनपरत्वम् । मधुसूति शब्दस्य तं कारणकसेचनपरत्वम् । न क्षमाहयाभ्यामि यस्य तन् कारणकपूनाभावमाहुः ।

यद्यप्यत्रापि सामर्थ्य सम्बन्धेव तथापि मधुनेत्यत्र तृतीययेव तदबोधामावेऽप्यौ-  
चित्तीमात्रज्ञानादेव शक्तिनियमनमसंकीर्णमिति ।<sup>१०</sup>

देश—अथ यवस्था देश स भी होती है । जैसे मधुराया प्राचीनादुदीचीनात  
नगरादागच्छति' ऐसा कहने पर नगरविशेष पाटलिपुत्र का बोध होता है । भत हरि के  
समय में कुछ लोग देश शब्द से देशविशेष का अर्थ नहीं करते थे । उनके मत में  
सम्भवतः देश सम्बन्धी औचित्य का अभिप्राय यह था कि किसी स्थान में कोई शब्द  
प्रशस्ता वाचक है अथवा स्थान में वही शब्द उससे भिन्न अर्थ में व्यवहृत हो सकता है ।  
सम्भवतः प्रौढ शब्द ऐसा ही था । कम्बोज में शक्ति का प्रयोग गति अर्थ में था आर्यावत  
में इसका सम्बन्ध निर्जीव से था । भोज में भी देश भेद से अर्थभेद माना है और  
उदाहरण दिया है हरि अरण्ये । हरि द्वारिकायाम् । हरि अमरावत्याम् । यहाँ स्था-  
नभेद से हरि शब्द का क्रमशः सिंह विष्णु (वृष्ण) और वासव अर्थ निश्चित हो  
जाता है ।

काल शब्द के व्यवच्छेद में काल भी सहायक है । गिरि काल में द्वार  
कहने से दरवाजे बन्द करने का भान होता है । ग्रीष्म काल में द्वार शब्द से दरवाजे  
खोलने का अर्थ भासित होता है । भत हरि के समय में दक्षिणापथ के किसी एक  
प्रदेश में पूर्वाह्न में पच्यताम कहने से वषा मिथित विकलदनमय यवागू पाक का बोध  
होता था सध्या के समय पच्यताम कहने पर मोहन प्रधान पाक का बोध होता था ।  
कुछ लोग इस काल का उदाहरण न मान कर प्रकरण के भीतर गृहीत करते थे ।  
जागृहि जागृहि ऐसा दिन में कहने पर जागृति का अर्थ अर्थ होता था और रात में  
कहने पर उससे भिन्न अर्थ होता था । रात्रि में पतंग शब्द कहने पर शलभ द्योतित  
होता था सूय नहीं ।

समग विप्रयोग आदि का निवरण भत हरि ने शब्द के नानात्व पक्ष और  
एकत्व पक्ष को सामन रखकर दिया है । नानात्वपक्ष में शब्द की तुल्यश्रुति होने पर  
भी वे स्वभावतः भिन्न भिन्न माने जाते हैं । किन्तु शब्द रूप अभिन्न रहता है । ऐसी  
दशा में उनके अर्थ के अवच्छेद के लिए समग शक्ति का आश्रय लिया जाता है । एकत्व  
पक्ष में अर्थ का अभिधान में शक्तियाँ भिन्न भिन्न होती हैं किन्तु श्रुति सारूप्य के कारण  
विभागप्राप्त नहीं होती हैं । निमित्त के आधार पर विवेक रूप में उनका अवच्छेद  
किया जाता है ।

किंगी आचार्य के मत में शब्दाय का अवच्छेदक शब्द एक तत्त्व है और वह  
सामर्थ्य है । अर्थ प्रकरण शक्ति के आधार पर जिसका स्वामाविर्भूत माना जाता है  
वह भी सामर्थ्य ही है । उगी सामर्थ्य का समग, विप्रयोग शक्ति रूप में विभाग किया  
जाता है ।

समग समग के आधार पर सामर्थ्य का विभाग होता है । 'धेनु मानीयताम्  
राम वाक्य मधुमान का प्रतीति ता होती है किन्तु विषय धेनु की प्रतीति नहीं

हानी। किंतु यदि 'सकिशोरा धेनु आनीयताम' कहा जाय तो किशोर शब्द के समय से धेनु का अर्थ घोड़ी (वडवा) हो जाता है। यहा ससग अभेद ज्ञान का निमित्त है। किशोर शब्द घोड़े के बछड़े के लिए प्रयुक्त होता है। उसके ससग से धेनु का द्रोघघ्नी विशेषण म—वडवा म—सप्रत्यय होता है। इसी तरह सवत्मा धेनु से गाय का, सवकरा से बकरी (अजा) का सकरभा धेनु से ऊनी का बोध होता है। क्योंकि बत्स बकर, करभ शब्द क्रमशः गाय के बछड़े बकरी के बच्चे और ऊट के बच्चे के लिये प्रयुक्त होते हैं।

कृष्णकिशोरा धेनु' म जसे किशोर शब्द धेनु का विशेषाधायक है वैसे ही धेनु शब्द किशोर क अर्थ का अवच्छेदक क्यों नहीं होता। भट्ट हरि के अनुसार वत्स किशोर आदि शब्द विशेषण के रूप में अवच्छेदक हो जाते हैं। कृष्णधनुक किशोर के रूप में प्रतिपत्ति नहीं देखी जाती।

जो लोग धेनु शब्द को गाय के अर्थ में ही रूढ़ मानते हैं उन्हें ऐसे वाक्यों में ससग से विशेष सप्रत्यय के रूप में केवल धर्म मात्र की विवक्षा अभिप्रेत रहती है। जस, तत्सम्य परिमाणम् ५।१।५७, सत्याया सज्जामधमूत्राभयनेषु ५।१।५८। यहाँ पञ्च एव पञ्चका शकुनय म स्वाथ म प्रत्यय माना जाता है प्रत्यय विशेष का सप्रत्यय नहीं कराता है। सस्कृत में दस तक की संख्या संख्याय के अर्थ में व्यवहृत होती है केवल सरयान के लिए नहीं व्यवहृत होता है। दस के बाद की सरयाएँ संख्याय और सरयेय होना के लिए आती हैं। इसलिए पञ्च शब्द से जो पन्थी वाक्य हैं वे ही पञ्चक शब्द में भी वाक्य है। इसीलिए परिमाणपरिमाणभाव के न होने के कारण स्वाथ म ही प्रथम विधान माना जाता है। वैयाकृतिक अनुसार यदि पञ्च आदि संख्याया का वक्ति के विषय में संख्यामात्र में शक्ति मानी जाय परिमाणापरिमाणभाव के आशय में भी प्रत्यय विधान संभव है। स्वयं पाणिनि ने द्वयकयोद्विवचनकवचने १।४।२२ सूत्र में द्वि और एक शब्द का द्वित्व और एकत्व मानकर ही इन शब्दों का निर्देश किया है। सत्येयथपरक मानन पर द्वयेकेषु ऐसा होना चाहिए था।<sup>८</sup>

भट्ट हरि ने ससग के शास्त्रीय उदाहरण में पाणिनि का अवाद ग्र १।३।५१ सूत्र उद्धृत किया है। ग धातु दा है। एक ग निगरण तुनादिगण म है। दूसरी ग श ३ अयादि गण म है। यहा अव उपसग क ससग से ग निगरण का ही ग्रहण होता है और अवगिरत प्रयोग बनता है। ग श ३ के साथ अव उपसग का प्रयोग नहीं देखा जाता। इसलिए उमका ग्रहण नहीं होता। अथवा अयविरोध के कारण गणाति के साथ अव का योग उपपन्न नहीं होता। फलतः अव के समय में ग धातु का गृ निगरण के रूप में निणय किया जाता है।

मम्मट ने ससग के स्थान पर सयोग पत्ता है।

विप्रयोग—ससग की तरह विप्रयोग भी शब्दाय निर्धारण में हेतु माना जाता है। निज्ञानि सम्बन्ध का विद्या स व्यपत्ता दखा जाता है। जस 'अकिशोरा धेनु

[illegible]

साहचर्य अथवा अथर्व साहचर्य से भी होता है। गिला आनीयों का अध्ययन च। गिला आनीयों का अध्ययन च। इन कारणों से गिला शब्द अथर्व गिला सिली (काठ) और साहचर्य का बोध है। रामलक्ष्मण राम वेशवो, युधिष्ठिर राजा जो शब्द अथर्व राम, बलराम और पाण्डु अथर्व का बोध लक्ष्मण, बलराम और युधिष्ठिर शब्द अथर्व साहचर्य से होता है। अथर्व साहचर्य भी विशेषाधार्य है। राम शब्द अथर्व अथर्व है, वह व्यभिचार शब्द है। लक्ष्मण शब्द का एक ही अर्थ है वह अदृष्टव्यभिचार है। अदृष्टव्यभिचार दृष्टव्यभिचार का अवलोकन साहचर्य के बल पर हो जाता है।

यद्यप्येको दृष्टिर्गमिचारः । तथापि श्रद्दष्ट्यभिचारो दृष्ट्यभिचारस्य साह  
चर्यात् तत्त्वधर्मतां प्रतिपादयति ।<sup>१</sup>

व्याकरणशास्त्र में भी विपराम्या जे १।३।१६ सूत्र में विघोर परा सम् साहचय क आधार पर, उपसग माने जाते हैं। यहाँ परा गम्द दृष्टापचार है वह उपसग भी है अनुसग भी है। विग - मद्दृष्टापचार है वह उपसग ही है।" इस लिए उपसग का उपसग सहायक हो जाता है।

तद यया गोद्वितीयेनाथ इति गौरेवोपादीयते । नाथो न गदम इति । <sup>12</sup>

लोक म द्वितीय गब्द कहने पर जिसकी अपेक्षा स द्वितीय शब्द का उच्चारण किया जाता है, उसको तुल्यजातीय का ही मान कराता है। गो द्वितीय कहने से गो (बल) का ही ग्रहण होता है अश्व अथवा गदभ का नहीं होता। इसी तरह अंतरान्त रेण युक्ते' २।३।४ सूत्र मे अतरा और अतरेण दोना गब्द साहचय के आधार पर निपात रूप म गहीत होत हैं। गोविंद ठक्कुर ने साहचय का अर्थ सहचरता किया है। नागेश इससे सहमत नहीं है। उनके अनुसार साहचय का अर्थ यहां सादृश्य है। किसी

६ महाभाष्य में 'यस्य भुजेरनवनमनवन च चार्थ' ऐसा पाठ है। भन्तृ हरि की वृत्ति में यहाँ 'यस्य भुजेरनवन चार्थान चार्थ' पाठ है। अवन पाठ शुद्ध है।

१० वाक्यपत्नीय २।३।७ हरिवृत्ति, हस्तलस

२१ बहुविजयति वनम्—यहा विशद उपसर्ग है किन्तु जइत् स्वार्थावृत्तिपक्ष में अनर्थक है। अजहत् स्वाधापक्ष में भी उसने अर्थ के उपसर्जन होने से उसका ग्रहण नहीं होगा। सम्बोधनात् वे का, रूपान्तरयुक्त होने के कारण ग्रहण नहीं होता। एकदेशविभूति के आधार पर व को वि नहीं माना जा सकता क्योंकि वे विभक्त्यत वि का विकार है न कि विशब्द का।

वैद्यट, प्रदीप ३।१।१६, पुण्यराज २।३।७

के मन में साहचर्य प्रयासति का उपलक्षण है।

विराध विरोध से भी अर्थ का अवधारण होता है। रामजुनौ कहने से अजुन पद के सन्निधान से विरोध के आधार पर, राम शब्द का परगुराम अर्थ निश्चित हो जाता है।

लिङ्ग वाक्यान्तर में दष्ट लिङ्ग से प्रसिद्ध भेद का अनुमान कर लिया जाता है। जैसे 'प्रकृता शकरा उपदधाति' इस वाक्य में 'तेजो वै घतम' इस वाक्य के घन से शकरा का घन द्वारा आवृत्य सन्निधाति होता है। अजुन क्रिया का कम शकरा और साधन घृत है। इसी तरह पशुमालभेत इस वाक्य में पशुत्व युक्त सभी प्राणियों की संभावना होने पर छागस्य हविषो वपाया मदस इम लिङ्ग बल से केवल छाग समवायी पशुत्व प्रतीत होता है। इन वाक्यों में बाध नहीं है। यदि घत से अन्त अन्त होता, यदि छाग पशु न होता तो बाध उपस्थित होता। सामान्य में 'यूनाधिक' भाव नहीं होता। वह ज्यों का त्यों रहता है। लिङ्ग के बिना भी शब्द का वाच्य अर्थ जितना होता है लिङ्ग के ग्रहण होने पर भी वह उतना ही रहता है। केवल यही अन्तर होता है कि लिङ्ग के उपादान से शब्दान्तर वाच्य का अर्थान्तर में अग्रारोप होता है। किसी अर्थ के अन्निधान से जितने अर्थान्तर संभव हैं वे सब शब्द के अर्थ नहीं हैं ता फिर पशु शब्द का अवच्छेद (निर्धारण) नहीं होगा। पशु शब्द की पहले पशु और पशुत्व दोनों में वृत्ति है। छाग आदि भी पहले शब्दाय का न बाधित करत हुए स्वाय मात्र कोलक्ष्य में आरोपित करते हैं। यह ठीक है। किन्तु समवायी विशेषण संभव न हो सकेंगे। इस लिए शब्द व्यापार के न होते हुए भी बाधाकुल होने के कारण, अवच्छेद मान लिया जाता है। अथवा पहले अर्थ का स्वरूप समग्र से अविशिष्ट रूप में ही सम्बद्ध होता है। दूसरे पद के सन्निध्य से उसमें विशेषता आ जाती है। यदि समग्रज भेद से शब्द में कोई विशेषता न मानी जाय सन्निधानमात्र के अशब्द होने से अर्थ भी अशब्द मानना पड़ेगा, किन्तु ऐसा होता नहीं है।<sup>१३</sup> शास्त्र में लिङ्ग का उपाहरण अण प्रत्याहार का परणकारक तत्त्व होना है। उक्त ७।४।७ में तपरकरण लिङ्ग से परणकारक का निश्चय होता है।

शब्दान्तर सन्निधान अर्थ विनाश की अवगति दूसरे शब्द के सन्निधान से भी होता है। जैसे अजुन कातिवीय रामो जामदग्न्य। कातिवीय और जामदग्न्य शब्द के सन्निधान से अजुन और रामशब्द का विशेष अर्थ स्पष्ट हो जाता है। शास्त्र में अथस्य देवतस्य 'अद्धम्य समयातनम्य' में अक्ष और अद्ध का अर्थ शब्दान्तरसन्निधान से स्पष्ट है। भन हरि ने शब्दान्तर योग के उपाहरण में अग्नि माणवक गो बाहीक का भी उल्लेख किया है। साथ ही अवच्छेद का एक दार्शनिक पीठिका भी दी है। बुद्धि में सब

१३ पूर्व का अधरूप मसुर्गोविशिष्टमव प्रकान्त। तस्य पदान्तरसन्निधानात् विशयो यदने। यदि हि समग्रो भेद शब्दानुपगृहीत त्वान् सन्निधानमात्रादप्यत्र अशब्दोऽथ प्रतिभयेत्—वाक्यपदीय २।३।८ हरिवृत्ति हरतलेर। (यहा की भन हरि वृत्ति क हरतलेर में पाठ में अतिवक्त नान पदना है।)



तरह के अथ समाविष्ट हैं उनमें से कुछ अनिर्धारण (पृषाहरण) इन्द्रिय द्वारा होता है। इन्द्रिय जिसकी अभिलाषा रखती है उग ही पानी है। इन्द्रिय की भी सवाय इच्छा अथ सम्प्रथ आदि के द्वारा निर्गमित होती है। किन्तु यह सभी युक्त अनेक अथ का प्रत्यायक होता है जसमें उनो धावति अलम्बुमाना याता (वाचस्पतीय २।२५२ हरिवंश हस्तलेख)।

सामर्थ्य सामर्थ्य से भी अथविशेष की प्रतिपत्ति होती है।

अवहनवृत्तो नामो वाजिन कामुबन्धु वा—इमं तिसी ने सामर्थ्य माना था। कुछ लोग यहां अथ का निदर्शन मानते हैं। कुछ अथ आचार्य सामर्थ्य का उदाहरण 'अनुत्तरा कथा' में मानते हैं। यहां पर सामर्थ्य से उदरविशेष की प्रतिपत्ति गम्य है। इसी तरह अभिरूपाय कथा देया वाक्य से सामर्थ्यवत् अभिरूपतराय कथा देया इस रूप में अथविशेष का आभास होता है। शास्त्र में भी प्रथमा निर्दिष्ट समास उपमजनम् १।२।४३ सूत्र में समास शब्द की प्रवृत्ति समासाय शास्त्र में मानी जाती है। एक विभक्ति चापूवनिपाते १।३।४४ सूत्र में जिस समास शब्द का अनुमान किया जाता है उसकी समास में प्रवृत्ति प्राथम्यवत्पि ही मानी जाती है। इसी तरह अत्रय-काणा (विभक्त्यर्थानाम् ?) सरूपे में सामर्थ्यवत् कुछ कम और कुछ सारूप्य गहीत होते हैं।

व्यक्ति लिङ्ग की पूर्वाचार्य सज्ञा व्यक्ति है। व्यक्ति भी अथ निर्धारण में हेतु होता है उसे ग्रामस्याध लभते इस वाक्य में अध शब्द नपुंसकलिंग में है। नपुंसकलिंग वाले अध शब्द का अथ समप्रविभाग है। अतः लिंग के बल से यहां ग्राम का आधा अथ स्फुट हो जाता है। पद्म पद्म में भी लिङ्गभेद से अथभेद है।

स्वर स्वर भी अथविशेष का ज्ञान करा देते हैं। स्थूलपृषतीयालभेत वाक्य में अन्तोदात्त स्वर के श्रवण होने के कारण स्थूला चासी पृषती के इस रूप में अथ की प्रतीति होती है। पूर्वपदप्रवृत्तिस्वर यदि दिखलाई दे तो 'स्थूलानि पृषन्ति यस्याम्' इस रूप में अथ पदार्थ की प्रतीति होती है। इसी तरह विपाशा कप में आदि उदात्त के होने के कारण विपाशा के उत्तर के कूप रूप में विशिष्ट अथ की प्रतीति होती है और अन्तोदात्त के श्रवण पर विपाशा नन्ते के दक्षिण के कूप की प्रतीति होती है।<sup>१४</sup>

आणि पद से सत्त्व गत्व आदि भी लिए जाते हैं। ये भी अथविशेष के परिचय में सहायक होते हैं सुसिक्त्रम अतिस्तुतम नामों में सु और अति कमप्रवचनीय हैं और पूजा तथा अतिक्रमण के अर्थ में हैं। उपसर्ग न होने से और कमप्रवचनीय होने से वे अपने कमप्रवचनीय वाले अर्थ के द्योतक हैं। सुपिक्त्रम, सुष्टुतम् नामों में सु उपसर्ग है इसलिए वे का मूढार्थ आनेवाला है और अर्थान्तर की उपलब्धि होती है। न और ण के विधान भी अथ-परिच्छेद में सहायक होते हैं। प्रनायक और प्रणायक के अर्थ में भेद है। प्रनायक का अर्थ होता है वह देव जिससे नायक चला गया हो। प्रणा

१४ गोप्त कूप (गुप्त द्वारा निर्मित कूप) में वरविशेष पर ध्यान दिलाना पाणिनि की महती प्रशंसा मानी जाती है। महती मूढमक्षिका वनत सकारण्य—वाशिका ६।२।७४

यक शब्द से प्रणयन किया के कर्ता की प्रतीति होती है।

नागेश ने वक्तवाद्ब्यवशिष्ट्य प्रतिभादि को भी अथ निणय म सहायक माना है (मनुष्यापृ० ११२)। ५

सदेह क निराकरण के लिए अथवा नियत अथ के परिचान के लिए उपयुक्त प्रकरण आदि काम में लाए जाते हैं।

भेद पण म भी भिन्न भिन्न अथ के होते हुए भी सादृश्य से अभेद की दशा म प्रकरण आदि का सहारा लिया जाता है। जो लोग गद्द का अथ के साथ नित्य सम्बन्ध मानते हैं उनके लिए भी अथ प्रकरण लिङ्ग आदि के बल से सदेह निवारण पूर्वक अथ की अभिव्यक्ति प्रतिपत्ता को होती है। अर्थात्तर में सम्बद्ध का अर्थात्तर म सजमण देखा जाता है

येषा रूप धेन नित्यसम्बन्धा लोके व्यवस्थिता इति दशान तेषामथ प्रकरणादिभिः सिद्धिधामेदास्त प्रतिपत्तार प्रति प्रकाशयते। न त्वेकस्य शब्दस्यार्थात्तरयोऽनित्वात्तत्त्वार्थात्तरे सक्रातिरिति।<sup>१५</sup>

जहां नाम पद और आख्यात पद सदृश होते हैं वहां भी सदेह निवारण के लिए प्रकरण आदि की अपेक्षा होती है। केवल स्वरूप के आधार पर कार्यन्तर निबन्धन (कार्योत्साहनिबन्धन) सदृश शब्दों का अथ निणय नहीं हो सकता

नामाख्यातसरूपा ये कार्योत्साह (कार्योत्साह)निबन्धना।

गद्दवाच्याश्च तेष्वर्थो न रूपादधिगम्यते ॥<sup>१६</sup>

जैसे अश्व और अश्व शब्द हैं। इनमें एक अश्व शब्द नाम शब्द है। दूसरा अश्व शब्द टुआशिव धातु के लड़ लकार मध्यमपुरुष एकवचन का रूप है। इसी तरह से अजापय अजापय शब्द है। एक अजापय शब्द वकरी के दूध के लिए नाम शब्द है दूसरा अजापय शब्द जि जय धातु से अजेय के जितने वाले प्रेरक की अथविवक्षा में किसी तरह निष्पन्न होता है। यहां सादृश्य से सदेह होने पर प्रकरण के आधार पर अथ निणय किया जाता है। आख्यात मरूप भी नामपद होते हैं। तेन तेन। तेन शब्द तेनु विस्तार धातु के लिट लकार मध्यमपुरुष का एकवचन का रूप है। तेन सबनाम भी है। तस्य और यस्य की भी कुछ ऐसी कहानी व्याकरण बताते हैं। भत हरि न नाम और आख्यात के सारूप्य निर्देशक शब्दों की एक छोटी सूची दे दी है। घातम घातम। अरण अरण। श्याम श्याम। अस्या अस्या। आचितम आचितम। अश्व अश्व। सम सम। हाल हाल। दुहिता दुहिता।

ऐसे गद्दों में जिनकी स्वरूपनिबन्धना प्रवृत्ति होती है उनके लिए अथ प्रकरण आदि के बल से प्रविभागकल्पना की जाती है।

१५ वाक्यपदीय १.३२६१ हरिवत्ति हतनेस

१६ वाक्यपदीय २.३२०

१७ पदान्धारणोपायान् बहुनिच्छति सूत्र्य।

क्रमन्यूनातिरिक्त व खर वाक्य रसृति श्रुति ॥

## पद अवधारण के उपाय

वाक्य की भाँति पद अवधारण के भी कुछ उपाय सोच लिए गये थे। कुमारिल ने उनमें क्रम-यून, अतिरिक्त, स्वर, वाक्य स्मृति और श्रुति का उल्लेख किया है।<sup>१०</sup>

क्रम भेद से पद भेद होता है। जैसे रस और सर म वणसाम्म है किंतु वणों के क्रम में भेद होने से रस और सर भिन्न भिन्न पद हैं। इसी तरह राजा और जार में क्रमभेद पद अवधारण का उपाय है। कर और करज, गौ और गोमान् म वणों का 'यून' और अतिरिक्त भाव अवधारक है। इन्द्रशत्रु में स्वर के आधार पर तत्पुरुष अथवा बहुव्रीहि रूप में निणय किया जाता है। वाक्य भी पदावधारण में सहायक होता है। वाक्य से यहाँ अभिप्राय पदांतर समभिव्याहार से है। 'सा रङ्गमागता नतकी' में रंग के समभिव्याहार से मा का अवधारण नतकी से होता है। 'पचते दहि' इस वाक्य में पचते क्रिया न होकर नाम है। इसका निणय अय पद के समभिव्याहार से हो जाता है। अश्व गच्छति में अश्व शब्द नामपद है, क्रियापद नहीं है। मनुष्यत्व के समान होत हुए भी 'सोम शर्मा का पुत्र आ रहा है' इस वाक्य से ब्राह्मणत्व की स्मृति जगती है। ऐसी स्मृति भी अवधारण में सहायक होती है। उदभिदा यजेत जैसे स्थला में उदभिन्ति अथवा उदभेदयति इस रूप में सदेह होने पर उदभिदा में तृतीया विभक्ति के आधार पर भावनाकरणक यजू के साथ सामानाधिकरण्य के सहारे उदभेदयति (प्रकाशक) के रूप में निणय किया जाता है। यह श्रुति है। अथवा परमे व्योमन जमे स्थला में श्रुति से पदावधारण माना जाता है।

किसी आचार्य ने अवधारण को कुछ और व्यापक आधार दिया है। उनके मतमें व्याकरण, उपमान कोश, आप्तवाक्य व्यवहार वाक्य शेष विवृति और सिद्ध पद का सान्निध्य—ये आठ गृहीत हैं

नक्तिग्रह व्याकरणोपमान कोयाप्तवाक्याद व्यवहारतश्च ।

वाक्यस्य नेपाद विवृतेवदति सान्निध्यत सिद्धपदस्य वृद्धा ।<sup>११</sup>

## वृत्ति-विचार

पाणिनि न समय को पदविधि माना है। पतञ्जलि न पदविधि के भीतर तीन विषयों को समेटा है—समास विभक्ति विधान और पराङ्गवदभाव।

समास पदविधि है। क्योंकि परिनिष्पन्न शब्दों के विधि स उसका सम्बन्ध है। समास सज्ञा भी है। समुदाय (सनी) भी समास है। समास का मूल आधार विग्रह वाक्य है। जो विग्रह भी हो और वाक्य भी हो उसे विग्रह वाक्य कहा जाता है अथवा विशेष रूप में ग्रहण को विग्रह माना जाता है। विग्रहाय वाक्य विग्रह वाक्य कहलाता है।

विग्रहञ्च तद वाक्यञ्चेति विग्रहवाक्यम् । अथवा विशेषण ग्रहण विग्रह ।

विग्रहाय यदवाक्य तद विग्रहवाक्यम् । विग्रहवाक्यस्यार्थो विग्रहवाक्यार्थः ।

यास २।१।१

सामान्यविहित विभक्तियों का कामणि द्वितीया २।३।२ आदि के द्वारा जा नियम किया जाता है उसे विभक्ति विधान कहा जाता है। इसी तरह ये पदविधि कहलाते हैं। यद्यपि एकवाक्यता के आश्रय से विभक्तियों का विधान होना है फिर भी पदान्तर सम्बन्ध से जिन विभक्तियों का विधान होता है उनके आश्रय से भी पद विधि रहता है। इसी आधार पर निरपि पद विशिष्टपि पद कहा जाता है। विभक्ति से अवच्छिन्न होने के कारण विशिष्टविधानकाम सामान्यविधानक्रिया का होता है। जैसा कि कहा जाता है

सामान्यपुणेरवयवपुण्यि कर्मेति ।

पराङ्गवदभाव तादात्म्यातिदेश का दूसरा नाम है। तत्तत् स्वभावता का नाम तादात्म्य है। सुवत्त का आमंत्रित म अनुप्रवण को पाणिनि ने पराङ्गवत् माना है। मद्राणा राजन आदि में भी पराङ्गवदभाव है।

उपयुक्त तीनों पदविधि कहलाते हैं। नागश न पद-संपादक सभी विधि को पदविधि माना है

केचित्तु पदोद्देशक पदत्वसंपादको वा सर्वोपि पदसम्बन्धित्वात् पदविधिरवेति वदति ।

—महाभाष्यप्रदीपाद्योत २।१।१

इस तरह समय पत्रों के अथवा सम्बन्धियों के अथवा गणपतियों के विधि को पवित्रि कह जा सकता है। उनके भीतर गंगा गङ्गा धारा जा जाता है। यह ध्वनि दक्ष से भी कहा जाता है। पत्रों के अभिधान का नाम ध्वनि है (पराधीनमिधान ध्वनि — महाभाष्य २।१।१)। दूसरे दक्ष का जो अर्थ होता है उगता जहाँ उगता से अभिधान हो, वह ध्वनि है।

### वृत्तिविचार सम्बन्धी वातिवकार के कुछ विचार

पाणिनि के समय पञ्चमि २१११ मूत्र पर चिन्तार करत हूय याचिकार  
न एकार्यभाव और व्यापशा का सिद्धान्त स्थिर चिया है ।

पयगयानामेकार्योभाय समययचनम २/१/१—१ ।

परस्पर श्यपेक्षा सामान्यमेवे २/१/१—४ ।

एकार्थीभाव उस वार्त्ता को कहत है जहा पर प्रधान अर्थ के लिए अनेक अर्थ का गौण बना लत है अथवा छोड़ दते हैं और इस तरह व्यर्थ हो जात है या अर्थ अर्थ की अभिव्यक्ति करत हैं । व्यपभावाद में यह माना जाता है कि पद परस्पर सामान्य होत है । उनमें एक दूसरे की आकांक्षा रहती है

यत्र पदार्थपुनसज्जनीभूतस्वार्थानि निवृत्तस्वार्थानि वा प्रधानार्थोपादानाद  
व्यर्थानि अर्थांतरान्विधाधीनि वा स एकार्थोभावः । परस्परार्थाभावा  
व्यपेक्षा । —महाभाष्यप्रदीप ३/१/१

—महाभाष्यप्रदीप २/१/१

वातिककार ने पथक पथक अथ वाले पदों का एकार्थीभाव होने को समझा माना है। वाक्य में (विग्रहवाच्य में) पद पथक पथक अथ वाच्य होते हैं जस, राज, पुष्प । यहाँ राज शब्द राजाध का ही अर्थ करता है, पुष्प शब्द पुष्प का ही अर्थ का प्रकट करता है । वृत्ति (समास) में पद एकार्थक होते हैं । जस राजपुष्प में राज शब्द भी पुष्प के ही अर्थ का कहता है इस तरह दोनों पदों का एकार्थीभाव होता है । अथवा अवयवाध से युक्त समुदायाध अर्थ ही प्रकट होता है । इस दृष्टि से एकार्थीभाव कहते हैं । जैसे जल और धूल मिल कर एक हो गयी रहती है वसी एकार्थीभाव में पदार्थ एक से हो गए रहते हैं । वाक्य में पदों में पथगथता होती हुई भी पदों के आकाशा योग्यता वगैरे विनोपनिबन्धभाववगैरे विशिष्ट अर्थ की प्रतिपत्ति होती है । वृत्ति में भी विशिष्ट अर्थ भासित होता है । इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वृत्ति और वाच्य में नितांत एकार्थता है । जिस तरह से ब्राह्मणाना शत भोज्यताम और शत ब्राह्मणा भाग्यन्ताम इन दोनों वाक्यों में व्यवहारगत वाच्य में कोई भेद नहीं है—सो ब्राह्मण खिलाय जाते हैं परन्तु शताध भिन्न भिन्न है । वाक्य और वृत्ति में भी यही बात है ।

एकार्थीभावकृत विरोधता के लिए दो वाक्य महाभाष्य में हैं जो कात्यायन के नहीं जान पड़ते परन्तु भाष्यकार ने उनको 'यारया वातिक' की तरह की है। वे हैं—

१—सुबलापो व्यवधान यथेष्टम यतरेणाभिसम्बन्ध स्वर ।

२—सल्याविशेषो व्यक्ताभिधानमपसजनविशेषण च योगः ॥

अर्थात् विग्रह वाक्य में विभक्ति का लोप नहीं होता । परन्तु समास में मुप

विभक्ति का लोप होता है। जस राज् पुंस् इस् वाक्य मे राजन् शब्द के आगे की विभक्ति का लोप नही हुआ है। परन्तु राजपुंस् इस् समास मे विभक्ति का लोप हो गया है। पर कुछ ऐसे भी समास होत हैं जिनमे विभक्ति का लोप नही हाता। जस चर्पासुज (इन्द्रगोप), गोपुचर (कुक्कुट)।

वाक्य मे उसके बीच मे दूसरा शब्द डाला जा सकता है। जम राज् पुरुष को राज् ऋद्धस्य पुरुष कह सकते है। परन्तु समस्त पद क बीच मे कोई शब्द नही डाल सकते।

वाक्य के शब्दो को हम जैसे चाह कम बदल कर रख सकते हैं। जस राज् पुरुष का हम पुरुष राज् ऐसा भी कह सकते है। परन्तु समास मे कम निश्चित रहता है। राजपुरुष हो कह्य राजासम्बन्धी पुरुष क अथ मे पुरुषराज नही कह सकते।

कभी-कभी समास मे भी प्रयोग अनियमित रहता है। जस जातपुत्र और पुत्र जात दोनो तरह से कहते है।

वाक्य मे प्रत्येक पद का अलग अलग स्वर (उदात्त) होता है। जस राज् पुरुष इसमे राज् और पुरुष दोनो मे आदि उदात्तस्वर है। परन्तु समस्त पद मे एक ही उदात्तस्वर होता है जसे राजपुरुष मे अतोदात्त स्वर है।

कभी कभी वाक्य मे भी एक स्वर दिग्वार्द दता है जस तीक्ष्णेन परशुना वश्चन इस वाक्य मे है। और तब प्रत्ययात्त वाला एक पद भी दो उदात्तस्वर वाला होता है। जस कतवे एतव आदि।

वाक्य मे सख्या विरोध का ज्ञान रहता है जैसे राज् पुंस् राजो पुंस् राजा पुंस् इनमे एकत्व द्वित्व और बहुव स्पष्ट जान पडता है। समास मे सख्या का ठीक ज्ञान नही होता। राजपुंस् मे एकत्व द्वित्व बहुत्व सब छिपे हैं।

कभी-कभी विरोध स्थला मे समास मे भी सख्या की प्रतीति होती है जस—द्विपुत्र, पचपुत्र, मासजात। मासजात मे एकत्वसख्या का जान होता है। द्विपुत्र आदि मे सख्या का ज्ञान द्वि शब्द से होता है।

वाक्य मे लिंगविरोध का स्पष्ट जान रहता है। परन्तु समास मे उतना स्पष्ट नही होता। कुक्कुटया अण्डम, कुक्कुटस्याण्डम दोना के लिए समास मे कुक्कुटाण्डम कह्ये। ऐसे ही मृगमासम मगी और मग दाना के मांस के लिए।

कभी कभी वाक्य मे भी लिंग की अविवक्षा देखी जाती है जस, छागस्य मासम् छाग और छागी दानो के लिए व्यवहृत।

वाक्य मे कथन अपेक्षाकृत स्पष्ट रहता है। समास मे उतना स्पष्ट नही हाता। जसे ब्राह्मणस्य कम्बल तिष्ठति। इसका अर्थ स्पष्ट है। परन्तु यदि ब्राह्मणकम्बल तिष्ठति ऐसा कह तो यह सन्देह हाता है कि ब्राह्मणकम्बल यह नाम है अथवा ब्राह्मण का कम्बल यह अर्थ है।

कभी-कभी समास मे वाक्य की अर्थ या स्पष्टता अधिक होनी है। जस अद्भुत देवतस्य की अर्पणा अद्भुत देवतस्य अधिक स्पष्ट है।

वाच्य म प्रत्येक पं प्रपत्ता विनियोग साथ रस गता है परन्तु समास म प्रत्येक पं प्रपत्ता विनियोग साथ गही रस गता । श्रद्धास्य गम पुन्य कहा है परन्तु इसी अर्थ म श्रद्धास्य सांपुर्ण्य गमा गही हो सता ।

कभी-कभी समस्त पं भी विनियोग रगत है जस दत्तस्य गुणुत्तमं देव दत्तस्य गुणुत्तमं देवदत्तस्य दागभार्या प्राप्ति । परन्तु गुणुत्तमं दागभार्या जग शब्द अत्यधिक व्यवहार के कारण एक पद जम हो गय य और इनका समस्त रस प्रभाव ना हो गया था । तभी ऐसे प्रयोग बोलने जाने लग गये ।

वाच्य म समुच्चय धोतक च का व्यवहार बीच बीच म किया जाता है जस गण गौश्च भ्रूवश्च पुरुषश्च । परन्तु समास म एत तरह क सामूहिक अर्थ की स्वतः अभिव्यक्ति हो जाने के कारण च का प्रयोग बीच म नहीं किया जाता । जस राज गवाश्वपुरा ।

इन विनियोगतामा के प्रसंग म भाष्यकार न शब्द द्वारा अर्थ का अभिधान स्वाभाविक है अथवा वाचनिक है क साथ साथ जहत्स्वार्थावति, भ्रजहत्स्वार्थावति आदि पर भी विचार किया है जिससे दूसरे दान भी प्रभावित हैं ।

यदि वृत्ति म एकार्थीभाव नहीं स्वीकार किया जायगा तो वाक्य की तरह इसम भी सह्याविनियोग की प्रतिपत्ति विशेषणयोग आदि के रोकने के लिए उपाय करने पड़ेंगे । शब्द का स्वाभाविक रूप कभी नित्यदर्शन के आधार पर समझा जाता है कभी कायदर्शन के आधार पर बहुधवोधनाथ उपस्थित किया जाता है । कायपक्ष म अनेक साधारण बातों के लिए नियम बनाने पड़त हैं । उदाहरण के लिए जैसा कि कथट ने लिखा है, निष्क्रीणाम्बि, गौरय, घतघट, गुडधाना, केनाचूड सुवर्णालिकार, द्विदशा सप्तपण गौरखर आदि के लिये क्रमशः ज्ञान्त, युक्त पूण, मिश्र, सधाविकार सुचप्रत्ययलोप वीप्सा और जातिविशेषाभिधायित्व नियम से प्रतिपाद्य हैं । नित्यदर्शन पक्ष म ये सब विशेषताएँ एकार्थीभावकृत मान ली जाती हैं । इनके लिए विनियोग सूत्र की आवश्यकता नहीं है । इसके अतिरिक्त वार्तिककार ने व्यपेक्षापक्ष मे दोष निम्नलिखित वार्तिकों द्वारा भी व्यक्त किया है

तत्र नानाकारकान्निघात पुष्पदस्मदादेशप्रतिषेध २।१।१—५, प्रचये समास प्रतिषेध २।१।१—६

अव्ययीभाव प्रकरण म २।१।१० सूत्र पर वितव्यवहारे च २।१।१० १ वार्तिक वार्तिककार के लोक ज्ञान का भी द्योतक है । खलेयवादीनि प्रथमान्ताययपदार्थे २।१।१७ २ भी वार्तिककार के लोक ज्ञान के साथ लोक जीवन से ली गई शब्दावली के चयन को स्पष्ट कर देता है । खलेयवम खलबुसम् लूनयवम आदि का प्रथमान्त ही प्रयोग होता है (अतिरिक्त एवं प्रातिपदिकार्थे एषा प्रयोग कृत्य नायत्र—महामाध्यप्रदीप २।२।१७)

दुस्रोपध्य धनद्यात्य पादहारक और गन्धोपक इन लोक-जीवन सबंधी शब्दों की सिद्धि के लिए वार्तिककार न वार्तिक लिखे हैं । कृतापठतम भुक्तविभुक्तम, पीतविपीतम गतप्रत्यागतम यातानुयातम् पुटापुटिका, त्रयाश्रयिका फलाफलिका,

माना मानिका—य व्यवहारसिद्ध शब्द वातिककार द्वारा समग्रहीत और प्रतिपादित है।

वर्णोवर्णन २।१।६६ व ता वातिक इष्टि मान जाते हैं। व हैं—

(१) समानाधिकरणसमासात् बहुव्रीहि कदाचित् कमधारय सवध नाद्यथ ।

(२) पूर्वपदातिगये आतिगायिकाव बहुव्रीहि सूक्ष्मवस्त्रतराद्यथ ।

पहले व लिए कयट न इष्टि शब्द का प्रयोग किया है (वातिककारेणोष्टिरूपेण

पठितम्—महाभाष्यप्रदीप २।३।६६) और दूसरे का भाष्यकार न इष्टि माना है।

उष्टिया पर अथत्र विचार किया गया है। इच्छाप्रदर्शक वाक्य का इष्टि कहत हैं।<sup>१</sup>

इसस सवधनी सवधीत्री सवकीनी (नट), गौरखप्रदरप्यम कृष्णसपवान बल्मीक

लाहितालिमान ग्राम सूक्ष्मवस्त्रतर तीक्ष्ण शृंगतर बह्नाढ्यतर बहुसुकुमारतर

य शब्द मिद्ध होत है। यहा उपसत्यात् वातिक द्वारा शकपाथिव कुतपसौश्रुत

अजातोत्पत्ति यष्टिमौदगल्य—य शकपाथिवादिगण क शब्द साधित है।

२।२।३ पर वातिक है—द्वितीयादीना विभाषा प्रकरणे विभाषा वचन ज्ञापकम-  
वयवविधाने सामान्यविधानाभावस्य २।२।३-१ अवयवविधि म सामान्यविधि नहीं  
होती है। कयट ने अवयवविधान की परिभाषा या दी है

सामान्याश्रयसमूहापेक्षया प्रतिनियतो विशेष एकदेशो भवतीति विशेषविषय  
विधानम अवयवविधानशब्देनोच्यते ।

—महाभाष्यप्रदीप २।२।३

भिन्नति म इनम क धातु इनम नहीं होता यह ज्ञापन का फल है। यह वातिक-  
कार के मत स है। वस्तुतः बाध्यवाध्यकभाव विरोध स होता है अथवा एकफल स  
होना है। यहा भिन्न दश होने क कारण विरोध नहीं है विकरणा के अनर्थक हान के  
कारण एकफल का भी अभाव है। किन्तु वातिककार विरोध के अभाव म बाध्यवाध्यक  
नहीं मानते हैं। जैसा कि उनके इनम बहुजक्यु नानादेशत्वादुत्सर्गप्रतिषेध २।३।१ २  
वातिक स स्पष्ट है। भाष्यकार बिना विरोध के भी सामान्य विशेषविधि म बाध्य  
वाध्यकभाव मानत है।

पष्ठा क प्रसंग म कात्यायन ने प्रतिपदविधाना और कृद्योगा का उल्लेख  
किया है। प्रतिपदविधाना पष्ठी के साथ समास वातिककार के अनुसार नहीं होता  
किन्तु कृद्योगा क साथ हाता है। प्रतिपदविधाना और कृद्यागा का अर्थ कयट ने या  
दिया है

साक्षात् धातुकारकविशेषोपादानेन विधानात् प्रतिपदविधानेत्यथ । कृत  
शब्दोपादानेन तु या विहिता सव कृद्योगोच्यते ।

—महाभाष्यप्रदीप २।२।८

फलत सपिषो जानम म पष्ठीसमास नहीं होता परन्तु इक्ष्मत्रश्चन पलाशानन म

१ मनेरनादी मन्त्रमे विभाषावज्जिरिप्यत इत्यादिनि इच्छाप्रदर्शकवाक्यानि इष्ट्य —शप ओकृष्ण,  
पञ्चद्विकविकरण हस्तसूत्र, पृ० १२ (लेखक का मध्यह)



[ होता है ।

तत्स्थश्च गुण २।२।८ २ वातिक द्वारा तत्स्थ गुणों के साथ पष्ठी समास का विधान कायायन ने माना है । किन्तु गुणबोधक शब्दों के विशेषण के साथ नहीं माना है । तत्स्थ गुण से अभिप्राय उस गुण से है जो द्रव्य में अलग स्वतंत्र रूप में व्यवहृत होता है द्रव्य के उपरजक के रूप में नहीं । जैसे चन्दनस्य गन्ध चन्दनगन्ध । कपित्थस्य रस कपित्थरस । इन उदाहरणों में गुण और गुणी में वयधिकरण्य है, सामानाधिकरण्य नहीं है । अर्थात् हम सदा चन्दनस्य गन्ध ऐसा ही कहते हैं चन्दन गन्ध ऐसा नहीं कहते । यद्यपि गुण के द्रव्याश्रित होने के कारण पूर्णरूप से उसका अपने आप में अवस्थान (तत्स्थभाव) नहीं संभव है फिर भी द्रव्य के उपरजक के रूप में व्यवहृत न होकर जहाँ वह प्रधानरूप से व्यवहृत होता है वहाँ द्रव्य से पृथक् सत्ता रखता हुआ सा जान पड़ता है और इस दृष्टि से ही वह तत्स्थ कहा जाता है । काकस्य काष्ण्यम् यद्यपि गुण तत्स्थ है फिर भी गुक्ल पट आदि में गुण गुणी में अभेद मानने से द्रव्य का उपरजक भी होता है । गुक्ल गन्ध के द्रव्य के अर्थ में व्यक्त होने पर ही उससे भाव में प्रत्यय होता है । अतः वह गुक्ल गुण तत्स्थ नहीं है । यद्यपि गुक्ल और शौक्ल्य में भेद है फिर भी अर्थ की दृष्टि से तत्स्थता मानी जाती है । शब्द में भेद होत हुए भी अर्थ में भेद न होने के कारण गुक्ल गुण में तत्स्थता नहीं है । रूपवान् पट जसे स्थलाम् मत्वर्यस्य प्रत्यय के भेद के द्योतक होने के कारण गुण गुणी में अभेद का आरोप नहीं होता । फलतः रूप में तत्स्थत्व रह जाता है और समास होकर पटरूप में प्रयोग बनता है ।

किन्तु वातिककार के अनुसार गुणबोधक शब्दों के विशेषण के साथ पष्ठी तत्पुरुष समास नहीं होता । जैसे घृतस्य तीव्रगन्ध । चन्दनस्य मृदुगन्ध । इन वाक्यों में तीव्र और मृदु गन्ध के विशेषण हैं । इसलिए इनके साथ समास नहीं हुआ है । यद्यपि घृत का सम्बन्ध गन्ध से है न कि तीव्र या मृदु से । अतः असामर्थ्य के कारण इन शब्दों के समास की प्राप्ति ही नहीं होनी चाहिए परन्तु प्रकरणवशात् कभी-कभी तीव्र गन्ध भी तीव्रगन्ध का बोधक हो जाता है । उस अवस्था में समास की प्राप्ति हो सकती है । तत्स्थ कायायन ने 'न तु तद्विशेषणं कृत्वा उक्तं निषेध किया है ।

२।२।२४ सूत्र पर सामान्याभिधानं विधानाभिधानम् २।२।२४ ६ और विमर्शक्याभिधानं द्रव्यस्य लिंगसंन्योपचारानुपपत्तिः २।२।२४ ७ वातिककार के दार्शनिक विवेचन शैली का स्पष्ट करत हैं । उच्चमुक्ता उद्भूतमुक्ता कण्ठप्रपण अभ्यास ज्ञान शब्दों के समास पर अभिधान और अनभिधान नामा दृष्टियाँ न वातिककार ने विचार किया है ।

चार्यदेव २/२/२६ पर के वातिका में वातिककार का युगपदधिकरणतावात्त्वमनाय है । अहरहन्वमानो गाम्वाय पुरुष पशुम् म द्वाद्वयं अभावकं निगद्यति वातिककार ने कहा है—सिद्धं तु युगपदधिकरणवचने द्वैतवचनात् २/२/२८ १ । एक एक शब्द में एक साथ जत्र समुदाय अभिधेय जाता है द्वैत जाता है । इसी का युगपदधिकरणतावात्त्वमनाय है । गाम्वाय धाति वाक्त्र म पशुय परस्पर निरपेक्ष है । व स्यनत्र रूप में

भिन्न भिन्न शब्दों से प्रत्याख्य हैं। अतः युगपदधिकरणता के न हान से द्व द्व समास चहा नहीं होता है। इस तरह सहविवक्षा में द्व द्व होता है। अभिधानरूप से अभिधेय क्रम अवश्यभावी होता है परंतु इससे युगपदधिकरणतावाद का प्रत्याख्यान नहीं होता। प्लथ-यग्रोधो ध्वगन्त्रिपलागा जसंम्यलाभ यग्रोधाव की प्रतिपत्ति के समय प्लथाय का अनुभूति न हो पलागाव की प्रतिपत्ति के काल में यदि ध्व आदि के अर्थ का आभास न हो तो यग्रोध और पलागा शब्दों में एकावता आ जाय। फलतः उनसे द्विवचन और बहुवचन न हो सकेंगे। अतः द्विवचन और बहुवचन की अर्थानुपपत्ति के कारण एक एक शब्द भी अनकाय है ऐसा अनुमान करते हैं और इस अनुमान से युगपदवाचिता का निश्चय होता है। अतः वार्तिककार ने कहा

शब्दपूर्वाप्यप्रयोगादथपूर्वापर्याभिधानमिति चेद द्विवचनबहुवचनानुपपत्तिः ।

—२/२/२६५

समुदाय का उदभूतावयवभेद मानकर समुदायाश्रय एकवचन हो जायगा ऐसा भी नहीं कह सकते। माहचय अर्थात्तर अभिधान में हतु होता है। प्रथरण विस्तार से अवस्थान जैसे प्लथ में है वैसे यग्रोध में भी है उसका वह स्वाथ ही है—कारणाद ब्रह्मे शब्दनिवेग इति चेत्तुल्यकारणत्वात् सिद्धम्—२/२/२६ १०। इस तरह से अनिप्रसंग नहीं होगा। वक्ति के विषय में शब्दों के शक्ति वैचित्र्य से अर्थात्तर अभिधान होता है संवत् नहीं होता। इतरेतर संनिधान से परस्पर में एक शक्ति का आविभाव होता है और इसलिए परस्पराभिधान भी शब्दों का नियतविषय ही होता है। अभिधान स्वाभाविक होता है। इस तरह कई वार्तिका द्वारा कात्यायन ने युगपद अधिकरणतावाद की पुष्टि की है। भाष्यकार इससे महमत नहीं हैं। उनके अनुसार यह चाद कठिन और दुस्माध्य है

इयं युगपदधिकरणवचनता नाम दुःखा च दुरुपपादा च ।

—महाभाष्य २/२/२६, भाग—१ पृष्ठ ४२४ कीलहान संस्करण ।

चाथ में च से समुच्चय, अवाचय इतरतरयोग और समाहार—इन सब का ग्रहण होता है।

वागिका के अनुसार अनेक क्रियाध्याहार समुच्चय है। अनेक क्रियाओं की चीय-मानता समुच्चय है। समभिहार और समुच्चय में भेद यह है कि समभिहार तीन पुंय या भग्राथ होता है किंतु वह एक ही क्रिया का होता है जब कि समुच्चय अनेक क्रियाओं का होता है। वासकार के अनुसार समुच्चय समुच्चय है। किसी एक साधन अथवा किसी एक क्रिया के प्रति अनेक साधनों अथवा क्रियाओं का अपन स्व रूपभेद के साथ चीयमानता या अनकता समुच्चय है और वह तुल्यवता का तथा अनियत क्रमयोगपदा का होता है। कयट के अनुसार परस्पर निरपेक्ष पन्था जत्र च द्वारा क्रिया में जाड़ जान हैं तब च का अर्थ समुच्चय होता है। भट्टाजिदीन के अनुसार परस्पर निरपेक्ष अनेकता का किसी एक सम्बन्धी में अवयव समुच्चय कलाता है। अहरह नयमानों गामश्व पुंय पणु में एक ही नयने क्रिया में गो अश्व आदि

सत्रका समुच्चय है।<sup>१</sup> पुण्यराज के अनुसार अविराधी तुल्यबल वाला का समुच्चय होता है जिस दवदत्त भोजय, लवणन, सर्पिषा शाकन च।<sup>२</sup>

जब एक की प्रधानता होती है और दूसरे की आनुपगिता होती है तब अवाच्य होता है। जैसे भिन्नामट गा चानय।

इतरतरयोग परस्परसापेक्ष अनेका का एक अथ म समवय स होता है। मिलिता का अ वय इतरतरयोग है। जैसे देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यामिद काय क्तव्यम। दवत्त और यनदत्त दोनों उस काय के प्रति परस्पर सापेक्ष है, क्याकि उनम से एक क भी न रहने पर काम नहीं किया जाता है।

समाहार समुच्चय का ही एक भेद है। इसम भी परस्पर सापेक्षता होती है किन्तु अवयवभेद तिरोहित रहते ह और सहति प्रधान होती है। जैसे छत्रोपानहम। किसी क्रिया म दोनों की परस्पर सापेक्षता है सहतिप्रधान होने क कारण एकवचन है। समूह भी समाहार कहा जाता है। उसकी युत्पत्ति कयट आदि न अनेक प्रकार से की है जस

समाहरण समाहार समाह्वित इति समाहार समाह्वियमाणाथ समाहार (महाभाष्यप्रदीप २।१।२०)। समन्यायीकरण समाहार।

—महाभाष्य २/१/५१

समाहारो ऽि समूह। स च भिन्नार्थानामेवकालाना भवति। बुद्ध्या युगपदर्याना परिग्रहादेवकालत्वम।

—यास २/१/५१

सामान्य और विनय का समुच्चय नहीं हाता। सामान्य और विशेष का द्वन्द्व समास नहीं होता। इसम कारण अनभिधान है। लोकम वक्षधवम ऐसा नहीं कहत। धव गत् स ही वक्ष गत् का अय अवगन हा जाता है। गोबलीवत् जस गद म गा गत् की वत्ति स्त्रीगवी म समझनी चाहिए। इस तरह य दोनों सत् विरापवाची हा जात हैं।

विशेषण विशेष्यभाव—वातिकारन विशेषण विशेष्यभाव पर विशेष प्रभाव डाना <sup>३</sup> विशेषण विशेष्ययोरुभयविशेषणत्वादुभयोश्च विशेष्यत्वादुपसजनाप्रसिद्धि २।१।४७—१। वातिक म विशेषण विशेष्य म दोनों के विशेषण और दोनों क विशेष्य हान की सभावना व्यक्त का गर् है। कृष्णनिन गत् म कृष्ण गत् तिलगत् म जुत् कर विशेषण हाना है। निन गत् क रगा क तिन का बाधक है। कृष्ण गत् तिल क अय रगा स उभया परिच्छेत् कर कवन कृष्णरग म उस सीमित कर तता है। अन कृष्णनिन गत् म परिच्छेत्क नान क कारण कृष्ण गत् विशेषण और परिच्छेत् हान क कारण तिन गत् विशेष्य है। वही तरह कृष्णतिल गत् म कवन कृष्ण गत् क उच्चारण म भ्रमर वाकिन आदि कृष्णद्रव्या का बाध हाना है। तिन गत् क सात्वय

<sup>१</sup> शास्त्रक दुन । १०६

<sup>२</sup> पुण्यराज काव्यसूत्र २।८२ ट ३।

से तिल में ही उसका नियमन हो जाता है। अतः कृष्णशब्द विशेष्य और तिल शब्द विशेषण हो जाता है। इसके समाधान में दूसरे वातिक में लिया है—न वायतरस्य प्रधानभावात्तद्विशेषकत्वाच्चापरस्योपसजनप्रसिद्धिः २।१।५७ २। दोनों में से एक प्रधान होता है। दूसरा उसका विशेषण होता है। जब तिल की प्रधान रूप में विवक्षा होती है और कृष्ण की विशेषक रूप में, तब तिल शब्द प्रधान होता है और कृष्ण विशेषण होता है। तिल द्रव्य रूप है। क्रिया की सिद्धि में साधन उपयोगी है। इसलिए उनकी प्रधानता है। कृष्ण गुण है। वह द्रव्य के सहारे ही नियमन उपयोगी हो सकता है इसलिए वह तिल का विशेषण हो जाता है। गुण और द्रव्य में द्रव्य की ही प्रधानता मानी जाती है। यहाँ यह कहा जाता है कि तिल शब्द जातिवाची है न कि द्रव्यवाची। यदि जातिविशिष्ट द्रव्यवाची होने के कारण उस द्रव्यवाची मानत है तो कृष्ण शब्द भी गुणविशिष्ट द्रव्यवाची होने के कारण द्रव्यवाची है। इस तरह इन दोनों में कोई विरोध नहीं है। इसके समाधान में कहा जाता है कि उत्पत्ति से लेकर नाश पर्यन्त जाति द्रव्य को नहीं छोड़ती है। शब्द में जाति-व्यतिरिक्त द्रव्य का भान नहीं होता। सदा गो गावलेय ऐसा कहा जाता है न कि गावलेस्य गो। इसलिए जात्यात्मक ही द्रव्य की प्रतीति होती है अनएव जाति शब्द द्रव्यवाची के रूप में प्रतिष्ठित होता है। गुण ऐसे नहीं है। गुण उपायी और अपायी दोनों होते हैं। द्रव्य से व्यतिरिक्त रूप में भी स्व शब्द से गुण का प्रत्यायन होता है। जैसे पटस्य गुक्ल में। इसलिए द्रव्य की गुणात्मकता नहीं है। फलतः गुण शब्द का द्रव्यवाची के रूप में प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। जहाँ दोनों प्रधान शब्द एक अर्थ के लिए एक साथ प्रयुक्त होते हैं उनमें विशेष्यविशेषणभाव कैसे होगा? वक्षः शिष्या में विशेष्यविशेषण अथवा प्रधान अप्रधान की व्यवस्था कैसे होगी? महाभाष्यकार के अनुसार इस तरह के दो शब्दों का एकत्र समावेश आवश्यक नहीं है। पहले विशेष्य शिष्या के प्रयोग से उस शब्द से वक्षः विशेष्य की ही उपस्थिति होती है। विशेष्य का सामान्य में अभिचार होने के कारण शिष्या के बाद वक्षः शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नहीं रह जाती। यदि पहले वक्षः इस रूप में सामान्य का ग्रहण हो बाद में उसकी विशेषता के लिए शिष्या शब्द का प्रयोग हो तो शिष्या शब्द विशेषण का काम करेगा और शिष्या-वक्षः ऐसा प्रयोग संभव हो सकेगा। कुछ लोग मानते हैं कि शिष्या के प्रथम उपात्त होने पर भी शिष्या फल से शिष्यावक्षः के व्यवच्छेद के लिए वक्षः शब्द का प्रयोग वक्षः को शिष्या का विशेषण बना देता है और इस तरह वक्षः शिष्या प्रयोग भी होना चाहिए। परन्तु कण्ट के अनुसार यह मत उपयुक्त नहीं है। वक्षः और शिष्या में वक्षः व्यापक है उसमें महाविषयता है। दूर से पहले उसी की उपलब्धि होती है अतः वक्षः शब्द ही विशेष्य है। शिष्या में स्वल्पविषयता है उसका ग्रहण बाद में होता है और वह गुक्ल आदि गुणतुल्य है। अतः वह विशेषण ही माना जायगा। गुण और द्रव्य के समभि-व्याहार में द्रव्य की प्रधानता हानी है। केवल यही नियम नहीं है अपितु व्याप्य-य-यवजातिसमभिव्याहार में व्यापक विशेष्य होता है यह भी नियम है।

## नञ विचार

पतञ्जलि ने प्रश्न उठाया था कि अत्राह्मणमात्रय जन्म वाक्यात् न नञ् म किमपत्त्य की प्रधानता व्यवहृत होती है। यहाँ तीन विवरण सम्भव है। अथयप्रधान पूर्वपत्त्यप्रधान और उत्तरपत्त्यप्रधान। यदि ब्राह्मण मात्र विज्ञाति म मानी जाय और अत्राह्मण का अर्थ यत् किया जाय कि जिनम ब्राह्मणत्वं न हा। तस शत्रिय आदि ता यह नञ् अथय पत्त्य प्रधान होगा। यदि नञ् का वक्ति इसा मामाथ म मानी जाय और अत्राह्मण मात्र का अर्थ किया जाय कि जिनम ब्राह्मणत्वं न हा। तन्तु ब्राह्मणेतर रूप म हा प्रधान क्षत्रिय आदि ता पूर्वपत्त्यप्रधान नञ् होगा। यदि ब्राह्मण मात्र का प्रयोग क्षत्रिय आदि के लिए मिथ्याज्ञान के कारण अथवा दुष्टात्मा के कारण हो और ब्राह्मण पदार्थ की स्वाभाविकी निवृत्ति छातिता हा तन् समाम उत्तरपत्त्यप्रधान माना जायगा।

अवर्षा हम न मात्र से न वहा अवर्षा हमत्त, वर्षादिना हमत्त है यह अर्थ होता है। हमत्त म नीहार आदि से वहा ही दृश्य उपस्थित हा जाता है जमा कि वर्षा से। यत् उपमानापमय भाव भी दिया हुआ है और इसका साथ अथय पत्त्य का बोध होता है। अवर्षा का अर्थ अविद्यमाना वर्षा वर्षात्व मस्य इस विग्रह की स्थिति म अथय पदार्थ नहीं आता। ऐसा मानने पर उपसर्जन ह्रस्व की प्राप्ति होगी। इस लिए नञ् समास उपमा को छिपाए हुए प्रक्रिया दशा म अथय पदार्थ प्रधान हात है—ऐसा कुछ लागो का विचार है।

अथ विचारक अथयपत्त्यत्व की उपपत्ति दूसरे ढंग से करत ह। जातिपत्त्य पक्ष म ब्राह्मण आदि गण्ट् मुख्य रूप म व्यक्तिनिरपक्ष जाति के अभिधायक होत है द्रव्य के अभिधायक नहीं होत। नञ् समास के द्वारा द्रव्य की अभिव्यक्ति होती है और इस आधार पर अथय पत्त्यप्रधान वह माना जाता है। अत्राह्मण गण्ट् म नहीं है ब्राह्मण्य जिसम अर्थात् ब्राह्मण से अथय क्षत्रियादि का बोध होता है। ब्राह्मणत्व जाति का जहा आश्रयत्व सम्भावित है वही निषेध होता है अत्यन्तविजातीय म—क्षत्रिय आदि म निषेध नहा होता, फलतः क्षत्रिय आदि द्रव्य ही अथय पत्त्य है। ऐसा मानने पर बहुव्रीहि और नञ् समास का विषयविभाग भी उपपन्न हाता है। अगरयमश्च अविद्यमाना गावा यस्यत्यगुरयमश्च—यहा बहुव्रीहि समास है। अविद्यमाना गोर्गोवमस्याश्चम्य सोऽयमगौरश्च इस रूप म नञ् समास होगा। बहुव्रीहि समास मत्वर्थ में हागा जबकि नञ् समास उत्तरपत्त्य विजातीय की स्वभावन अभिव्यक्त करेगा। इस रूप म द्वन्द्व त्रिपदविभाग रणगा।

यदि नञ् समास का अथय पत्त्य प्रधान माना जायगा अवर्षा हमत्त में हमत्त गण्ट् के लिए और वचन का प्राप्ति अवर्षा गण्ट् में भी होगी।

यदि पूर्वपत्त्य प्रधान माना जायगा अथय सत्ता की प्राप्ति होगी। यदि अथय म नञ् समास पाठ के अभाव म अथय सत्ता नहा भी हो लिए और सत्या याग का उपपत्ति भा स्वाभाविक गति के आधार पर हा जायगी। गण्ट् शक्ति के

स्वभावज्ञान नञ विग्रह वाक्य में असत्त्व रूप अर्थ को व्यस्त करता है। अथवा आश्रय के आधार पर भी तिङ्ग योग हो जायगा। किन्तु इस पक्ष में फिर भी दोष है। यदि स्वाभाविक दान का आश्रय लिया जायगा तो नञ द्वारा आश्रयीभाव के अपवाद होने से अमशिकम आदि की सिद्धि न होगी। असवस्मै, अस आदि उपपन्न न हो सकेंगे। यदि उत्तर पन्थाय प्रधान का आश्रय लिया जायगा 'अब्राह्मणमानय' कहने से ब्राह्मणमात्र के लान की आशंका होगी। महाभाष्यकार ने नञ को निवृत्त पदाथक मानकर उपयुक्त दोष का परिहार कर उत्तरपदाय प्रधानता का समर्थन किया है। निवृत्तपदाथक का अर्थ कयट के अनुसार, पन्थाय की निवृत्ति, मुख्य ब्राह्मण्य की निवृत्ति में है। कौण्टभट्ट के अनुसार निवृत्तपदाथक अभावार्थक है। कयट के अनुसार स्वाभाविक निवृत्तद्वान पक्ष में नञ से पदाथ की निवृत्ति से तात्पर्य पन्थाय प्रत्यय से है। पदाथ प्रत्यय ही उपचार से पदाथ शब्द से व्यक्त किया जाता है। जस सिंहमध्यापयेत वाक्य में सिंह शब्द से माणव्य का बोध होता है। अभिप्राय यह है कि जब केवल ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया जाता है, प्रसिद्धि वगैरह मुख्य ब्राह्मण अर्थ का ही प्रयायक होता है। किन्तु नञ पूर्वक प्रयोग से अब्राह्मण शब्द के व्यवहार से—ब्राह्मण शब्द की निवृत्त-पन्थायकता की प्रतीति नहीं है। प्रतिष्ठति में निष्ठति क्रिया गति का बोध करती है किन्तु केवल तिष्ठतिस प्रस्थान न करने का बोध होता है। प्र उपसर्ग के साथ तिष्ठति के व्यवहार में ही प्रस्थान का बोध होता है। वही तरह से नञ द्योतक का काम करता है। इसके प्रयोग से पदाथ की निवृत्ति द्योतित होती है। पदाथ शब्द में उपचार के सहारे पदाथ प्रत्यय अवगत होता है। महाभाष्यकार ने निवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए कील प्रतिकील का उदाहरण दिया है। मान कील से छोटी कील उखाड़ ली जाती है। इसी तरह नञ के प्रयोग करने पर वह पन्थायों की निवृत्ति करती है। यदि यह निवृत्ति वाचनिकी मानी जायगी कवन न कहने से ही सत्र तरह के निषेध सम्पन्न हो जायगा। शत्रु को हराने के लिए सेना रखने की आवश्यकता न होगी। केवल न कहने से वे हट जायंगे। यदि स्वाभाविकी निवृत्ति मानी जाय तो नञ की चरितायता ही क्या होगी। इसलिए निवृत्ति तो स्वाभाविकी मानी जाती है किन्तु उसकी उपलब्धि वाचनिकी होती है। जस दीप अंधेरे में वस्तु का निरूपक होता है निवृत्तक नहीं। ब्राह्मण शब्द के प्रयोग से ब्राह्मण पदाथ का निवृत्ति स्पष्ट हो जाती है। समुदाय के लिए व्यवहृत होने वाले शब्द उसमें एक दश के लिए भी व्यवहृत हो सकते हैं। एक दश के विभाग से समुदाय की निवृत्ति भी कही जाती है और एकदेश एकभाग के होने पर भी सम्पूर्ण समुदाय की सत्ता अवगत होती है। पूर्वे पचाला तल भुवत जस स्थला में अवयव में समुदाय के आगम से शब्द प्रवृत्ति होती है।

अवयवे समुदायरूपारोपात् शब्दप्रवृत्ति विज्ञेया। न तु शब्द स्वाय परित्य-  
ज्याथात्तर वक्तुम समर्थ, न दापसम्बन्धस्यानित्यता प्रसंगान्।

—कयट महाभाष्यप्रदीप २।२।६

अब्राह्मण शब्द से निवृत्ति के अर्थ के लिए महाभाष्यकार ने गुण और जाति दोनों का सहारा लिया है। किसी विषय चिन्हा या रूप से किसी का कोई ब्राह्मण सम्-

भेदा है बाद में उस भाव होना है वह ब्राह्मण नहीं है । यन्म अथ की निवृत्ति गुण के आधार पर है । इसी तरह जाति के आधार पर प्रवृत्ति और पुनः निवृत्ति जाति परक निवृत्ति है । एतत् स्थल पर ब्राह्मण भाग की प्रवृत्ति दृष्टान्त मानी है जाति के आधार पर अथ की निवृत्ति होती है । नञ् के सम्बन्ध में धर्मोक्ति की निर्मासित कारिका प्रसिद्ध है

सतां च न निषेधोस्ति सोऽसत्तु च न विद्यते ।

जगत्पनेन चायेन नत्रथ प्रलय गत ॥

इसका तात्पर्य यह है कि जो सत है वह सत्ता सत है उसका निषेध नहीं हो सकता । जो असत है वह असत् है, उसका निषेध करना न करना बराबर है । और इस दृष्टि से नञ्थ का कोई स्थान नहीं है ।

नागेन ने इस आक्षेप का उत्तर बौद्ध भाग और बौद्ध अथ के आधार पर दिया है । बुद्धि में अवस्थित अथ का भी नञ् के द्वारा बाह्यसत्ता के रूप में निषेध संभव है ।

निवृत्ति के प्रसंग में महाभाष्य में प्रसज्यप्रतिषेध का संकेत है

प्रसज्याय त्रियागुणौ ततः पश्चात् निवृत्तिं करोति ।<sup>१</sup>

प्रसंग से यहाँ पशु दास भी भूलक जाता है जसा कि कथक ने लिखा है

पशु दासे तु द्वे यादिसंख्यायुक्त एवानेकगन्धस्याथ ।<sup>२</sup>

प्रसज्य प्रतिषेध का महाभाष्यकार के मत में त्रिया और गुण के साथ संबन्ध होता है । न न एक प्रियम् न न एक सखम् में गुण के साथ सम्बन्ध है । असूय पश्या' में त्रिया के साथ नञ् का सम्बन्ध है । इसी तरह अनचि च ८।४।४७ में त्रिया के साथ नञ् का सम्बन्ध है । प्रसज्य प्रतिषेध समस्त में भी होता है असमस्त में भी होता है । समस्त का उदाहरण अभानुभेद्य तम है असमस्त का उदाहरण गृहं घटो नास्ति है । नागेन के अनुसार असमस्त रूप में प्रसज्यप्रतिषेध का अर्थ अत्यन्ताभाव है । असमस्त रूप में उसका अर्थ अयो-याभाव और अत्यन्ताभाव है । प्रागभाव और प्रध्वसाभाव नञ् से द्योत्य होते हैं ।

पशु दास सदशग्राही माना जाता है । निषेध की प्रतीति अथ जन्म होती है । कोई इस आहायनान के रूप में भी स्वीकार करत है । पशु दास प्रायः समस्त में ही होता है । कहीं कहीं समास के विकल्प में अममास में भी देखा जाता है ।

नञ् के छ अर्थ के विषय में निम्नलिखित कारिका प्रचलित है

तत्सादृश्यमभावश्च तदयत्नं तदल्पता ।

अप्राप्तस्त्य विरोधश्च नञ्कार्यं एतत् प्रकल्पिता ।<sup>३</sup>

भोज न न नञ्थ द्वारा उत्तरपदाथ की विवेचना उत्तरपदाथ द्वारा नञ्थ की

१ महाभाष्य २।२।६

२ महाभाष्य प्रत्यापोशोत २ । ६

३ मजूषा ५०, ६६८

विशेषता दोनों द्वारा अयपत्तय की विशेषता के आधार पर नत्रय के तीन पटक दिए हैं जो निम्नलिखित हैं—

(क) अत्यताभाव—जसे अरुणो वायु ।

अनत्यताभाव—जसे, अनुत्तरा क्या ।

अयतराभाव—अकिंचन पुमान् ।

तानात्मयाभाव—अपिनाच कुडय ।

सम्बन्धाभाव—अघट भूतलम् ।

प्रध्वसाभाव—अनङ्ग काम ।

(ख) प्रागभाव—अनुत्पन्नो घट ।

सामर्थ्याभाव—अप्रघण्य मुमत् ।

आवयवताभाव—अभूषित कान्त ।

एतरेतराभाव—अवपा हमत ।

सत्ताभाव—असत गगविषाणम् ।

भावाभाव—अनुदभिन प्रवाल ।

(ग) तन्भाव—अनय ।

तन्वय—अनत्रि ।

तत्सदृश—अग्राह्यण ।

तत्विन्दु—अमित ।

तत्पट्ट—अमनुष्य ।

तदुत्पट्ट—अमानुष ।

नत्रय अयपत्तय में कभी व्यवतिष्ठित होते हैं कभी सम्प्रवित होते हैं । अनुत्तरा क्या अलामिका एडका आदि में व्यवतिष्ठित मान जाते हैं । अनक अनक, अजमा आदि में सम्प्रवित मान जाते हैं ।

कुछ लोग निम्नलिखित चार को असमय समाश में परिगणित मानते हैं कुछ इनमें भी समुदाय में विभक्तिविशेष की प्रतिपत्ति लिखते हैं

अथाद्ध भोजी ग्राह्यण ।

अमूय पत्ता राजदारा ।

अलवणभाजी भिक्षु ।

अपुनर्गोपा लाका ।

महाभाष्य में निम्नलिखित असमयसमाश चार समाश का उल्लेख है जो समुदाय की दृष्टि में अनुद्ध प्रयोग हैं । किन्तु उन चारों में व्यवहृत होने से ।

४ नानेश न अनक शब्द को असाधु माना है—एव चानक इति द्रुवचनमसाचवर्ति बोधयित्ति मनुष्या विन्द ।



और इसी आधार पर द्वारा उल्लेख महाभाष्यकार ने किया है—

अकिञ्चित् कुर्वाणम् ।

अमाय हरमाणम् ।

अगाधात् उत्गुष्टम् ।

इनका शुद्ध रूप ज्ञान या है—किञ्चित् अत्रायणम् मायम् अहरमाणम्  
गाधात् अनुत्सृष्टम् । किन्तु लोक व्यवहार में किञ्चिद अनुर्वाणम् के स्थान पर  
अकिञ्चित् कुर्वाणम् गान् चल पड़ा था और अम बोधन वाला नञ् समाग के रूप में ही  
बोलते थे ।

कयट ने स्पष्ट किया है कि य प्रयोग गाधी गोणी आदि की तरफ अगाधु  
है किन्तु लोक व्यवहार में इनके प्रयोग दग जात है

गा यादिवदसाधुरपि गमकत्यामिमतो लोके प्रयुज्जते ।

—महाभाष्यप्रतीप २।१।१

भाषाविज्ञान की दृष्टि से य प्रयोग बहुत महत्वपूर्ण हैं । य केवल मिथ्यासादृश्य  
के सिद्धांत के ही उदाहरण नहीं हैं अपितु इस बात के भी द्योतक है कि साधुता असा-  
धुता का निर्णायक लोक है । अथवा महाभाष्य जस ग्रन्थ में इनका कोई स्थान नहीं  
होना चाहिए था ।

## भाव विचार

पाणिनि ने तरय भावस्त्वतलो २।१।११६ द्वारा भाव में त्व और तल प्रत्यय का विधान  
किया है । गान् का प्रवृत्तिनिमित्त भाव गण् स कहा जाता है । कात्यायन के इस सूत्र  
पर के दो वातिक व्याकरण दशन की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण माने जात है । वे हैं—

(१) सिद्ध तु यस्य गुणस्य भावाद द्रव्ये गान्निवगस्तदभिधाने त्वतलो

२।१।११६ ५

(२) यद्वा सर्वे भावा स्वेन भावेन भवन्ति स तेषा मावस्तदभिधाने

२।१।११६ ८

गुण शब्द यहा विशेषण अर्थ में है । द्रव्य विशेष्य है । जिस विशेषण की सत्ता  
में विशेष्य में गान् का प्रवृत्ति हाती है उसका अभिधान में त्व और तल प्रत्यय होते हैं—  
यह प्रथम वातिक का शास्त्रार्थ है ।

वातिक में गुण गण् स जो कुछ पराश्रय है भेदक है जस जाति आदि में सभी  
यहा गृहात है । भावात् गण् का अर्थ विद्यमान होने से है । द्रव्य शब्द से विशेष्यभूत  
सत्त्वभावापन अर्थ अभिप्रेत है । गान्निवग का अर्थ गान् की प्रवृत्ति है । शब्द से  
वाच्य अथवा अवाच्य जिस गुण के भाव से द्रव्य में गान् की प्रवृत्ति होती है वह  
त्व और तल स अभिप्रेत है । गुणमात्र वृत्ति वाले रूपादि गान् स गुण समवायी  
सामान्य में भाव प्रत्यय होता है जस रूपत्वम् । गुल आदि गान् जा गुण और गुणी  
में अभेद के कारण अथवा मनुष के लोप के कारण गुण और गुणी उभय वृत्ति हैं उन  
गुणवाचक गान् स गुण समवायी सामान्य में भावप्रत्यय होता है और गुणीवाचक

स गुण म प्रत्यय होता है। अण महत्, दीघ आदि गुणवाचक शब्द केवल परिमाण म न हाकर निय परिमाणो म रहत है इस लिए उनसे परिमाण गुण म भाव प्रत्यय होता है। पत्व णत्व आदि मे प्रत्यय भिन्न वण व्यक्ति म समवेन सामान्य विनेष म होत हैं। वणों म भेद उच्चारण भेद के कारण अथवा औपाधिक हा सकता है। गो आदि जब केवल जातिवाचक है तब उनसे भावप्रत्यय शब्द स्वरूप क अर्थ म होना है। अर्थ रूप जानि म शब्द के स्वरूप का अध्याम किया जाता है जा गा शब्द है वही अर्थ है इस रूप म। अतः शब्द स्वरूप ही एम शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त है। जितन यदृच्छा शब्द हैं उनम जाति वसी पद्धति से सिद्ध की जाती है। व्याकरण दशन एक व्यक्ति म भी जाति की सत्ता मानता है। शब्द क उच्चारण भेद स शब्द म अनेकता म एकत्व की सिद्धि की जाता है जिससे अनुगताकार प्रत्यय होता है। इसी तरह अर्थ म अवस्था भेद के आधार पर भेद कर अनुगताकार प्रत्यय क आधार पर प्रत्यय की सिद्धि की जाती है। फलन अनक समवेत एतत्त्व (जाति) की सत्ता व्यक्ति म भी सिद्ध हो जाती है। द्रव्यवाची गो आदि में जाति म भाव प्रत्यय हाते हैं। समास, वृत्त और तद्धित से सम्बन्ध म प्रत्यय होता है यद्यपि य केवल सम्बन्ध नहीं यक्त करत है फिर भी सम्बन्धी म वतमान रूप से प्रवृत्तिनिमित्त के रूप म सम्बन्ध की अपेक्षा रखते हैं। जम राजपुरुषत्व स स्वस्वामिभाव की प्रतीति हानी है। पाचकत्व म क्रियाकारक सम्बन्ध की भूलक है। औपगवत्वम मे अपत्यापत्यवत् सम्बन्ध हैं। किसी किसी के मत स औपगवत्वम म अपत्यप्रत्ययात् से भाव प्रत्यय का अभिधेय जाति है। जसा कि कहा जाता है समासकृततद्धितेषु सम्बन्धाभिधानमयत्र दृढयभिन्न—रूपा यमिचरित सम्बन्धेभ्य ।<sup>१</sup>

गौरव, सातपण लोहितगालि आदि जाति विनेष से आपन द्रव्य विनेष वाची शब्द म ही भावप्रत्यय हाता है। इसी तरह कुम्भकारत्वम दृष्टित्वम आदि म भी। मतुप क लुक् दगा म मुक्ल आदि तद्धितात् हैं। फिर भी उनम भावप्रत्यय गुण म ही होता है सम्बन्ध म नहीं होता। जिस तरह जाति और तदवान म लाकनिरुद्ध सम्बन्ध क आधार पर भेद निराहित सा हो जाता है और अभेद भासित हाता है उसी तरह गुण और गुणी म भी वह यह है इस अध्याग सम्बन्ध स गुणवचन शब्द स मतुप क लुक् की दगा म उनम अभेद भासित होता है और अभेद रूप मे उनका अभिधान होता है उनम भेद मानकर मतवध की उत्पत्ति नहीं मानी जाती। मना म अर्थमिचरित सम्बन्ध स सतोभाव इस रूप म जानि म ही भावप्रत्यय हाता है। मन्वन्तु सत्तासम्बन्ध को नहीं छोडती (न हि पदाथ सत्ता व्यभिचरति—योगभाष्य) ३।१७ इस सत्ता सम्बन्ध की अपेक्षा के कारण सम्बन्ध म प्रत्यय नहीं होता। राज और पुरुष म सम्बन्ध मनातन नहीं है अतः उसकी अपेक्षा रख कर ही राज और पुरुष शब्द अपना अपना अर्थ व्यवस्त करत हैं इसलिये यहा सम्बन्ध म भाव प्रत्यय म ना युक्त

१ यह प्राचीन आचार्यों की परिभाषा है। सायब ने इस परिभाषा रूप में स्वीकार किया है। कौलभट्ट ने इसे मनु हरि का वाच्य माना है। यह वाक्यो में नहीं मिलता।

है। इसलिए कहा जा सकता है कि सभी पदार्थों में विद्यमान समवाय रूप से रहने वाली और गण प्रवृत्ति की हेतु सत्ता ही भावप्रत्यय से वाच्य है। सत् और सत्ता का सम्बन्ध समवाय वाच्य नहीं है। ध्वन्यतिरिक्त जन्म स्थल में जाति द्वन्द्व होने का कारण जाति समुदाय में भावप्रत्यय है। कुत्त जन्म गण में मन्वास्वरूप का मन्वी में वह यह रूप में अध्यास कर भाव प्रत्यय विधान होता है। कुछ लोग ऐसा स्थला में सत्तासति सम्बन्ध में भाव प्रत्यय मानते हैं। इस तरह कयट ने उपयुक्त वार्तिक की व्याख्या की है।

भाष्यकार ने वार्तिक की व्याख्या में गुण और द्रव्य की परिभाषा पर विचार किया है। गण स्वयं रूप रस और गन्ध को गुण मानकर इनसे अर्थ को द्रव्य माना है। यह एक मत है। गुण से अतिरिक्त द्रव्य की सत्ता अनुमानयोग्य है। अथवा भिन्न भिन्न गुणों के प्रादुर्भाव से भी जिसका तत्त्व खण्डित नहीं होता वह द्रव्य है। अथवा अवयव रूप में गुण का सद्राव द्रव्य है। द्रव्य आदि में वृत्ति (भावप्रत्यय), भाष्यकार के अनुसार प्राथमकल्पिक द्रव्य का आधार पर संभव हो सकती। प्राथमकल्पिक द्रव्य की कोई क्रिया या कोई गुण यदि किसी में पाई जाय तो इस आधार पर उसमें भी भाव प्रत्यय हो सकेगा।

दूसरे वार्तिक का अर्थ है कि जब सभी शब्द अपने (स्व) अर्थ व्यक्त करते हैं वह उनका अर्थ है और उसी के अभिधान में तत्त्व और तत्त्व प्रत्यय होते हैं। गुण का भाव शुक्लत्व है। गुण में वर्तमान शुक्ल शब्द का भाव गुणसमवायिनामाय है। उसका निमित्त से शुक्ल शब्द अपने गुणलक्षण अर्थ में प्रवृत्त होता है। द्रव्य में वर्तमान गुण शब्द का भाव गुण है। द्रव्य में वर्तमान गो गण का भाव जाति है। राजपुरुष का भाव सम्बन्ध है। इस तरह अर्थ को भी समझना चाहिए।

नानात्व सहित्व योगपक्ष आदि में वृत्ति विषय में नाना शब्द असहभूत अर्थ में है। सह गण सहभूत अर्थ में है युगपत् शब्द युगपदभूत अर्थ में है। इनमें असहभाव जाति में भाव प्रत्यय है। इसका निष्पन्न कयट के शब्दों में यह है

तत्र भवत्यनेनेति करणसाधनेन भावशब्देन जात्यादिके उच्यमाने वाच्यसम्बन्धनि शब्दसम्बन्धनि वा पूर्वोक्तपाथाद द्रव्यवाचिनः शब्दाभिधायिनो वा शुक्लादे त्वत्तादय इति स्थितम्—महाभाष्यप्रदीप, ५।१।११६

स्वाध की एक दूसरे तरह से भी व्याख्या की जाती है। स्व शब्द आत्मीय वाची है अर्थ शब्द अभिधेयवाची है। स्वाध अनेक प्रकार का होता है जैसे जाति गण क्रिया सम्बन्ध और स्वरूप। गो गुण पाचक राजपुरुष और द्रव्य। शब्द अपना अर्थ (स्वाध) निरपक्षरूप में करता है। अपने अर्थ (स्वाध) व्यक्त करते समय उस अर्थगत किसी निमित्तान्तर की आवश्यकता नहीं रहती। अपना स्वाध कह कर उस स्वाध से सम्बद्ध द्रव्य का यत्न करता है। द्रव्य शब्द से व्याकरण द्वागन प्रसिद्ध द्रव्य अप्रति है। व्याकरण द्वागन में इदं तत् सवनाम से परामश योग्य वस्तु को द्रव्य कहते हैं। अथ यदि जाति गण जाति में है आरोपित स्वरूपवाली स्वरूप से एकीकृत जाति व्यक्त करता है तब उसका स्वरूप स्वाध है और जाति द्रव्य है। जब वह जाति विविध द्रव्य को व्यक्त करता है तब उसका स्वाध जाति है। गुण आदि जब गुण

जाति म स्थित हैं, उनका स्वरूप स्वाथ है और जाति द्रव्य है । जब व गुण म स्थित है गुण सामान्य उनका स्वाथ है और गुण द्रव्य है । समवत द्रव्य का अभिधान कर शब्द, निग वचन और विभक्ति का भी यवन करता है । यद्यपि लाक म पद के उच्चारण करने पर युगपत पांच अथ भासित हात है क्योंकि शब्द का व्यापार विरम प्रिगम कर नहीं हाता फिर भी शास्त्र म व्यवहार क लिए कल्पित अवयव्यतिरेक का आशय लिया जाता है । अस्ने आधार पर प्रयाग के अनुपयुक्त प्रातिपादक म अथवत्ता की कल्पना की जाती है और उसम एक भ्रम माना जाना है क्योंकि नागृहीत विशेषण-विशेष्य बुद्धि' इस याय के अनुसार बाद सवप्रथम स्वाथ की अभिव्यक्ति करेगा । तब लिंग आदि के आधार भूत द्रव्य का अभिधान करेगा । बहिरंग सरया की अपक्षा लिंग जनग है अत मर्या के पूव लिंग का अभिधान करेगा । तब मर्या कि अभिव्यक्ति करेगा । क्योंकि मर्या और कारक म मर्या अतरंग है और कारक बहिरंग है । मर्या कवल तुल्यजातीयापन्न है जब कि कारक विजातीय क्रियापेश होने के कारण वरिग है । अत मर्या के बाद कारक की अभिव्यक्ति होगी । वस्तुत कात्यायन के अनुसार नानाथकल्पना बौद्धिक है । इसी दृष्टि से तत्र व्यपदशित्रद वचन, एकात्रा द्वे प्रथमाथम १।१।२१ २ ३ का प्रत्याख्यान अवचनाल्लाक विज्ञानात सिद्धम १।१।२१ ५ वार्तिक द्वारा किया है । बुद्धिसमागोपित भेद के आशय से मुख्य की तरह एक म भी द्विवचन आदि काय हो सकत है । यह वार्तिककार का अभिप्राय है ।

### प्रकार का स्वरूप

पाणिनि ने प्रकारवचन शब्द का व्यवहार किया है । 'याख्याकारा म प्रकार क अय क विषय म मतभेद है । स्थूलादिभ्य प्रकार वचने वन ५।४।३ सूत्र म प्रकार सादृश्य-बोधक है । सादृश्य अथ को सामने रखकर कात्यायन ने चचत् बहत्कारपसस्यान्तम' एस वार्तिक का इस सूत्र पर लिखा है । चचत्क और बहत्क इन दो शब्दों का मणि विशेष क अय मे प्रयोग कात्यायन के समय मे होता था । जो चचत् (चमकीला) न हो किंतु चचत् सा जान पड़े उसे चचत्क कहते थ । प्रभा की लहर से ऐसा जान पड़ता था । इसी तरह जो बृहत् न हो किंतु बृहत्-सा जान पड़े उस बृहत्क कहते थ । मणि की कान्ति के प्रसार से ऐसा हाता था ।

कुछ अय आचार्य सवन प्रकार का अय सादृश्य मानत हैं । प्रकारवचन थाल ५।३।२३ प्रकार गुणवचनस्य ८।१।१२ स्थूलादिभ्य प्रकार वचन वन ५।४।३ आन्ति सूत्रा म सादृश्य अथ ही उह अभिप्रत है । यथा तथा शब्द से मुख्य अय ही व्यक्तित हाता है । पटुजातीय शब्द म जानीपर प्रत्यय द्वारा मुख्य अय म, ४ ५ ॥ अभिहित होना है । पटु पटु शब्द म भी द्विवचन से विगप्य म ४ ५ ॥ १ ॥ १

१ इस वार्तिक में मतभेद था—उचतृद्वयारिणि कचिन् पठन्ति । मर्या २५ ५१३ ॥  
द्रव्यम्—काशिका ५।४।३

भट्ट हरि ने चचत्क, बृहत्क पाठ अपनाया है, वाचस्पत्य, धृति १ २ १, १-१५

भासित होता है। इसी तरह स्थूलतः गन्ध म स्थूल मन्त्र अथ होता है।

कुछ अथ आत्माय प्रकार गन्ध का भेद अथ मानन <sup>२</sup> सामान्यस्य विगपक भेदक प्रकार — काशिका ५।२।२३। 'न मन म यथा तथा गन्ध म भेद अथ गी प्रतीति हाती है सामान्य म यथा सादृश्य अथ भवता है।' इसी तरह पञ्चाक्षरी गन्ध म भी भेद अभिप्रेत है। गन्ध भेद माना जाता है वहां सादृश्य सामान्यगम्य होना <sup>३</sup> और जहां सादृश्य अथ माना जाता है वहां भेद सामान्यगम्य समझा जाता है। पशुप्रकार देवदत्त इस वाक्य म सामान्यविगपभाव गन्धान के कारण सामान्य ही प्रकार है।

बाह्यप्रकारा माठरादय इत वाक्य म सामान्य का विगप म अवयव होना के कारण सादृश्य की सभावना न होने पर भेद प्रकार माना जाता है।

कुछ प्रकार वाले प्रत्यय प्रकारवान् म हात हैं। जस जातीयर वन और द्विवचन। कुछ प्रकार वाले प्रत्यय प्रकार मात्र म होत है जस थाल। किन्तु प्रकार म वक्ति हात हुए भी प्रकारवान् स सम्बद्ध होत है। इसलिए थाल और जातीयर म बाध्यबाधक भाव नहीं होगा। और थाल प्रत्यय के बाद भी जातीयर का प्रयोग दला जाता है जस तथाजातीय।<sup>२</sup>

पाणिनि न अत्रय विभक्ति २।१।६ सूत्र म यथा के अर्थ म अर्थयोभाव समान माना है और पुन सादृश्य के अर्थ म भी माना है। यदि यथा और सादृश्य समानार्थक है तो पाणिनि को यथा गन्ध म ही सादृश्य का काम चलाटना चाहिए था। इसका उत्तर भट्ट हरि ने यह दिया है कि उपयुक्त सूत्र म सादृश्य सादृश का उपलक्षण है। इसीलिए हमका उदाहरण सदश किर्या सकिस्ति (शृगाल सदश) दिया जाता है। जो अत्रय सादृश्य का अभिधायक हा सादृश्य ग्रहण से उसका अव्ययीभाव समास माना जाता है। सत्त्वभूत अर्थ के बोधक होने पर भी वचनबल से अत्रय माना जाता है। सादृश्यवचन यथा गन्ध के साथ समास नहीं हाता। किन्तु थाल-तत्प्रतिरूपक बोधभावोपेक्ष निषान यथा गन्ध के साथ समास होता है। अथवा योग्यतालक्षण यथा का अर्थ सात्त्विकमान है। जो भूतिगत (द्रव्यगत) साम्य है वह सह गन्ध स यक्त किया जाता है। सकिस्ति गन्ध म सह शब्द स किन्ही निष्ठ अवयवसन्निवेश आदि के द्वारा सादृश्य व्यक्त होता है। इस दृष्टि से सात्त्विक किर्या सकिस्ति इस रूप म अर्थ करना चाहिए। इस तरह उपयुक्त सूत्र म सादृश्य गन्ध स द्रव्यगत सात्त्विक अभिप्रेत है यथागन्ध स योग्यता नामक गुणगत सात्त्विक द्योतित है

किमयमिदमुच्यते, यथाथ इत्येष सिद्धम्।

गुणभतेऽपि सादृश्ये यथा स्यात्। काशिका २।१।६

२ थाल और जातीयर प्रत्यय म कवल इतना ही भेद है कि थाल प्रत्यय प्रकार में होता है नकि जातीयर प्रकारवान् में होता है—

गान्ध्यान्तु वभावान् प्रकारवान् वन्ते थान पुन प्रकारमाने।

कुछ लोग बुद्धयवस्थानिर्गन्धन सादृश्य को प्रकार मानत है। दवत्त को अगत् कुण्डल पहन दम्बर पहन दवत्त इस रूप में था। इस रूप में बुद्धिप्रवृत्ति सादृश्य भवता है। बाह्य अथ अन्तर्गत ज्ञान के अनुकार मान है। इसलिए सबत्र सादृश्य ही प्रकार का अर्थ है। म। भाष्यकार ने प्रकार गुणवचाम्य ८।१।१२ गूढ म प्रकार के लिए अग्नि माणवक और 'गोवाहीक' उदाहरण दिए हैं। य उदाहरण प्रकार का सादृश्य मानने पर ही उपयुक्त हो सक्त है। गा के सादृश्य के कारण ही वाहीक का गो कहा जाता है।<sup>३</sup> और अग्नि की नीम्नता के सादृश्य में माणवक को अग्नि कहा जाता है। गात्व अथवा अग्नि के रूप मायाय का यह विशेष भेद नहीं है। गोवाहीक में गा शब्द का द्विवचन नहीं होता। गुक्ल आदि गुण गता में चरिताथ वाहीकाभिधायी गो शब्द का द्विवचन नहीं होता।

गोवाहीक इति द्वित्वे सादृश्य प्रत्युदाहृतम् ।

गुक्लादौ सति निष्पन्ने वाहीको न द्विरुच्यते ॥<sup>४</sup>

इस सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार हैं। कुछ लोग मानते हैं कि गुण उपसजन द्रव्यवाची का द्विवचन होता है जस गुक्लगुक्ल पठ। गुणमात्रवाची का भी द्विवचन होता है जस गुक्लगुक्ल रूप में। अथ आचार्यों के मत में गुणविशिष्ट द्रव्य वाचा का ही द्विवचन होता है। मूला मूले म्थूला' अग्रे अग्रे मूश्मा जैसे प्रयोगों को कायायन ने आनुपूर्वी के आधार पर समर्थन किया है यहा वीप्सा नहीं है। क्योंकि वीप्सा वहाँ होती है जहा एक जातीय पदार्थों का अनेक रूप गुण आदि से अवयव होता है। मूले मूले म्थूला अथवा मूश्मा एक ही वस्तु का लेकर कहा जाता है। अग्र मध्य और मूल ये तीन भाग हैं। एक ही मुख्य है अग्र भाग अथवा मूल भाग। दूसरे भाग का अग्र अथवा मूल व्यपदेश सापेक्ष है। अग्र सन्निवर्ग की अप्रश्ना से अग्र कहा जाता है। उपर के सन्निवर्ग की अप्रश्ना से मूल कहा जाता है। एक रूप भाग का स्थूलत्व अथवा सौम्य नहीं होता। केवल मूल की ओर स्थूलता बढ़ती जाती है और अग्रभाग की ओर सूक्ष्मता बढ़ती जाती है। इसलिए यहा वीप्सा का अभाव है। किन्तु मूले मूले पथि विटपिनाम वाक्य में वीप्सा है। हेलाराज ने प्रथम मत को प्रथम लिया है।

गुणोपसजनद्रव्यवाचिन गुक्लादेरेव द्विवचन गुणमात्रवाचिनश्चेति गुक्लगुक्ल पठ गुक्लगुक्ल रूप पठुपठु इतीष्ट सिद्धम् ।

## छ प्रत्यय पर विचार

इव अथ विषयक समास में दूसरे पद के अर्थ में पाणिनि ने छ प्रत्यय का विधान किया है—समासाश्च तत्प्रविषयात् ५।१।१०६ 'यावरण और माहि'य शास्त्र में समास

३ गोवाहीक में गुणगुणा में सदा अमेदोपचार मानने से भेद छोटक पठा विभक्ति नहीं होता है—गुणगुणिनोश्चात्र विषये नित्यममेदोपचाराद् भेदनिर्वाचनपृथग्भावः ।

—कथं भाष्यप्रदाय, १

शास्त्र का वश या वाचक है। उग्रा अश्व और यश गन्धर्व अथवा सम्यक् नहीं है। कुछ सादृश्य हो सकता है। इम पद का अर्थ के समान्य न हान पर भी समुदाय के अर्थ की उपलब्धि होती है। इसलिए सग्रहकार का गन्धर्व यो गन्धर्व का अभिप्राय यह हो सकता है कि जहां समुदाय का अर्थ तो गन्धर्व म होता हो किन्तु उग्रा अश्व अश्व के अर्थ पर निर्भर न करता हो। अथर्वणी समुदाय व हैं जिनका अर्थ अर्थ म होता हो गन्धर्व स नहीं। जैसे श्रोत्रिय गन्धर्व। छन्दो धर्म्ययन करनेवान का अर्थ म पाणिनि ने इसका निपातन किया है। यह शब्द दो चार उन गन्धर्व म म है जा वाच्य का अर्थ अपने म समेटे रहते हैं और इसलिए वाक्यार्थ पञ्चवचन कह जाते हैं। यहाँ समुदाय अर्थ का श्रोत्र गन्धर्व से कोई सम्बन्ध नहीं है। बंदूक अथवा बंदूक की उत्पत्ति बालवाय म होती थी। बिदूर नगर मे इमका केवल संस्कार होता था अथवा जितवरी की तरह यह उपचरित गन्धर्व है। इसी तरह पारंगव (मोती निकलने का स्थान) का परगु गन्धर्व से कोई सम्बन्ध नहीं है। गन्धर्व वणी समुदाय का सम्बन्ध अवयवगत शब्द और उनके अर्थ दोनों के साथ होता है जस राजगुप्प नीलोपल और ब्राह्मण कम्बल शब्द म।

सग्रहकार ने यह भी कहा है कि ऐसे भी समुदाय होते हैं जो निरवयव होत हैं। उनका अवयवगत शब्दो या उनके अर्थों से किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं बढ पाता। ऐसे शब्द म मुसल उलूखल, बलाहक हैं। मुसल गन्धर्व मभवत कुशल की तरह आरम्भ म लाति क्रिया से सम्बन्ध रखता था। सग्रहकार का अभिप्राय यह है कि मुसल का अर्थ का न तो मुस और न ल से सम्बन्ध है न उनके अर्थ से न किसी से। मुसल शब्द समुदाय तो है किन्तु निरवयव है। यही बात उलूखल और बलाहक के लिए भी है।

किन्तु एक वा ऐसा भी था जो इनम भी एक देशावय मानता था  
एकदेशावयस्तु तेष्वपि विद्यते नोपजायत इत्येके।

—वाक्यपनीय ॥२१० हरिवृत्ति हस्तलख।

स्वार्थिक दो प्रकार के हैं—असत्त्वभूताथ और सत्त्वभूताथ। इनम स प्रत्येक वाचक द्योतक विशेषक, सहाभिधायक साथक और निरर्थक भेद स छ प्रकार के होत हैं।

साथक स्वार्थिक के सम्बन्ध म भत हरि ने ध्यानग्रहकार के मत का उल्लेख किया है। उनके मत म स्वार्थिका की अर्थवत्ता के पक्ष म नेप समुच्चयादि क्रिया-कारक विनापणविशेष्य सम्बन्ध के अभाव म स्वार्थिकी म उपचय सम्बन्ध होता है

स्वार्थिकानामर्थवत्तापक्षे शयसमुच्चयादि क्रियाकारकविशेषणविशेष्य

१ वनमान ने इन शब्दों का युक्ति दी है—मुसल बल लाति मुसल। उ व र दिन यया श्रोत्रि उलूखलम। बरिगो वाचक वलाहक। गणरत्नमण्डपि पृ० १०१, १०० प० भासम मपान्ति। ये वैयकरण का बौद्धिक जीत ह।

सम्बन्धभावे स्वाधिकानामुपचयसम्बन्ध इति ध्यानकारदर्शनम् ।<sup>१</sup>

—वाक्यपदीय २।२१० हरिवृत्ति, हस्तलेख

- १ भक्त हरि का ध्यानकार दर्शन में अभिप्राय ध्यानग्रन्थकार ५ दर्शन में है । ध्यानग्रन्थकार का उल्लेख भक्त हरि ने मत्स्य भाष्यिका में भी किया है—रहोभय प्राप्नोति । उभये इति ध्यान ग्रन्थकारणावतम् । मत्स्य भाष्य त्रिंशदो (लीपिका) पृ० ३२० हस्तलेख मद्रास आरिक्कल मनु स्क्रिप्ट ला मेरो । ध्यानग्रन्थकार का उल्लेख भामह ने भी किया है—

मृगभास पदारत पागयणरमान्तम् ।

धानूगादिषु ग्राह ध्यानग्रन्थं पूजयम् ॥ ६।१)

मेरे विचार में भामह का ध्यानग्रह म अभिप्राय ध्यानग्रन्थकार न अथवा ध्यानग्रन्थ व्याख्यान से है । रोम से प्रकाशित उद्धम धृति में यह अंश मिलता है । अथ तोगा ने ध्यान से समाधिवाला ध्यान अथ लिया है ।



## स्फोटवाद

संस्कृत व्याकरणदर्शन में स्फोटवाद का स्वरूप अविवादात्मक नहीं है। स्फोट का स्वरूप बदलता गया है और वह भौतिक से अभौतिक बन गया है। उसका मूल अनात है। हरदत्त और नागश ने स्फोट का सम्बन्ध स्फोटासन से जोड़ा है।<sup>१</sup> किन्तु इस कल्पना के पीछे कोई प्रौढ आधार नहीं है। दूसरे दर्शनो में स्फोटवाद की चर्चा व्याकरणदर्शन के सिद्धांत के रूप में की गई है। स्फोटवाद के प्रवक्तृ के रूप में बहुधा भत हरि का नाम लिया जाता है। किन्तु स्वयं भत हरि ने स्फोट के प्रसंग में मतभेदों की चर्चा की है। स्फोट शब्द का उल्लेख इलाहवातिक में और महाभाष्य में भी है।<sup>२</sup> इसलिए स्फोट सिद्धांत के मूल प्रवक्तृ आचार्य का अभी तक पता नहीं चला है। भत हरि के समय तक स्फोट स्फोटवाद का स्वरूप नहीं ग्रहण कर सका था। मल्लवादि क्षमाश्रमण ने भत हरि के कई मतों का उल्लेख किया है किन्तु स्फोटवाद का उल्लेख नहीं किया है। भत हरि की दृष्टि में स्फोट का स्वरूप पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। महाभाष्य के बाद स्फोट की कुछ अधिक चर्चा वाक्यपदीय में होने के कारण स्फोटवाद का वाक्यपदीय में संप्रसारण कर दिया गया है। वस्तुतः भत हरि स्फोटवाद के आदि आचार्य नहीं जान पड़ते। उन्होंने स्फोट की व्याख्या ध्वनि के प्रसंग में की है और उसका आदि और अन्त ध्वनि से सम्बद्ध है। इसके अतिरिक्त उसके पीछे कोई रहस्य नहीं है। किन्तु कण्ट पुण्यराज हलाराज जैसे मूढार्थ विद्वान् स्फोटवाद का स्रोत वाक्यपदीय में ही मानते हैं। जिन आचार्यों ने स्फोटवाद के खण्डन किए हैं उनमें लक्ष्य भी भत-हरि ही जान पड़ते हैं।

अस्तु स्फोट का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में व्याकरणदर्शन से है और

१ 'स्फोटासनं पाराशर्यस्य स स्फोटासनं स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः'—पदमन्त्री ६।१।१०३ पृ० ४८६ 'वैयाकरण नागश स्फोटासनं ऋषेयमतम् मञ्जु ५० १५७३

२ किन्तु वैयाकरणों ने महाभाष्य को स्फोटप्रतिपादक अथ नहीं माना है— तदेतस्मिन् महासमुद्रगते सवाग् विमन्सते स्फोटासनं भाववर्णनप्रतिपादनं न काचित् क्षतिः सिद्धान्तस्य वैयाकरणानाम्—महाभाष्यव्याख्या हस्तलख मद्रास न० आर० ४४३६

अपेक्षाकृत अर्वाचीन व्याकरणदशन में स्फोटवाद का पर्याप्त विवेचन किया गया है। यदि पतञ्जलि से लेकर नागार्जुन तक के स्फोट-साहित्य को सामने रखकर स्फोट पर विचार किया जाय तो निम्नलिखित रूप सामने आते हैं

- १—स्फोट ध्वनि रूप में।
- २—स्फोट शब्द रूप में।
- ३—स्फोट नित्य शब्द रूप में।
- ४—स्फोट जाति रूप में।
- ५—स्फोट वाक्य रूप में।
- ६—स्फोट शब्दब्रह्म के रूप में।

य भेद एक दूसरे से सवथा विभक्ता नहीं हैं। केवल विकास क्रम की दृष्टि में इस रूप में उल्लेख किया गया है। इनमें स्फोट के ध्वनि स्वरूप का विवरण महाभाष्य में है। पतञ्जलि ने स्फोट और ध्वनि में केवल यह भेद दिखाया है कि स्फोट ज्या का तयो रहता है जबकि वद्धि विस्तार ध्वनि से होता है। ध्वनि का आभास स्पष्ट होता है। जबकि स्फोट लक्षित नहीं होता

स्फोटश्च तावान एव भवति ध्वनिकृता वद्धि ।'

ध्वनि स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते ।

अल्पो महाश्च केषाचिदुभय तत स्वभावतः ॥—महाभाष्य १।१।७०

महाभाष्य के इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्फोट और शब्द समा-नाथक नहीं हैं। स्फोट ध्वनि के सदृश ही शब्द का गुण है। स्फोट के ध्वनि रूप का स्पष्ट सक्त महाभाष्य के इस वाक्य में है

अथयथोक्तं स्फोटमात्रं निदिश्यते । रक्षते लक्ष्यते भवतीति ।

—महाभाष्य भाग १ पृ० २८ कीलहान संस्करण  
महाभाष्यकार ने र ध्वनि के स्थान पर ल ध्वनि का स्फोटमात्र कहा है। टीकाकारों में यहाँ विवाद है। भक्त हरि के अनुसार स्फोट से अभिप्राय उसके ध्वनिहीन स्वरूप से है। अथवा आद्य ध्वनि केवल रूपमात्र का प्रत्यायक ध्वनि यहाँ स्फोट शब्द में विवक्षित है। जो स्वतंत्र है समुदायस्थ है और विशेष का प्रतिपादक है वह ध्वनि यहाँ विवक्षित नहीं है। अथवा र श्रुति और ल श्रुति में ईषत साम्य (आरूपमात्र) है वही विवक्षित है। अथवा कायपथ में संयोग से अथवा विभाग में अथवा संयोगविभाग दोनों से जो निष्पन्न होता है वह स्फोट है। करण-व्यापार स्फोट का निष्पादक है। अथवा स्फोटमात्र शब्द से आकृति अभिप्रेत है। ध्वनि के बिना आकृतिनिर्माण सम्भव नहीं है, अतः द्रव्य का उपादान नागरीयक रूप में होता है

अध्वनिक स्फोट इत्युक्तं भवति । ननु च ध्वनिमन्तरेण स्फोटस्योपलब्धिरेव नास्ति । एव तर्हि य एवासी आद्यो ध्वनि रूपमात्रस्य प्रतिपादकस्त्वावानेवा श्रियते । यस्त्वसी विधेयस्य प्रतिपादक य समुदायस्यो य स्वतंत्र इति नासावाश्रियते । विद्यमानेऽपि तत्राविधेयैराहूपमात्र यथा गोविधेयैः श्वोपलब्धि राहूपमात्रेण योपलब्धि तस्माद आहूपमात्रग्रहणमुभयो । अथवा कायवत

बुद्धिहृत्वा इदमुच्यते । तत्र वाक्यपक्षे स्फोट एव सयोगात् विभागात् सयोग-  
विभागाभ्यां वा निष्पद्यते । यत्वनुरणनं तत् शब्दत एव । तत्र य एवासी  
स्फोटस्य निष्पादक करणस्य ध्यापारस्तावत् एवाश्रयणम् । अथवा स्फोट-  
मात्रमिति प्राकृतिनिर्देशो यमित्युक्तं भवति ।

—महाभाष्यटीपिका, पृष्ठ, ७६

अपने इसी विचारों को भक्त हरि ने वाक्यपदीय में भी कुछ विस्तार से किया  
है ।<sup>३</sup> अनित्यपक्ष में प्रथम अथवा आदि में निम्न तत् शब्द का नाम स्फोट है जो स्थान  
करण आदि के सहारे स्वरूप ग्रहण करता है । नित्यपक्ष में मयामज और विभागज  
ध्वनियां से उद्भूत स्फोट है

‘अनित्यपक्षे स्थानकरणप्राप्तिविभागहेतुर्वाक्यमात्रमित्युक्तं यत् शब्दतः  
स्फोट इत्युच्यते । नित्यपक्षे तु सयोगजविभागजध्वनिर्वाक्य स्फोटः ।

—वाक्यपदीय १।१०२ हरिवृत्ति प० ६०

ऐसा जान पड़ता है सग्रहकार ने प्राकृतध्वनि और स्फोट को समान माना  
था । भक्त हरि ने प्राकृतध्वनि का स्फोट का परिच्छेदक माना है । उनके अनुसार  
प्राकृतध्वनि स्फोट का व्यञ्जक भी है । भक्त हरि के अनुसार करण-संघात से जो ध्वनि  
उत्पन्न होती है और उससे जो ध्वनि उत्पन्न होती है वे दोनों प्राकृत ध्वनि हैं । इन  
दोनों से विशेष (शब्दस्वरूप) की उपलब्धि होती है । जो ध्वनि ध्वनि से उत्पन्न  
होती है वह वकृत ध्वनि है । उससे विशेष की उपलब्धि नहीं होती

‘यः करणसंनिपातादुत्पद्यते यच्च तस्मात् तौ प्राकृतौ । ताभ्यां विशेषोप-  
लब्धिः । यस्तु ध्वनितो ध्वनिरुत्पद्यते स वकृतः । ततो विशेषाभावात् ।

—महाभाष्यटीपिका प० ४६

संभवतः सग्रहकार ने शब्द के नित्य रूप को सामान्य न रखकर शब्द के सामान्य विचार  
से प्राकृत ध्वनि और वकृत ध्वनि का विवेचन किया था और प्राकृत ध्वनि को  
शब्द का ग्राहक माना था । प्राकृत ध्वनि के बिना स्फोट की अभिव्यक्ति न होने से  
प्राकृत ध्वनि का कान ही स्फोट का काल मान लिया गया था । भक्त हरि ने इसे  
उपचार रूप में स्वीकार किया था

स च प्राकृतध्वनिकालो व्यतिरेकाग्रहणादध्यारोप्यमाण स्फोटे स्फोटकाल-  
इत्युपचयते शास्त्रम् ।

—वाक्यपदीय, १।७७ हरिवृत्ति

किन्तु भक्त हरि ने भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि स्फोट की उपलब्धिसदा  
ध्वनि से समुष्ट रूप में ही होती है

३ भक्त हरि ने पहले महाभाष्यटीपिकान् (टीपिका) की रचना की थी । बाद में वाक्यपदीय लिखा  
था । इसका संकेत उनमें इस वाक्य में है—कमलं तु वणतुरीयग्रहणे सति समुदयाभावात्  
अविश्वकमलं व्यादा बुद्धे प्राप्नोतीति सहितान्मूत्रभाष्यविवरणं बुद्ध्या विचारितम्—

—वाक्यपदीय १।८३ हरिवृत्ति

संभवतः भाष्यटीपिका का मूल नाम भाष्यविवरण था ।

ध्वनिना तु समृष्ट स्फोटस्य स्वरूपमुपलभ्यते ।

— वाक्यपदीय १।७६ हरिवर्ति ।

यह वाक्य हम तथ्य का निदर्शक है कि भत हरि का शब्ददान और स्फोटदान सबका समान नहीं है। स्फोट ध्वनिनिरपेक्ष नहीं है। शब्द भत हरि के मत में ध्वनिनिरपेक्ष भी है उसका अतः सनिवेशी आंतरिक बौद्धिक रूप भी है। अवश्य ही इस विषय में विवाद के लिए स्थान है। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भत हरि ने गान् ग्रहण की प्रक्रिया में प्रसंग में ही स्फोट पर विचार किया है। शब्दग्रहण की प्रक्रिया से शब्द का स्वरूप स्पष्ट है। अतः स्फोट और शब्द का परस्पर पर्याय के रूप में प्रयोग जहाँ तथा वाक्यपदीय में मिल जाते हैं।<sup>४</sup> इसी तरह शब्द और ध्वनि शब्द का पर्याय के रूप में प्रयोग महाभाष्य और वाक्यपदीय में मिलते हैं।<sup>५</sup> किन्तु इसमें ऐसा निष्कर्ष निकालना युक्तिसंगत नहीं है कि इनका स्वरूप भी एक है। अखण्डस्फोट, सखण्डस्फोट, निरवयवस्फोट, बाह्यस्फोट आंतरस्फोट आदि शब्दों के स्पष्ट उल्लेख वाक्यपदीय में नहीं है। दूसरे लक्ष्य का न शब्द और स्फोट को एक समझकर शब्दनित्यत्व के स्थान पर स्फोटनित्यत्व जैसे शब्दों के प्रयोग आख मूल्य कर किए हैं। अवश्य ही भत हरि ने स्फोट को ध्वनि से व्युद्भूत माना है, उस एक माना है और स्फोट की आत्मा को नित्य माना है। किन्तु बहुत ही सावधानी के साथ उन्होंने शब्दत्व को स्फोटतत्त्व से अलग रखा है। भत हरि ने शब्दतत्त्व शब्द के स्थान पर स्फोटतत्त्व शब्द का व्यवहार नहीं किया है। उन्होंने स्पष्ट रूप से शब्द और स्फोट के भेद पर विचार नहीं किया है। ध्वनि से जो व्युद्भूत है वही स्फोट है वही शब्द है। किन्तु स्फोट शब्द का एक पहलू एक पक्ष मात्र है। शब्द का एक स्फोटात्मक रूप है और उसका एक रूप स्फोटरूप से अधिक गहराई में है। भत हरि का शब्ददान स्फोट से परे प्रतिभा के तल तक जाता है। मक्षेप में एक स्थान पर शब्ददान का चित्र उन्होंने दे दिया है

इह द्वौ शब्दात्मानौ नित्य कायश्च । तत्र कार्यो व्यावहारिक पुरुषस्य  
धागात्मन प्रतिबिम्बोपग्राही । नित्यस्तु सवयवहारयोनि सहतश्चम,  
सर्वेषामतः सनिवेशी, प्रमवो विकाराणाम, आश्रय कमणाम अधिष्ठान  
मुखदुखयोः सवभ्राप्रतिहतवायवकित घटादिनिर्द्व द्व प्रकाश परिगृहीत  
भोगक्षत्रावधि सवमूर्त्तीनामपरिणामा प्रकृति सवप्रबोधरूपतया सवप्रमेद  
रूपतया च नित्यप्रवन्प्रत्ययमासस्वप्नप्रबोधानुकारी प्रवर्त्तितिवर्त्तिपदाम्बा  
पञ्चयवद दाघाग्निबच्च प्रसवोच्छेद शक्तिपुवत सर्वेश्वर सवशक्ति महान्  
शब्दवपम ।

— वाक्यपदीय १।१३ हरिवर्ति ।

४ जैसे, प्राकृतस्य ध्वने काल शब्दभेदोपपद्यते वाक्यपदीय, १।७५

५ 'नोने ध्वनि शब्द इत्युच्यते'—महाभाष्य, कीर्तिमान मङ्करण भाग १, पृ० १ 'न भेदो ध्वनि शब्दयोः ।' — वाक्यपदीय, १।६६

६ भत हरि का यह प्रसङ्ग पाचवीं शताब्दी के मङ्गल गद्य का उत्कृष्ट उदाहरण है और वाक्यपदीय की शैली के पूर्वरूप इसमें देखे जा सकते हैं।

इस प्रघट्टक में शब्द को नित्य, सभी व्यवहार का मूल, सहतन्त्रम अन्त सनिवर्गी, विकार सष्टिक्रम का उत्पत्तिस्थान वम के आश्रय, सुख दुःख का अधिष्ठान आदि कहा गया है और उसे सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान के रूप में व्यक्त किया गया है। भक्त हरि ने स्फोट के लिए इस तरह की शब्दावली का प्रयोग नहीं किया है। अस्तु, वाक्यपदीय में व्यवहृत स्फोट स्फोटवाद के ध्वनिसम्बद्धरूप को प्रमुख रूप में व्यक्त करता है। स्फोट के भेद जैसे वणस्फोट, पदस्फोट और वाक्यस्फोट इनका भी परिच्छेद भक्त हरि ने ध्वनि के आधार पर ही किया है

वणपदवाक्यविषया हि विशिष्टा प्रयत्ना तत प्रेरिताश्च वायव स्थानाय मिहति ।

—वाक्यपदीय, १।८६ हरिवर्ति

अर्थात् वण, पद और वाक्य ध्वनियों के प्रयत्न सापेक्ष इकाई मात्र है। इनका विभाग ध्वनि के परिच्छिन्न स्वरूप पर निर्भर करता है। भक्त हरि के शब्दों में वण स्फोट पदस्फोट और वाक्यस्फोट ध्वनि के अपचित और उपचित अवस्था से संबद्ध हैं

सद्य एव प्रचिताप्रचितरूपा वणपदवाक्यस्फोटा ।

—वाक्यपदीय १।१०२, हरिवर्ति

भक्त हरि ने भागवत् और निर्भागवत् का व्यवहार किया है। ये दोनों शब्द क्रमशः सखण्ड स्फोट और अखण्डस्फोट (निरवयवस्फोट) के आदि रूप हैं। भागवत् का सिद्धांत भेदवादियों का है। निर्भागवत् का सिद्धांत जातिस्फोट मानने वालों का है। भेदवादी प्राचीन मीमांसक थे जो शब्द को नित्य मानते थे किंतु शब्द में भाग स्वीकार करते थे। उनके मत में गो शब्द में गकार उकार और विसर्जनीय हैं। इनसे अतिरिक्त वणग्राहक कोई अय धर्म गो शब्द में नहीं है और न इसके पीछे निर्भाग जसा कोई दर्शन है। उपवप इसी मत को माननेवाले थे। वे वण को ही शब्द मानते थे।<sup>१०</sup> इस मत में कुछ विप्रतिपत्तियाँ का निर्देश भक्त हरि ने स्वयं किया है और उनका समाधान भी दिया है। भागवत् में पद के स्वरूप का अवधारण ठीक से नहीं हो सकेगा क्योंकि क्रम से अभिव्यक्ति दत्ता में वणतुरीयाग की अभिव्यक्ति अयपद य हान के कारण ठीक से नहीं हो सकती। वपम के अनुसार वणतुरीय ध्वनि अयपदय इमलिए मानी जाती है कि ध्वनि अपक्षय की काष्ठा तक पहुँचाई गई रहती है। वणतुरीयाग की अव्यपदेश्यता उमरी मीमांसा की परिचान न होने के कारण भी मानी जा सकती है। कौनसी अतिम ध्वनि है इसका निर्णायक भाग वत्त में प्रमत्त में कोई वस्तु नहीं है। इसी आधार पर अय सीमा के ठीक परिचान न होने के कारण अन्वयध्वनि परिच्छेद का विषय भी नहीं हो सकता अर्थात् कहाँ न कहाँ तक द्वाद मानी जाय इसका निर्णायक किसी तत्त्व के न होने के कारण शब्द के स्वरूप का परिच्छेद संभव नहीं हो सकता। यदि एक गाय, युगपत् सभी वणों (अवयवों)

की अभिव्यक्ति मानी जायगी गवे, वेग तेन, न ते, आदि शब्दों में श्रुतिभेद नहीं मानना पड़ेगा। इसका समाधान भक्त हरि ने भेदवाद की दृष्टि से अर्थांतर के आधार पर शब्दांतर की कल्पना के सहारे किया है। शंकराचार्य ने पिपीलिका पक्ष के स्पष्टान्त के आधार पर समाधान किया है। पिपीलिका क्रम से चलती है फिर भी देखने वाल के मन में एक पक्ष का भाव करा देती है। वही तरह क्रम के आधार पर प्रवर्तित वण भी पद शुद्धि जगा देते हैं। वणों के अविरोध होने पर भी क्रमविरोध के आधार पर पदविशेष का अवधारण हो जाता है।<sup>८</sup> अभिव्यक्त ध्वनिक्रम के आधार पर भेद की प्रतीति के लिए भक्त हरि ने मण्डूक्यशास्त्र आदि में प्रज्वलित लीप से गज्जु आदि में सप्त आदि की प्रतिपत्ति का दृष्टांत दिया है। जो शब्दात्मा को निर्भाग मानते हैं उनके लिए भागभेद प्रकल्पित उपाय मात्र है वास्तविक नहीं है।

—वाक्यपदीय १।६३ हरिवृत्ति

शब्द के निर्भाग पक्ष के समर्थक जातिस्फोट का आश्रय लेते हैं। वे शब्द की नित्यता आकृतिनित्यता के माध्यम से मानते हैं। जातिस्फोट से अभिप्राय शब्दाकृति से है। उनके अनुसार स्फोट शब्द से शब्द की आकृति का ही बोध होता है। शब्दाकृति शब्दत्व से भिन्न है। दोनों में भेद यह है कि शब्दाकृति सब शब्दसाधारण है जबकि शब्दाकृति का सम्बन्ध शब्दविशेष के रूप से है। शब्दाकृति क्रम से उत्पन्न एक साथ न होनेवाले वणों के आश्रय से अभिव्यक्त होती है। उसके उपलब्धिनिमित्त सस्कार कल्पित हात है। इस मत में शब्दशक्ति उत्पन्न होती है किन्तु स्वयं शब्दपदेश्य है। फिर भी व्यपदेश्य स्फोट का धोतन करती है और उस दशा में शब्द व्यक्ति का नाम ध्वनि हो जाता है (वाक्यपदीय १।४ हरिवृत्ति)।

कुछ आचार्यों ने माना है कि शब्द अविकार है। शब्दशक्ति भी नित्य है। शब्द की अभिव्यक्ति में ध्वनि निमित्त मात्र है। किन्तु ध्वनिगत विकार से शब्द भी अनुरजित रहता है। जैसे प्रकाशगत धम में वस्तु अनुरजित रहती है। वयभक्त अनुसार इस मत में आकाशगत एक स्फोटवण है। करण के अभिघात से ध्वनि भेद होता है, वह ध्वनिभेद निमित्त है किन्तु उससे बाह्यस्फोट में भेद नहीं होना।<sup>९</sup>

ध्वनि से शब्द (स्फोट) की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु एक अभाववादी संप्रदाय था जो शब्द की अभिव्यक्ति का स्वीकार नहीं करता था।<sup>१०</sup> अभाववादी के प्रथम विकल्प के अनुसार शब्द की अभिव्यक्ति नहीं होती। अभिव्यक्ति के लिए समान

८ अत्राह—यदि वणा एव सामग्र्यनैके बुद्धिविषयः समापद्यमाना एव रसुरतना आरा राना अपि पिक इत्यादयः पदविशेषप्रत्यक्षिन रयान । त एव वणा इतरत्र चतरत्र च प्रत्यक्षमाप्त त र्नि । अत्र वयभक्त —सत्यपि समस्तवणप्रयवमर्शे यथा क्रमानुरोधेन एव पिपीलिका पक्षिगुद्धिमारोहति एव क्रमानुरोधेन एव वणा पदगुद्धिमारोहन्ति ।—शंकर भाष्य १।३। ८ ।

९ वयभक्त, वाक्यपदीय १।६५

१० आनन्दवर्धन ने ध्वनि के अभाववादियों के भी तीन विषय दिए हैं। आनन्दवर्धन के विचार के आधार भक्त हरि द्वारा उद्धृष्ट अभिव्यक्ति के विषय में ज्ञान तरह के अभाव ज्ञान पड़ते हैं।



आदश म मुख का प्रतिबिम्ब उन्नत दिखाई देता है और उन्नत दण म निम्न दिखाई देता है। यहाँ सस्या भेद है। खड्ग म प्रतिबिम्ब दीर्घ होना है। यह प्रमाणभेद है। प्रियगु तल म प्रतिबिम्ब श्याम दिखाई देता है। यह वणभेद है। बिम्ब एक और अभिन है फिर भी अभिव्यजक व राग स अनुरजित होकर विभिन्न जान पड़ता है। स्फोट भी अभिव्यजक भेद से भिन्न जान पड़ता है। भत हरि प्रतिबिम्ब दशन के उस पक्ष को भाय नहीं ममभन जिसके अनुसार बिम्ब स प्रतिबिम्ब भावान्तर स्वतंत्र सत्ता रखता है। क्योंकि विरुद्ध परिणाम वान वज्र (हीरा) आन्ततल आदि म पवत के स्वरूप भावा की उत्पत्ति संभव नहीं है। इसलिए गान की अभिव्यक्ति होती है। और वणस्फोट पणस्फोट तथा वाक्यस्फोट म भेद वृत्तिभेद के आधार पर होता है। सर्वथा स्फोट की अभिव्यक्ति होती है।—वाक्यपदीय, १।६७ १०१

अभाववादिया व सदग ही एक ऐसा भी वण था जो गान की अभिव्यक्ति तो मानता था किन्तु अभिव्यक्ति को अनित्य का समाधर्मा मानता था फलतः शब्द को अनित्य मानता था। उनके मत म अनित्य घट आदि का प्रतीप आदि म अभिव्यक्ति देखी जाती है। गान भी घट की भांति अभिव्यग्य है। अतः वह भी घट सन्तः अनित्य है। यदि गान की अभिव्यक्ति नहीं स्वीकार की जाती तो शब्द की उत्पत्ति माननी होगी। और उत्पत्तिपक्ष म भी गान (स्फोट) अनित्य ही होगा। इसका समाधान यह है कि यह नियम नहीं है कि जो अभिव्यग्य होत है वे अनित्य ही होत है। व्यक्ति स जाति अभिव्यग्य है। फिर भी जाति नित्य है। जो जाति की सत्ता नहीं मानत उनके लिए यो तक लिया जाता है—जिस तरह से अनि यवादी नित्यत्व को अगोकार न कर अनेकान्तिक दोष का परिहार करना है उमी प्रकार अभिव्यक्तिवादी भी जाति को नित्य मानकर व्यतिरेकासिद्धि का आश्रय लेता है।—वपभ वाक्यपदीय १।६६

जो लोग गान (स्फोट) की अभिव्यजना स्वीकार करते थे उनम भी अभिव्यक्ति की प्रक्रिया के विषय म दो त्रिकणन थे अर्थात् दो प्रकार स तीन तीन वाद थे। इन्हें भत हरि ने 'षादा त्रयोऽभिव्यक्तिवादिनाम' <sup>११</sup> और अथापरे भिव्यक्ति वादिना त्रयो दशनभेदा <sup>१२</sup> के रूप म व्यवहृत किया है। प्रथम तीन वाद व अनुसार क्रमशः ध्वनि से इन्द्रियसंस्कार ध्वनि से गन्ध संस्कार ध्वनि से शब्द इन्द्रिय उभय संस्कार होते हैं। द्वितीय तीन वाद के अनुसार क्रमशः स्फोट से अविवक्त रूप म ध्वनि का ग्रहण अगृह्यमाण रूप म ही ध्वनि अभिव्यजक, ध्वनि का स्वतंत्र रूप म ग्रहण—य अभिव्यक्ति के प्रकार हैं। <sup>१३</sup>

अभिव्यक्ति के सम्बन्ध मे एक तीसरा भी त्रिक वाद है जो अभिव्यजक के आधार पर है। एक के मत म स्फोट का यजक ध्वनि है। दूसरे मत मे स्फोट का व्यजक ध्वनिजय गान है। तीसरे मत म ध्वनि से स्फोट आविर्भावकाल से ही सहज

११ वाक्यपदीय, १।७६

१२ वही १।८२ हरिवृत्ति।

१३ इनके विवरण इस ग्रन्थ व द्वितीय अध्याय में दिये गये हैं।



वाक्य से वैसे ही सम्बद्ध रहता है जस गद्य स पुष्प  
 निरत्यपक्षे तु समीप विभागजध्वनिव्यङ्ग्य स्फोट ।  
 एकेषां समीप विभागजध्वनिसंभूतनादां निव्यङ्ग्य ।  
 इह केचिदाचार्या ध्वनत् स्फोट सहजनेन ध्वनिना सवतो दूरव्यापिना प्रजा  
 शस्थानीयेन गधेन मुक्त द्रव्यविगपमिवाविर्भावकाल एव सवय मयन्ते  
 ध्वनिना ।

—वाक्यपदीय हरिवर्त्ति, १।१०३, १०५

उपयुक्त विवरण स यह स्पष्ट हो जाता है कि मनु हरि के मत म ध्वनि स्फोट  
 अत्यन्त समीप की वस्तु हैं । स्फोट एक तरह स वाचक गद्य क लिए व्यवहृत  
 हुआ है और उसके पीछे कोई उपनिषद (रहस्य) नहीं है ।

कयट ने भत हरि के मत का, अपने ढंग से यो साराग दिया है— 'व्याकरण  
 वण से व्यतिरिक्त पद अथवा वाक्य म वाचकत्व मानते हैं । प्रत्येक वण क वाचक  
 मानने पर द्वितीय आदि वर्णों के उच्चारण अनयक होंगे । प्रत्येक वण के अनयक  
 मानत हुए भी वण के समुदाय म वाचकता मानने पर भी काम नहीं चलगा । समुदाय  
 के उत्पत्तिपक्ष म दोष है क्योंकि समुदाय की युगपत् उत्पत्ति नहीं होती । समुदाय के  
 अभिव्यक्तिपक्ष म वर्णों की क्रम से अभिव्यक्ति होगी फलत पूरे पद का आवलन नहीं  
 हो सकेगा । वर्णों म एक स्मृति उपारूढ रूप म वाचकता मानने पर सर' रस जसे  
 स्थिता मे अथविशेष की प्रतिपत्ति म बाधा पडने लगेगी, दोनों पदा से समान अर्थ  
 भलकने लगेंगे । इसलिए वाक्यपदीय म वण से व्यतिरिक्त नाद से अभिव्यग्य स्फोट  
 का वाचक रूप म प्रतिपादत किया गया है (महाभाष्यप्रदीप पस्पगाह्निक पृ० १२  
 गुरुप्रसादशास्त्री संपादित) ।

नागेश के अनुमार पद अथवा वाक्य का एकाकारक ज्ञान स्फोट की सत्ता और  
 उसके ऐक्य म प्रमाण है । अनुभव क्रम से ही वर्णों की स्मृतिरूढता मे, नागेण के अनु  
 सार दृढ प्रमाण नहीं है । क्रम से अनुभूत के युक्तरूप म भी स्मृति देखी जाती  
 है

इदमेक पदम एक वाक्यमिति प्रत्यय, स्फोटसत्त्वे तदव्ये च प्रमाणम ।

—महाभाष्यप्रदीपोद्योत पस्पगाह्निक पृ० १३

नोज न भी वाचक ध्वनिसमूह को ही स्फोट नाम दिया है और प्रकृत्यादि  
 स्फोट पदस्फोट और वाक्यस्फोट के रूप म उसके प्रभेद किए है

प्रकृतिप्रत्ययादिवर्णजनितध्वनिसमूहोऽभिपद्यस्फोटलक्षण अर्थात्मा अर्था  
 वसायप्रसवनिमित्त शब्द । तदविशेषाच्च प्रकृत्यादिस्फोट, पदस्फोटो वाक्य  
 स्फोट इति ।

—शृंगारप्रकाश पृ० १२५

## स्फोट शब्द रूप में

शब्द रूप में स्फोट का प्रथम उल्लेख किसी श्लाघार्थातिव्यक्तिवाक्य में किया है—

‘स्फोटो गान्धर्वनिस्तस्य व्यायाम उपजायत ।’<sup>१४</sup>

गान्धर्व का आवाजग्रहण बुद्धि में होता है। महाभाष्यकार ने एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है जिसमें शब्द का पौष्पाप्य बुद्धिगत माना गया है। प्रेक्षायारी मनुष्य पहले अपनी बुद्धि में ही शब्द की दृष्टि से शब्द का शब्द की दृष्टि से वण का आकलन कर लेता है। ये सभी व्यापार बोद्ध होने हैं

बुद्धौ कृत्वा सर्वादिचेष्टा कर्ता घोरस्तत्त्वनीति ।

गान्धेनार्यान् वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात् पौष्पाप्यम ॥<sup>१५</sup>

भक्त हरि ने भी गान्धर्व के स्वरूप का अवधारण बुद्धि में माना है। अत्यध्वनि परिपाक-प्राप्त बुद्धि में शब्द के स्वरूप का सनिवेश करती है। किसी के मत में शब्दाकृति का सनिवेश होता है। इसमें भी दो तरह के मत हैं। एक गान्धर्व में कई वण होते हैं। वक्ता उनका उच्चारण क्रम से करता है। अत्यवण के उच्चारण के बाद एक विशेष सस्कार या ज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञान का अत्यवर्णावलम्बन ज्ञान कहा जाता है। इसे अन्त्यबुद्धि भी माना जाता है। पूर्व के वर्णों में भी कुछ न कुछ सस्कार होना परन्तु वह सस्कार धुँधला होना है अथवा अस्पष्ट होता है। अत्यवणज-यज्ञान पूर्ववणज-यज्ञान की महायता से जाति का ग्राहक होता है। दूसरा मत अत्यवणज्ञान का महत्त्व नहीं देना। उसके अनुसार सभी वर्णों से बुद्धि में सस्कार होता है। अत्यवण के ज्ञान के बाद जातिग्राहक ज्ञान उत्पन्न होता है

अत्रानेक दशनम् । केचिन मयते अत्यवर्णावलम्बन यत ज्ञान तत पूनवण-  
ज्ञानाहितसस्कारसहाय जाते ग्राहकम् । अपरे मयते अत्यवणज्ञानसहित  
सर्वरेवपूर्ववणज्ञान सस्कारारम्भ । अत्यवणज्ञानान्तर तु जातिग्राहक ज्ञान  
मुत्पद्यते ।

—वपभ वाक्यपदीय १।२३, पृ० ३३

महाभाष्यकार ने भी गान्धर्व का बुद्धिग्राह्य माना है

श्रोत्रोपलब्धि बुद्धिनिर्ग्राह्य प्रयोगेणामिज्वलित आकाशदेन शब्द ।

—महाभाष्य पस्पशाह्निक

कण्ठ ने बुद्धिनिर्ग्राह्य गान्धर्व का अभिप्राय भक्त हरि के आधार पर ध्वनिज-यज्ञान से परिपाकप्राप्त अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्य माना है

पूर्वपूर्वध्वन्युत्पादितामिव्यक्तिजनितसस्कारपरम्पराप्राप्तपरिपाकात्यबुद्धि  
निर्ग्राह्य इत्यथ ।

—कण्ठ महाभाष्यप्रदीप प० ६५ गुम्फसाद गान्धर्वी सहादित

अभिनवगुप्त ने भी, व्याकरणम् की दृष्टि में, वाक्यस्फोट को बुद्धिनिर्वाह्य माना है

वाक्यकरणरपि वाक्यस्फोटस्य प्रायशः बुद्धिनिर्वाह्यतय दग्निता ।<sup>११</sup>

हलाराज ने भी अभ्यास के आधार पर स्फुट स्फुटतर रूप में चरम बुद्धि में स्फोट तत्त्व की भलव मानी है और गन्तत्त्व को ही जातिस्फोट के रूप में दा में विभक्त स्वीकार किया है

चरमचेतसि चकास्ति रत्नतत्त्वयत स्फाटतत्त्वम् गन्तत्त्व जातिव्यक्तिभेदन भिन्न स्फोटस्वभावमवाङ्गीकृतव्ययम् ।

—हलाराज वाक्यपदीय ३ जानिसमुद्देश ६

वणस्फोट पञ्चस्फोट और वाक्यस्फोट तीनों का बुद्धि में अध्यारोप प्रयत्नविशेष से उदबुद्ध ध्वनियों द्वारा होता है

वणपदवाक्यविषया प्रयत्नविशेषसाध्या ध्वनयो वणपदवाक्याख्यान स्फोटान पुन पुनराविर्भावयन्तो बुद्धिध्याध्यारोपयन्ति ।

—वाक्यपदीय हरिवर्ति १।८३

गन् की बुद्धिनिर्वाह्यता और उसकी वाचकता के आधार पर गन् को स्फाट माना जाता है। इस दृष्टि से स्फोट गन् की उत्पत्ति स्फुटत्यर्थो यस्मात्—इस रूप में की जाती है।

## स्फोट शब्दनित्यत्व के रूप में

भक्त हरि ने गन् के निरवयव दशन पर प्रकाश डाला था। और उसमें एक निर्विभाग नित्यस्वरूप की भी चर्चा की थी। ऐसे प्रसंगा में भक्त हरि ने स्फोट गन् का व्यवहार नहीं किया है। किन्तु पुण्यराज जैसे टीकाकारों ने ऐसे स्थला में गन् और स्फोट को एक माना है। पुण्यराज ने स्फाट के दो भेद किए हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। पुन बाह्य स्फोट के दा भेद किए हैं—जातिस्फाट और व्यक्तिस्फोट।<sup>१२</sup> शब्द का एक अनवयव स्वरूप पुण्यराज के अनुसार व्यक्तिस्फोट का प्रतीक है।<sup>१३</sup> सघातवर्तिनी जाति जातिस्फोट का प्रतीक है। भक्त हरि ने जिस बुद्धयनुसहारलक्षण आन्तर गन् कहा है उस ही पुण्यराज ने आभ्यन्तरस्फोट माना है।<sup>१४</sup> और एक अखण्ड व्यक्तिस्फाट अथवा जातिस्फोट को सिद्धांत रूप में, वाचक के रूप में स्वीकार किया है

एक एव नित्य पदभिः स्फोटोऽखण्डो व्यक्तिसफोटो जातिस्फोटो च वाचकोऽङ्गीकाय इति सिद्धांतः ।

—पुण्यराज वाक्यपदीय २।२६

१६ शब्द प्रत्यभिज्ञाविवर्तिविमर्शिनी भाग २ पृ० ६८८

१ स्फुटतर द्विविध वाक्य आभ्यन्तर इति । वाक्योऽपि जातिव्यक्तिभेदन द्विविधः ।—पुण्यराज ७ वाक्यपदीय २।१

१८ अन्तः प्रकाशवयव शब्द गन् बुद्धिध्याध्यारोपयन्ति स्वरूपमुक्तमिति बोद्धव्यम् ।—पुण्यराज वाक्यपदीय २।१८

शब्दनित्यत्व के पक्ष में शब्दस्य न विभागोऽस्ति २० नित्येषु तु कुत प्रथम २१ जसे भत हरि के कई वक्तव्यों को स्फोटवादियों ने स्फोट के पक्ष में ले लिया है। स्फोटवाद के कतिपय समीक्षका न भी स्फोट का स्पष्ट शब्दनित्यत्व के खण्डन के आधार पर किया है।

## स्फोट जाति रूप में

किसी आचार्य ने शब्दनित्यत्व का आधार आकृतिनित्यत्व माना था। उनके मत में स्फोट शब्द का वाच्य शब्दाकृति है। शब्दाकृति शब्दत्व से भिन्न है, शब्दाकृति शब्दयक्ति (ध्वनि) से अभिव्यक्त मानी जाती है। शब्दयक्ति उत्पन्न होनेवाली और स्वतः व्यपदेश्य होती है किन्तु व्यपदेश्य रूप स्फोट के द्योतक होने के कारण ध्वनि सत्ता पाती है। वह स्फोट शब्दाकृति है। इसी शब्दाकृति को भत हरि ने दशनभेद के आधार पर अनेकयक्ति से अभिव्यक्त जाति माना था और उसे स्फोट के रूप में निरूपित किया था। २२ किन्तु बाद में स्फोट का जाति से, विशेषकर सत्ताजातिवाद से सबंध कर दिया गया। सायण ने जातिस्फोट का उल्लेख 'परमायसवितलक्षणसत्ताजाति' के रूप में किया है। २३ इस मत में सभी शब्दों का अर्थ सत्ता लक्षण जाति है। उपरजक द्वय से स्फटिक की तरह सवधिभेद से सत्ता में भेद प्रतिभासित होता है। इसीलिए सभी शब्द पर्याय नहीं होते। गो अक्ष आदि में सत्ता ही महासामान्य है। गोत्वादिक अपरसामान्य महासामान्य से भिन्न नहीं हैं। सभी शब्द वाचक रूप में उसी सत्ता में अवस्थित हैं। प्रातिपदिकाथ भी सत्ता ही है। भाव भी सत्ता है। त्व तल आदि भावप्रत्यय सत्ता सत्ता व्यक्त की जाती है। निया भी जाति है। वह सत्ता निया है। उसमें ह्रास अथवा विकास नहीं होता। वह देग काल अथवा वस्तु के परिच्छेद से रहित है और इसी लिए उसे महानात्मा कहा जाता है।

सम्बन्धभेदात्सत्तव भिद्यमानागवादिषु ।

जातिरित्युच्यते तस्यासर्वे शब्दा व्यवस्थिता ॥

ता प्रातिपदिकाथ च घात्वय च प्रचक्षते ।

सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वत्तादय ॥

—वाक्यपणीय ३ जातिसमुद्देश ३३, ३४

बाद के व्याकरण ने जातिस्फोट का ब्रह्म पद तक पहुँचा दिया है तथा च शब्दार्थ इव शब्दार्थोपि व्यापसाम्येनाकृत्यधिकरणरात्या बह्वत्तत्त्वमेव तत्तदुपहित वाच्य वाचक च। अविद्यावधिक धमविशेषो वा जातिरिति

२० वाक्यपणीय २।१३

२१ वही, २।२२

२२ अनेकयक्त्यभिव्यक्ता जाति स्फोट इति स्मृता।

—दानयपदीय, १।६४

२३ सवदशानसमूह, पृ० ३०४

पक्षे तु साय चाचिकास्त्वित्पाठः ।

—नान्दीमुद्र प० १०

कयट ने व्यवहारनित्यता के आधार पर वण-प-वाय स्फोट अथवा जातिस्फोट का नित्य माना है

तच्च ब्रह्मतत्त्व परमाथतो नित्यम् । व्यवहारनित्यतया वणपदवायवस्फोटानाम् नित्यत्वम् जातिस्फोटस्य वा ।

—महाभाष्यप्रतीप (भभज) प० १४७ निगयसागर १२

नेपनारायण ने सखण्ड अखण्डभेद से पद वाक्य और व्यक्तिस्फोट का विभेद किया है । जातिस्फोट भी दो तरह का माना है और किसी अन्य मत से वणस्फोट को भी जाति और अतिभेद से दो तरह का माना है । इनमें वाक्यस्फोट और जातिस्फोट को अधिक महत्त्व दिया है । जातिस्फोट एक ही साथ ब्रह्म और अत्रिद्या दोनों हैं

यद्यप्यत्रानेके स्फोटा प्रतिपादिता, तथापि वाक्यस्फोट एव परमाथः । तथापि जातिस्फोट इति । जानिश्च सर्वाधिष्ठानस्वरूपात्मक ब्रह्म व अविद्य व चति ।

सूवितरत्नाकर हस्तलेख

नेपनारायण के मत में वचनप्रसिद्ध ब्रह्म और स्फोटब्रह्म में केवल यही अंतर है कि वेदान्त में नान्तिनिमित्तकारण के रूप में (सृष्टि के लिए) गृहीत है जबकि व्याकरण में उपादान कारण के रूप में माना जाता है

वेदातिभिरपि निमित्तकारणतः शब्दस्याभीष्टम् । अस्माभिस्तु उपादानत्वम् अभ्युपेयत इति विज्ञेयः ।

—सूवितरत्नाकर, हस्तलेख ।

## वाक् के रूप में स्फोट

आगमों में परा पश्यती आदि का सबध मूलाधार चक्र आदि से माना जाता है । भक्त हरि आदि ने तो परावाक का विवेचन नहीं किया है और न वाक् का सबध चक्र-विशेष से जोड़ा है किन्तु बाद के कुछ व्याकरणों ने तत्र के प्रभाव के कारण परावाक को महत्त्व दिया है और वाक् को तत्रप्रसिद्ध नादविन्दु के क्षेत्र में देखा है । सायण ने किसी आगम के आधार पर लिखा है कि जब कोई व्यक्ति अभिलषित अथ व लिए शब्द का प्रयोग करना चाहता है इच्छावर्जय प्रयत्न से मूलाधार में प्राणवायु का परिस्पन्द होता है । उस परिस्पन्द से मूलाधार में सूक्ष्म परावाक प्रकट होती है जो सकल शब्द समुदाय का कारण है और स्वयं निस्पन्द है । वही परावाक मूलाधार से ऊपर नाभिद्वार में आकर पश्यती कहलाती है । वह सामान्यनानरूपा मानी जाती है । विवक्षित पन्थ के दर्शने के कारण उस पश्यती कहा जाता है । वही हृदयद्वार में प्राप्त होकर मध्यमा कहलाती है । उसमें अथविज्ञेय की भावना व्यक्त हो गई रहती है । मध्यदेग में अवस्थान के कारण उस मध्यमा कहा जाता है । वही वणरूप से वण्ड तालु आदि स्थानों में व्यक्त होती हुई वयरी कहलाती है । विज्ञेय रूप से (वि) दूमेरा का अवगोचर करने में प्रवण (खर) होने के कारण उस वयरी कहा जाता है ।<sup>१४</sup>

नागेश ने मध्यमा वाक्य की स्फोट का प्रतिनिधि माना है

‘तत्र मध्यमायां यो नादाश तस्यैव स्फोटात्मानो वाचकत्वेनाक्षति ।

—मजूपा, पृ० १८०

उनके अनुसार प्रलयकाल में माया चेतन ईश्वर में लीन हो जाती है। एक तरह में सुप्त-भी अवस्थित रहती है। पुनः परमेश्वर में सिसृक्षात्मिका मायावृत्ति उदित होती है। उससे बिन्दु रूप अव्यक्त त्रिगुण उत्पन्न होता है। यही शक्ति तत्त्व है। उस बिन्दु का अचित अंग बीज है। चित अचित मिश्र अश नाद है। चित अंग बिन्दु है। अचित शब्द से अभिप्राय अविद्या से है जो शब्द और अर्थ उभय सस्काररूपा है। उस बिन्दु से चेतनमिश्र नादमात्र उत्पन्न होता है। वह वण आदि विशेष ज्ञान से रहित है ज्ञानप्रधान है और सृष्टि के उपयोगी अवस्थाविशेषरूप है। उसका दूसरा नाम शब्दब्रह्म है। वह जगत का उपादान है। उसे रव परा आदि शब्द से भी कहा गया है। वह प्राणी में सवगत होते हुए भी मूलाधार में सस्कृतपवन के चलन से अभिव्यक्त होता है। सस्कृतपवन से अभिप्राय पवन के सस्कार से है। पवन का सस्कार यत्ति की विवक्षा से जय प्रयत्न के योग से होता है। उससे अभिव्यक्त निष्पन्न शब्दब्रह्म परावाक कहलाता है। वही नाभिपय त पहुँचकर उस पवन से अभिव्यक्त पश्यती कहलाता है जिसका विषय मन है (मनोविषय)। परा और पश्यती ये दोनों सूक्ष्मतर हैं। इनके अधिदेवता इश्वर हैं और ये समाधि में योगियों के निर्विकल्प और सविकल्प के विषय बनती हैं। पुनः हृदयप्रदेश में पहुँचकर उस पवन द्वारा हृत्प देव में अभिव्यक्त होकर वह मध्यमा वाक कहलाता है। मध्यमा में शब्द और उसके अर्थ का आकर स्पष्ट हो गया रहता है। उसका विषय बुद्धि है अथवा बुद्धि से वह ग्राह्य है (बुद्ध या विषयीकृता)। उसका देवता हिरण्यगर्भ है। मध्यमा भी सूक्ष्म है क्योंकि दूसरे के श्रवणेन्द्रिय से अभी ग्राह्य नहीं है। किन्तु स्वयं दोनों कानों की वद कर सूक्ष्मतर वायु के अभिघात से सुनी जा सकती है और उपायुक्तप्रयोग में भी श्रुतमान होती है। इस मध्यमा वाक में जो नादाश है वही स्फोट है।<sup>२५</sup> कलाटीकाकार वैद्य नाथ के अनुसार नादाश में अभिप्राय नाद से सम्बद्ध विमशक में है।<sup>२६</sup>

स्वरूपज्योतिरेवान्तर परावागनपायिनी,  
यस्या दृष्टस्वरूपायामधिकार निबन्धने ॥  
अविभागेन वर्णीना सक्त्र सधृतक्रमा,  
प्राणाऽयान तु पश्यती मयूराण्डरसोपमा,  
मध्यमा बुद्ध्युपादाना कृतवर्णपरिग्रहा ॥  
अन्न सत्त्वरूपा तु न श्रोत्रमुरसपति।  
तात्त्वोष्टस्यापृनिव्यस्या परबोधप्रकाशिता।  
मनुष्यमात्रमूलमा वाद्या वाग वैगरी मना ॥

२५ देवाकरणमिदं नानामजूपा, पृ० १६८ १८०

२६ “नादाश — नादमवशिष्टविमशकशब्दरूपऽश । तत्रैव विमश्याशस्याधस्य वाचकत्वमत्रे वदन्ति ।” — मजूपा, कलाटीका पृ० १८०

शारदातिलक व लेखक सम्मणदणिवद्र के अनुसार 'परम'वर स शक्ति उद्भूत होती है। शक्ति स नाद और नाद स बिन्दु उत्पन्न होता है। शक्तिमय परमेश्वर पुन तीन रूपा म विभक्त होता है। बिन्दु, नाद और बीज उसका तीन भेद हैं। बिन्दु शिव है। बीज शक्ति है। नाद शिव और शक्ति का मित्र रूप है। बिन्दु स रीढ़ी, नाद स ज्यष्ठा और बीज से वामा उत्पन्न होती है जो त्रिमय शिव, ब्रह्मा और विष्णु के प्रतीक हैं। पर बिन्दु के स्फोट स रव उत्पन्न होता है। उस रव का आगमा म शब्द ब्रह्म कहा जाता है। अथ विचारक आचार्य का शब्द ब्रह्म मानत हैं। पुन कुछ अथ आचार्य शब्द को ही शब्दब्रह्म मानत हैं। इन दोनों मता म जडत्व है। सबभूत म अवस्थित चतुर्थ को शब्दब्रह्म समझना चाहिए।<sup>२७</sup>

पश्यन्ती और स्फोट की एकता की भी चर्चा आगमा म है। यद्यपि भक्त हरि न कही स्फोट और पश्यन्ती की समानता का उल्लेख नहीं किया है फिर भी सोमानन्द न उनके ऐक्य की संभावना मानकर भी उनकी समीक्षा की है। उत्पल के अनुसार, स्फोटवादी पश्यन्ती और स्फोट दोनों को नित्य मानत हैं। इस दशा म स्फोट और पश्यन्ती दोनों एक हो सकते हैं दोनों म केवल शब्द का भेद है। दोनों म भेद मानने पर द्वैत होता है। असत्य पद आदि से सत्य अथवा कूटस्थनित्य स्फोट की यजकता भी सिद्ध है। पश्यन्ती और स्फोट के ऐक्य मानने पर आप्तवाक्यविचार और अनाप्त वाक्यविचार म भेद संभव नहीं हो सकेगा। दोनों प्रकार के वाक्या क सोन एक होने से दोनों मे पूर्णता माननी पड़ेगी। इसके अतिरिक्त पश्यन्ती और स्फोट दोनों मे बहुत्व मानना पड़ेगा (शिवदृष्टि, पृ० ७५-७६)। पहले कहा जा चुका है कि ये विचार सोमानन्द के कल्पित हैं। वाक्यविचार के अवसर पर कश्मीर शवागम और व्याकरण दशन दोनों की दृष्टि स पश्यन्ती पर विचार किया जा चुका है। भक्त हरि ने अथवा किसी अथ व्याकरण ने पश्यन्ती और स्फोट की एकता का प्रतिपादन नहीं किया है।

### स्फोट शब्दब्रह्म के रूप में

भक्त हरि ने वाक्यपदीय के आरम्भ म शब्दतत्त्व को अक्षर ब्रह्म के रूप मे निर्देश किया और उससे अथरूप मे जगत का विवर्त माना है। कुछ लोग इस शब्दतत्त्व

२७ शारदातिलक, १।७—१३, शारदातिलक के टीकाकार राघवभट्ट के अनुसार शब्दाद्य सङ्गक शब्दाद्य से अभिप्राय आन्तरस्फोट से है और आन्तरस्फोट सिद्धान्त आचार्यों का है। शब्द सङ्गक शब्दब्रह्म मत वैयाकरणों का है।

एव आचार्यों शब्दाद्य आन्तरस्फोट शब्दब्रह्मत्याहु। यथाह—'निरश ध्वाभिन्नो नित्यो बोधवभाव शब्दाथमय आन्तरस्फोट' इति। अपरे वैयाकरणा पूर्वपूर्ववर्णोच्चारणाभिव्यक्त तन् तन् पदसरकारसहायचरमपदग्रहोद्बुद्ध वाक्यस्फोटलक्षण शब्दमखण्डैकवाच्यप्रकाशक शब्द ब्रह्मेति वदन्ति। यथाह—'एक एव नित्यो वाक्याभिव्यक्तोऽस्यग्रहो व्यक्तिस्फोटो वा बहोरूप इति।—शारदातिलक टीका, पृ० ११, तुलना काजिष—'इह निरश ध्वाभिन्नो यवित स्फोटो आन्तरस्फोटो वा बहोरूप आन्तर शब्दाथमयो वा बुद्ध्यनुमहारो वाक्यमिति स एव वाचक उपपन्न।'<sup>२८</sup>

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१६

को स्फोट मानकर स्फोट को शब्दब्रह्म कहते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि किसी प्राचीन आगम के आधार पर भत हरि ने अभिधान रूप में विवत और अभिधेय रूप में विवत का संकेत किया है। इस प्रसंग में उन्होंने प्राचीन ग्रंथ से एक उद्धरण भी दिया है जिसका अभिप्राय यो है—

जो सब तरह की कल्पनाओं के आभास से भी नहीं आता उसकी तब, आगम और अनुमान के द्वारा अनेक प्रकार से कल्पना की जाती है। वह भेद और ससंग से परे है। उसमें न भाव है और न अभाव न क्रम है और न अक्रम। वह सत्य और अनंत से भी परे है। वह विश्वात्मा केवल प्रविवेक से प्रकाशित होता है। वह भूता के अंत में अवस्थित है। वह समीप भी है दूर भी है। वह स्वयं अत्यंत मुक्त है। मुमुक्षु मोक्ष के लिए उसकी उपासना करते हैं जिस तरह ग्रीष्म के अंत में शूय आकाश में मेघ भर देता है वैसे ही वह प्रकृतिगत विकारा को बिखेर देता है उत्पन्न करता है। उसका चैतन्य यद्यपि एक है फिर भी अनेक रूप में उसी तरह विभक्त हो जाता है जैसे उत्पात के अवसर पर समुद्र का जल (अङ्गाराङ्कित उदकम्)<sup>२७</sup>। जैसे मास्त से जल बरसाने वाले बादल उत्पन्न होते हैं वैसे ही सामान्य रूप में अग्रस्थित उससे विकारमय व्यक्तिमय व्यक्तिममूह उत्पन्न होते हैं। वह परम ज्योति तपी (वेत्) के रूप में विवर्तित होती है। और अनेक दशना में पथक-पथक रूप में दृष्टिभेद का आधार होती है। शान्तविधात्मक उमी का अंश है किन्तु वह अविद्या से अस्त हो जाता है। अविद्या अनिवचनीय है। उसके परिणमित रूपा का अन्त नहीं है। उससे प्रभावित व्यक्ति अपने आप में अवस्थित नहीं रह पाता। जिस तरह कोई व्यक्ति दृष्टिलोप के कारण विगुद्ध आकाश का भी अनेक आकारों से चित्रित देखता है उसी तरह निर्विकार अमृत ब्रह्म भी अविद्या से आच्छन्न मति के कारण विकारयुक्त और विभक्त रूप में परिणमित दिखाई देता है। वह ब्रह्म शब्द है। जो कुछ है सब शब्द से निर्मित है। सबका मूल आधार शब्द है। शब्दमात्राओं से ही सबका विवत होता है और पुनः शब्दमात्राओं में ही सबका लय होता है।<sup>२८</sup>

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि भत हरि ने किसी आगम के आधार पर शब्दविवत का प्रतिपादन करना चाहा था। कुछ लोग शब्दविवत में शब्द से प्रणव अभिप्रेते

२७ क 'अङ्गाराङ्कितमुत्पाते वारिरारिषोदकम्' का अभिप्राय मिहिराशिवदिष्टमाश्रमण ने यो दिया है—यथा उदन्वनाम् सोयम उत्पात अङ्गाराशिवन् प्रज्वलन्पलद्भ्यते तथारण्यनेकरूपता मिथ्यैव प्रकृतित्वमिति—दादरारनयचक्र, पृ० ३००

२८ ब्रह्मोद शब्दनिर्माण शब्दशक्तिनिबन्धनम्।

विवत शब्दमात्राभ्यन्तावव प्रविलीयते॥

—वाक्यपदीय, १।१ हरिवृत्ति से उद्धृत।

वृषभ ने इसका एक दूसरा अर्थ भी यों दिया है—

अथवा ब्रह्मोदमिति विकारग्राममाह, अन्यनिरेकान्। ततः शब्दनिर्माणमिति, शब्दतत्त्व निर्माणं, ततः निर्मितत्वात्। शब्दशक्तिनिबन्धनमिति। शब्दशक्त्यो यस्तत्त्वमात्रे प्रतीयन्ते वा तत्रैवेति॥



माना है। गभी शब्द घोर गभी घम की प्रकृति प्रकट है। अतः प्रकृति में घम भी व्यञ्जितप्रत्यय व प्रतिपादन व व्यञ्जित पर प्रकट का कृत्य करता है।

गिरय गृध्रिषीषाणु । गृध्रिषीषाणो हि सायम् । विजय । विजये  
हि सायम् । ज्ञानम् । ज्ञाने हि सायम् । घोषम् । घम तद् कृत्य ।<sup>२१</sup>

प्रकट गभी शब्द घोर गभी घम की प्रकृति है। गभी मातृ-प्राप्तानुनासिक है। अतः गभी शब्द-मातृ-प्राप्तानुनासिक होता है। गभी ज्ञान वाक्य रूप व अनुनासिक है।<sup>२२</sup> ज्ञान-प्राप्त व्यञ्जना (व्यञ्जित व्यञ्जना) में भी वाणी व गुरुत्व धम अनुनासिक रहता है।<sup>२३</sup> वाक्य धम का सव्यप्रकट परिचय (गिरु का) अतः व स्वप्न मातृ व कर्म म रहता है। अतः निमित्त के टीका में परिज्ञान न हुआ व कारण-तत्-जैव भाव उमर म म गता उठ पाते हैं। घम शब्द का विषय है। शब्द-प्रकट घोर शब्द, घम प्रकृति म, घम है।

भोजन किसी अथ व्यञ्जना व व्यञ्जित पर शब्द व व्यञ्जना, विज्ञान घोर विपरिणाम इन तीनों पदों में घम की उपलब्धि की है। शब्द म भिन्न रूप म व्यञ्जना की उपलब्धि नहीं होती। घम (जगत्) शब्द का व्यञ्जना है। एक ही शब्द शब्द ग्राहक घोर सवित्ति रूप म विपरिणाम व्यञ्जना व कारण व्यञ्जना व्यञ्जना जाता पड़ता है। परमात्मन्य उपाधिरूप शब्द (सरस्वती) ज्ञाना ज्ञान घोर नय रूप म प्रकट होता है।<sup>२४</sup> जैसे जल बलनास रूप म नीला-विचित्र व्यञ्जना रूप म विवर्तित होता है, शब्द व्यञ्जना उपाधि के सहारे भिन्न भिन्न रूप म विवर्तित प्राप्त करता है। मात्र के अनुसार जल शब्द से घम के विवर्तन का प्रतिपादन किया जाता है वम ही घम म शब्द के विवर्तन की प्रक्रिया ज्ञाई जा सकती है। किन्तु शब्द-प्रकट प्रमाण की महत्त्व देने के लिए शब्द से घम का विवर्तन दिखाया जाता है। भोजन की दृष्टि म व्यञ्जना मान अथ व अतिरिक्त प्रतीयमान घम की मिष्टि व निम्न शब्द व विपरिणाम पर की अगीकार करना चाहिए। जैसे मिट्टी से घट, शीर से दधि, गन्ध से घौवन विपरिणाम के प्रतीक हैं उसी तरह शब्द-प्रकट से, व्यञ्जना उपाधि व सहारे घम रूप म विपरिणाम होता है।<sup>२५</sup>

२६ महामाध्यन्तीषिका पृ० २६ (पूना संस्करण) इस अंश को हेलाज ने वाक्यपदीय ३३२ की टीका में उद्धृत किया है। द्वादशारण्यक पृ० ४६५ पर भी वही वाक्य उद्धृत किया गया है।

३० 'वाक्यमचेतितवरथा तस्यामपि वाक्यमनुगमोऽवधारिते'

—वाक्यपदीय, १।१२५ हरिवर्त्ति वपम ने अमचेतित अवधारणा को स्वनावध्या माना है।

३१ अविभागोऽपि बुद्ध यादमा विपर्योसितदर्शनै ।

आद्यमाहकसवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥

अहीनृग्रहणमाद्यमापधपरिच्युताम् ।

नमाम परमानन्दज्योतिरूपा सरस्वतीम् ॥—शङ्करप्रकाश, पृ० २२० पर उद्धृत।

३२ 'इदं शब्द-प्रमाण-विधोपाधे तेन तेनाधरूपेण तथा तथा विपरिणमते' भोजने में इसका एक रोचक उदाहरण दिया है—'तद यथा, अग्नि म पच पुत्रा । मानर पितर शुभ्रपितवान् अग्निम् । योऽह युवा द्रमि-देशे द्रमिडकन्याभि सदावस सोऽह पश्चिमे दधसि गंगातीरे तपस्वरामाति।

—शङ्करप्रकाश पृ० २२१

शब्दविवृत की आलोचना करते हुए गान्तरभित ने आपत्ति की है कि शब्द से जगत का परिणाम अप्रभित है अथवा उत्पत्ति। परिणाम पक्ष अनुपपन्न है। क्योंकि शब्दात्मक ब्रह्म जब नील आन्तरिक रूप में परिणत होता है अपने स्वाभाविक शब्दरूप को छोड़ देता है अथवा साथ रखता है? प्रथम पक्ष में (छोड़ देने के पक्ष में) शब्द ब्रह्म के अनादिनिघनत्व, अक्षरत्व आदि की हानि होती है क्योंकि पूर्व के स्वभाव का विनाश भङ्गता है। यदि अपने स्वाभाविक शब्दरूप को छोड़ नहीं देता है यह पक्ष अभिप्रेत है तो नील आदि के संवेदन के अवसर पर अधिर व्यक्ति का भी अभ्युत्पन्न शब्द का संवेदन होने लगेगा क्योंकि नील के संवेदन से शब्द का संवेदन भिन्न नहीं है।<sup>३३</sup>

वस्तुतः भग्न हरि न शब्दब्रह्म की प्रतिष्ठा कुछ भिन्न रूप में की है।

## स्फोटवाद की समीक्षा

स्फोट सम्बन्धी उपयुक्त विवरण से स्पष्ट है कि स्फोट का प्रकृत रूप प्राचीन काल से ही अस्पष्ट रहा है। उसे उसका स्वरूप भिन्न भिन्न रूप में सामने लाए गए हैं उसकी आलोचना भी विभिन्न दृष्टिकोण से की गई है। आलोचना के स्फोट संबंधी विवरण से स्फोट का स्वरूप जटिलतर हाता गया है। स्फोटसिद्धांत के प्राचीन आलोचकों में उत्तलखनीय भामह धमकीति शंकर कुमारिल, वादिदेव सूरि और जयन्तभट्ट हैं।

भामह ने स्फोट के स्वरूप का निर्देश नहीं किया है। किंतु ऐसा जान पड़ता है कि उनके मत में स्फोटवाक्य कूटस्थ, अनपायी नाद से भिन्न शब्द के रूप में गहीन था। भामह के अनुसार शपथ लेकर भी स्फोटवादिया की बात नहीं माननी चाहिए। स्फोटवाद आकाश कुसुम सदा है। अनादिकाल से वणव्यवहार द्वारा अथ अवबोध का एक समय (परिपाटी) निश्चित हो चुका है। अथ केवल साक्षेतिक होत है पारमार्थिक नहीं होत।<sup>३४</sup>

शब्द और अर्थ के संबंध को एक कल्पित समझौता के रूप में व्यवहृत करना भामह की महत्त्वपूर्ण उक्ति है। किन्तु वण अथवा नाद से मूर्ख किसी ध्वनितत्त्व की सत्ता को सर्वात्मना अनुज्जीकार करना अवज्ञानिक है।

धमकीति ने भी स्फोट का विवरण नहीं दिया है। ऐसा जान पड़ता है उनके भामने स्फोटवाद वण से अनिरिक्त एक आनुपूर्वी के रूप में और अपौरुषेय के रूप में था। आनुपूर्वी, उनके मत में अतद्रूप में तद्रूप की कल्पनामात्र है बुद्धि का एक विभ्रम है। न तो बुद्धिविभ्रम अपौरुषेय हो सकता है और न सबके शब्द अपौरुषेय हो सकते हैं।<sup>३५</sup> धमकीति ने समवत भीमामादान के अपौरुषेय और व्याकरणा

३३ तत्त्वमगद, तथा पत्रिका, १२६ १३१।

३४ कायालकार ६।१७ १४

३५ प्रमाणवार्तिक, फारिका २७७, पृ. ६४ काशा मस्वरण

के वणविचार को एक म गूँय वर स्फोट की चिन्ता की है और इसलिए वह चिन्त्य है ।

आचार्य शंकर न वणों म त्रम के आधार पर स्फोटपत्र म गरीयसी कल्पना, दण्डहानि और अदण्डकल्पना मानी है । इसका उत्तर गोपबृष्ण ने नित्य और विभु म क्रम के अभाव दियाकर दे दिया है ।<sup>३४</sup>

कुमारिल ने स्फोट की आलोचना कुछ विस्तार से किन्तु विशृङ्खल रूप म की है । मीमांसका को अपनी स्फोट समीक्षा पर अभिमान है और वे इस व्याकरणों की चिकित्सा सी मानते हैं ।<sup>३५</sup>

मीमांसा दान म स्फोट का सण्डन विशेष दृष्टिकोण को सामने रखकर किया गया है । स्फोटवाद की सत्ता मान लेने पर पत्र वण आदि अवयव की सत्ता व्यर्थ हो जाती है । फलतः पद और उसके अवयवश्रित ऊह आदि भी मपा जान पड़ेंगे महावाक्य म अवातरवाक्य सिद्ध नहीं हो पायेंगे प्रयाजादि आश्रित प्रसंग, तत्र आदि व्यर्थ जान पड़ेंगे । इसलिए उनमें लिए स्फोटवाद का निराकरण आवश्यक हो जाता है ।<sup>३६</sup> मीमांसकों के अनुसार दण्डस्मृतिबद्ध वणों म वाचकता है । वणों से अतिरिक्त शब्द की कल्पना तथा अनेक सस्कारों की कल्पना गौरवग्रस्त है । उनकी मायता म नाद वायुस्वरूप नहीं है और न संयोगविभागमय है । किन्तु वायुगुणवाले शब्दविशेष को ही नाद कहा जाता है और ध्वनि भी कहा जाता है । शब्द दो तरह का होता है वण और ध्वनि । दोनों में शब्दत्व अनुगत रहता है । वणत्व और ध्वनित्व अवातर सामान्य है । गकार आदि वणविशेष है शस्त्रघोष आदि ध्वनिविशेष हैं । ध्वन्यात्मक शब्द वायुगुण वाला है । जैसे प्रभारूप भावांतर का अभिव्यजक होता है शब्द वणत्मक गकार आदि का व्यजक होता है । वायु के वणविवरण म प्रवेश से शब्द का ग्रहण ससृष्ट श्रोत्र द्वारा होता है । कभी वणरहित कवल घोष आदि का ग्रहण होता है कभी वणसहित, वण से उपरिलिष्ट ध्वनि का ग्रहण होता है ।<sup>३७</sup> पद अथवा वाक्य म वतमान वण या ध्वनि स्फोट के व्यजक नहीं होते । वण से व्यतिरिक्त रूप में स्फोट अथ का वाचक नहीं होता ।<sup>३८</sup>

वाक्यों के अवयवावयव कार्यों की सिद्धि के लिए कुमारिल का आयास आयास मात्र है । भत हरि ने स्फोट की सत्ता मानते हुए भी वाक्यधर्म के रूप म स्वयं प्रसंग तत्र आदि का विवेचन किया है । वणों म वाचकता मानना जैसे एक मायता है, वणों

३६ निरयाना च विभूना च त्रमो नात्येव वास्तव ।

उपलब्धिनिमित्तोऽस्ति सा चेदेका कुत त्रम ।

—स्फोटत्व निरूपण ७

३७ चिचित्त्वेव वृत्ता शब्दविदा मामासकैरियम् ।

—शास्त्रदीपिका, युक्तिग्नेहप्रपूर्णा, पृ० ६७

३८ न्यायरत्नाकर व्याख्या, पृ० ५४४

३९ श्लोकवार्तिक न्याय रत्नाकर पृ० ५१६

४० श्लोकवार्तिक स्याद्वा १३१, १३२

से व्यतिरिक्त स्फोट में वाचकता मानना भी एक मायता है। मायता विचारक के तक, कल्पना और स्वतंत्रता से परिचालित होती है। इस दृष्टि से मीमांसादत्तान और व्याकरणज्ञान दोनों स्वतंत्र हैं। कुमारिल के स्फोट की समीक्षा मण्डन मिश्र ने और योगभूषण के टीकाकार किसी श्रवाचीन शंकर ने भी की है।

वादिदेवमूर्ति ने अनुपग रूप में उक्त भक्त हरि के कई मनः पर विचार किया है किन्तु मूल स्फोट के विषय में ऊर्ध्वोक्त है। उनकी मौनिक आलोचनाओं में तो उल्लेखनीय हैं। एक तो यह कि यदि अथप्रत्यायकत्व मात्र के आधार पर स्फोट को शब्द माना जायगा तो प्रत्यायक धूम में भी शब्दत्व माना जायगा। दूसरा यह कि नालिकेर द्वीप निवासी जिसे गो शब्द का सकेत नहीं पता है, वही भी गो शब्द से अथ बोध नहीं कर सकेगा। इस तरह लोक व्यवहार विच्छिन्न हो जायगा।<sup>४१</sup> ये दोनों ही तर्क आपातरमणीय हैं। भक्त हरि ने ध्वनि से मन्त्रा निरूपण रूप में स्फोट का प्रतिपादन नहीं किया है। अतः केवल प्रत्यायक धूम को शब्द नहीं माना जायगा। स्फोट सिद्धांत का यह अभिप्राय नहीं है कि जो भाषा जान नहीं जानता हो उसके श्रवण से भी उसे अथ बोध हो। ध्वनि के साथ ध्वनि का प्रतीतप्राप्यकता है।

जयतमभट्ट ने स्फोट को प्रत्यक्षगम्य अथवा अनुमेय नहीं माना है। किन्तु यदि ध्वनि से समृष्ट रूप में ही स्फोट की उपलब्धि होती है स्फोट को ध्वनि की तरह श्रोत्रग्राह्य रूप में प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा। प्रतीति वचिभ्य भी ध्वनि वचिभ्य के कारण होती है अथवा मणि कृपाण आदि में एक ही मुख की अनवधान अभिव्यक्ति की तरह एक ही स्फोट की अनवधान अभिव्यक्ति संभव है।

### शब्द ब्रह्मवाद

प्रतिभातत्त्व और वाक तत्त्व एक ही वस्तु है। और वाक तत्त्व और ब्रह्म एक ही वस्तु है। भक्त हरि के अनुसार ब्रह्म आदि अतः से रहित है। सब तरह की कल्पनाओं में परे है। सब तरह के भेद और समग से परे विद्या अविद्या आदि सभी तरह की शक्तियाँ समाविष्ट हैं। शब्दतत्त्व और ब्रह्म की एकता दिखाने के लिए भक्त हरि न श्रुति का आधार अधिक लिया है। अपने मतव्य की परिपुष्टि में केवल एक तक उन्होंने उपस्थित किया है। शब्द ब्रह्म का उपग्राह्य है और उपग्राही है। अतः शब्द को ब्रह्मतत्त्व कहते हैं। शब्द उपग्राह्य इस रूप में है कि शब्द ब्रह्म द्वारा स्वीकृत होता है, वह शब्दस्वभाववाला है। शब्द ही रूप आदि के रूप में विवर्त प्राप्त करता है। विकार का प्रकृति में अवयव देखा जाता है। रूप आदि विकार हैं, उनकी प्रकृति, भक्त हरि के अनुसार, शब्द है। रूप आदि में सूक्ष्म शब्द का परिज्ञान होता है यह तभी संभव है जबकि रूप आदि की प्रकृति शब्द हो। रूप आदि सभी शब्दमय हैं। वही ही ब्रह्म के उपग्राह्य हैं। शब्द ब्रह्म का उपग्राही भी है अर्थात् उसकी प्रतिपत्ति शब्दनिबन्धना है शब्द द्वारा उसका बोध होता है। इसलिए ब्रह्म शब्द तत्त्व है

‘तत्तु (ब्रह्म) भिन्नरूपामिमनानामपि विकाराणां प्रकृत्यवस्थितानां शोष प्राकृत्या दाम्योपप्राहित्या च गच्छतश्चमित्यभिधीयते ।

—वाचस्पतीय १।१ हरिवृत्ति

अभिप्राय यह है कि वाचस्पतीयसार ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करता है । परन्तु उनका अनुसार ब्रह्म का स्वरूप दाम्यमय है । दाम्यस्वरूप होने का कारण ब्रह्म का दाम्यत्व कहा जाना है । ब्रह्म को दाम्यस्वरूप मानने का मूल आधार विचार प्राप्ति की प्रकृति होने है यह सिद्धांत है । रूप प्राप्ति विचारों में दाम्यभावना प्रकट रहती है । इसलिये उन सब विचारों की प्रकृति दाम्य है । प्राप्ति के इस मध्य के समय में भूति न श्रुतियाँ का सहारा लिया है । ‘तामवे’ रूप से कहा जाय श्रुति यात्रा का प्रकृति और गवादि अर्थ को विचार प्रोत्पन्न करता है ।

## शब्द ब्रह्म से विश्व का विकास

भक्त हरि विवर्तवाद के आधार पर शब्द से विश्व का विकास का समर्थन करता है । उनका मत है विवर्त की परिभाषा निम्नलिखित है

“एकस्य तस्यादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्यविभक्तामरूपोपप्राहिता विवर्त ।

—हरिवृत्ति वाचस्पतीय १।१

मूल तत्त्व एक है । वह कई रूपों में दिखाई पड़ सकता है । परन्तु इस विभिन्नता से उसके मूलरूप में कोई भेद नहीं पड़ता । वह ज्यों का त्यों रहता है । समग्र में अर्थ पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ के समग्र में अपने स्वरूप खाते हुए जान पड़ता है । पट हरित पीत आदि विभिन्न रंगों के संपर्क से हरित पीत आदि विभिन्न रंग का हो जाता है । स्फटिक लाल रंग आदि के साहचर्य से लाल आदि रूप में दिखाई देता है । पर वह मूल तत्त्व कभी भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता । केवल भेद के अवभास के कारण एक होता हुआ भी वह अनेक रूप में विभक्त जान पड़ता है । अनेक रूप में उसका अवभास असत्य होता है । भेद के सहारे एक के अनेक रूप में अवभास को विवर्त कहते हैं । भक्त हरि ने परिणाम शब्द का भी विवर्त के अर्थ में प्रयोग किया है ।

‘शब्दस्य परिणामीयम्’ (वाक्यपदीय १।१२१) में भी परिणाम शब्द विवर्त-बोधक है जिस एतद् विश्व विवर्तते (व्यवर्तते) से स्वयं भक्त हरि ने स्पष्ट कर दिया है । कई स्थानों पर हलाराज ने भी परिणाम को विवर्त के रूप में लेने का अनुरोध किया है

नेद साख्यनयवत् परिणामदशमपि तु विवर्तपक्षः ।

—हलाराज वाक्यपदीय ३, द्रव्यसमुद्देश १५

प्राचीन श्रुति के आधार पर भक्त हरि ने दो तरह का विवर्त माना है । मूर्ति विवर्त और क्रिया विवर्त । दिक् शक्ति से अवच्छिन्न विवर्त मूर्ति विवर्त है । क्रिया शक्ति से अवच्छिन्न विवर्त क्रिया विवर्त है । दूसरे शब्दों में सिद्ध पदार्थों के लिए मूर्ति विवर्त और साध्य पदार्थों के लिए क्रियाविवर्त का व्यवहार किया जाता है । साध्य (क्रिया) और साधन (कारक, सिद्धरूप) के रूप में विभक्त होकर शब्द ब्रह्म का विवर्त होता है

प्रविभवतसाध्यसाधनरूपो हि गद्वद्वह्मणो विवत

—हरिवृत्ति, वाक्यपदीय १।१२८, पृ० १२५

महाप्रलय के बाद जबकि सब कुछ अस्त हो गया रहता है शब्द ब्रह्म से पुनः सृष्टि का विकास होता है। उस समय शब्द में सम्पूर्ण भाव जगत् सहितकर्म रूप में रहता है। सभी भावों के एकत्र उपसंहार के कारण उनका अलग अलग भव-धारण उस समय नहीं होता। विवत के कारण विकारों का आभास होने लगता है। सृष्टि के अन्त में प्रलय के समय सभी विकार पुनः उसी शब्द तत्त्व में लीन हो जाते हैं।

ब्रह्मेद गद्वनिर्माण शब्दशक्तिनिबन्धनम्।

विवत शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते ॥४२

विवत का आधार किसी प्राचीन आगम के आधार पर भन हरि ने अविद्याशक्ति का माना है। अविद्याशक्ति की प्रवृत्ति में सिद्ध और साध्य रूप में शब्द से विवत होन लगते हैं। हेलाराज ने भी इस मत का समर्थन किया है। अविद्याशक्ति में अनेक तरह के विकार प्रदर्शन की शक्ति है।

सर्वगवत्यात्मभूतत्वात् ब्रह्मण अनेकविकारप्रदर्शनसामर्थ्यलक्षणा अविद्याशक्त्या शक्तिः कायभेदादुपचरितनानात्वा समस्तोत्थागमविदः ॥४३

विवत की प्रक्रिया दृष्टाने के लिए भन हरि ने सत्ता विवत का आश्रय लिया है। पहले कहा जा चुका है कि भन हरि शब्द तत्त्व सत्ता अथवा महामाय का अर्थ समझते हैं। परब्रह्मस्वभावा सत्ता शक्तियों के आश्रय से पदभावविकारों में परिणत (विवर्तित) हो जाती है। यही साध्यविवत है। जब कर्म रूप का प्रत्यक्ष अर्थ ही वस्था—अभिप्रेत होती है वही सत्ता सत्त्व (द्रव्य) रूप में प्रकट होती है। यही सत्ता, सिद्ध अथवा साधन विवत है। सत्ता में ही सब शब्द व्यवस्थित हैं। यही शब्द शब्द कहते हैं। उसी को प्रातिपदिकाय कहते हैं। त्व तल आदि प्रत्यय ही यही शब्द कहते हैं। वरुण नित्य है। महान् आत्मा है।

ने इस स्पष्ट कर दिया है

सविच्च पश्यन्तीह वा परावाच गच्छद्वाप्यमीनि चक्ष्यस्य गच्छान् पारमाथि  
पात न मिच्छते । विवक्षितायां तु धनर्थात्मना भय ।<sup>४५</sup>

अभिमागदन्तायां तु पश्यन्मभिधानायां वाच्यवाचकमेवानुत्तमानाभावात्  
विना वाचित । इत्येव च दृष्ट्या दार्शनतीविराग्यान् इववहारेऽप्यप्यस्य तत्र  
विधोर्गाः तद विवक्षितं विवक्षितं सिद्धम् ।<sup>४६</sup>

## अद्वैतवाद

भक्त हरि ने वाक्यपदीय में प्रायः सभी तरह के भाषाई विचारों का उन्मूलन किया है ।  
उनकी यह दली है कि ये गम्भीर विचारों के प्रथम में दार्शनिक प्रयोगों का उन्मूलन  
करते हैं और व्याकरणद्वारा के व्यवस्थापारिपक्वता के कारण सभी भाषा अन्तर्गत  
सबका उचित था । परन्तु हनाराज के अनुसार उनका मुख्य अद्वैतवाद का आधार  
रहा है । वह स्थिति पर हनाराज ने उनसे अपने मित्रों का अद्वैतवाद कहा है

परमाद्यदृष्ट्या सवपापदत्वात् पुनरस्य गच्छस्य दानात्तरोपपत्तम् । एव  
च सवत्रयास्य प्रयकारस्याभिप्रायः । पश्यन्मभिधानायां विचारे चक्ष्यगतायनस्य  
सम्बन्धादिविचार विनिगमनात् ।<sup>४७</sup>

अर्थोविवर्तनाश्रयेणाद्वैतनय स्वमतं सिद्धांतयितुमुपक्रमते ।<sup>४८</sup>

इसमें स्पष्ट है कि वाक्यपदीय में अन्तर्विचारपरक तथ्यों की कमी नहीं  
है । उनका विवक्षित अद्वैतवाद का ही पोषक है । अद्वैतवाद सवस्मिन् स्वभावादेन  
लक्षणे<sup>४९</sup> जैसे वाक्य स्पष्ट रूप में अद्वैतवाद का अभिधान करते हैं । जब वे कहते  
हैं तत्त्व और अतत्त्व में कोई भेद नहीं है<sup>५०</sup> वे अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन करने गान  
पड़ते हैं । सत्य और असत्य दो रूप मानने से अद्वैतवाद की संगति न चटगी ।

‘एक ही सत्ता सब रूप में स्थित है । वही साध्य है । वही साधन है । वही  
फल है । वही फल का भोक्ता है ।’<sup>५१</sup>

अर्थों के रहस्य को जानने वाले उसी को सत्य मानते हैं जहाँ द्रष्टा, दृश्य  
और दर्शन सब अविकल्पित हैं ।<sup>५२</sup> विवक्षितपरिघटित सब-कुछ असत्य है । अविकल्प  
तत्त्व अनादिनिधन ब्रह्म है ।

सागर, पृथ्वी, वायु, आकाश, सूर्य, दिशाएँ आदि सभी अन्तःकरण तत्त्व की

४५ वाक्यपदीय द्रव्यसमुद्देश ११

४६ वही, सम्बन्धसमुद्देश २

४७ वही जातिसमुद्देश ३५

४८ वही सबध समुद्देश ६१वीं कारिका की अवतरणिका ।

४९ वही, सबध समुद्देश ६४

५० वही द्रव्य समुद्देश ७

५१, वही त्रिया समुद्देश ३५

५२ वही सबध समुद्देश ७०

चाह्य अभिव्यक्ति है

द्यौ क्षमा वायुरादित्य सागरा सरितो दिग ।

अतः करणतत्त्वस्य भागा बहिरवस्थिता ॥<sup>५३</sup>

आदि उक्तियाँ अद्वैतवादपरक हैं। परन्तु भक्त हरि ने अद्वैत ब्रह्म का शब्द ब्रह्म से अलग रख कर नहीं देखा है। उनका अद्वैत ब्रह्म शब्द अद्वैत ब्रह्म कहा जा सकता है। कुछ विचारकों ने “शब्दाद्वैतवाद” शब्द का प्रयोग भी किया है। हलाराज ने भी उपयुक्त कारिका का भावाथ बताते हुए शब्द ब्रह्म का ही समर्थन किया है

परमार्थे तु कीदृशोऽतबहिर्भावः । एकमेव सच्चिदानन्द पर शब्दब्रह्म यथा—  
तथमवस्थितम् ।

इस प्रौढ आधार पर भक्त हरि ने व्याकरण दान को सुव्यवस्थित किया है। ‘महाभाष्याधिपीयूषच्छटाच्छ्रुतिविग्रह’ वाले वाक्यपदीय की यही विशेषता है। उसमें विवक्षित प्रातिपदिकाथ, अथवा आख्याताथ, पठ् अथवा वाक्य शब्द अथवा प्रतिभा सब का अनूठा सौन्दर्य है। गाभीय और मौष्ठव की छाप सबत्र है। अत्यन्त शील के साथ विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं का उल्लेख करते हुए और अपने आगम की रक्षा करने हुए भक्त हरि ने व्याकरण दर्शन की भाष्यताम्रा का परिपुष्ट किया है।

व्याकरणदर्शन वाणी का परम रस है। पुष्पतम ज्योति है। मोक्ष का प्रशस्त मार्ग है। एक शब्द का भी सम्यक् ज्ञान कामधुक है। शब्दमस्कार परमात्मा की सिद्धि है। शब्दतत्त्व के अनुशीलन से ब्रह्मामृत भी प्राप्ति होती है। संस्कृत कवया करण इन भाष्यताम्रा का सजीव रस्यन आए है और उन्हें सिद्ध करते रह हैं।

□ □ □



## चुने सदर्थ-ग्रन्थ तथा निबन्ध

अनभट्ट	महाभाष्यप्रतीषोद्योतन, २ भाग, मद्रास, १९४८ १९५२
अभिनवगुप्त	ईश्वरप्रत्यभिनाविवर्तिविमर्शिनी ३ भाग, श्रीनगर, १९३८—४३
,	मालिनीविजय वार्तिक, श्रीनगर, १९२१
	परात्रिंशिका श्रीनगर १९१८
अभिनवभारती	(नाट्यविवर्ति) ४ भाग, बडोदा
अभ्यर, व० ए० एस०	भत हरि, ए स्टडी आफ वाक्यपदीय इन द लाइट आफ ए राट कम्पटीज, पूना, १९६६
,	स्फाटमिद्धि का आगल अनुवाद, पूना, १९६६
	द प्वाइण्ट आफ यू आफ वयाभरणाज, जरनल आफ आरियण्टल रिमच मद्रास वॉल्यूम १८, पार्ट २, १९४१
,	प्रतिभा एज द मीनिंग आफ सेटेस, आल इण्डिया ओरियण्टल कॉन्फेस १९४०
उम्मेद भट्ट	लाव्वातिकायान्या तात्पयटीका, मद्रास, १९४०
ऋषिपुत्र परमेश्वर	स्फाटमिद्धिटीका गोपालिका मद्रास १९३१
कमलाल	तत्त्वसंग्रहपत्रिका २ भाग, बडोदा १९२६
कणकगामी	प्रमाणवातिमटीका राट्टल, साहित्यायन संपादन, इनालागा १९३०
कविराज गारीनाथ	टास्मिनि आफ प्रतिभा इन इण्डिया किनासफी, एनम आफ भण्डारकर आरियण्टल रिमच वॉल्यूम १
बीमन्त, ए०	भत हरि इण्डियन एण्टीक्वरी, वॉल्यूम १२, १८८३
कुमारि	द्वारावातिर चीम्याससृष्टसौरिज, बनारस, १८६८
कृष्णमित्र	वयाकरणभूषणकारिका टीका (हस्तलस)

वृष्णमित्र	कुञ्जिका टीका (लघुमजूपा), बनारस १९२५
कथट	महाभाष्यप्रदीप ५ भाग, निणयसागर, बम्बई, १९१७—१९४१। —गुप्फप्रसाद शास्त्री संपादित, बनारस १९३९
कोण्डभट्ट	वैयाकरण भूषण बम्बई १९१५
गोकुलनाथ	पदवाक्यरत्नाकर बनारस
चक्रवर्ती प्रभातचन्द्र	फिलासफी आफ सस्कृत ग्रामर कलकत्ता १९३०
"	लिग्विस्टिक स्पकुलेशन आफ द हिन्दूज, कलकत्ता, १९३३
चटर्जी, क्षितीशचन्द्र	टेक्निक्न टम्स एण्ड टेक्नीक आफ सस्कृत ग्रामर कलकत्ता १९४८
चन्द्रकीर्ति	प्रसनपदा (माध्यमिक कारिका टीका) पीटसबग, १९१२
जगदीश भट्टाचार्य	शान्शक्तिप्रसागिना कलकत्ता १९१४
जयन्त भट्ट	न्यायमजरी बनारस १९३६
जयादित्य वामन	काशिकावृत्ति (बालशास्त्री संपादित) द्वितीयावृत्ति, बनारस १८९८
जिनेन्द्रबुद्धि	काशिकाविवरणपञ्जिका (न्यास) राजशाही १९१३—१९२५
दुर्गाचार्य	प्रमाणसमुच्चयटीका, अडयार
धर्मकीर्ति	निरुक्त भाष्य २ भाग, बम्बई, १९४२
नागेश भट्ट	प्रमाणवार्तिक पटना, बनारस १९५९
	बह्छन्दुशेखर, ३ भाग, काशी १९६०
	वैयाकरणसिद्धान्तलघुमजूपा, बनारस, १९२५
	परमलघुमजूपा बनारस १९४६
	महाभाष्यप्रदीपोद्योत निणयसागर १९१७—१९४५, गुप्फप्रसाद शास्त्री संपादित, बनारस, १९३९
	स्फोटवाट, अडयार, १९४६
पतञ्जलि	महाभाष्य ३ भाग, कीलहान संपादित बम्बई, १८९२
पाठक, के० बी०	द डेट आफ भत हरि एण्ड कुमारिल, जर्नल आफ बंगाल रायल एग्नियाटिक सोसाइटी, १८९३
पाणिनि	अष्टाध्यायी बम्बई सम्वत् १९८५
"	पाणिनीय शिक्षा, मनमोहन घोष संपादित, कलकत्ता १८२८
पाण्डेय, रामाना	व्याकरणग्रन्थभूमिका, काशी १९५४

पाण्डेय, आर० सी०

पाथसारथि मिश्र  
पिपारटि, के० राम

पुण्यराज  
पुरुषोत्तमदेव

प्रनाररगुप्त  
प्रभाचंद्र  
प्रभाकर मिश्र  
विष्णू मदलीन  
मनवाल्कर श्रीपद्मवृष्ण  
भट्टाचार्य गिरिधर  
भट्टाचार्य गोरीनाथ

भट्टाचार्य विष्णुपद  
भट्टाचिनीति  
भरत मिश्र  
भृगुहरि

प्राब्लेम आफ मीनिंग इन इण्डियन फिलासफी,  
दिल्ली १९६३

‘यायररत्नाकर (श्लोकवातिकटीका) बनारस  
द डाक्टरिन आफ स्फोट, अनामलै यूनिवर्सिटी जरनल  
वाल्सूम १, पाट २

वाक्यपदीय द्वितीयकाण्ड की टीका बनारस, १८८७  
भाषावृत्ति, राजशाही, १९१८

नापकसमुच्चय

कारकचक्र

परिभाषावृत्ति

राजशाही १९४६

प्रमाणवातिकटीका पटना

प्रमेय कमलमातण्ड बम्बई १९४१

वहती, ५ भाग मद्रास १९३६—१९६७

स्फोटसिद्धि कच अनुवाक पाण्डिचरी, १९५८

विष्टम्भ आफ संस्कृतग्रामर बम्बई १९१५

विभक्त्यधिनियम बनारस १९०२

ए स्टाडी इन द लाइलमिट्स आफ स्फोट जरनल  
आफ द विपाटमंट आफ लटस, कलकत्ता  
१९३७

स्टडी इन सम्यज एण्ड मीनिंग, कलकत्ता १९६२

साम्योन्मुख बनारस, १९२७

समाप्ति विधानम् १९२७

महाभाष्य त्रिपाठी (नीतिका) श्री अख्युत्त जितामु  
द्वारा की गई प्रतिलिपि।

महाभाष्यटीका (त्रिपाठी) डॉ० बी० राममीनाथन  
द्वारा संपादित बनारस १९६५

महाभाष्य टीका (त्रिपाठी) श्री क० बी० सम्यकर  
तथा आचार्य बा० बी० विमले द्वारा संपादित  
पूना १९६८—७१

वाक्यपदीय काण्ड १० (प्रथम काण्ड पर संपादित  
मनहरिवर्मा तथा द्वितीय काण्ड पर पुण्यराज की  
टीका मिलित) मानवस्मीगनाथर शास्त्री संपादित  
बनारस १८८७

वाक्यपदीय काण्ड १० (प्रथम काण्ड पर संपादित  
मनहरिवर्मा तथा द्वितीय काण्ड पर पुण्यराज की  
टीका मिलित) बनारस १९२५

भन हरि

वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड श्री सूर्यनारायण शुक्ल विरचित  
भावप्रदीप व्याख्यान सहित बनारस, १९३७

वाक्यपदीय, स्वोपनटीका तथा वपमटीका सहित  
प्रथमकाण्ड श्री चारुत्वे शास्त्री संपादित  
लाहौर, १९३४

वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड (१८४ कारिका तक)  
स्वोपनवृत्ति तथा पुण्यराज की टीका सहित,  
श्री चारुत्वे शास्त्री संपादित लाहौर १९३६

वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड स्वोपनवृत्ति सहित, हस्तलेख  
ओरियण्टल मनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास  
वाक्यपदीय प्रथम काण्ड भन हरिवृत्ति तथा वपमदेव  
टीका सहित प्राफेसर क० ए० एम० अय्यर  
संपादित, पूना १९६६

वाक्यपदीय प्रथम तथा द्वितीयकाण्ड ५० रघुनाथ शास्त्री  
विरचित अम्बाकृत सहित, काशी १९६३—१९६६

वाक्यपदीय तृतीय काण्ड प्रकीर्णक प्रकाश सहित  
बनारस (चौखम्बा), १९०५—१९३५

वाक्यपदीय तृतीय काण्ड, भाग १ (साधन लिङ्गसमुद्देश)  
हलाराज की टीका सहित श्री साम्बशिव शास्त्री  
संपादित त्रिवेन्द्रम, १९३५

वाक्यपदीय तृतीयकाण्ड भाग २ (वृत्तिसमुद्देश)  
रवि वर्मा द्वारा संपादित, त्रिवेन्द्रम १९४२

वाक्यपदीय, तृतीय काण्ड भाग १, हलाराज की टीका  
सहित, प्रो० के० ए० एस० अय्यर द्वारा संपादित,  
पूना १९६३

वाक्यपदीय श्री क० वी० अभ्यकर तथा आचार्य  
धी० पी० लिमये द्वारा संपादित, पूना १९६५

वाक्यपदीय सवृत्ति प्रथम काण्ड प्रो० के० ए० एस०  
अय्यर द्वारा अग्रेजी में अनूदित, पूना १९६५

वाक्यपदीय काण्ड १ २, डा० के० राघवन पिल्ल द्वारा  
अग्रेजी में अनूदित दिल्ली १९७१

शृंगार प्रकाश ३ भाग मसूर १९५५—६६

स्फोटसिद्धि मद्रास, १९३१

भावनाविवेक काशी १९२२—२३

द्वान्शारनयचक्र ४ भाग अहमदाबाद

द्वान्शारनयचक्र, भाग १ मुनि जम्बूविजय संपादित,

भोज

मण्डन मिथ

मल्लवादि क्षमाश्रमण



सुचरित मिश्र	काशिका (श्लोकवार्तिकटीका) ३ भाग, त्रिवेन्द्रमु १९२७—४३
” सोमनाथ	काशिका (हस्तलेख) शिवदृष्टि (उत्पल की टीका सहित) श्रीनगर १९३४
स्वदस्वामी	निरुक्तभाष्य लाहौर, १९३०
हरदत्त	पदमजरी २ भाग, काशी १८९८
हरिराम	काशिका (वैयाकरणभूषण की टीका) बम्बई, १९१५
हीमन, बयी	स्फोट एण्ड ग्रथ के० बी० पाठक कामेमोरेसन वाल्यूम वाक विफोर भन हरि, इण्डियन फिलासाफिकल का फ्रेंस, अडयार डाक्टरिन आफ स्फोट गगानाथ भा रिसच जरनल, इनाहावाद, १९४८
हेलाराज	प्रकीर्णक प्रकाश

## अनुक्रमशिका

अक्षर २१	अक्षरमिद्धि २८
अक्षर १८३	अक्षरमिद्धि १८८
अक्षर विद्या १८६	अक्षरमिद्धि व अनुसार वात २०६
अक्षर (व्याकरण) २१०	अक्षरमिद्धि २८३ २८४, ४८२
अक्षर वाच्यता २८३	अधिकरण १२, २६५
अक्षरमिद्धि ६६३	अधिकार ३३६ २८० ३६६ २६५
अक्षरमाप्ताय १०३	अधिकार ३३८
अक्षर वाच्यता १८ ५६	अधिकार २६६
अक्षर ६१	अधिकार और अधिकार म अनार
अक्षरमिद्धि ८०	११२
अक्षरमिद्धि ३२	अधिकारमिद्धि ३६०
अक्षरमिद्धि ६६०	अधिकारमिद्धि विद्या ११८
अक्षरमिद्धि ३३	अधिकारमिद्धि ३६६
अक्षरमिद्धि ३०१	अधिकारमिद्धि प्रवण २४३
अक्षरमिद्धि ३६१ ३१	अधिकार ६६ १५३
अक्षरमिद्धि व विद्या ३६६	अधिकारमिद्धि मक्ष ११०, २३१
अक्षर ३	अधिकार मक्ष ६३ ६२६
अक्षरमिद्धि ६६८	अधिकार ३८० ६०६ ४०३
अक्षरमिद्धि ७०६	अधिकार और अधिकार म अनार ६०८
अक्षरमिद्धि मक्ष ६३२ (विद्या)	अक्षरमिद्धि ५२ ६० ११२ ११६
अक्षरमिद्धि विद्या २३३	अक्षरमिद्धि २३६ २३६
अक्षरमिद्धि १६३	अक्षरमिद्धि विद्या ३३४
अक्षरमिद्धि ३३	अक्षरमिद्धि ३६३
अक्षरमिद्धि ३६	अक्षरमिद्धि ३६
अक्षरमिद्धि ३६ ३३	अक्षरमिद्धि ३३





अभिधावत्तिमात्रिका २६, १२४,  
१२५

अभिनवगुप्त २१ २४ २६ २७ ३८,  
४१ ४३ ४५, ४६, ४८, ४९ ५०,  
७६ ८० ८१ १५६, १७६ (टिप्प०),  
२१८ २१९, २२२ २६१, ३६३  
३७२ ४७०

अभिनवगुप्त, ऐन हिस्टारिकल  
ऐण्ड फिलासफिकल स्टडी २७  
(टिप्प०) २२०

अभिनवभारती ४६

अभिम-पु १६

अभिव्यक्तिनिमित्तोपायजनप्रवप १४२  
१५३

अभिव्यापक २६५

अभिमहित ३६७

अभिहितावयवाद ३३४ ३३८,  
३४१, ३६२, ३६८ ३७१ ४११,  
४१२, ४१८

अमीष्टप्य और क्रिया समिहार १६७

अभे- ३७६

अभे-कत्व सत्या २७८ ३७०

अभे-पचार ३२८

अभ्यनुशा-क्ति २१५ २१६ २१८

अभ्यावत्ति १६७

अभ्यासनिमित्तः प्रतिभा ३७८

अमरकोश २०६ (टिप्प०), ३५६

अम्यर के० एम० ए० ३२

अम ११ ३७८ ६२७

अम अयोदर १२६

अम अवभास १५२

अम का अर्थान्तर म अम्यारीय १००

अम क प्रवृत्तित्व ६७

अमकन १४२, ३६६

अमभाति १५३

अथनिघम २७७

अथनियमवाद १३

अथपरिवर्तन १००

अथप्रकरण-दान्तरसन्निधान प  
११०

अथप्रकाशनशक्ति ८६

अथभेद से गल्भभेद १०६

अथवाद २७७ ४०६

अथविज्ञानमय ३६५

अथसिद्धात ११

अर्थावयी ४५८

अर्थाभिद ३७६ ३६४

अर्थित्व ३७६, ३६४

अर्थी ३७८

अर्थोपचार १०६ ११०

अलकार सवस्व २७ ३८

अल्पगल्भ और महत् गल्भ ८७

अवक्षेपण १५२

अवधारण ३६३

अवधि ३८० ४०६ ४०८

अवती १७

अवयवविधान ४८१

अवयवावयवीभाव १२

अवान्तर वाक्य ३५१ ३६१

अविचालि ६१

अविद्या ४७५

अविद्यागति ४८१

अविनाभाव १४६

अद्विद्विक्पाप ६१

अद्विद्विगत अम ३७६, ४००

अद्विद्विगतभेद ३७६, ४०४

अद्विद्विगतवाच्यलक्षणा ११८

अद्विद्विगता ३७६

अद्विद्विगता और पराध्य ११६

अद्विगता २०५ (टिप्प०)

अव्ययवग १४६  
 अव्यय १३३ २६६, ३२५  
 अव्ययीभाव समाग ४५४  
 अव्युत्पन्न १०१  
 अनाद्यन्मनि ६३  
 अष्टाध्यायी १५६, २५८  
 अमग १७  
 अमनस्यनिरूप ३६७  
 अमभव ३८८  
 अमभवनियम ४१६  
 अमाषना ३१  
 अकाशा ३८७  
 आकारनिरूपण ३७  
 आकृति ३७१  
 आकृति और जाति म भेद १५०  
 आकृतिपत्र १८७ १४८  
 आख्यात १०३ ११३, १३८ १३६,  
 १५६ १५७ १५८  
 आभ्यासवाद ३५७  
 आत्माना २०० २३४ ३३६  
 आभ्यासना वाच्य ४२१  
 आख्यात गणवाच्यवाद ३३५, २३७  
 आगममग्रह १४  
 आत्मकामत्व ३५  
 आत्मतत्त्व २५  
 आत्मनेपद २४८ २६६ २५० २५१  
 २५४ २५५ २५७  
 आत्मनभाप २५७  
 आत्मप्रकाशनशक्ति ८६  
 आत्मा अद्वैतदान २६१  
 आदिपदवाद ३५४  
 आदग १० १२  
 आद्यपद ३३४  
 आद्यपदवाद ३५७, ३६८  
 आन्तरवाक्याय ३६४  
 आन्तरवाद ६६ ३६४, ८७०

आन्तरम्भोट ३५३, ४६३,  
 आन्तरम्भन २६ १२१, १०२, ४६५  
 (टिप्प०)  
 आनिगल व्याकरण ३६३  
 आपिगनायगिगा ७५  
 आन्तरम्भोट ४७०  
 आप्नायग ६०  
 आराधुपकारक ४०२  
 आराध विरोधक ३७६, ४०२  
 आयमगायभाष्य १६  
 आयस्त ४३०  
 आवाप-उद्धारपद्धति ३६५, ३८६  
 आवाप रणप पद्धति ४१२  
 आविष्ट तिष्ठता ३०३  
 आयति २०६, ३८०, ३८३  
 आवतिभ ३८३  
 आवतिभस्यान ३८३  
 आगता १३३  
 आभियनकम २८०  
 आगानि ४६, ४७  
 इणियन एण्डीवरी २३ (टिप्प०)  
 इन्द्रावगा टु वगपिन किलासपी  
 एकाणि टु दगायार्थी गारुण १५  
 एवमरयोग ४४३ ४४४  
 एसा १५ १७, २०, २२ २३ २८  
 एसा की भारतयात्रा १५  
 इट २६४  
 एलुमिय २६४  
 एलुगज २७ २८  
 एली आय २०५ (टिप्प०)  
 एलि १०  
 एलि (परिभाषा) ४४१  
 मिन २८६  
 एन्तरप्रत्यभिनाविवतिविमर्शनी १५  
 २७ (टिप्प०) ४१ ४४ ६१  
 (टिप्प०), १७७ (टिप्प०)

२६१ ३७० ४७० (पि०)  
उत्प्रेषण १५०  
उत्प्रेषण २६१ २६६  
उत्तररामचरित २७६ ३६१ (पि०)  
उत्पल २० ६०, ६३ ६७ ६६ ६७६  
उत्पल १२ ३८६ ३८७  
उत्पलनियम ३८४  
उत्पल ४१०  
उत्पलवृत्ति ६५६ (पि०)  
उत्पल १५८, २४५  
उत्पल की परिभाषा २६५  
उत्पल १२० १२१  
उत्पल कल्पना १२० २८० ६०६  
४०७  
उत्पलवृत्ति १२०  
उत्पलसत्ता ६६  
उत्पल ६१  
उत्पल ४३ २०६  
उत्पल १०  
उत्पलक्षण १५४  
उत्पलिका १४२ १४३  
उत्पल ६६४  
उत्पलान ३६३  
उत्पल ११, १०३ १३३ १३४,  
१२६  
उत्पल और निपात में भेद १३४  
उत्पलाराध ३६७  
उत्पल ३६ ४५ ३४६  
उत्पलविषय २६३  
उत्पलान ८२  
उत्पलान शब्द ८३  
उत्पलार्थ, अम्बिकाप्रसाद ३२  
उत्पलविभाषा ४०५  
उत्पल भट्ट ३०  
उत्पल ३७६ ३८० ३८७ ३८८  
उत्पल १०६

उत्पलिका २०५ (पि०)  
उत्पल ४३ १०३ ११६०० २००  
६३ (पि०)  
उत्पलितारम्भ ८९ ३८६  
उत्पलितार १०६ १०७ १०८  
उत्पलितार २०५ २०६ २०७  
उत्पलितार १०६  
उत्पलितारम्भ १०१  
उत्पलितार १११  
उत्पलितार ९०  
उत्पलितारम्भ २६०  
उत्पलितारम्भ २६५ ४३८  
उत्पलितार मन्त्रम्भार मन्त्रितम्भ  
रितम्भ २६ (पि०)  
उत्पलितारम्भ मन्त्रितम्भ मन्त्र  
मन्त्रितम्भ मन्त्रितम्भ २००  
उत्पलितार ६०७ ४०६  
उत्पलितार ६०७  
उत्पलितारम्भ १८ १२६  
उत्पलितारम्भम्भ १ ६  
उत्पलितारम्भ १६८ १६६ २६६  
२३३  
उत्पलितारम्भम्भ ६७  
उत्पलितारम्भम्भम्भ २१८ २२३  
उत्पलितारम्भ ३० ६५  
उत्पलितार ७३  
उत्पलितार ४३०  
उत्पलितार २८६ २६२ ३७६  
उत्पलितारम्भ २४ २६ १२५, ३४६  
३५८  
उत्पलितारम्भ २८८  
उत्पलितार की प्रधानता २८६  
उत्पलितार २८६  
उत्पलितार स्थितिवाचिक २६५  
उत्पलितार स्थितिवाचिक १८४  
उत्पलितार २८६ २८०

कमप्रवचनीय ११, १०३ १ ३, १३४  
 १३५ १३६, १३७, १३८  
 कमवाक्यायवाद २०३, २०४  
 कमव्यनिहार २४७  
 कमव्यक्रियाविषयक २६५  
 कमव्य भावक १८०  
 कंठाटीका ३२  
 कन्तिनाथ २३ ३०२ (टिप्प०)  
 कटहण १६  
 कश्मीर गवागम २१८  
 काण्व ३७८  
 काण्वक्रम १४२ ३६६  
 कान्तपरिनिष्पत्ति २५८  
 कायध्यान १२ १३ ६४ ६० १०५  
 १०७, १४६ १४७, १५०, १५६,  
 २ ६ ०४२, २४५ ०१७ २५६  
 २६८ ३०६ ३१ ३५०, ३३१,  
 ३६०, ३८६, ४३८ ४४१, ४५३,  
 ४५५  
 कारतश्चक्र ३१, २६१ २६६  
 कारकविचार २८१ ६७  
 कारकसम्बन्धाद्योत ३२  
 कायकारण भाव ६६ १२७  
 कायकारणभावपन्थाय और योग्यभाव  
 पदार्थ १३१  
 कायकारणभाव सम्बन्ध ६७, ४२६  
 कायदान १०२  
 कायपरिणाम २६१  
 कायप्रतिष्ठा ३६२, ३६३  
 कायप्रकाश १२१ (टिप्प०) २६३  
 (टिप्प०) ४२६  
 कायप्रकाश की टीका ४२६ (टिप्प०)  
 काव्यप्रकाश की टीकाकार ४२७  
 काव्यप्रकाशप्रदीप ४३० (टिप्प०)  
 काव्यमीमांसा ३६०  
 काव्यमीमांसा ४१० (टिप्प०)

काव्यलक्षणटीका ३० (टिप्पणी)  
 काव्यालकार १६, ३२६ ४७७  
 काल १५८  
 काल अनुमानगम्य २०४  
 कालप्रत्यक्षगम्य २२४  
 कालभेदविचार २०१  
 काल विचार २०५ ०४८  
 कालविभाग १०  
 कालवर्तिका का आत्ममात्रा म अक्षमा  
 वेग ३५  
 काल व्यवधान १०८  
 कालगति १५४ ३५१  
 कालारण्य स्वानयशक्ति १०६ २१४  
 कालिदास ५१, १२६ ३५८ ०७१  
 ३८१, २६६ ४०६  
 काल हरिराम ३२  
 काण्वरुत्तन सूत्र १५६ १५८  
 काण्वरुत्तन व्याकरण १५६, १६२  
 काशिकावृत्ति १८ १६ २५ १००  
 १६५ १६८ २३१ २७४ (टिप्प०),  
 २६२ ३१७ ३१८ ३८७ ४०७  
 ४३४ (टिप्प०), ४४८ ४५४  
 काशिका (व्याकरणभूषण की टीका)  
 ३२  
 काशिका (श्लोकवार्तिक की टीका)  
 ४१  
 काशिकाकार ३०, १३५ (टिप्प०)  
 २७४, ३१५ ३२०  
 काशिकाविवरणपञ्जिका (द्रष्टव्य  
 यात) १५६, २४६ (टिप्प०)  
 ३८७ (टिप्प०)  
 किराताजुनीय १६  
 किलहान एफ० २३  
 कुञ्जिका ३२  
 कुतक २६  
 कुमारगुप्त तृतीय २०

कुमारगमय १०७ ३८१, ४०६  
(टिप्प०)

कुमारिण (भट्ट) १८ २४, २६ ३०  
६६, १२० १४०, ३३१ ३३४  
३३८ ३४१, ३१० ३११, ३४२  
३५६, ३७६ ४२१, ४७७ ४७८  
४७६

कुम्भाजाल २१२

कुयलपात्र की पत्रिका टीका १२६  
कूटस्थ ६१

कृत्तिहिताभाव २६७

कृत्तिमित्र ३२ ४३

कथट २२ २७ ३० ३१, १७, १८  
६० ६१ ६४ ६६ ७८, ८६, ६०,  
६१ १०० १०१ १०२ ११४  
११५ ११७ १२४, १२५ १३०,  
१३३ १४६ १४१ १४४ १४६,  
१४८ १४९ १५५ १५८, १६७  
१७०, १७६ १८२ १८६ १६५  
२०८ २१० २३६, २३५ २३७,  
२४८, २५, २७६ २८६ २८७,  
२८६ २८० २८४ २८६, ३०१  
३०३ ३०६ ३०५ ३०७, ३१०  
३१२ ३१३ ३१४, ३१५ ३१६  
३२०, ३२२ ३२६ ३३१, ३३३  
३३६ ३६१ ३६२, ३६६ ३८५  
(टिप्प०), ३८६ (टिप्प०) ३८७  
(टिप्प०) ३६३ ४११ (टिप्प०),  
६२८ ४३१ ४३२ (टिप्प०)  
४४१ ४४३ ४४७, ४४८ ४५२  
४६६

कोटिल्य अथगात्र ८६, ३५६

कोण्डभट्ट ३२, २६७ ३१७, ४४७  
६५१ (टिप्प०)

क्रम ६०, १४२, ३३४ ३५२, ३७८

क्रम के आठ प्रकार ३६८

क्रमवर्णन ३५७ ३७१ ४००

क्रमविधि ३४ ६०, ८६, ७१७ ७१८  
३११

क्रमगम ३८०

क्रमनिर्माण ३५१

क्रमवर्णन गति १५६

क्रिया ११- १६६ १५५ १६८  
२४८ २६६

क्रिया मति १६३

क्रिया मनुष्य १६०

क्रिया म १६२

क्रिया जाति १७०

क्रियातिपत्ति १०, २४०, २६१

क्रिया-यावत्ति १६७

क्रिया एक मात्र २००

क्रिया और मन्त्र १६६

क्रिया और उपगम १६०

क्रिया और रुचि १६६

क्रिया का सक्मक परमक रूप १८५

क्रिया का स्वरूप १६४—१६६

क्रिया और व्यापार म भे १६३

क्रिया की प्रयोगपरिममाप्ति १६८

क्रिया की समुदायपरिममाप्ति १६८

क्रिया-तरव्युदास ३७६ ३८०, ३६८

क्रिया म जातिव्यक्तिभाव ३७०

क्रियाविचार १५६—२०६

क्रियाविवेक २८

क्रियाविवेक १७६ २६५, ४८०

क्रियाविपणनजनितत्व १३७

क्रियाविपणन २०२ ३३२

क्रिया वाक्याथ रूप म ३६८

क्रिया वाक्याथवाद २०३ २०४  
३६६

क्रिया-यतिहार २४७ २४८

क्रिया-वित्त ४६

क्रिया-द १२३

क्रिया समभिहार १६८  
 मण्डनगण्डताय २६  
 धीरम्बामो २०६  
 धेमराज ४१  
 गणकतरणिणी २० (टिप्प०)  
 गणनाठ ३६०  
 गणरत्नमहोदधि २२ (टिप्प०), ३१८  
 (टिप्प०), ४५८  
 गाय १३४  
 गिरिधर भट्टाचार्य ३२  
 गुण २६६, २७१, ४४५, ४५० ४५२  
 गुणकल्पना १२०, ४०७  
 गुणपन्नाय १४  
 गुणप्रधानताविषय ११६  
 गुणप्रधानभावाविषया ३७६  
 गुणप्राद ३०८  
 गुणवृत्ति १२०  
 गुणशब्द १२३  
 गुरु ३८०, ४०४  
 गुरुप्रक्रमा १४४, ३४५ ४०४  
 गुल्मजुषा ३२  
 गोकुलनाथ ३२  
 गोनर्दीय ६३  
 गोपब्राह्मण १५६  
 गापीनाथ कविराज ३२  
 गाविन् ठक्कुर ४३२  
 गौण ११८, ३७६, ४०४  
 गौण अथ ११०  
 गौणमुद्रयाय २६३  
 गौण मुख्यभाव ११०  
 गौण मुख्य विचार १०६ १२२  
 गौणीवृत्ति १२० १२१, ३८८  
 ग्रि वर २३३  
 घटप्रदीपनाथ १२१  
 घोषिणी ८१  
 चक्रवर्ती प्रभातचन्द्र ३२

घटुग प्रातिपत्तिाय १४१  
 घटुष्टयो क्षमप्रवृत्ति १२४  
 घटकीति १५७, १६२ (टिप्प०) २६२  
 चन्द्रगुप्त विजयमादित्य १८  
 चन्द्रगोमी ४५६  
 चन्द्राचार्य १६  
 चरणनिमित्ता प्रतिमा ३७३, ३७४  
 चरितायता ३८४  
 चिति १५६  
 चितितत्त्व ३४  
 चित्रबुद्धि ८६, ३४५  
 छप्रत्यय पर विचार ४५५  
 जगन्मोह भट्टाचार्य ३२  
 जयन्त भट्ट ३०, ३८ ३४६, ४७७  
 जयरथ ३८  
 जयान्तिय ३०, ११६ (टिप्पणी) १२०,  
 ३१७, ३८७ ४०७  
 जरनल आफ यू० पी० हिस्टारिकल  
 सासाइटी ५४  
 जराख्या शक्ति २१५ २१६  
 जहृस्वार्थावृत्ति ४४०  
 जातनिर्घोषा ४१  
 जाति १४२, १४४  
 जाति म सख्या २८०  
 जातिस्फोट ६७ २६४, ३४४  
 जातिश्रियावाद १६६  
 जातिपदाथदशन ३२१  
 जातिपन्नाथपक्ष १४४, ३२३  
 जातिवाक्यवाद ३४४  
 जातिपद १२३  
 जिनेन्द्रबुद्धि (द्रष्टव्य वासकार) १६,  
 ७७ १२३, १४०, २८६ ३१५  
 ४२८  
 जनदशन ७७  
 जनेद्रमहावृत्ति ३१८  
 जमिति ६१ ३३१, ३३२, ३७७

ज्योतिष म काल २१०  
 ज्ञानगवित ४६  
 ज्ञानगन्तव्यपत्तिया ७७ ७८ २६४  
 ज्ञापकमनुवाय ६५  
 भनवीकर यामन ४२६ (टिप्पणी)  
 भा गगनाय १८  
 तत्त्वकीमुनी, २०८ (टिप्पणी)  
 तत्त्वबोधितोकार, १२६  
 तत्त्वविदु, २०, ३०, ३६७  
 तत्त्वसमूह २८, ४७७ (टिप्पणी)  
 तत्त्व्यात्रिया १८४  
 तत्त्व्यात्रिया १८५  
 तदमावापत्ति ३८०, ४०६, ४०७  
 तत्र ३७८ ३७९, ३८०, ३८२,  
 ३८३, ४०१  
 तत्रिणी ३८२  
 तत्रवातिक ३० १२१ (टिप्पणी)  
 तात्पय शक्ति ४०६, ४१८  
 तात्पर्याथ ३६६  
 ताच्छीलिक शब्द १६७  
 तादात्म्यातिदश ३६२, ४३७  
 ताद्रूप्य ११६  
 तिङन्ताय का उपमानोपमेयभाव १८०  
 तिङभिहितभाव २६७  
 तिङभिहितभाव और वृद्धभिहितभाव मे  
 भेद १७८  
 तिरोभूतक्रियापद २६६  
 तिरोभूतक्रियापद १३७  
 तत्तिरीय संहिता ३८८ (टिप्पणी),  
 ३८९ (टिप्पणी), ३९० (टिप्पणी),  
 ४०६ (टिप्पणी)  
 त्रयीशान्प्रवृत्ति १२३ १२५  
 त्रिकप्रातिपदिकाय १४०  
 त्रिकप्रातिपदिकायपक्ष १४०, २७७  
 त्रिपाठी रामसेवक ३२  
 पाल् और जातीयर प्रत्यय मे भेद

६४४ (टिप्पणी)  
 दगपा मयवता ११  
 दि १५६ २४३, २४४  
 दि घोर नाम २४३  
 दिङ्गाग १६  
 दीपयतिजापाय २२६  
 दुर्गाताय १५६ १६५  
 दुर्गातायवृत्ति १३६ (टिप्पणी)  
 दुष्टवृत्ति २७  
 दृष्टापचार ४३२  
 दृष्टाभिधानपत्र १६५  
 देवगूरि ६८, ६९  
 देगी ग ५२  
 द्रव्य १४१, १४२ १५५ २८१,  
 २८२, २८५, ४५०, ४४५ ४५२  
 द्रव्यपत्ताय १४ ६१  
 द्रव्यपत्ताय दगन ३२१  
 द्रव्यवाद ११  
 द्रव्यव्यतिरिक्तगवितदगन २८१, २८२  
 द्रव्यमव्यतिरिक्तगवितदगन २८१,  
 २८४  
 द्रव्यग १२३  
 द्रुतावृत्ति ७०  
 द्वादशारनयचक्र १५ १७, ६६, १०३  
 ३४५ ३४७ ३५४ (टिप्पणी) ३५६  
 (टिप्पणी) ३५७ (टिप्पणी), ३५८,  
 ४७५, ४७६ (टिप्पणी)  
 द्विगतवाक्य ३६१  
 द्विवचन २६५, २६६, २७६  
 द्विवेदी सुधाकर २० (टिप्पणी)  
 द्विष्ट ३६२  
 द्विष्ट शब्द ४०८  
 धमकीति १७, १८, २४ २६, २६,  
 ३०, ८६, ६१, १५२, २७७ ३४७,  
 ३४८, ३४९, ३५४, ४४८ ६७७  
 धमपाल, १५, २८, २९, २९१

धमपरिणाम २६१

ध्यानग्रहकार १६, ४५८, ४५९

(टिप्पणी)

ध्वनि ६६, ७३, १०४

ध्वनि गौर नाट ७३

ध्वनि (अभिध्वजक) ७६

ध्वनि विचार ६६ ८२

ध्वनि सिद्धांत १२१

ध्वन्यालाक १२२ (टिप्पणी)

ध्वन्यालोक्लोचन २१ (टिप्पणी),

११६, १२१ (टिप्पणी) १३४

(टिप्पणी) १५६ (टिप्पणी)

नत्रय ४४८

नत्र विचार ४४६ ४५०

नत्र समाप्त ३२८

नरसिंह ४२६

नागाजुन १५५

नागन २२ ३२ ४२, ५०, ५४ ६०

६८ ६०, ११४, १२५ १८१

१४६ १६२, १६८ (टिप्पणी),

१८७, २१३, २१४, २२२,

२६७ २६८ (टिप्पणी), ४११,

४३५ ४३७, ४४८, ४५६, ४४६

(टिप्पणी), ३१० ३१७ ३२०

३२२ ३२४ ३३१ (टिप्पणी), ३४०

(टिप्पणी)

नाद ४७ ७३, ७४, ७६, ४७३ ४७४

नाद (ध्वनि) गौर स्फोट ७४

नाद गौर स्फोट म अंतर ७४

नादपरमाणु ८४

नानात्वदशन १०७

नानात्ववादी १०५ १०७

नानात्ववादी दशन १०४

नातरीयक ५५ ११५ ११६ १४६

३८०, ३६७ ४०१

नाम १०३ १३३, १३४ १३६

नालिकायन २२१

निघात ३३३

नित्य १६२

निपात ११, १०३, १३३ १३४,

१३६, ३३२, ३६१

निपातन १२ ६३

निमित्तातिशेय ३६२

नियम १२, ३३७ ३५४ ३५५ ३८०

४०५, ४२५

नियममात्रवाध ४२०

नियम सिद्धांत ३६४

नियोगवाक्याय ३७०

नियोगवाक्यायवाद ३६६

निरवयववण ७३

निरवयववणपण ७६

निरवयव वाक्य ३४७

निरवयव वाक्यवाद ३४८

निरवयव वाक्यवाट ३४८

निरवयव वाक्यस्फोट ८०

निरवयवशब्दवाक्यवाद ३५६

निरवयवस्फोट ४६३

निराकाश पत्ताय वाक्याथरूप मे

३६८

निराकाश पदाय वाक्याथ ३६६

निहत्त १८ १५७, १७२, १७३

(टिप्पणी) २०६ (टिप्पणी) २४५

२६४ २६४ (टिप्पणी), ३०५

निहत्तकार १२३, १६३

निहत्त भाष्य २४६ (टिप्पणी)

निर्गतप्रश्न ४२१

निर्दिष्ट विषय २६३ २६४

निवर्त्य २८६ २६० २६१

निवर्त्य कम २६०, २६१

निर्वितक समाधि ३६

निर्वितकसमापत्ति ३६

निवर्त पत्ताय ४४७



निवतप्रेषणपक्ष २५३  
 निषेध ३८०  
 निष्पत्ति २३८, २३९, २८१  
 निष्पत्ति और सिद्धि मे भेद  
 २३९  
 नगमविभाषा ३८९  
 नैयायिक २०७  
 नाय दशन ३५९  
 नायमजरी ३०, ३८ ४२, ७७, ३५०  
 नायरत्नमाला ४१७ (टिप्प०)  
 नायरत्नमाला व्याख्या ४७८  
 (टिप्प०)  
 नायरत्नाकर ४१४, ४७८  
 (टिप्प०)  
 नायव्यापिक के मत मे काल २०७  
 नायसुधा १२१  
 नायसूत्र १२१ (टिप्प०)  
 नायसूत्रकार १२१  
 नास ६५ १०२, १२३ १९७  
 २०१ (टिप्प०) २४५ २७०  
 (टिप्प०) ४३७  
 नासकार १९ ३०, ६५, ७५ ११६  
 (टिप्प०), १५९ २३५ २८९,  
 ३११, ३२५, ३८७ ४४३  
 नासाधिकभाव १११  
 ना हिस्ट्री आफ इंडियन पीपुल, गुप्त  
 वाकाटक एज २०  
 नाधरमिथ ३०९  
 नाचमी अवस्था २४१ २५३  
 नाचप्रतिपदिकाथ १४१ २७७  
 नाचिन्त्र १८, ३०९, ३६४, ३६५  
 (टिप्प०)  
 नाचजलि १० १२, १३, ४३, ६४,  
 ७८ ८९ १०१ १५० १७२,  
 २२८ २३७ २४५, २८७, २९४,  
 ३०० ३०५, ३११ ३३० ३८६,

४१०, ४११, ४३७  
 पद ११ १०७  
 पदग्रपोद्धार १३४  
 पद अवाख्यान ६२, ६४,  
 १३१  
 पद अवधारण के उपाय ४३६  
 पदग्रवधिक अवाख्यान १३१,  
 ३२७  
 पदकार ३३५  
 पदकाय ११४  
 पदक्रम ३६१  
 पदचन्द्रिकाविवरण ३१, २९१, ४४१  
 (टिप्प०)  
 पदप्रतिपत्ति १०७  
 पदमजरी १४ ५३, ७५, २५४  
 (टिप्प०), २६५ (टिप्प०), ३१०,  
 ३११, ३१५ ३२९, ३९३  
 (टिप्प०) ३५९ (टिप्प०) ४५०  
 पदमजरीकार ११६  
 पदवचन ३६२  
 पदवाचपरत्नाकर ३२  
 पदविधि १०  
 पदविभाग १३९  
 पदसस्कार ६४  
 पदस्फोट ९०, १५३, ४६४, ४६८,  
 ४७०  
 पदार्थ ३९७  
 पदार्थतत्त्व निरूपण २०७ (टिप्पणी)  
 पदार्थदीपक ३२  
 पदार्थ निवचन वाक्यमध्य ३७७  
 पदार्थ विचार १२३  
 पदार्थाभिधानपक्ष ३२७  
 पदार्थवदना अविवक्षा ११९, ११७  
 परमपरमती ४८  
 परमलघुमजूपा ३२  
 परममत्ता १७१

परमोसागु ३६, ८७, ३४६  
 परम्यैषद ३४७, ३४८, ३४९, ३५०,  
 ३५१, ३५७,  
 परस्मभाष २५७  
 परा ४७२  
 पराङ्ग ३७६, ४०१  
 पराङ्गवद्भाव ४३७  
 परात्रिगिका ८०, ८२  
 पराप्रकृति ३७  
 पराय २६७  
 परायता २४६  
 परामान व्यापार ६८  
 परावाक ४१, ४२  
 परिकल्पितरूपविपर्याय ३६६  
 परिच्छिन्नाय ४०  
 परिच्छेत्तस्कार भावगावीजवत्तिलाभ  
 प्राप्नयोग्यता ७८  
 पणिनाम ४८०  
 परितुष्टि ३५  
 परिपूर्णशक्तित्व ३५  
 परिभाषावृत्ति १२ १०२ ११४  
 परिसह्या ३८८  
 परिममाप्ति ३४३  
 परोक्ष २३६  
 पयुदास ३७६ ४०४, ४४८  
 पश्यती ३८, ३९ ४७ ६८ १०३  
 १५५ ४७२, ४८१  
 पाठ ३७८  
 पाठक्रम १४२, ३६६  
 पाण्डेय के० सी० २७ (टिप्प०)  
 २०० (टिप्प०)  
 पाण्डेय, चन्द्रबली १८  
 पाण्डेय, रामाज्ञा ३२  
 पाणिनि ६ १० ११ १३ ५० ६३  
 ६४, ६६ ६०, १२४, १३८, १४४  
 १५४ १५६ १६५ १८०, १८४

१८६, १९७, २१० २२१ २३७,  
 २४२, २४३, २४५ २४६ २५७,  
 २५८ २६४, २७१ २७६ २८३  
 २८८, २९२ २९४, २९५ २९६  
 २९७, ३०५ ३०७ (टिप्प०)  
 ३१३, ३१६, ३२० ३२२, ३२३  
 ३२८, ३६०, ३८६, ३८८ ४३१  
 ४३४ (टिप्प०) ४३७ ४५४,  
 ४५८  
 पाणिनीय धातुपाठ २०६  
 पाणिनीयमतदण ३१६ (टिप्प०)  
 पाणिनीयमतदणकार ३०७  
 (टिप्प०)  
 पाणिनीयशिक्षा ७६  
 पातजलदण २२६  
 पाथसारथि २६ ३०, ३३४ ३५०,  
 ३५२, ३५६ ४१४ (टिप्पणी)  
 ४१७  
 पानि ५१  
 पितले के० राघवन ३२  
 पुण्यराज १३, १४, २३, २५, २७  
 ३२ ४६, ६४, ६५, १०७, ११०,  
 ११२, ११४, ११८ १३३ १३५  
 (टिप्प०), १६६ (टिप्प०) २६५,  
 ३३३ (टिप्प०), ३४१, ३४४  
 (टिप्प०), ३४५ (टिप्प०), ३४७,  
 ३५३, ३५४ ३५५ ३५६, ३५९,  
 ३६०, ३६५ ३६८ ३७१, ३८०  
 (टिप्पणी) ३८१ ३८७, ३९०,  
 ३९३, ३९४, ३९५ ३९७ ४०६,  
 ४०८ ४२४ ४२८ ४३२ (टिप्प०)  
 ४४४ ४७०  
 पुराण २०६  
 पुरुष १५८  
 पुष्पयत्यय २६३  
 पुरुषोत्तमदेव ३१ ६५ ११६ १२७

(टिप्प०) २६१, २६६  
 पूर्वकालिकश्रिया १८२  
 पूर्वाचाय २५६, २६४, ३१३  
 पूर्वाचायमज्ञा ४३४  
 पथवसवपदवाक्यवात् ३५६  
 पथवसवपदवाद ३२८  
 पथवमाकाशमवपत् ३३८  
 पथवमाकाशवपत्वात् ३६८  
 पथूत्क २१२ (टिप्प०)  
 पे इन् (प्रकीणक) १५, २८  
 प्रप २५४ २६२  
 प्रकरण ७७ ४२७  
 प्रकरणादिसहित प्रसद्धि प्रप्रसिद्धि  
 ११८  
 प्रकार का स्वरूप ४५३ ४५५  
 प्रकाश ४३, २१६  
 प्रकीणकप्रकाश २३ २८ ३१३  
 प्रकृति ३८८  
 प्रकृति उह ३८८  
 प्रकृतिनियमवाद १३  
 प्रकृतिविकृतिभाव ३६०  
 प्रकृत्यथविशेषणपक्ष १६२ ३१८  
 प्रकृत्यथविशेषणवाद १३  
 प्रक्रम ८६  
 प्रक्रियाकीमुदी २६०, २६५  
 प्रक्रियाप्रकाश ३१  
 प्रक्रियाप्रसात् २०७ (टिप्प०) ३१६  
 ३३१  
 प्रख्याविशेष १४६  
 प्रनाकरगुप्त २६ ८६  
 प्रणव ४७६  
 प्रतिनिधि ३८० ४०६, ४२०  
 प्रतिनिधि की उपपत्ति ४२०  
 प्रतिपत्तिरूप १४२ ४००  
 प्रतिपत्तिविधाना ४४१  
 प्रतिपादकपटाथ १२७

प्रतिपात्क दम् १५०  
 प्रतिषेध शक्ति २१५, २१६  
 प्रतिबिम्बमान ४६७  
 प्रतिबिम्बवाद ३०६  
 प्रतिभा ३०, ३५, ४३, ७८, ३७१  
 प्रतिभा क छ भेत् ३७२  
 प्रतिभात्मक असण्ड वाक्याथ ३५३  
 प्रतिभा दान ३१  
 प्रतिभावाद ४३  
 प्रतिभावाक्याथ २०४ ३६६,  
 ३७६  
 प्रतिभावाक्याथ रूप म ३७१  
 प्रतिलिनाकार ४०  
 प्रतिषेध १२  
 प्रतिसहृत्कम ४०, ८७  
 प्रतिहारेदुराज २६  
 प्रतीतपदाथक ६६ ८८, ८९, ९०  
 प्रतीतपदाथक ध्वनि ८८  
 प्रतीतपदाथकता ४७६  
 प्रतीयमान ५५ १०१, १२१, १२२,  
 १५०, ३६७ ४०८  
 प्रतीयमान अथ १२१, ४७६  
 प्रथमपुरुष २६० २६१  
 प्रधानवाक्य ३६१ ३७६ ४०१  
 प्रध्वसानित्यता ६१  
 प्रवसाभाव ४४८  
 प्रमाकर १८ १२५ १४० ३३८  
 ४१६ ४१७  
 प्रमाचन्द्र ३०, ३५४  
 प्रमाणवातिक २४, २६, ६१ २७७  
 ३४७, ३५४ (टिप्प०) ४७७  
 (टिप्प०)  
 प्रमाणवातिक टीका १२५, ३४६,  
 ३५८  
 प्रमाणसमुच्चय १६  
 प्रमेयकमलमातण्ड ३५४

प्रयत्न ३७६  
 प्रयुक्ति ३७८  
 प्रयोगक्रम १४२  
 प्रयाजक २५४, ४०१  
 प्रयोजकना-तरीयक ३७६  
 प्रयोजकमुद्र ११५  
 प्रयोजनपत्राय १२७  
 प्रयोजनवाक्याय ३६६  
 प्रयाजन वाक्याय रूप म ३६८  
 प्रयोज्य कर्ता २८८  
 प्रत्यक्ष श्रुति ३८४  
 प्रत्यभिज्ञा ३७  
 प्रत्यभिज्ञा-गन ४२ ४६  
 प्रत्यभिज्ञा प्रत्यय १४६  
 प्रत्यभिज्ञा-हृत् ४१ (टिप्प०)  
 प्रत्ययनियम २७७  
 प्रत्ययल १०  
 प्रत्ययाथय ३१८  
 प्रत्ययाथविशेषणपक्ष १६२  
 प्रत्ययभासा ४०  
 प्रत्यागति १४२  
 प्रत्यक्षपरिमिति ३४३  
 प्रवा-नित्यता ६२ ६०, ६१ ६२  
 ६६  
 प्रवृत्ति ३७८  
 प्रवृत्तिक्रम १४२, ३६६  
 प्रवृत्तिनिमित्त ४५१  
 प्रवृत्तिगतिविधावाद १७६  
 प्रगता २०१  
 प्रगस्तपादभाष्य २०७ (टिप्प०)  
 प्रगस्तपादभाष्यसेतुनीका ३०६  
 प्रसंग २७८, ३८०, ४०१  
 प्रस-यप्रतिषेध ३७६ ४०४, ४४८  
 प्रस-नपत्रा माध्यमिकवृत्ति २६२  
 प्रसिद्धि अप्रसिद्धि सहित प्रकरणादि  
 ११८

प्राकृत ५१, ५२, ६१  
 प्राकृतध्वनि ११, ६८, ७३ २२१,  
 ४६२  
 प्राकृतनाद ७३  
 प्राचीन भाषाय ४५१, ४५७  
 प्राचीन टीकाकार १३  
 प्राचीनमीमांसक ४६४  
 प्राचीनव्याकरण २६६  
 प्राचीन साह्य ३६४  
 प्रातिपदिक १४२, २७७, ३२०, ४२७,  
 ४५३  
 प्रातिपदिकाय ११४, १४०, १५४,  
 १६२ १७१ २७६, २६७, ३६२,  
 ३६७  
 प्रातिशास्य २४५, ३६०  
 प्राप्तिविभाषा २५७, ४०५  
 प्राप्ति ३४  
 प्राप्यक्रम २८६, २६०, २६१  
 प्रासंगिक ३७६, ३८०, ३८१  
 प्रेरक २६३  
 प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्राजेक्शंस आफ द  
 सिक्स्थ थोरियण्टलका फोसप टना १८  
 फलभेद ३७६, ४०३  
 फलवाक्याथवाद २०३, २०४  
 फलाभाव ३८४  
 फिलासफी आफ द एण्ड मीनिंग ३३  
 फिलासफी आफ सस्कृत ग्रामर ३२  
 ब-वचन २६५, २६६ २७३, २७६  
 ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु २२, १७३  
 बहुवचनप्रातिशास्य ७६  
 ब्रह्ममूत्र २५  
 बाणभट्ट १६, ४६३ (टिप्प०)  
 बादरि ४०१  
 बाधा २०१ ३७८, ३७६, ३८०,  
 ३८३, ३८४  
 बाधासमुद्देश २३, ३७७, ३८६

बासमट्ट २६  
 बास्मीकि रामायण ५१  
 बास्मरपोट ४६३, ४६५  
 बास्मायत्य १०६  
 बास्मर्योपचार १०६  
 बिन्दु ४७ ४७३, ४७४  
 बीज ४७३ ४७४  
 बीजवृत्तिसाभानुगुण्य १४० १४३  
 बुद्धि का परिपाक ७४  
 बुद्धिप्रम १४२ ४००  
 बुद्धिप्रवृत्तिरूप २८३  
 बुद्धि म दान का प्रयपारण ७४  
 बुद्धि धानयपण ३५४  
 बुद्धिमत्ताप्रियायाद १७१  
 बुद्धयनुमहार ३५३ ३६४  
 बुद्धयनुमहारण ३५२ ३५४  
 बुद्धयनुमहृति ३५३, ३५४  
 बहती ६१७ (टिप्प०)  
 बहन् देवता १३१ (टिप्प०) १५७,  
 ३३८  
 बन्तसहिता २०  
 बजि १६  
 बोपदेव ३०७ (टिप्प०) ३१६  
 बौद्ध आचार्य १२५  
 बौद्धदान ७७ २०६ २२३ २८३,  
 ३५४  
 भगवद्गीता २०७ (टिप्प०)  
 भगवानदास २६६ (टिप्प०)  
 भट्टगोपाल ४२६  
 भट्टाचार्य दिनेशचन्द्र २७  
 भट्टाचार्य विनयतोष १७  
 भट्टोजि दीक्षित ३१, ५३ ६०, ६६,  
 २२५ २४६ २६२, २६६ २६५  
 (टिप्प०), ३१६ (टिप्प०), ३८७  
 (टिप्प०) ४४३  
 भरतमिश्र ३२ १३६ (टिप्प०)

भगु मित्र ११६  
 भग हरि १० १३ १४ १५ १६  
 २० २३, २४ २५ २६ ३० ३६  
 ३७ ४० ४३ ५०, ५३ ५१ ५३  
 ६० ६० ६३ ६६ ६०, ६१ ६०  
 ६० ६७ १०६, १११, ११३ १०३  
 १०८, १०९ १३० १३१ १६०  
 १४४ १६० १४६ १५० १५३  
 १५७, १५८ १६० १५० १८३  
 १६६ २०३ २०५ २१० २१६  
 २१५ २१६ २२६ २४० २४३  
 २४० २६६ २७४ २७८ २८१  
 २८२, ३०१ ३०३ ३०४ ३०८  
 ३३१ ३३० ३३५ ३३८ ३४२  
 ३५८ ३६०, ३६५ ३७७ ३८८  
 ३६६ ४०२ ४०६ ४०७ ४६६,  
 ४६६ ४८३  
 भगु हरि का वासना २१४  
 भगु हरि का अनुगार मष्ट पण्य १२७  
 भगु हरि दान २५  
 भवती २२८  
 भवभूति ३७३ (टिप्प०)  
 भविष्यत् २२८  
 भविष्यत् काल २३८  
 भविष्यत् का स्थान पर आराधना नून  
 २३४  
 भविष्यन्ती २३८  
 भामह १६ ४५६ (टिप्प०)  
 भारद्वाज १५६  
 भाव १५४ १६४ १७२  
 भाव और क्रिया १६४  
 भावना ३७०  
 भावना और क्रिया म भे १८५  
 भावनाक्रियावाद १७७  
 भावना वाक्याय ३७०  
 भावनावाक्यायवा ३६६

भावभेद १७२  
 भावनगण १०  
 भावविकार १७३, १७४, १७५ ४५०  
 भावमत्तान्नियावाद १७२  
 भाषाविज्ञान ४५०  
 भाष्यकार (द्रष्टव्य महाभाष्यकार)  
 १४, १०८, १४७, १४८, १६७,  
 २२०, ४४३  
 भाष्यविवरण ४६० (टिप्प०)  
 भाष्यव्याख्याप्रपञ्चकार १२३ (टिप्प०)  
 भास्कर (प्रथम) १६ १७  
 भास्कर सूरि ११५, ४२६  
 भूत २०८  
 भूतकाल २३४  
 भूतकाल के पाँच प्रकार २३६  
 भेद ३७६, ३८०, ३-३  
 भेदाभेद द्वा ११०  
 भोक्तृ शक्ति ३६५  
 भान २० ३१, २६३, २६६, २०८  
 ३२४ ३३१ (टिप्प०) ३१६,  
 ३६०, ३७७, ३८० ३८१ २८२,  
 २८३, ३८७, ३६१, ३६३ ३६६,  
 ४०० ४०१, ४०२ ४०३, ४०६  
 ४०७, ४०८, ४१८, ४२८, ४४८,  
 ४६८ ४७६  
 भोजाद्य शृंगारप्रकाश ३७७ (टिप्प०)  
 मजूपा (व्याकरणसिद्धात लघु  
 मजूपा) १२६, २१४, २५१  
 (टिप्प०), ३१७ ४११, ४३५  
 ४६८ ४६० (टिप्प०)  
 मजूपा कलाटीका ४७३ (टिप्प०)  
 मण्डनमिश्र ३० २६२ ३८८, ३४६,  
 ४७६  
 मधुरा ५६  
 मध्यमपुरुष २६१, २६२ २६३  
 मयमा ३८ ३६ ४१, ६६ ६८,

१०३, ४७२  
 मध्यमावृत्ति ७०  
 मम्मट ११४, २१३ (टिप्प०), २६३,  
 ४२६, ४३१  
 ममप्रकाशिनी टीका १२६  
 मल्लवाग्निमाश्रमण १५ १७ ३०  
 ६६ १०३ ३४५ २४७ ३५६  
 ३५८ ४६०  
 मल्लिनाथ ५१, १६५ ४२६  
 (टिप्प०)  
 मयूराण्डरस ३६५  
 महापद्मती ४८  
 महाभारत २६ (टिप्प०) ६१  
 २०६  
 महाभाष्य १३ १४ १६ १७ ६  
 ८६, ११६, १२४, १४१, १५७  
 १६० १६२ (टिप्प०) २१३  
 (टिप्प०), २३१ २३३, २३७,  
 २४५ २५६ २८६ (टिप्प०)  
 २६२ २६७ ३०५ ३३६, ३६१  
 ३६२ ३८६, ४ ७ (टिप्प०),  
 ४४४  
 महाभाष्यकार १३ ५३ ८६ १०७  
 ११०, ११३ ११६ १२१ १३०,  
 १३३ १३६, १४३ १५६ १५८  
 १८२ १८३ १६४ २१०, २ ५  
 २४२, २४८ २६६ २५५ २५६,  
 २८१ २८४ ३०१ ३०५ ३१२  
 ३१६ ३६६ ४७७, ४५५  
 महाभाष्यदीपिका (द्रष्टव्य महाभाष्य  
 त्रिपादी) १२ २२ १८८ ११०  
 ३६६ ४५६ (टिप्प०) ४६२  
 महाभाष्यत्रिपादी २०, ३१ ६१ ८८,  
 ६१, ६२ १२१ (टिप्प०) १८४  
 १७० १७३ ३८० ५८०  
 (टिप्प०) ३८४ (टिप्प०)

३८८, ३९० (टिप्प०), ४०६ (टिप्प०)

महाभाष्यप्रदीप—१३, ३०, १००, १०१, १४१, १६८, १७०, १६०, २०० (टिप्प०), २३४, २५४ (टिप्प०), २६१ (टिप्प०), २८६ २६० २६४, २६७, ३२६, ३६६ ३८५ (टिप्प०), ३८६ (टिप्प०), ३६३ ४४१

महाभाष्यप्रदीपोद्योत १२० (टिप्प०) १२५ १४६ १६२ १६८ (टिप्प०) २१४ (टिप्प०), २५१ (टिप्प०) ३१०, ३२२ ४३७

महाभाष्यप्रदीपोद्योतन ५२, ११३ ११४

महाभाष्य-याख्या २२ (टिप्प०) ३८ (टिप्प०)

महाभाष्य-याख्याप्रपञ्च १०२

महाभाष्य-यारया हस्तलेख १२६ (टिप्प०) ४६० (टिप्प०)

महावाक्य ३५१ ३६१

महाविषयता १४२

महासत्ता ४३ ४८, १५४, १७१

महासामा य १५४

माघ १४

माघवाचाय २८

माध्यमिककारिकाटीका १६२ (टिप्प०)

मानिषर विलियम ८५७ (टिप्प०)

माया ३४७ ४७३

मालिनीनववातिक ४४

मालिनीविजयवातिक २१६

मिथ्यासादृश्य ४५०

मामामक २०२, २२५ २८७

मामामागन ३८८, ३७०, ३७७

२६४, ४०५, ४२० ४२३, ४७७

४७६

मीमांसासूत्र २५ १५७, ३३३

मुकुलभट्ट २६, १२४

मुख्य ११८ ३७६, ४०४

मुख्य मध ११०

मुख्य श्रीर नातरीयक ११५

मुख्यगीगभाव ११

मुख्यवति १२०, ३८८

मुख्यावति १२१

मूतविवत २६५

मूतिविवत १७६, ४८०

मुनि जम्बूविजय १७ (टिप्प०)

मूलाधारचक्र ४७२

मैक्समूलर २०

मैत्रायणी सहिता ३८८ (टिप्प०)

३८६

मीनीश्रीकृष्णभट्ट २२

यदृच्छा ५८, १२३, १२४

यवनभाषा ५२

यास्क ६, ३६, ४३, ५०, १६४, १७३,

१६५ ३०५

युक्तिनीषिका १८

युक्तिस्नेहप्रतूरणी ४७८ (टिप्प०)

युगपदधिकरणतावाद ४४२

युगपदधिकरणविवक्षा १३१

युधिष्ठिर मीमांसक २२

योगदशन २१४ ३५८,

योगदान म काल २०८

योगनिमित्ता प्रतिभा ३७५

योगरूढ १०२

योग वासिष्ठ २०६

योगसूत्र १८ ३६, ८१ ३५६ ३६५ (टिप्प०)

योगसूत्र भाष्य १८ ६७

योग्यता ६६ ३८०, ३८७ ४०५

योग्यतापत्ति ३८०

योग्यतालक्षणसम्बन्ध १५३  
 योग्यभाष्य १२७  
 योगिक १०२  
 योगिरम्भ १०२ १०३  
 रघुनाथ गिरोमणि २०७  
 रघुवर्ग १६ ३२६, ३६८, ४२६  
 रत्नध्रीमन् ३०  
 रमणझापर १२६  
 रमभनदि ३२  
 राघवन वी० २७ (टिप्प०), ३७७  
 राघवभट्ट ४७४ (टिप्प०)  
 राघवानन्द नाटक २१  
 राजतरंगिणी १६, २६  
 राजोत्तर २६, २६०  
 राजानन्द गुरवर्मा २१  
 रामचन्द्र २६५  
 रामभनी टीका (गणप्रकाशिका)  
 ४३६  
 रूढ गण १०१ १०० ११७, १६६  
 १६७  
 रूपगति ११२ ११८  
 रूपातिद्वय ३६२  
 लक्षण अनुपपत्ति ३७७  
 लक्षणसमुद्ग २३ २४, ३७७  
 ३७६  
 लक्षणा ११६ १२०, १२१  
 लक्षणा वार्त्त १२०  
 लक्षणा शब्द १२०  
 लक्ष्मण देशिकेन्द्र ४७४  
 लक्ष्मणस्वरूप १८  
 लक्ष्मीदत्त ३२  
 लघु ८०५  
 लघुप्रक्रमा १४४, ४०५  
 लघुप्रक्रमापद्धति ३४५  
 लघुविभक्त्यर्थनिर्णय ३२  
 लाक्षणिक १०१

साधय ३८०  
 लिङ्ग १० १२, १४, १४३, ३२३,  
 ३७७, ४३३  
 लिङ्ग अर्थनिष्ठ ३१६  
 लिङ्ग उद्ग ३८६  
 लिङ्ग विचार २६८-३२६  
 लिङ्ग गणनिष्ठ ३१६  
 लिङ्ग सामान्य ३२५  
 लिङ्गान्ति भेद ३८०  
 लिङ्गाद भेद ३८० ४०५  
 लिङ्गित्विक स्पेनुलेन आफ द हिड्डल  
 ३२  
 वचन १८, २६७  
 वराहमिहिर २०  
 वण ११ १४, ७४  
 वण की निष्पत्ति के प्रकार ७५  
 वण की प्रतिपत्ति और वण का  
 निर्मास ८०  
 वण की पाङ्गी कला ७६  
 वणतुरीयांग ७६  
 वण सावयव और निरवयव ७६  
 वण साथक और निरयक ८७  
 वण व्यत्यय ८१  
 वण स्फोट १५३ ४६४, ४७०  
 वतमान २२८  
 वतमानकाल २२८  
 वतमानकाल दो तरह का २३२  
 वधमान २२, ४५८  
 वर्मा रवि २७  
 वसुवधु १७  
 वसुरान १४, १५ १७ ६६  
 वस्तुविनाशानित्यता ६१  
 वाक २८ ३५, ३६ ३८ ४०  
 वाक के रूप में स्फोट ४७२  
 वाक्य ११, १४, २०२, ३ ७  
 वाक्य और वाक्याथ में सम्बन्ध ४२५



वाक्यधर्म ४०६

वाक्य अवारयान ६२, ६४, १३१

वाक्य अवधिक अवारयान १३१,  
३२७

वाक्य क भेद ३६०

वाक्य दीपिका ३२

वाक्यपदीय १०, १३, १४, १५  
१६, १७, १८, २१, २२, २३, २४  
२५, २६, ३०, ३१, ३२, ३७, ४६,  
५८, ६२, ७३, ७६, ८५, १००, ११०  
११६, ११८, ११९ (टिप्प०) १२१  
(टिप्प०) १२३, १२७, १३५  
१४०, १५७, १७६ (टिप्प०) २०१  
(टिप्प०) २१७ (टिप्प०) २२३  
२७४ (टिप्प०) २३६ (टिप्प०)  
२५७ (टिप्प०) ३०६, ३०८  
३१५, ३४४, ३५१ (टिप्प०)  
३६८, ४१३ (टिप्प०) ४८२

वाक्यपदीयकार ७६, १३५ (टिप्प०)  
१४०, २५६

वाक्यपदीय पद्धति २५

वाक्यपदीय वपम टीका १२७  
(टिप्प०)

वाक्यपदीय हरिवृत्ति ५३, १३०, १३१  
(टिप्प०), १३२ (टिप्प०) ८१६

वाक्यपदीय हरिवृत्ति—हस्तलिख ६२,  
६३, ११८ (टिप्प०), ११९ (टिप्प०),  
१२१ (टिप्प०) १२२ (टिप्प०), १६४  
३३५ (टिप्प०) ३३६ (टिप्प०) ३३६  
२४३ (टिप्प०), ३६०, ३६७, ३६८,  
३८४ (टिप्प०) ३८५ (टिप्प०)  
३८६ (टिप्प०) ३८६ (टिप्प०)  
३८८, ४०३ (टिप्प०), ८२५  
(टिप्प०) ४२८ (टिप्प०) ८३३  
४२८, ४३५ (टिप्प०) ८१७  
८१८, ४१६

वाक्य प्रतिपत्ति १०७

वाक्यलक्षण २०२, ३३०, ३३१

वाक्यवाद ३२

वाक्य विचार ३३०, ४३६

वाक्य शेष ३८०, ४०६, ४०७

वाक्य सस्कार ६४

वाक्य स्फोट ६०, ४६४, ४६८, ४७०

वाक्याथ १४, ३६२, ३६७

वाक्याथ की प्रक्रिया ४१०, ४२६

वाक्याथ के अनुप्राहक वाक्य के घम  
३७७

वाक्याथ निर्धारण के साधन ४२६  
४३५

वाक्याथ विचार ३६२-३७७

वाचनिक ३२७

वाचस्पतिमिश्र १८, २०, २१, ३०  
२०८, ३६५ (टिप्प०) ३४७

वाच्य १२२

वाच्यवाचकसम्बन्ध ४२६

वाजप्यायन ११, १४४, १४६, १४७,  
१५०, १५३, १६६

वाजसनेयी शाखा ३८६ (टिप्प०)

वाजसनेयी संहिता ३८८ (टिप्प०)

वात्स्यायनभाष्य २२८

वादसुधाकर ३२

वान्निदेव सूरि ३०, ३८, ३५७, ४४१,  
४७७, ४७८

वामन ३०, १२०, २४५, ३२६

वायुसम्प्रदायवादिवाद ७७

वार्ता १६, १३६

वार्तिक १३

वार्तिकपाठ ३१२

वार्तिककार १४, १०७, ११३, १२६  
१६५, १६६, १८१, २०२, २०३  
२७१, २८७, २८३, ३१२, ३१३  
३१६, ३२०, ३५६, ३६०, ४४१

वानिकामेष १३, २८, ३१३  
 वाप्यामणि १७२  
 विवरण ४४१  
 विकल्प ६५, २०१ ३७६, ३३७,  
 ३८० ४०५  
 विचार ६१  
 विनाय (बम) २८६, २६०, २६१,  
 २६२  
 विवृत्तिपाग १०८  
 विप्रम, प्रथम १७  
 विग्रहवाच्य ४३७  
 विधान ३५३  
 विज्ञानवात् १५४  
 विन्दल २६० ३३१ (टिप्प०)  
 विद्या चक्रवर्ती ४२६  
 विद्याभिन ४७  
 विधि १२, ३७७,  
 विधि वाक्याय ३७०  
 विधि वाक्यायवाद ३६६  
 विनियोगत्रम ३७६ ४०२  
 विपरिणाम ३८०, ३६० ४०६, ४०८  
 विपरिणामानित्यता ६१  
 विपरीताख्याति रूप ३६७  
 विपर्यास ११२  
 विप्रतिषेध १०  
 विप्रयोग ४३१  
 विमविन २६७ ३३७ ३६०  
 विमवितविधान ४३७  
 विमविनविपरिणाम १४१ ४०८  
 विभक्त्यथ २६७ ३६७  
 विभक्त्यथनिर्णय ३२  
 विभक्त्यथभिधानपक्ष ३२७  
 विभाषा १० ४०५  
 विमश ४३ २१६  
 विमश त्रिधावाद १७७  
 विरोध ४३३

विलम्बिता वृत्ति ७०  
 विवर्णितायपरवाच्यलक्षण ११८  
 विवर्णाप्रापितसन्निधान २६७ ३६८  
 विवत ३४, ७३, ७८ ८४ ११२,  
 १७१, १७६ (टिप्प०) २०६, २१६,  
 ३४३ ३७३, ४७५, ४७६, ४८१  
 विवत की परिभाषा ४८०  
 विवतवाद ८८० ४८२  
 विवतवात् के अनुसार क्रिया १७५  
 विनिष्ठाभिधान १४०  
 विनिष्ठाभिधेय ३६७  
 विनिष्ठावग्रहप्रत्ययहेतु ३६५  
 विनिष्ठोपहिता प्रतिभा ३७५  
 विन्यासतिशेष ३७८, ३७९ ३८०,  
 ३६२  
 विन्यासतिदेश छ प्रकार का ३६०  
 विन्यासतरातिदेश ३७६  
 विन्यासविशेष्यभाव ४४४  
 विन्यासवश्यकभाव्य १७  
 विष्णुगुप्त १६ २०  
 वीचितरङ्गनाय ६७  
 वीष्मा १०  
 वृत्ति १४, ४३८  
 वृत्तिकार १४० २१४ ३२८, ४०७  
 वृत्तिदीपिका ३२  
 वृत्तिपरिणाम २६१  
 वृत्ति म सख्या २७८  
 वृत्ति विचार ४३७ ४५६  
 वृषभ (देव) १६ २०, २४, २५,  
 ३१ ३८ ६० ६१ ६८ ७० ७४  
 ८०, ८२ ११६ (टिप्प०), १२८,  
 १३१ (टिप्प०), ११६, २१६  
 (टिप्प०) २१८ ३३८ ३७३  
 (टिप्प०), ४६४ ४६७ ४७५  
 वेत् २०५ (टिप्प०)  
 वदान्तदशन २२३

यकटेश्वर २५  
 वारण्य ३४  
 वट्टा ७३  
 यदुतध्वनि ११ ६८, ४६७  
 यगरी ३८, ४१ ४४ ४६ १०३,  
 ४७२  
 यद्यनाय १२६ ४७३  
 यद्यनाय नायगुण ३७ ३५६  
 ययाकरणभूषण ६३ ३१७  
 ययाकरणभूषणकार १८६  
 ययाकरणसिद्धातकारिका २१  
 ययाकरणसिद्धातमजूपा २७ ६७३  
 (टिप्प०)  
 ययापिक ७१, २०७ २१६ २८०,  
 २८४  
 ययापिकदशन १५२ २६८ २८६  
 २६५ ३०६  
 व्यजनावृत्ति १२१  
 व्यक्ति १४८, ४३४  
 व्यक्तित्व १४८  
 व्यक्तित्वकोट २६४  
 व्यपदेशातिदेश ३६२ ३६३  
 ययवग १४६  
 व्यपेता ३६५ ६३८  
 व्यवहार नित्यता १५२, ४७२  
 व्यवहित कल्पना ३८० ४०७  
 व्याकरण ६१  
 व्याकरण का लोकपक्ष ६५  
 व्याकरणदशन २२७, २६०, २६८  
 २६६ २७७, २८०, २८४, ४५२,  
 ४७०, ४७६, ४८३  
 व्याकरणदशन म काल २१०  
 व्याधि १०, ११ ६०, १०४, १४४,  
 १६६ १४७, ३३०, ३६२  
 व्याधि ३८० ४०४  
 यामिश्रकाल २४१

व्याग ३६  
 व्यागमाध्य २२६, ३६५ (टिप्प०)  
 व्याकर ३३० (टिप्प०), ४६४, ६७७,  
 ४७८  
 व्याकर (यागमूय व टीकाकार)  
 ४७६  
 व्यागित सप्त ४७३  
 व्यागितविभक्तिमय ६१०  
 व्यागित व्यापार ३७६  
 व्यागितव्यापारभेद ४०२  
 व्याग्याभिभ ३८०  
 व्याग्यव्यापार १७, ६४, ५४, २६६  
 (टिप्प०)  
 व्याग्य स्वामी २० ३६२ ३८०, २८३,  
 २६३, ४०१ ४११, ६७७  
 (टिप्प०)  
 व्याग १६, ८२  
 व्याग्य अवभाग १५२  
 व्याग्य अपोढार १२६  
 व्याग्य एकत्ववाद १०६  
 व्याग्य एकत्ववादी १०६  
 व्याग्य और अथ वा सम्प्रत्य ६७  
 व्याग्य वा अथ ६४  
 व्याग्य वा स्वरूप ८८  
 व्याग्य की अभिव्यक्ति प्रीति ७०  
 व्याग्य व छ प्रकार ३६५  
 व्याग्यकोस्तुभ ३१ ५३ ८०, ६६ ७०,  
 २०६ (टिप्प०) २४६ (टिप्प०), २६३  
 (टिप्प०) २६२, ३०१ ३८७ (टिप्प०)  
 ४४४ (टिप्प०) ४७२  
 व्याग्यजाति १५० १५३, ३४४  
 व्याग्यनानुपाती २०८  
 व्याग्यत्व और व्याग्यवृत्ति मे भेद ६६  
 व्याग्यधातुममीक्षा २२  
 व्याग्यनानात्ववाद १०४  
 व्याग्यनानाव्यापार ६८

गङ्गा नित्य ६०  
 गङ्गा परमाणु ७८  
 गङ्गा प्रमा २२, २७, २८,  
 १०३  
 गङ्गाग्रह ४७३, ४७४, ४७५, ४७६  
 ४८१, ४८३  
 गङ्गा ग्रहावाद ३१  
 गङ्गाभेद १०२  
 गङ्गाभेदभेदज्ञान १०७, १०८  
 गङ्गाभेदवाद १०८, ११०  
 गङ्गाभेदवादी १०८  
 गङ्गावपम १०३  
 गङ्गाविवन ४७५ ४७७  
 गङ्गा व्यवधान १०८,  
 गङ्गाग्नि प्रकाशिका ३७  
 गङ्गामस्कार ३०८ ४८३  
 गङ्गामतिकल्प ३६७  
 गङ्गाकृति १२५  
 गङ्गाकृतिवाक्यवाद ३४४  
 गङ्गानुविद्वान ३६  
 गङ्गानुविद्ध बुद्धि ३७  
 गङ्गानुगासन ६०, ६३, ६५  
 गङ्गान्तरादिभेद ३८०  
 गङ्गान्तरसन्निधान ४३३  
 गङ्गार्थावधी ४५८  
 गङ्गावधी ४५८  
 गङ्गाभरण ३१  
 गङ्गायज्ञिताविवति ३०  
 गङ्गाय प्रकृति १०  
 गङ्गापचार १०८  
 गङ्गापचार ११०  
 गङ्गाक २५  
 गङ्गाकरमाप्य ४६४ (टिप्प०), ४६५  
 (टिप्प०)  
 गङ्गाकटायन १२३, १२४,  
 २३७

गङ्गाय सिद्धान्त ३५४  
 गङ्गातरक्षित २८, ३० ४७७  
 गङ्गावर भाष्य ३८० (टिप्प) ३८३,  
 ३८४ (टिप्प०) ३८६ ४००, ४०१  
 ४१६ ४१७  
 गङ्गादातिनक ४७४  
 गङ्गातिनकाय ३३६  
 गङ्गात्राष्टिका २६२, २६३  
 गङ्गात्री गौरीनाथ ३३  
 गङ्गास्त्री, गङ्गास्त्री २३, २४  
 २५  
 गङ्गास्त्री मंगलदेव १७  
 गङ्गास्त्री रघुनाथ ३३  
 गङ्गास्त्री श्रीचन्द्र १६ (टिप्प०)  
 गङ्गाकार ७६  
 गङ्गावृष्टि २२ २० ४८ ४६,  
 ४७४  
 गङ्गावृष्टिकार ४३  
 गङ्गापालवध १४  
 गङ्गाभद्र २६  
 गङ्गाप्रकाश ३१ १०२ ११८  
 (टिप्प०), ११६ (टिप्प०), १२०  
 २६१, २६३, ३२४, ३३१ (टिप्प०),  
 ३३८, ३५६ (टिप्प०), ३६१  
 (टिप्प०), ३६३ ३७० (टिप्प०)  
 ३७६ ३७७, ३८१ ३८३ ३८७  
 (टिप्प०) ३८१ (टिप्प०) ३८३  
 (टिप्प०), ३८५, ३८६ ३८७  
 ३८८ ४०१ ४०८ (टिप्प०), ४०९  
 (टिप्प०), ४१० (टिप्प०), ४१८  
 (टिप्प०), ४१६ (टिप्प०) ४२२  
 (टिप्प०), ४२४ (टिप्प०), ४२६  
 (टिप्प०), ४६८, ४७६  
 गङ्गाप्रकाश हस्तलघु (घडगार)  
 ३८४ (टिप्प०), ३८६  
 शेष ३७६, ४०१

गणनारामण ३१, ६०, १५० (टिप्प०),

४७२

गणविनियोगसंगण ३७७

गण श्रीकृष्ण ३१, २६१, ४४१

गणपेविभाव ३७७

गणपान ४७

गणपम ४३, ४५, ७६, १७७, २१६,

२६१

गोनक ७६, १३१ (टिप्प०) ३३८

गोभिक २३३

गोभिरणसहिता ४७

श्रीमद्भगवद्गीता ३५

श्रीहृष २६

श्रुतार्थापत्ति ६३ (टिप्प०), ४०८

श्रुति ३७७ ३७८ ४२२

श्रुतिक्रम ३६८

श्रुतिप्रापित २६३

श्रुत्यादिक्रम ३७६, ३८०

श्रुत्यादिवलावल ३८०

श्रुत्यान्विनिनियोग ३८०, ४०२

श्रूयमाण गण १५०

श्लेष प्रलकार ४०८

श्लोकवातिक ३०८ ४६०

श्लोकवातिक (मीमांसा) २५, २६,

३०, ३४१, ३५० (टिप्प०) ३५१,

४२५ ४३५ (टिप्प०)

श्लोकवातिकवार ६०, २६८, ३०५,

३१३, ४२८, ४६६

श्लोकवातिकवाशिका (हस्तलेख)

३५६ ३५८ (टिप्प०)

श्लोकवातिकव्याख्या ३५०

श्लोकवातिकव्याख्या चायिरत्नाकर

३५२ (टिप्प०)

श्वस्तना २३८

श्वस्त ७६

श्वेताश्वत्तरोपनिषद २०६ (टिप्प०)

पट प्रकार की प्रतिभा ३७६

पट भावविकार १५४, १७२, १७३

२१६, ४८१

सविधान २५०, २५४, २५५

सविधातवृत्ति २५०

ससग ६५, ६७ ६८, ४३०

ससग वाक्याम ३६६

ससगवा ३६८

सगगयानी २८७

ससर्गानित्यता ६१

समृष्ट वाक्याम ३६६ ३६८

समृष्टाधप्रत्ययावमगिनी १०६

समृष्टाधप्रत्ययभाग ४०

संस्तुतगद्य ४६३ (टिप्प०)

संस्तुतभाषा ५०

सहृत्तक्रम ३४६

सकमक १८६, १८७

सकनपत्ति भविवक्षा ११७, ११८

ससण्डस्फोट ४६३

सकेतसम्बन्ध ४२६

सह्या १४ १५८, २६४ २६७ २६८

सह्या विचार २६४ २८०

सगीतरत्नाकर २३, ३०२ (टिप्प०)

सग्रह १० ११, १३, १४, ५६, ३३०

सग्रहकार ११ ५१, ५६, ६४, ६८,

८२, १०७ ११०, १३०, १३१

(टिप्प०), १३७ १३८, १५१,

१६४, २६६, ३०२, ३३८, ३६२

४५७ ४५८, ४६२

सघात ३३४, ४५७

सघातवाद ३३८

सघात की समीक्षा ३४१

सघातपक्ष ३४०, ३४४, ३५७

सघातवर्तिनी जाति ३४४

सघातवाद और पृथक् सववाद म भेद

३५७

सञ्चय ३७५  
 सञ्चय ४६  
 सञ्चय ५५—६२  
 सञ्चय के प्रकार ५८  
 सञ्चयमिदम् ५८, १०५  
 सञ्चय की ओर अनुकरण क्षमता में भेद ५६  
 सञ्चय की प्रवृत्तिनिमित्त ५७  
 सत्त्वायवाद १७३, २८६  
 सत्ता ४३, १२३, १४८, १५५  
 सत्ता प्रियावाद १७१  
 सत्ताप्रमत्तासामान्य १४६  
 सत्ताजानिवा १५४  
 सत्ताविवन ४८१  
 सन्निविष्ट चेयावाग ४०  
 सन्निधि ३८७  
 सन्निहित प्रियापद १३७, २६६  
 सप्रत्यायक ध्वनि ८६  
 सप्रदान २६३  
 सप्रदान के तीन भेद २६३  
 समय २७८  
 समवायगति २१७  
 समभिहार और समुच्चय में भेद ३८७  
 (टिप्पणी) ४४३  
 समवायगति २११  
 समाप्तान ३७७  
 समानाधिकरणपक्ष ३१८  
 समाहार ४४३ ४४४  
 समुदायपरिममाप्तिपक्ष ३४३  
 समुच्चय ६५ १४७ २०१ ३२७  
 ३३७ ३७६ ३८० ४४३, ४४४  
 ५१ २६५, ३७६  
 बंधनभेद ३७६, ४०३  
 बंधपदाय १२५ १२७  
 बंधवाध ३७६  
 सम्बन्धवाधन ३८०, ४६१

सम्बोधन २६७  
 सारस्वतीकण्ठाभरण ३१  
 सार्वदानसंग्रह २८, ३१, ४७१  
 (टिप्पणी)  
 सार्वपदवाक्य ३५७, ३५८  
 सार्वपदवा ३५८  
 सार्वर्मा २५८  
 सार्वमिता नरात्म्य ३५  
 साहित्य आफ इमोजन २६६ (टिप्पणी)  
 साकेत २७७  
 साक्षात्सार्वपदवाद ३५८  
 साम्यकारिका ३०० (टिप्पणी)  
 सांख्यदर्शन २१४ २१६ २८७ २६४,  
 ३०१, ३०२, ३०३ ३०४  
 सांख्यदर्शन की अनुसार काल २०८  
 सांख्यमत २६०  
 साक्षादुपकारक ४०७  
 साक्षादुपकारी ३७६  
 साहित्यनिबन्धना प्रत्यभिज्ञा १०५  
 मादश्य निमित्त के रूप में १११  
 सादश्यपदाय १२५  
 साधन १५८, २८१, २८२  
 साधु प्रसाधुव्यवस्था १३२  
 साधुता चार प्रकार की ५४  
 साधु क्षमता १३३  
 साध्यविवन ४८१  
 साहित्यदीपिका ११५  
 सामर्थ्य की श्रृंखला १०८  
 सामर्थ्य ३७६ ३६४ ३६५ ४३४  
 सामान्यनियम ३८४  
 सामान्यभूत २३४  
 सामान्यविशेष ३१५  
 सामान्यातिदेश ३७८, ३७६ ४८०,  
 ३६१  
 सामानाधिकरणवाद १३  
 सामान्य में सामान्य १६६

सामान्य और जाति म भेद १४६  
 सायण ३१, ४७१, ४७२  
 गावयवयण ८०  
 सिद्धाब्द १२  
 सिद्धा त कोमुदी १३५  
 सिद्धान्त कोमुदी तत्त्वबोधिनी १२६  
 साहचय ४३२  
 सीरदेव १०, ४३१ (टिप्प०)  
 सुचरितमिश्र २६, ३०, ४१ ३३४,  
 ३४१ ३५६, ३५८  
 सुपेण २५८  
 सूत्रकार १३ १४ २०३  
 सूक्तिरत्नाकर ३१, ६० १०३ १०४  
 १५० (टिप्प०) २०६ (टिप्प०)  
 ४७२,  
 सोपस्कार सूत्र ४०७  
 सोम १५६  
 सोमान द ४७ ४७४,  
 सोमेश्वर ४२६  
 सोमव १६  
 स्कन्दस्वामी १८ २४५  
 स्थान ३७६ ३७७  
 स्थानक्रम ३६६  
 स्थानिद्धाव ४०६  
 स्थानी १२  
 स्थितलक्षण ३६६, ३६६, ३६७  
 स्थितलक्षण पदाय १२७, १३०  
 स्थितलक्षण और अपोद्धार पदाय  
 १३०  
 स्फोट ३१, ६६ ६७, ६८, ६९ ७२,  
 ७३ ८६ ९० १०४ ३४७, ३७१,  
 ४६२ ४७३  
 स्फोटचन्द्रिका ३२  
 स्फोट जाति रूप म ४७१  
 स्फोटतत्त्व निरूपण ३१ ४७८  
 (टिप्प०)

स्फोट ध्वनि रूप म ४६१—४६८  
 स्फोटया ४६०—४८४  
 स्फोटया की समीक्षा ४७७  
 स्फोट धा नित्यत्व रूप में ४७०  
 स्फोट धा नित्यरूप म ४७४  
 स्फोट धा नित्यरूप में ४६६  
 स्फोटसिद्धि ३०, १३६ (टिप्प०)  
 ३४८,  
 स्फोट सिद्धि टीका ८६ ३४८  
 स्फोटायन ६६०  
 स्मृतिनिरूपणा ३७  
 स्यादवाच्यरत्नाकर ३८ ४२ ६८, ७०,  
 ३४७ ३५७, ४७६ (टिप्प०)  
 स्वप्नप्रबोधवृत्ति ३७३  
 स्वर ७६ ४३४  
 स्वस्पायत्व १०६  
 स्वलक्षण ३६६  
 स्वातन्त्र्यशक्ति २१४ २१५ २१६,  
 २२०  
 स्वातन्त्र्यशक्ति और वक्त शक्ति २१८  
 स्वाभाविकी प्रतिभा ३७२ ३७३,  
 स्वाय १४१  
 स्वायत्ता २४६  
 हरदत्त मिश्र १४ ५३ ७५, १४०,  
 १८३ २५३, २६५ ३१०, ३१५  
 ३२६ ३५६ (टिप्प०) ४६०  
 हरियशोमिश्र ३२  
 हरिवल्लभ ३२  
 हरिस्वामी १७  
 हय्यक्ष १६  
 हयचरित १६  
 हयचरित एक अध्ययन १६  
 हयचरित टीका ३३० (टिप्प०)  
 हिस्ट्री आफ फिलासफी ईस्टन एण्ड  
 वेस्टन भाग १ १८ (टिप्प०)  
 हेतु २८६

हेतुहेतुमद्भाष १३७

हेलाराज १३, २२ २३, २७, २८,  
३२, ४२ ५६ ६३, ६५ ६८ ६९,  
१००, १२७ १२८, १२९, (टिप्प०)  
१३० टिप्प०) १३२ टिप्प०) १३३,  
१३५, १५२, १५३, १५४ १५५ १७३,  
१७४ टिप्प०), १७५ टिप्प०), १७६  
१७९ १८४, २०९, २१३ (टिप्प०)  
२१४, २१७ २२१ (टिप्प०), २२९

टिप्प०) २३३, २३८, २६०, २७९,  
२८३, २८७ २९० २९२, २९३,  
३०४, ३०८ ३१२ ३१७, ३२८,  
३६०, ३६३ ३६६ (टिप्प०),  
३८० (टिप्प०) ३९३, ४१९,  
(टिप्प०), ४५५ ४७० ४८१,  
४८२

ह्वेनच्याग १७, २९



सामान्य और जाति म भेद १४६  
 सायण ३१ ४७१, ४७२  
 गावयववर्ण ८०  
 सिद्धशब्द १२  
 सिद्धान्त कौमुदी १३५  
 सिद्धान्त कौमुदी तत्त्वबोधिनी १२६  
 साहचर्य ४३२  
 सीरदेव १२, ४५१ (टिप्प०)  
 सुचरितमित्र २६, ३०, ४१ ३३४,  
 ३४१ ३५६ ३५८  
 सुपेण २५८  
 सूत्रकार १३ १४ २०३  
 सूत्रितरत्नाकर ३१, ६०, १०३, १०४,  
 १५० (टिप्प०) २०६ (टिप्प०),  
 ४७२,  
 सोपस्कार सूत्र ४०७  
 सोम १५६  
 सोमानन्द ४७, ४७४,  
 सोमेश्वर ४२६  
 सोमव १६  
 स्कन्दस्वामी १८, २४५  
 स्थान ३७६ ३७७  
 स्थानक्रम ३६६  
 स्थानिद्धाव ४०६  
 स्थानी १२  
 स्थितलक्षण ३६६, ३६६ ३६७  
 स्थितलक्षण पदाथ १२७ १३०  
 स्थितलक्षण और अपोद्धार पदाथ  
 १३०  
 स्फोट ३१ ६६ ६७, ६८ ६६ ७२,  
 ७३ ८६ ६०, १०४ ३४७ ३७१  
 ४६२ ४७३  
 स्फोटचन्द्रिका ३२  
 स्फोट जाति रूप म ४७१  
 स्फोतत्व निरूपण ३१, ४७८  
 (टिप्प०)

स्फोट ध्वनि रूप म ४६१—४६८  
 स्फोटवाद ४६०—४८४  
 स्फोटवाच की समीक्षा ४७७  
 स्फोट शब्द नित्यत्व रूप म ४७०  
 स्फोट शब्दव्यवहार रूप मे ४७४  
 स्फोट शब्द रूप में ४६६  
 स्फोटसिद्धि ३०, १३६ (टिप्प०)  
 ३४८  
 स्फोट सिद्धि टीका ८६, ३४६  
 स्फोटायन ४६०  
 स्मृतिनिरूपणा ३७  
 स्यादवादरत्नाकर ३८ ४२, ६८ ७०,  
 ३४७ ३५७, ४७६ (टिप्प०)  
 स्वप्नप्रबोधवृत्ति ३७३  
 स्वर ७६ ८३४  
 स्वस्वायत्त्व १०६  
 स्वलक्षण ३६६  
 स्वातन्त्र्यशक्ति २१४ २१५ २१६,  
 २२०  
 स्वातन्त्र्यशक्ति और कत शक्ति २१८  
 स्वाभाविकी प्रतिभा ३७२ ३७३,  
 स्वाथ १४१  
 स्वाथता २४६  
 हरदत्त मिश्र १४, ५३ ७५ १४०,  
 १८३, २५३, २६५ ३१० ३१५,  
 ३२६ ३५६ (टिप्प०), ४६०  
 हरियशोमिश्र ३२  
 हरिवल्लभ ३२  
 हरिस्वामी १७  
 हय्यक्ष १६  
 हयचरित १६  
 हयचरित एक अध्ययन १६  
 हयचरित टीका ३३० (टिप्प०)  
 हिस्ट्री आफ फिलासफी ईस्टन एण्ड  
 वेस्टन भाग १ १८ (टिप्प०)  
 हेतु २८६

हेतुहेतुमद्भाष १३७

हेलाराज १३, २२, २३, २७, २८  
३२, ४२, ५६, ६३, ६५, ६८, ६९,  
१००, १२७, १२८, १२९, (टिप्प०)  
१३० (टिप्प०) १३२ (टिप्प०) १३३,  
१३५, १५२, १५३ १५४, १५५ १७३  
१७४ (टिप्प०), १७५ (टिप्प०), १७६  
१७९, १८४, २०९ २१३ (टिप्प०)  
२१४, २१७ २२१ (टिप्प०), २२९

(टिप्प०) २३३, २३८, २६०, २७९,  
२८३, २८७ २९०, २९२, २९३  
३०४, ३०८, ३१२, ३१७ ३२८,  
३६०, ३६३ ३६६ (टिप्प०),  
३८० (टिप्प०) ३९३, ४१९,  
(टिप्प०), ४५५ ४७० ४८१,  
४८२

हैनन्याग १७, २९